पट्टमहादेवी शान्तला

भाग–चार

सी.के.नागराज राव

हिन्दी रूपान्तर

पण्डित पी. वेंकटाचल शर्मा

भारतीय ज्ञानपीठ

पट्टमहादेवी शान्तला

भाग–चार

सी.के.नागराज राव

हिन्दी रूपान्तर

पण्डित पी. वेंकटाचल शर्मा

भारतीय ज्ञानपीठ

वहाँ एकत्रित जनता अपने-अपने निवास की ओर चल पड़ी। महाराज और रानियाँ राजमहल की ओर चले गये। अधिकारी भी अपने-अपने घर की ओर चल दिये और जकणाचार्य, उनकी पत्नी लक्ष्मी तथा पुत्र डंकण स्थपति के निवास की ओर।

एक महान वैचित्र्य को प्रदर्शित करनेवाले भगवान् केशवदेव नाभि प्रदेश में घायल होकर भी वहाँ पण्डाल में मुस्कराते हुए अकेले खड़े रह गये थे। पण्डाल के चारों ओर बाँसों का ऐसा घेरा बना दिया गया था कि कोई भी जन वहाँ मूर्ति तक नहीं पहुँच सके, सब दूर से ही देख सकें। वहाँ पहरेदार रखे गये थे। उसमें उस मण्डूक को भी वहीं एक परात में पानी डालकर रखा गया था। ऊपर से जालीदार ढक्कन था। सभी दर्शनार्थियों को दिखाने के लिए एक पहरेदार को भी नियुक्त किया गया था।

तिरुवरंगदास भी अपने अड्डे की ओर चला गया।

जकणाचार्य सकुटुम्ब अपने मुकाम पर जब पहुँचे तो देखा कि वह बन्दनवार आदि से सजा हुआ है। लक्ष्मी, उसका भाई और डंकण का सारा सामान-सरंजाम तब तक वहाँ पहुँचा दिया गया था। मल्लोज ने दोनों शिल्पियों और अपनी बहन लक्ष्मी का स्वागत किया। अन्दर से चट्टला और दासव्वे ने आकर आगत परिवार की आरती उतारी।

चट्टला ने कहा, "अन्दर प्रवेश करने के पहले, पाँव से ड्योढ़ी पर रखे पात्र में जो धान है उसे अन्दर की ओर बिखेर दें।" लक्ष्मी ने यह सुनकर चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा, और फिर अपने पतिदेव की ओर।

"पट्टमहादेवीजी की आज्ञा है कि मांगलिक कार्य सम्पन्न करके घर में प्रवेश करना चाहिए।" चट्टला बोली।

धान से भरे पात्र को दायें पैर से अन्दर की ओर लुढ़काकर, लक्ष्मी ने अन्दर

प्रवेश किया। जकणाचार्य और डंकण ने उसका अनुगमन किया।

जकणाचार्य अपने निवास की सजावट देखकर चकित हुए। उनका मन अतीत में चला गया। पर स्वयं को कुछ सोच-विचार करने का अवकाश तक न देकर, अपने जीवन से लुप्त प्रकाश को फिर से द्योतित करनेवाली पट्टमहादेवी जी के मन की विशालता का स्मरण करते हुए, थोड़ा-सा विश्राम किया। विश्रान्ति के समय साले-बहनोई एक-दूसरे का कुशलक्षेम पूछने लगे। डंकण अपने अन्वेषण का किस्सा भी सुनाता रहा।

इतने में भोजन के लिए बुलावा आया।

नित्य का साधारण भोजन नहीं था वह। राजसी भोजन था।

जकणाचार्य ने पूछा, "इतना सब क्यों बनाया?"

"पट्टमहादेवी जी की आज्ञा का उल्लंघन मैं कैसे कर सकता हूँ? ऐसा करके मैं जी सकूँगा?" मंचण ने कहा।

"आज का भोजन प्रतिदिन के भोजन से भी अधिक स्वादिष्ट है न?" जकणाचार्य ने पूछा।

"आज आपकी मानसिक शान्ति भोजन को रुचिकर बना रही है। वैसे तो रसोई एक ही तरह बनती है, यह आपको मालूम नहीं?" मंचण ने कहा।

भोजन के बाद जकणाचार्य ने कहा, "लक्ष्मी! हमें अब राजमहल जाना है। डंकण भी साथ चलेगा। तुम्हारे साथ मल्लोज रहेंगे।"

"मुझे फिर आपके ये चरण मिलेंगे? अथवा उनकी स्मृति के सहारे ही समय काट लूँगी। आप अपने काम पर जाइए। पट्टमहादेवीजी ने मुझे यहाँ के उत्तरदायित्वों से आगाह कर दिया है। अब तो मैं बालिका नहीं हूँ न? भाई चाहें तो वैसे ही घूम आवें। यहाँ बैठे-बैठे क्या करेंगे? साथ यह दासब्बे तो रहेगी ही। मैं पट्टमहादेवी के माता-पिता से मिल उनका आशीर्वाद लेकर लौटूँगी। इसके लिए मुझे वहाँ जाना है।" लक्ष्मी ने कहा।

अब तो एक सुनिश्चित कार्यक्रम ही बन गया। जकणाचार्य और डंकण राज महल गये। वहाँ शिल्पियों, आगम-शास्त्रियों तथा अधिकारी वर्ग के लोगों की सभा बैठी थी। सब सम्मिलित हुए थे। महाराज और पट्टमहादेवीजी भी पधारे थे। प्रस्तुत विषय पर विस्तार से चर्चा हुई। 'मूलविग्रह नया ही बने', यही निर्णय हुआ। उसके लिए निर्दोष शिला खोजकर डंकण ही उसे बनाएँगे, यह भी निश्चित हो गया।

परीक्षाधीन चेन्नकेशव की मूर्ति के बारे में भी चर्चा हुई। शान्तलदेवी ने कहा, "अब तो उसका दोष-निवारण हो चुका है। मेरे लिए वह मूर्ति बहुत प्रिय है। विधिपूर्वक प्रतिष्ठित करने की सुविधा हो तो उसे अन्यत्र भी प्रतिष्ठित कर सकते हैं।"

"वास्तव में इसी का दोष-निवारण कर, प्रतिष्ठा करने की बात हमने पहले ही

बतायी थी। अब उसमें कोई बाधा नहीं। कम से कम इसके लिए एक गर्भगृह तो होना चाहिए न! इसी मुहूर्त तक वह बन जाएगा?'' आगमशास्त्रियों ने पूछा।

''उसकी चिन्ता न करें। मूल मन्दिर के पश्चिम-दक्षिण में उसे बनवाएँगे।'' दासोज ने कहा।

सभा विसर्जित हुई। उसी कार्यक्रम के अनुसार कार्य चालू हो गया।

डंकण मूल-मूर्ति की तैयारी में लग गया। दासोज की देख-रेख में गर्भगृह के निर्माण का कार्य भी शुरू हो गया।

नव-वर्ष आरम्भ के दिन, हमेशा की तरह, एक औपचारिक राजसभा बैठी। शहर के गण्यमान्य, प्रमुख व्यक्ति, राज्य के भिन्न-भिन्न भागों से आये नेतागण आदि सब आकर, राजदम्पतियों को प्रणाम कर, अपनी निष्ठा प्रदर्शित कर चले गये। विजयोत्सव होने ही वाला था, इसलिए इस सभा में किसी विशेष बातचीत के लिए कोई मौका भी नहीं था। सभा एक तरह से औपचारिक रूप से ही समाप्त हो गयी।

जकणाचार्य ने इस राजसभा को बड़े एकाग्र भाव से देखा और फिर उसे रात भर बैठकर अपनी कल्पना के अनुसार चित्रित कर लिया।

देव-मन्दिर के पहाड़ों पर स्थित स्थान पर डालने के योग्य उसे प्रभामण्डल से युक्त कर प्रस्तर में उकेरने का काम शुरू किया।

वास्तव में मल्लोज के लिए कोई निश्चित कार्य नहीं था। कहीं विशेष रूप से अपने को प्रकट न करने के कारण बहुतों को यह मालूम नहीं था कि वह स्थपति का रिश्तेदार है। इस परिस्थिति ने उसके लिए एक सहूलियत पैदा कर दी थी। किसी से सम्बद्ध बातों को सर्वत्र सुन सकना उसके लिए आसान था।

हेमलम्ब संवत्सर के नव-वर्ष-आरम्भ के दिन के बाद, दो-तीन दिनों के अन्दर-अन्दर, बेलापुरी में जहाँ देखो वहाँ तिलकधारी ही तिलकधारी नजर आने लगे। पता नहीं, इतने श्रीवैष्णव कहाँ से आ गये! हजारों की तादाद में ये तिलकधारी सब जगह भर गये।

कुछ कानाफूसी इधर-उधर शुरू हो गयी थी। लोग तरह-तरह की बातें करने लगे थे। कुछ बातें मल्लोज के कानों में भी पड़ीं। इन सभी बातों का सारांश उसने तोज के दिन रात को अपने निवासगृह में बताया, ''पट्टमहादेवी जैन है। कोई बात उसके मुँह से निकलती तो उसमें उस नंगे (गोम्मट) की ही बात होती है। हर एक पर अपने ही धर्म को आरोपित करने की बात करती है। पति के वैष्णव मत स्वीकार करने पर भी वह अपने को जैन ही समझती है। वैष्णव की जूठन खाती है, उसके साथ शय्या-सुख पाती है। उसका कोई जाति-कुल भी है? परन्तु स्थान उसका साथ दे रहा है। इस अन्धे महाराज को भी उसके प्रति बहुत प्रेम है। उसकी बात उनके लिए वेदवाक्य है। वह किसी की नहीं सुनते। मन्दिर-निर्माण के कार्य में मदद देने का बहाना करके उसने

स्थपति के साथ प्रेमक्रीड़ा की। कारण यही कि उसे प्रभावित कर इस मूर्ति को दोषपूर्ण शिला में बनवा सकती है। इसीलिए ऐसा किया। ऐसे ही दोषपूर्ण प्रस्तर से विग्रह बना। उसकी प्रतिष्ठा हुई तो आचार्य महाराज और धार्मिक रीति से विवाहित नयी रानी लक्ष्मीदेवी, इन सबका अमंगल होगा। ये सभी सुन्दर विग्रह जितने बने हैं, सुनते हैं कि ये सब उसी की भंगिमाएँ हैं। अर्धनग्न मूर्तियाँ बनवाने के लिए एक राज्य की पट्टमहादेवी गुप्त रूप से अन्यपुरुष में अपनी ही भंगिमाएँ दे, यह एक असाधारण व्यवहार है। एक ही भंगिमा में घण्टों तक रहे, सो भी एकान्त में! कुछ और तरह की बातों का हो जाना असम्भव नहीं। नमक-मिर्च खानेवाले ही तो हैं? यह स्थपति घुमक्कड़ था। राजमहल का आश्रय पाकर वह भी मोटा-ताजा हो गया। हाथ लगी सुन्दरी के साथ मौज करने का मौका मिल गया तो छोड़ता क्यों? एक हो गये। योजना बनायी। पत्थर में पानी के होने पर भी मेढक के होने की बात जानते हुए भी, उसी की मूर्ति बनवायी। उन्होंने समझा होगा कि भगवान् अन्धा है, यह सब नहीं देखता होगा। लेकिन उसने देखा, अपने परम भक्त आचार्य को दोषी नहीं होने देना चाहिए, इसलिए उस युवक को प्रेरणा दी और ऐन वक्त पर उसे यहाँ भेज दिया। इससे यह धोखा-धड़ी खुल गयी। अब ठीक तरह की मूर्ति बन रही है। परन्तु प्रतिष्ठा के इस समारम्भ के लिए महाराज के साथ यह विधर्मिणी पट्टमहादेवी रहेंगी तो उसका बहिष्कार करना होगा। अन्यथा यह श्रीवैष्णव पन्थ पर अपचार होगा। उसका मौका नहीं देना चाहिए। उसका विरोध करना ही होगा, आदि-आदि तरह-तरह की बातें हो रही हैं। पट्टमहादेवी और स्थपति पर तरह-तरह के आरोप लगाये जा रहे हैं।''

जकणाचार्य ने सब सुना। लेकिन तुरन्त प्रतिक्रिया नहीं दिखायी।

मल्लोज ने सूचित किया कि इन सभी बातों से पट्टमहादेवी को आगाह कर देना उचित है।

''पट्टमहादेवीजी से कोई बात छिपी नहीं होगी। वे सब देखती रहती हैं। यह सब खबर अब तक उनके पास पहुँच चुकी होगी। इन लोगों के बीच में भीड़ के साथ राजमहल के कितने गुप्तचर होंगे इसका तुम्हें पता न होगा। उन्हें उनके वेष से पहचान नहीं सकते। हमें निरासक्त भाव से मौन प्रेक्षक बनकर रहना होगा। यदि इसमें दिलचस्पी दिखावें तो उसका दूसरा ही अर्थ निकाला जा सकता है।'' जकणाचार्य ने मल्लोज को बताया।

''कल ऐन मुहूर्त के वक्त धार्मिक लड़ाई के रूप में परिवर्तित होकर इसके दो जत्थे बन जाएँ और टकराव हो, हाथापाई होने लगे तथा परिस्थिति बदल जाए तो? बेचारे अनजान लोग हैं, यहाँ के इस उत्सव को देख आनन्दित होने आये हैं। उन सभी को तकलीफ होगी। इसलिए हमें जो राज मालूम है उसे राजमहल को न बतावें तो ठीक होगा? मुझे लगता है कि सूचित कर देना ही उचित है।'' मल्लोज ने कहा।

"कुछ नहीं होगा। तुम मत डरो। मुझे यहाँ की रीति-नीति का सम्पूर्ण अनुभव है। राजमहल जानना चाहेगा कि हमें यह सब कैसे मालूम हुआ?"

"बाकी विषय जैसे मालूम होते हैं, वैसे ही। हम कहीं लुक-छिपकर नहीं गये। राजमहल के गुप्तचर मुझे जानते ही हैं। इसलिए सूचित कर देना ठीक है। इसमें व्यक्तिगत चरित्र पर कलंक लगाने का प्रचार भी हुआ है। आपका भी नाम जोड़ा गया है। इसलिए सन्निधान को या पट्टमहादेवी को बता देना ही अच्छा है।" मल्लोज ने कहा।

"अच्छा सोचेंगे। यदि कुछ करना भी होगा तो कल सूर्योदय के बाद ही न!" जकणाचार्य ने बात टाल दी।

सूर्योदय से पहले ही स्थपति के लिए राजमहल से बुलावा आया।

स्थपति ठीक वक्त पर राजमहल जा पहुँचे। श्री आचार्यजी द्वारा प्रेषित आगमशास्त्री भी आये थे। स्थपति को देखकर नमस्कार किया और उन्होंने भी प्रति-नमस्कार किया।

आगमशास्त्रियों ने पूछा, "स्थपति जी! यह इतनी जल्दी बुलावा क्यों आया?"

"मुझे क्या मालूम? मुझे भी सुबह-सुबह बुलावा भेजा गया। किसलिए, यह मालूम नहीं।"

"आपके पुत्र के हाथ बहुत तेज हैं। पिता को भी हराने वाला, आपसे भी बढ़ कर अच्छा कलाकार है। भगवान केशव उसे सम्पूर्ण आयु देवें, दीर्घायु बनावें और आपके नाम को अमर बनाये रखने की शक्ति दें।"

"हम दोनों आपके इस आशीर्वाद के लिए कृतज्ञ हैं।"

कीमती वस्त्र धारण किये, स्पष्ट दिखनेवाला तिलक लगाये, बड़े रोबदार गम्भीर चाल से तिरुवरंगदास आया। इतने में उदयादित्यरस और प्रधान गंगराज भी आ गये। सबका ध्यान उस तरफ गया। वन्दन-प्रतिवन्दन हुए। उचित समय पर मुख-मण्डप आमन्त्रितों से भर गया। अनेक श्रीवैष्णव भी, जो वेलापुरी के नहीं थे, सम्मिलित हुए थे।

बन्दि-मागधों ने विरुदावली की घोषणा की।

सब उठ खड़े हुए। प्रधान गंगराज महाराज को राजोचित गौरव के साथ बुला लाये। साथ में पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी भी आयीं। उनके बैठने के बाद बाकी सब लोग बैठ गये।

वेलापुरी के राजमहल में इतने लोगों की भीड़ इससे पहले कभी नहीं रही।

बिट्टिदेव ने भरी सभा को सूचित किया, "धर्मश्रद्धासुक्त आस्तिक महानुभावो! इस सभा को बुलाने का एक कारण है। इस विषय में हमारा यह चाविमय्या अभी सभा को बताएगा।"

चाविमय्या ने आगे आकर सभासदों को प्रणाम किया और बताया, "महासन्निधान

के समक्ष दास की विनती है। मैं राजमहल का एक गुप्तचर हूँ। राजधानी में कहाँ क्या होता है, राजमहल को इसकी जानकारी देना मेरा कर्तव्य है। मैं और मेरे अधीन काम करनेवाले नौकर हमारे अधिकारी मायण की आज्ञा से अभी दो-तीन दिनों से राजधानी के सभी मुहल्लों और नवागत अतिथियों के लिए निर्मित आवासों एवं बाजार आदि सभी जगह घूमते रहे। इस तरह घूमते-घामते हमने जिन बातों का संग्रह किया है, उन्हें महासन्निधान के समक्ष निवेदन किया है। वह कल सम्पन्न होने वाले उत्सव से सम्बन्धित विषय है। एक तरह से अन्दर-अन्दर कुढ़न और कुछ लोगों में, खासकर श्रीवैष्णवों में, असन्तोष जान पड़ा। मेरे और मेरे सहायकों को यह बात मालूम हुई है कि इस प्रतिष्ठा-महोत्सव को अश्रेयस्कर रीति से सम्पन्न कराने का षड्यन्त्र रचा गया है। इसका तीव्र विरोध करना ही चाहिए, आदि-आदि बातें हमने और हमारे सहायकों ने सुनी हैं। इसलिए उन लोगों को इस सभा में उपस्थित होने के लिए आमन्त्रित किया गया है। अभी सन्निधान उन्हीं को बुलाकर आदेश देंगे कि वे सभा के सामने उपस्थित होकर अपनी बात को स्पष्ट करें। वे यहाँ उपस्थित होकर सारी बातें यथावत् प्रस्तुत कर सकते हैं। महासन्निधान आश्वासन देते हैं कि अपराधी चाहे कोई हों, उनके स्थान-मान की परवाह न कर, उन्हें दण्डित करेंगे। इसका लक्ष्य और उद्देश्य कुछ और नहीं, आचार्यजी के आदेश के अनुसार, उनकी इच्छा पूर्ण करने के ही उद्देश्य से, इस मन्दिर का निर्माण किया गया है। धर्मश्रद्धा को उजागर करना ही इसका लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में धर्मच्युति के लिए यहाँ स्थान ही नहीं है। सन्निधान से यह स्पष्ट आश्वासन मिला है। आम तौर पर सभी राजसभाओं में पट्टमहादेवीजी को महासन्निधान के साथ ही रहना चाहिए। परन्तु—यह विधर्मियों द्वारा धर्मच्युति होगी—ऐसी बात उठ खड़ी हुई है। जैनमतावलम्बी बनी रहकर, अपने जीवन-यापन की इच्छा रखनेवाली पट्टमहादेवीजी, मेरे वक्तव्य के पूरा होने के पश्चात् अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र विराजेंगी।" वक्तव्य पूरा कर चाविमय्या ने झुककर प्रणाम किया।

पट्टमहादेवीजी अपना आसन छोड़कर, दूर पर के एक दूसरे आसन पर जा बैठीं।

प्रधानजी उठ खड़े हुए। उधर तिरुवरंगदास ने रानी लक्ष्मीदेवी की ओर देखा और सन्तोष व्यक्त किया। मन ही मन कहने लगा, "बेटी हो तो ऐसी। रात भर अच्छी तरह कान भरे होंगे। सब-कुछ मेरे अनुकूल ही हो रहा है।"

"सन्निधान के सम्मुख मेरी एक विनती है," गंगराज ने कहा।

"कहिए। जब केवल दो-चार दिन रहने आये व्यक्तियों को ही बोलने की स्वतन्त्रता दी गयी है, तो आपको, जो हमारे राज्य के प्रधान हैं, स्वतन्त्रता नहीं होगी?" बिट्टिदेव ने कहा।

"सन्निधान ने अनुमति दी, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। लोगों को आश्चर्य होता होगा कि इस सभा को बुलाने का कारण प्रधान होकर भी मुझे मालूम नहीं हुआ। जहाँ

तक मैं समझता हूँ यह पूर्व नियोजित प्रतीत होता है। क्योंकि मैं भी पट्टमहादेवीजी की तरह जिनभक्त हूँ। पहले मुझे मालूम नहीं हुआ, इसका मुझे दुःख नहीं। मैं यह भी नहीं सोचता कि पहले मालूम न कराये जाने से मेरा अपमान हो गया। जब तक मैं प्रधान बना रहूँगा, तब तक राजसभा को जिस रीति से चलना चाहिए उसी रीति से चलना होगा। इसमें, क्षमा करें, स्वयं महासन्निधान को भी स्वातन्त्र्य से काम लेना ठीक नहीं होगा। पट्टमहादेवीजी अपने स्थान पर रहें, तभी सभा का सही रूप रहेगा। उनका स्थान बदलना गलत होगा। अतः अपने स्थान पर पट्टमहादेवीजी विराजें, इसके लिए सन्निधान अनुमति दें। उनके रहते उनका स्थान रिक्त नहीं रहना चाहिए।''

गंगराज की बातों का प्रभाव पड़ा। इधर-उधर फुसफुसाहट होने लगी। तिरुवरंगदास फीके पड़ गया। अपनी बेटी की ओर उसने देखा।

पट्टमहादेवी उठ खड़ी हुईं। मौन छा गया।

''महासन्निधान के समक्ष एक विनती है। वैसे ही प्रधानजी के समक्ष एक प्रस्ताव प्रस्तुत कर रही हूँ,'' कहकर पट्टमहादेवी रुक गयीं। लोग प्रतीक्षा करने लगे, आगे क्या बोलेंगी।

''प्रधानजी, दण्डनीय आरोप जिस पर हो, उसके लिए हमारे इस राज्य में कौन-सा स्थान है?'' पट्टमहादेवी ने पूछा।

''अभियुक्त तो अभियुक्त ही है। उसके लिए तो वही, अभियुक्त का ही स्थान है।''

''समझ लीजिए कि आप स्वयं अभियुक्त हों तब भी आप प्रधान के स्थान पर बैठ सकेंगे?''

''सो कैसे होगा?''

''तो यह भी सम्भव नहीं। धर्म की बात है। उसके साथ और-और बातें भी जुड़ी हैं। बात यहाँ तक बढ़ गयी है कि इस प्रतिष्ठा-महोत्सव का बहिष्कार करें! हम अपने अधिकार के बल पर इस तरह की प्रवृत्ति पर रोक लगाकर काम चलावें, यह उचित नहीं। अभी आपको सम्पूर्ण ब्यौरा मालूम नहीं। इस भरी सभा में कौन-कौन-सी बातें प्रकट होंगी, किस-किस महात्मा के मन में भगवान् बैठकर क्या-क्या कहलवाएँगे, उन सबका सामना करना पड़ेगा इन अभियुक्तों को। मुझे भी इन अभियुक्तों में सम्मिलित किया गया है। अतः मेरा उस स्थान पर बैठे रहना उचित नहीं। सन्निधान के आश्रय में रहनेवाले किसी के भी मन में ऐसी भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिए कि यहाँ न्याय नहीं मिलेगा। इसलिए मैं अब जहाँ हूँ, वही मेरे लिए उपयुक्त स्थान है। प्रधान बनकर आपने पट्टमहादेवी के स्थान-मान की प्रतिष्ठा रखी, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।'' पट्टमहादेवी ने स्पष्ट किया।

सारी सभा स्तब्ध रह गयी।

बिट्टिदेव ने पूछा, "चाविमय्या! तुमने बात करने वालों की जो नामावली बनायी है उसे दो।

चाविमय्या ने नामावली प्रस्तुत की।

"*सालिग्रामे के श्रीनिवास वरदाचार्य मंच पर आवें।*" बिट्टिदेव ने कहा। चाविमय्या ने जोर से इसी नाम को पुकारा। एक बुजुर्ग डरते हुए उठ खड़े हुए। उनके हाथ काँप रहे थे। उम्र के कारण काँप रहे थे या डर से—सो तो मालूम नहीं हुआ।

"आप कहाँ के निवासी हैं?"

"सालिग्रामे के।"

"किस मत के?"

"श्री आचार्य रामानुज का शिष्य हूँ।"

"कब से?"

"दो-तीन साल हुए।"

"इसके पहले?"

"हेब्बार था।"

"मतलब?"

"उच्च ब्राह्मण। शंकराचार्य का शिष्य।"

"तो तब अद्वैती?"

"अब विशिष्टाद्वैती।"

"आप यहाँ कब आये?"

"तीन दिन हुए।"

"तो..."

"यहाँ जिस दिन विग्रह का परिशीलन हुआ न, उसी शाम को।"

"तो आप यहाँ के लिए नये हैं?"

"हाँ।"

"सुना कि गोष्ठी बिठाकर खूब बातें करते रहे, मानो आप बहुत बातें जानते हैं।"

"हाँ।"

"इस तरह झूठ-मूठ बोलना ठीक है?"

"मैं झूठ क्यों कहूँ? जो कहा वह सत्य है, इसी विश्वास से कहा।"

"वह यदि सत्य हो तो आपने देखा होगा न?"

"सब कुछ देखा कैसे जा सकता है? जिसने देखा है, उससे सुना है।"

"तो आपने जो कहा उसकी सत्यता आपको मालूम नहीं। जिससे सुना उसे विश्वस्त मान लिया, यही न?"

"जी हाँ।"

"उस सुनने के फलस्वरूप आपके मन में कौन-सी भावना उत्पन्न हुई?"

"उन सब बातों को इतने लोगों के सामने कैसे कहें?"

"डर क्या है?"

"डर नहीं, संकोच है।"

"शहर की गोष्ठियों में मनमानी कह सकने वाली आपकी यह जिह्वा अब बोलते हुए संकोच कर रही है? विश्वास कुछ ढीला पड़ गया है?"

"हो सकता है।"

"अच्छा जाने दीजिए। आपकी धारणा क्या थी?"

"यहाँ हमारे श्रीवैष्णव धर्म पर आघात होने की सम्भावना है। अन्य धर्मी आघात पहुँचाने पर तुले हुए हैं।"

"आपकी दृष्टि में कौन हैं ऐसे लोग?"

"सो भी उसी पर निर्भर करता है जो हमने सुना है।"

"क्या सुना है?"

"इस स्थपति को अपने वश में करके, विधर्मी पट्टमहादेवी ने जानबूझकर श्रीवैष्णव धर्म का अपमान कर, इस मत के आचार्य की बुराई करने की दृष्टि से दोषपूर्ण पत्थर से विग्रह बनवाया है।"

"किसी ने कहा और आपने विश्वास कर लिया?"

"हाँ।"

"एक राज्य की पट्टमहादेवी का क्या अर्थ है, उनका स्थान-मान क्या है, उनकी जिम्मेदारियाँ क्या हैं, आप जानते हैं?"

"हमें क्या मालूम? हम समझते हैं कि जैसे हमारे घर में हमारी पहली पत्नी है।"

"ऐसी दशा में आपका विश्वास सहज है। बेचारे, आप नासमझ हैं। लोगों की बातों में आ गये। आपकी इस अज्ञानता से हमारी आपके प्रति सहानुभूति है। एक और बात, जब आप अद्वैती थे तब क्या कार्य कर रहे थे?"

"मैं तब परिचारक था। मन्दिर की रसोई में काम करता था।"

"और अब?"

"निर्वाहक हूँ।"

"ओफ-ओह! मत-परिवर्तन करने के लिए यही लालच रहा है, ऐसा मालूम पड़ता है।"

"वह भी एक कारण है। साथ ही जब महासन्निधान स्वयं आचार्यजी के शिष्य हो गये तो प्रजाजन के लिए कौन रोक सकता है?"

बिट्टिदेव की दृष्टि तुरन्त शान्तलदेवी की ओर गयी। उन्होंने उस दृष्टि का उत्तर अपनी दृष्टि के ही द्वारा दिया। उन्हें पहले हुई चर्चा की याद आयी परन्तु अब कदम आगे बढ़ जाने के बाद पीछे नहीं लौटाया जा सकता था।

"उसे मान लेंगे। उक्ति भी है, 'यथा राजा तथा प्रजा।' यहाँ राजा ने नये धर्म में नयी रोशनी देखी और नये धर्मावलम्बी बने। किसी तरह के लालच में पड़कर नहीं, यह न भूलें। हमें किस बात की कमी थी? आपने भी हमारी तरह नये विश्वास के साथ परिवर्तन किया होता तो वह अलग बात होती। आप तो केवल लालच में पड़कर मतान्तरित हुए।"

"प्रत्येक की रुचियाँ-अभिलाषाएँ अलग-अलग हुआ करती हैं।"

"मतलब?"

"मैं गरीब हूँ। परिवार बड़ा है। किसी तरह जीना है। अच्छा धन्धा मिले, यही हमारी आकांक्षा रही है। इसी तरह कम उम्र की युवती, श्रीवैष्णव कन्या मिले महासन्निधान की भी तो ऐसी ही इच्छा थी।"

"छिः छिः। यह कैसी बात है? ऐसा भी कोई सोच सकता है?" लोगों में फुसफुसाहट शुरू हो गयी।

गंगराज उठ खड़े हुए। चाविमय्या ने जोर से कहा, "खामोश, खामोश!"

"कई रानियों को रखने का हक है महाराज को। किसी लालच में पड़कर उन्होंने किसी से विवाह नहीं किया है। ऐसे प्रत्येक प्रसंग में सबकी स्वीकृति पाकर ही किया है। आचार्यजी, आपने अनुचित बात कही है। चूँकि आप बुजुर्ग हैं, हम चुप रहते हैं। आपकी यह बात सिंहासन के लिए अपमानजनक है। ऐसी बात फिर कभी आपके मुँह से निकली तो आपको देश निकाले का दण्ड भोगना पड़ेगा। सावधान!" गंगराज ने कहा।

"मैंने जो सुना और जिस पर विश्वास किया, उसे कह दिया। सन्निधान की साफ-साफ ऐसी ही आज्ञा थी, इसी से कहा। मैं स्वयं तो यहाँ नहीं आया। कहने की छूट न हो, तो नहीं कहूँगा। बुलावा आया सो आया। हुक्म हुआ, कह दिया।"

"अच्छा आचार्यजी, आपको वे सब बातें किसने बतायीं? वे आपके विश्वास पात्र कैसे हुए, बताइए।" बिट्टिदेव ने पूछा।

श्रीनिवास वरदाचार्य अन्यमनस्क-से खड़े रहे। बगलें झाँकने लगे।

"अच्छा जाने दीजिए। राजमहल को मालूम है कि कौन है। अब उन केशवाचार्य को बुलाओ, वे बोलें।" बिट्टिदेव ने आज्ञा दी।

चाविमय्या ने जोर से आवाज दी, "केशवाचार्य!"

कोई नहीं उठा।

"किक्केरी केशवाचार्य मंच पर आवें।" चाविमय्या ने फिर जोर से आवाज दी।

कोई नहीं उठा।

"आये थे, प्रभु। पिछली कतार में दरवाजे के पास बैठे थे।"

"तो यहाँ हमारे सपक्ष, इस सभा के सामने बोलने से डर रहे होंगे। श्रीनिवास वरदाचार्यजी आपको उन्होंने ही ये बातें बतायी हैं, न?"

"हाँ प्रभु।"

"देखा? वे अब क्यों खिसक गये? सो भी आकर चले गये! सत्य बात कहने का साहस नहीं था, यही है न इसका अर्थ? ऐसी दशा में आपने जिसे सत्य माना था उसका क्या मूल्य हुआ?"

श्रीनिवास वरदाचार्य का सिर लज्जा से झुक गया।

"आपने जो जाना वह गलत, और जो कहा सो भी गलत। इतना अगर आप समझ चुके हों तो काफी है। फिलहाल बैठ जाइए। केशवाचार्य से किसने कहा सो भी राजमहल को मालूम है। अभी यह सभा भी जान जाएगी कि यह क्यों बुलायी गयी। धर्म का दुरुपयोग एवं बेहद अन्ध-श्रद्धा, इनके कारण इस तरह की अफवाहों से लोगों को उकसाने का काम चल रहा है। इतना खर्च करके, राज्य के कोने-कोने से श्रेष्ठ शिल्पियों को बुलवाकर इस मन्दिर का निर्माण केवल तिलकधारी श्रीवैष्णवों के ही लिए नहीं करवाया गया है, इस पोय्सल राज्य के समस्त श्रद्धालु जनों की मनःशान्ति तथा सुख एवं ज्ञान और संस्कृति के विकास के लिए किया गया है। आप जैसे अन्ध-विश्वासी जनों को हमारी इन बातों से असन्तुष्ट होने की जरूरत नहीं। आप बुजुर्ग हैं। अर्थहीन अन्ध-विश्वास के वशीभूत होकर केवल बाह्य-आडम्बर को देख धोखे में पड़े हैं। इन वेषधारी लोगों के अन्तर में क्या है, सो समझ में नहीं आता। राजमहल में सच्चाई को समझने-जानने की शक्ति है। आपने जिस केशवाचार्य का नाम बताया वह वास्तव में श्रीवैष्णव है ही नहीं। वह हमारे शत्रुओं का गुप्तचर है। शायद उसने समझा होगा कि उसकी गुप्तचरी के बारे में हमें मालूम नहीं। इसीलिए यहाँ इतने लोगों के समक्ष उपस्थित होने के डर से खिसक गया है। फिर भी वह निकलकर कहीं नहीं जा सकेगा। हमारे गुप्तचर सदा उसके पीछे लगे ही रहते हैं। अभी थोड़ी ही देर में उसे इस सभा के सम्मुख पेश किया जाएगा। उसके वक्तव्य से मालूम पड़ जाएगा कि कौन लोग ये बातें कर रहे हैं। सारी बातें राजमहल से सम्बन्धित लोगों के ही द्वारा निकली हैं, यह परम आश्चर्यजनक बात भी स्पष्ट हो जाएगी।" बिट्टिदेव ने कहा।

तिरुवरंगदास के शरीर पर से दुशाला फिसलता रहा, वह जल्दी-जल्दी उसे ठीक करता हुआ बीच-बीच में लक्ष्मीदेवी की ओर देखता रहा। वह भौचक्की-सी बैठी रही।

पट्टमहादेवी उठ खड़ी हुईं और कहने लगीं, "महासन्निधान की सेवा में मेरी एक विनती है। मैं अब पट्टमहादेवी की हैसियत से बात नहीं कर रही हूँ। एक साधारण

जैन प्रजा की हैसियत से कहना चाहती हूँ। इसके लिए मुझे अनुमति प्रदान करें।'' बात को रोककर, इशारे से अनुमति मिलने पर, आगे कहने लगीं, ''अब राजधानी में प्रकट बातों के अनुसार, महासन्निधान की तरह श्रीवैष्णव मत स्वीकार करनेवाले प्रथम दर्जे की प्रजा हैं, बाकी सब दूसरे दर्जे के लोग हैं—ऐसी धारणा बन जाना स्वाभाविक ही है। प्रधानजी ने और कुछ अन्य लोगों ने मुझसे कहा है। सभी मतावलम्बी समान हैं या नहीं, अब यह प्रश्न हमारे सामने है। इस सम्बन्ध में महासन्निधान अपना निर्णय सुनावें।'' कहकर शान्तलदेवी बैठ गयीं।

''पोय्सल सदा ही एक बात पर अटल रहे हैं। हमारी पट्टमहादेवीजी का जैन होकर रहना इसका प्रमाण है। मतावलम्बन व्यक्तिगत विषय है। इस वजह से शासन किसी को ऊँचा या किसी को नीचा नहीं मानता। इस विषय में किसी को शंका-सन्देह करने की जरूरत नहीं।'' बिट्टिदेव ने जोर देकर कहा।

''अब आगे कार्य कैसे चले, इस बात का निर्णय होना चाहिए। सब समान हैं, इसी निर्णय के आधार पर इस विषय का परिशीलन करना होगा।'' शान्तलदेवी ने प्रस्तुत विषय की ओर आकर्षित किया।

बिट्टिदेव ने आगमशास्त्रियों के प्रमुख से कहा, ''आप लोग अपनी राय सभासदों को सुनाइए, क्योंकि इस कार्य को श्री आचार्यजी के आदेश के अनुसार ही सम्पन्न करना है। उन्होंने इस सम्बन्ध में आप लोगों को सूचित किया ही होगा, ऐसा मैं समझता हूँ।''

''अपने सम्प्रदाय के अनुसार प्रतिष्ठा का समारम्भ हो, यही आज्ञा दी थी।''

''मतलब ?''

''मतलब यह कि श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार ही—यह स्पष्ट है।'' बीच में ही तिरुवरंगदास बोल उठा।

उनकी तरफ मुड़कर बिट्टिदेव ने पूछा, ''ठीक। कोई चिन्ता नहीं। वे हमें निर्देश दें या आपका निर्देश उनके लिए स्वीकृत हो, दोनों एक ही बात है। वह सम्प्रदाय, वह रीति क्या है ?''

''मूल मूर्ति श्रीवैष्णव मत से सम्बन्धित है। प्रतिष्ठा करने वाले सभी को श्रीवैष्णव ही होना चाहिए—यही रीति है। है न आगमशास्त्री जी ?'' तिरुवरंगदास ने कहा; मानो कोई मजबूत नींव उसे इस समय मिल गयी।

''श्रीवैष्णव सम्प्रदाय ही क्यों, सभी सम्प्रदाय यही बताते हैं। यह बात सन्निधान जानते नहीं, सो तो नहीं।'' राजमहल के पुरोहितजी ने कहा।

बिट्टिदेव ने कहा, ''पट्टमहादेवीजी, राजमहल के पुरोहित वर्ग, आगमशास्त्री और स्थपति, सभी को यह बात स्पष्ट रूप से मालूम है। परन्तु जब मत के बहाने दुर्भावनाएँ फन फैलाती हैं, तो वे कहाँ किस रूप में प्रकट होंगी यह कहा नहीं जा

सकता। यह समझकर हमें आज आगे कदम बढ़ाना होगा। मुहूर्त के समय कहीं किसी तरफ की किसी तरह की अड़चन नहीं पैदा होनी चाहिए। यहाँ निर्णय कर लेने के बाद भी यदि कोई गड़बड़ी पैदा करें या रोक-रुकावट उत्पन्न करें तो ऐसे व्यक्तियों के साथ क्या करना चाहिए, इसे राजमहल जानता है। इसलिए यहाँ जितने श्रीवैष्णव एकत्र हुए हैं, जरूरत हो तो सभी विचार-विनिमय कर हमें बता दें। हम बाद में निर्णय लेंगे।''

चाविमय्या पास आया और बोला, ''वह गुप्तचर मिल गया है। आज्ञा हो तो बुला लाऊँ?''

''बुला लाओ उसे।''

सर्वांग में तिलक लगाये केशवाचार्य को दो अंगरक्षक सैनिक बुला लाये, और सभा के समक्ष पेश किया।

''कौन हो तुम?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''केशवाचार्य।''

''कहाँ के हो?''

''किक्केरी का।''

''झूठ।''

''चलो, न सही, पर कम से कम मेरे इस तिलक का तो सम्मान रखा जाए?''

''सम्मान चाहने वाले यहाँ से खिसके क्यों?''

''मैं कहाँ खिसक गया?''

''अन्दर क्यों नहीं आये थे?''

''आया था।''

''तो बैठे क्यों नहीं रहे?''

''बैठा तो था।''

''फिर चले क्यों गये?''

''पेट में एकाएक गड़बड़ी शुरू हो गयी। उससे निपटकर आने के इरादे से चला गया।''

''कल रात तुमने किस जानवर का मांस खाया था?''

''आँ...मैं...मांस...''

''हाँ, वही मांस अब पेट में गड़बड़ कर रहा है।''

''मैं वैदिक, श्रीवैष्णव...!''

''मत कहो ऐसा। जो सच्चे श्रीवैष्णव हैं, उनके नाम पर कलंक लगेगा।''

''इस श्रीनिवास ने या उस तिरुवरंगदास ने मेरी शिकायत की होगी।''

''चाविमय्या, इसके दोनों हाथ पीछे की ओर कसकर बँधवा दो।''

अंगरक्षकों ने वही किया।

"अब इसके उस दुशाले को हटाओ।" दुशाला हटाया गया।

"जनेऊ कहाँ है?"

उसने सिर झुका लिया।

"अब कहो, तुम कौन हो?"

"नहीं कहूँगा।"

"इससे तुमको ही कष्ट होगा।"

"इसके लिए मेरी बलि ही क्यों न हो जाए, मैं डरता नहीं।"

"यहाँ उसके लिए गुंजाइश नहीं। तुम खुद बता दो तो ठीक है। नहीं तो हमें मालूम है कि कैसे कहलवाना है।"

"मेरे प्राण ही जाएँगे, कोई चिन्ता नहीं। मैं अपने मालिक से द्रोह नहीं कर सकता।"

"तुम्हारी मर्जी। तुम उच्चंगी के पाण्ड्य के खुफिया हो। तुम्हारा नाम चोक्कणा है।"

वह जोर से हँस पड़ा।

"क्यों, हँसते क्यों हो?"

"और क्या करूँ? राज्य चलानेवाले ऐसे निपुण होकर भी दूध का दूध और पानी का पानी भी नहीं कर सकते?"

"पिछली घटना शायद तुम भूल गये। हमारी चट्टलदेवी गवाही देकर यह स्पष्ट कर सकती है कि तुम वही चोक्कणा हो।"

"चट्टल-वट्टल को मैं नहीं जानता।"

"चाविमय्या, चट्टलदेवी को बुलवाओ।"

चट्टलदेवी आयी। उसने झुककर महाराज को प्रणाम किया। उसे देखते ही केशवाचारी निस्तेज होकर पीला पड़ गया।

"इसे जानती हो तुम?"

"हाँ।"

"इसका नाम?"

"चोक्कणा।"

"इसे तुमने कहाँ देखा?"

"युद्ध-शिविर में जब जगदेव ने हम पर हमला किया था, तब यह उनके गुप्तचर दल में शामिल था। बताया कि उच्चंगी के पाण्ड्यों का खुफिया है। इसे एक सप्ताह पहले यादवपुरी के लक्ष्मीनारायण मन्दिर के धर्मदर्शी के साथ देखा तो मुझे आश्चर्य हुआ। यह समझकर कि बहुत ऊँचे स्तर पर गुप्तचरी हो रही है, मैंने सन्निधान से निवेदन किया। इसके चाल-चलन पर चाविमय्या ने नजर रखी थी। शेष सभी बातें

सन्निधान को मालूम ही हैं।'' चट्टलदेवी ने स्पष्ट किया।

''कम से कम अब तो मान लोगे?''

उसने सिर हिलाया।

''तुम इधर क्यों आये?''

''यहाँ लोगों में असन्तोष फैलाने, मत सम्बन्धी बातों को लेकर लोगों को उकसाने।''

''तुम्हें क्या फायदा?''

''इसी में मेरे मालिक का लाभ है। आपकी कमजोरी उनकी विजय में सहायक होगी।''

''तो लगता है, तुम समझने लगे हो कि तुम सफल हो गये!''

''प्रतीक्षा करके देखिए, आगे क्या होनेवाला है।''

''क्या होगा सो हमें मालूम है। उस चालुक्य चक्रवर्ती की मानसिक दुर्बलता का फायदा उठाकर तुम्हारा मालिक तथा ऐसे ही और ग्यारह मालिक एक साथ मिलकर हमारे राज्य पर हमला करने की तैयारी कर रहे हैं। ऐसा मत समझो कि यह हमें मालूम नहीं। अभी तुमको दण्ड नहीं देंगे। विजयोत्सव पर यहाँ का अपार जनसमूह देखना। उसके बाद तुम्हें देश-निकाले का दण्ड दिया जाएगा, ताकि जाकर अपने बड़े और छोटे मालिकों से, और सबसे बड़े मालिक उस शकपुरुष से भी कहो कि तुमने क्या देखा। उसके बाद भी हमला करने की सोचते हों तो उनका दुर्भाग्य। हम क्या कर सकते हैं! एक समय था कि जब उन्होंने मेरे पूज्य पिताजी को अपना भाई माना था। उसी भावना के कारण तुमको वापस भेजेंगे। चाविमय्या, अभी इसे बन्धन में रखो।''

वहाँ से उसे ले जाया गया।

''मत सम्बन्धी बातों को लेकर लोगों के दिल-दिमाग को बिगाड़नेवालों के लिए यहाँ स्थान नहीं है। सब लोग इसे जान लें। इस चोक्कण का किस्सा यहीं तक समाप्त नहीं है, और भी बहुत है। परन्तु उस सबके लिए अभी समय नहीं है। अभी हमारे समक्ष इस मन्दिर और प्रतिष्ठा-समारम्भ का प्रश्न है। इस सम्बन्ध में निर्णय करेंगे। श्रीवैष्णव हमारे लिए प्रिय होने पर भी उनकी रीति प्रचलित परम्परा से भिन्न है, ऐसा हम नहीं मानते। पट्टमहादेवीजी के पिताजी ने गाँव में धर्मेश्वर महादेव की स्थापना करवायी थी। जैन होने पर भी उनकी पत्नी ने, किसी तरह धर्म से हटे बिना, उस प्रतिष्ठा-महोत्सव को सांगोपांग सम्पन्न कराया था। हमारे राजमहल की भी एक परम्परा है। क्यों न उसी के अनुसार कार्यक्रम का निर्वाह हो!''

''वैसा भी किया जा सकता है। आचार्यजी के लिए वह मान्य है।'' आगम-शास्त्रियों के नेता ने कहा।

उदयादित्यरस ने कहा, ''महाराज कोई भी धार्मिक कार्य करें, या दान-धर्म करें

उसे पट्टमहादेवीजी के साथ ही करना चाहिए, यह राजमहल की परम्परा रही है।''

आगमशास्त्रियों के कहने का कुछ लोग अनुमोदन करना चाहते थे, पर उदयादित्य की बात सुनकर चुप हो गये।

''क्या राय है आपकी?'' उदयादित्य ने तिरुवरंगदास से पूछा।

''आपको यह राय देनेवाले कौन होते हैं? हमें क्या करना चाहिए। ये लोग हमें बेवकूफ बना देंगे। वह चाण्डाल...हमें क्या मालूम था कि वह खूँखार था। वह आकर हमारे सामने गिड़गिड़ाया। बताया कि तकलीफ में है। मुझे भी दया आ गयी। वह गौर पीछे-पीछे घूमता रहा। इतने से ही उसने मुझे इसमें लपेट लिया है। आगमशास्त्री हैं, सन्निधान हैं।'' तिरुवरंगदास ने अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाही। उसके कहने के ढंग से मालूम होता था कि वह वहाँ से छुटकारा पा जाए तो काफी है।

तभी उदयादित्य बोले, ''धर्मदर्शीजी, राजमहल की रीति-नीति से आपका कोई विरोध नहीं है न? हम यही मान सकते हैं न?''

''राजमहल की परम्परा का विरोध करनेवाला मैं कौन हूँ?'' तिरुवरंगदास ने अनमने भाव से अपनी सम्मति दी।

''आगमशास्त्रियों की क्या राय है?'' उदयादित्य ने उनकी ओर देखा।

''राजधानी का वातावरण कुछ दुष्ट हवा के कारण कलुषित हुआ है। इसलिए दिल खोलकर बात करते मन पीछे हटता है। हम प्रधानतया श्रीआचार्य के दास हैं, सेवक हैं। उनके आदेश के अनुसार चलनेवाले हैं। इसलिए हमारी राय है कि आचार्यजी को जो ठीक लगे वही करना उचित है। पट्टमहादेवी जैसी महासाध्वी की विशाल मानसिकता को जो समझते हैं, वे यही कहेंगे कि उनके निर्देश में सम्पन्न होनेवाले कार्य पवित्र ही होंगे। श्री आचार्यजी के लिए तो वे पुत्री के समान हैं। इसलिए अन्य मतीय होने पर भी पट्टमहादेवी का स्थान महाराज के सभी तरह के सेवाकार्यों में अग्रणी होना चाहिए। यह न्यायसम्मत, धर्मसम्मत और आचारसम्मत भी है। ऐसी स्थिति में राजमहल की परम्परा का विरोध हो ही नहीं सकता, यह स्पष्ट है। पट्टमहादेवी जी यदि वैष्णव मतानुयायी हुई होतीं तो वह बहुत उत्तम होता। लेकिन राजमहल की परम्परा हमारे लिए स्वीकार्य है।'' आगमशास्त्रियों ने अपनी राय विस्तार से बता दी।

''ठीक, अब बात एक तरह से तय हो गयी। अब उसी के अनुसार कार्य चले। इन दुष्टों की बात को लेकर लोगों को भड़काने वालों ने कुछ प्रतिष्ठित जनों के बारे में मनमानी बातें की हैं, यह सुनने में आया है। उनके चरित्र के सम्बन्ध में भी इन लोगों ने चर्चा चलायी है। स्वार्थियों की यही रीति है। लोगों के मन में शंका पैदा करके वे अपने कार्य को सुगमता से साध सकेंगे, यही विचार कर वे ऐसा करते हैं। पहले एक बार बलिपुर में किन्हीं कारणों से चालुक्य पिरियरसी चन्दल देवी जी को पट्टमहादेवी

जी के मायके में रहना पड़ा था। वहाँ भी पिरियरसी और मारसिंगय्या हेग्गड़े जी के शील पर कलंक लगाने के इरादे से ऐसी ही बातें लोगों में फैलायी गयी थीं। साध्वियों पर ऐसे आरोप लगने पर, वे तो कोई भी प्रतिक्रिया दिखाये बिना चुपचाप दुख सह लेंगी, लेकिन वह दुःख उन कहने वालों के लिए शाप बन जाता है। इसीलिए कहा गया है कि करनेवाले का पाप कहनेवाले पर लगता है। करने वाले का पाप कहने वाले पर जब लगता है तो जो पाप करते नहीं उन पर झूठा आरोप लगाने वालों की क्या दशा होगी? 'हम देवभक्त हैं; केशव, नारायण के नाम-स्मरण को छोड़कर हमारी जिह्वा और कुछ उच्चारण नहीं करेगी' कहते हुए मीलभर दूर से दिखाई पड़ सके, ऐसे मोटे-मोटे तिलक चेहरे पर लीप-पोतकर चोरी-छुपे जनसामान्य में झूठी खबरें फैलने वालों के लिए कौन-से नरक का सृजन हुआ है, भगवान् ही जाने। इसलिए आप लोगों से यही विनम्र निवेदन है कि अगर कोई किसी के, या किसी के वंश के बारे में कोई बुरी बात कहे तो उसे सुनकर विचलित न हों। सम्भव हो तो उनकी बातों का वहीं, तब का तब खण्डन कर दें। अभी राजधानी में राज्य के अनेक भागों से हजारों की तादाद में लोग आये हैं। सैकड़ों की संख्या में जासूस भी लगे हुए हैं। जिनका पता लग जाएगा, उन्हें जनता के लौट जाने तक, बन्धन में रखा जाएगा। झूठी बातें फैलाने वाले सभी को शत्रुओं का गुप्तचर मानकर इसी सूत्र के आधार पर बन्धन में रखा जाएगा। इसलिए किसी को ऊल-जलूल बातें बोलकर खतरे में नहीं पड़ना चाहिए। अधिकारियों को कड़ी आज्ञा दे दी गयी है कि अधिकारी, सगे-सम्बन्धी आदि किसी की भी परवाह किये बिना, ऐसे लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाए। इतना ही नहीं, जनता को आगाह करने के लिए आज इस सम्बन्ध में ढिंढोरा भी पिटवाएँगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

"ढिंढोरा पिटवाने पर गुप्तचर चुप रह जाएँगे। बाद को उनका पता लगाना कठिन हो जाएगा। आखिरी वक्त कुछ गड़बड़ी मच जाए तो भीड़ को काबू में लाना मुश्किल हो जाएगा। इसलिए ढिंढोरा पिटवाने के बारे में फिर से विचार करें तो अच्छा होगा।" कुँवर बिट्टियण्णा ने कहा।

"लोगों को सतर्क कर देना अब बहुत आवश्यक है। पाँच-दस गुप्तचर न भी मिलें तो भी कोई चिन्ता नहीं। लोगों में उत्तेजना न हो, इसके लिए पहले ही उनको चेता देना उत्तम है। स्थपतिजी, आपका बहुत समय नष्ट हुआ। परन्तु दूसरा चारा न था। हमें विश्वास है कि आप किसी भी परिस्थिति में कार्य पूरा करेंगे ही। अब इस सभा को विसर्जित करेंगे। निश्चिन्त होकर कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करें।" कहकर बिट्टिदेव उठ खड़े हुए। बाकी सब भी उठ खड़े हुए। राजपरिवार राजमहल की ओर बढ़ गया, अन्य लोग भी अपने-अपने काम पर या अपने-अपने निवासों की ओर चले गये।

उसी दिन दोपहर के वक्त सिन्दगेरे से महाराज बल्लाल की पत्नियाँ पद्मलदेवी,

चामलदेवी और बोप्पिदेवी राजधानी पधारीं। महाराज और पट्टमहादेवी दोनों ने आकर उनके दर्शन किये, कुशल प्रश्न हुए।

बिट्टिदेव जल्दी ही चले गये। शान्तलदेवी ने कहा, "ऐसा लग रहा है जैसे आपको देखे कई युग बीत गये हों। मन्दिर के निर्माण ने सबको एक साथ देखने का मौका दिया है। मेरे लिए तो आप लोगों का आगमन बहुत ही आनन्ददायक है। कुछ सलाह-मशविरा करना चाहूँ तो यहाँ कोई नहीं।"

"तुमको सलाह दे सकें, ऐसी बुद्धिमती हममें से कोई नहीं।" पद्मलदेवी ने यों कह तो दिया लेकिन फिर संकोच हो आया। बोली, "आप पट्टमहादेवी हैं, इस बात को भूल कर कुछ अपनेपन की भावना से कह गयी।"

"आत्मीयता में पद-स्थान गौण रहता है। आप भी तो पट्टमहादेवी ही थीं न?"

"ओह, मेरा किस्सा छोड़ो। आज-जैसी विवेक-शक्ति तब होती! आपको तब शत्रु न मानकर चामला की तरह मित्र मानती, तो मेरा जीवन कुछ और ही होता। हर बात के लिए ईश्वरानुग्रह चाहिए। मेरी वजह से मेरी बहनों का भी जीवन नष्ट हो गया।" पद्मलदेवी ने कहा।

"उन सब बातों का अब स्मरण नहीं करना है। हमें जो प्राप्त हो, उसी से तृप्त होना चाहिए। बहुत लालच करने से मनुष्य सही रास्ते से विचलित हो जाता है। आप लोग उदयादित्यरस के साथ ही आ जातीं तो कितना अच्छा होता! अब तो आ गयीं न? आनन्द की बात है। बहुत समय से इधर नहीं आयी थीं।"

"ऐसा कोई विशेष समारम्भ का कार्यक्रम ही नहीं रहा। महाराज सदा युद्ध में लगे रहते हैं। इसे छोड़कर कोई अन्य अवसर होता ही नहीं।"

"वे क्या करें? शत्रु बिना कारण हमला करने को उद्यत हों तो चुपचाप कैसे बैठे रह सकेंगे?"

"उन्हें प्रोत्साहन देनेवाली और दो रानियाँ जो हैं, जलनेवाली आग को हवा करने की तरह।"

"अब वे युद्ध में मुझे नहीं जाने देते। अलावा इसके, रानी बम्मलदेवी साथ रहती हैं तो सन्निधान बहुत उत्साह में होते हैं।"

"इस बात पर विश्वास कैसे करें? अब तो एक और रानी की आवश्यकता हो आयी महाराज को?"

"एक पुरुष के लिए एक स्त्री काफी है। वह न्यायसंगत भी है। दो हो सकती हों तो चार क्यों नहीं? आठ भी क्यों नहीं?"

"तुम्हारी उदारता ही के कारण तो यह सब हुआ। बहुत प्रज्ञ हो सकती हो। परन्तु इस बारे में मैं तुम्हारी इस प्रवृत्ति का विरोध ही करूँगी।"

"एक बात सोचिए। अब तक हम तीन रानियाँ थीं। अब हम चार हैं। अब तक

हममें कोई ऐसी कटुता नहीं आयी और न ही इससे कोई अड़चन पैदा हुई है।''

''फिलहाल ऐसा हो सकता है। यह नहीं कह सकते कि सदा ऐसा ही रहेगा। हम सभी बहनें ही एक-दूसरे के साथ सहयोगपूर्ण जीवन नहीं बिता सकीं। ऐसे में...''

''उसका कारण है।''

''क्या?''

''आप लोगों में प्रत्येक ने यही चाहा--महाराज मेरे ही पास बने रहें। परन्तु हम सोचती हैं कि दूसरों को भी महाराज का सान्निध्य-सुख मिले।''

''मगर हमारे जैसे स्वभाववाली आ जाएँ तो?''

''हम संन्यास ले लें तो हो जाएगा।''

''अच्छा, आपसे बातचीत में कौन जीत सकता है? यह नयी रानी कौन है?''

''कौन है सो स्वयं वही नहीं जानती। हमारे ये महाराज आचार्यश्री जी के शिष्य हैं न? उस मत से सम्बन्धित कार्यों के लिए उसी मत-सम्प्रदाय की स्त्री का होना ठीक समझकर, अन्दर ही अन्दर षड्यन्त्र रचकर, महाराज को आचार्य के समक्ष एक सन्दिग्ध परिस्थिति में डाल दिया। इसी कारण यह विवाह हुआ।''

''तो मतलब यही हुआ कि पहले की तरह तुमने स्वयं यह विवाह नहीं कराया।''

''नहीं। तब आप उसका निवारण करना चाहती थीं। मैं खुद आगे बढ़ी और वह विवाह हुआ। परन्तु इस बार मैं इस स्थिति में नहीं थी कि मना करूँ। पहले राजपरिवार अपने पूर्वजों के ही मत का अनुसरण करता रहा। परन्तु अपनी बेटी की वजह से वचनबद्ध हो जाने से मतान्तरित सन्निधान, और हम ऐसी दुविधा में पड़ गये कि विवाह के लिए यदि स्वीकृति न देती तो लोगों की दृष्टि में मतान्ध मानी जाती। अन्य मतों के प्रति मैं असहिष्णु कहलाती।''

''आपकी बातों को सुनने पर यही लगता है कि आपने अपने आँचल में आग बाँध रखी है।''

''वह कोई आग नहीं। और फिर, जलने पर भी ऊपर से हवा करने वाले न हों तो वह जल-जल कर वहीं भस्म हो जाएगी।''

''बहुत बड़ा साहस है आपका।''

''हम सब दूसरों की बुराई नहीं चाहतीं तो कोई हमारी बुराई नहीं कर सकता, यह आत्मविश्वास है।''

''हमारी भी यही इच्छा है कि आपको किसी तरह का मानसिक दुःख न हो।''

''मेरे लिए यही आशीर्वाद पर्याप्त है। अब आप आराम करें। यात्रा की थकावट बहुत हुई है। अभी-अभी राजमहल का बहुत परिष्करण हुआ है। अतिथियों के लिए अलग अन्तःपुर और विश्रामागार बनवाये गये हैं।''

''राजमहल राष्ट्र का प्रतीक है। उसका विस्तृत और परिष्कृत होना उचित ही

है। हमें उस वक्त की याद आ रही है जब हमारे ससुर जी को पट्टाभिषिक्त किया गया था; वह दृश्य प्रत्यक्ष हो रहा है। कितने लोग! क्या व्यवस्था थी! कितना उत्साह, कितना सन्तोष!''

''बल्लाल प्रभु का विजयोत्सव भी इतना ही वैभवपूर्ण था।''

''वह सब पुरानी बातें याद आ रही हैं।''

''इस समारम्भ के समाप्त होने पर हम यानी मैं, मेरे माता-पिता और आप तीनों और रेविमय्या, हम इतने लोग श्रवणबेलुगोल चलें, यह मेरी अन्तरंग अभिलाषा है।''

''महाराज?''

''युद्ध निकट हो तो युद्धक्षेत्र, नहीं तो यादवपुरी जाएँगे।''

''यादवपुरी में क्या खास बात है?''

''कुछ नहीं। अभी हाल में वहीं विवाह हुआ था। कहते हैं कि जब कभी वे वहाँ रहते हैं तब उन्हें हमारे दाम्पत्य के शुरू-शुरू के दिन याद हो आते हैं।''

''सहज ही तो है। पर आप साथ न हों तो केवल याद आने से भला क्या लाभ?''

''वही स्मृति अपनी उस नवविवाहिता के साथ रहने में भी तो सहायक हो सकती है।''

''हम क्या जानें! इस समारम्भ के अवसर पर आचार्य जी आएँगे न?''

''नहीं, वे उत्तर की यात्रा पर गये हैं।''

''वहाँ भी उनके भक्त हैं?''

''मुझे मालूम नहीं।''

''फिर इस यात्रा का प्रयोजन?''

''सुनते हैं वहाँ, दिल्ली के बादशाह के पास उनके चेलुवनारायण हैं। उन्हें लाने के लिए जा रहे हैं। स्वप्न में चेलुवनारायण ने आकर आदेश दिया है—जाने से पहले यही खबर भेजी थी।''

''मुसलमानों के पास चेलुवनारायण?''

''उन्होंने कहा तो अविश्वास कैसे करें?''

''सब अजीब है।''

''और भी अनेक अजीब बातें हैं।''

''तो इन अजीब बातों का कोई आदि-अन्त नहीं?''

''असाध्य जब साध्य हो जाए तो विचित्र तो लगता ही है। जब हम प्रत्यक्ष देखेंगे तब मान्यता देनी ही होगी।''

''वही जैसे हमारी माँ ने उस वामशक्ति पण्डित को मान्यता दी?''

''उसके साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। वह समाजद्रोही, देवद्रोही था। ये

तो उससे बिल्कुल उल्टे हैं। लोकहित के अलावा और कुछ सोचते ही नहीं।''

''ऐसा था तो आप भी मतान्तरित हो सकती थीं न?''

''उनकी योग्यता को आँकना, पसन्द करना और बात है। मतान्तरित होना दूसरा ही विषय है। इन दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं। जब आप लोग देखेंगी तभी समझेंगी।''

''वे नहीं आ रहे हैं न?''

''उनके लौटने पर देख सकती हैं।''

''सो पता नहीं कब लौटेंगे।''

''उसके लिए समय है। मुझे आज्ञा हो।'' उठकर शान्तलदेवी चामलदेवी का हाथ दबाकर, बोप्पिदेवी की पीठ सहलाकर, चली गयीं।

फिर बहनों ने अपनी आवश्यकताएँ नौकरानियों को जता दीं। अन्तःपुर में अपने-अपने निवासों की अच्छी व्यवस्था करा लीं। शान्तलदेवी ने उनसे परिचित सेवक-सेविकाओं को ही इस काम के लिए नियुक्त किया था।

शाम को जब पट्टमहादेवी, रानी लक्ष्मीदेवी और राजलदेवी अन्तःपुर के कार्यों को सँभालने के लिए चली गयीं, तब यह मानकर कि अन्तःपुर में रानी लक्ष्मीदेवी अकेली होंगी, तिरुवरंगदास किसी तरह सीधा रानी के विश्रान्तिगृह में जा पहुँचा।

रानी लक्ष्मीदेवी ने सुबह के कार्यकलापों को देखने के बाद निश्चय कर लिया था कि किसी भी बात में हस्तक्षेप नहीं करेगी। राज्य-संचालन तो रसोई तैयार कर भगवान् को भोग लगाना नहीं, उसके लिए बड़ी अक्ल चाहिए और दूर-दृष्टि भी—यह वह जान गया थी। उसके पोषक पिता ने जो बातें कही थीं उनको सुनकर वह प्रभावित हुई थी और गत रात को महाराज से जो बातें उसने की थीं, उन्हें मन-ही-मन दुहराया। और सुबह सभा में जो कार्य-कलाप हुए थे उनके साथ तौलकर देखा। लगा कि वास्तविकता कुछ और है। बातों को रँगकर कहा गया कुछ और ही। वास्तव में एक दिन स्थपति को एकान्त दर्शन देते समय, किसी और का प्रवेश न होने पर भी, यह शंका निराधार है, जानकर भी पिता की बात पर क्यों विश्वास किया? रात को शिकायत क्यों की? महाराज ने इन सब बातों को पट्टमहादेवी जी से अवश्य ही कहा होगा। मैं किस मुँह से उनके सामने जाऊँगी? आचार्य जी के मना करने पर भी पिताजी को क्यों आना चाहिए था? मुझे इस तरह अपमानित कराना चाहिए था? महासन्निधान के मन में मेरे पिता के विषय में पहले से ही सद्भावना नहीं है, यह देख रही हूँ। अब तो रहा-सहा भी खतम हो गया। मील-भर दूर-से ही दिखाई दे, ऐसा तिलक लगाने वाले की बात जब उन्होंने कही, तब मुझे यह साफ लगा कि यह इशारा मेरे पिता की ही ओर है। तब तो बात ही खतम हो गयी। मैं भी सुखी हूँ। उन्हें भी कोई कमी नहीं। ऐसी हालत में ये सब कार्रवाई क्यों? यह सब सोचकर वह अपने पिता से कह देना चाहती थी कि दो-चार दिन चुपचाप पड़े रहकर गौरव के साथ यादवपुरी लौट जावें।

नौकरानी ने आकर कहा, ''धर्मदर्शी जी दर्शन के लिए आये हैं।'' उन्हें अन्दर बुलवाया। उसने निर्णय कर लिया था कि अभी उन्हें समझाकर स्पष्ट कह दें।

तिरुवरंगदास अन्दर आया, बेटी को देखा। हमेशा की तरह उसने उसकी ओर नहीं देखा। उसने समझा कि सुबह की सभा में उसकी आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिली है, इसलिए वह परेशान है। बेटी के पलँग के पास एक आसन खींचकर वहाँ बैठ गया। दरवाजे की ओर देखा। वह बन्द था।

''किसलिए परेशान हो, बेटी? शुरू-शुरू में सब ऐसे ही कष्टकर मालूम पड़ता है, दुखदायक लगता है। परन्तु श्री आचार्यजी के काम की जिम्मेदारी जिनके ऊपर है उन्हें कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। मैं कहाँ-कहाँ का पानी पी चुका हूँ, यह तुमको भी मालूम नहीं। मैं जैसा कहता हूँ वैसा चलकर देखो। तुम्हारे गर्भ से जो उत्पन्न होगा उसे ही सिंहासनारूढ़ होना चाहिए, ऐसा कर दूँगा।''

लक्ष्मीदेवी ने गरम होकर उसकी ओर देखा और कहा, ''पिताजी, ऐसा मत करो कि मुझे भी गुस्सा आ जाए। चुपचाप दो-चार दिन रहो, फिर यादवपुरी चले जाओ। अभी जितना अपमान मेरा हुआ है, वह काफी है।''

''क्या अपमान हुआ बेटी? किसी ने तुम्हारे बारे में कुछ कहा?''

''कहा नहीं, सच है। परन्तु किसी ने मेरी परवाह भी तो नहीं की। एक भी बात कहने के लिए मौका नहीं मिला।''

''बोलना चाहिए था। मैं सोच रहा था कि तुम गूँगी की तरह क्यों बैठी हो। जब पट्टमहादेवी से कहा गया कि अपनी जगह छोड़कर अन्यत्र बैठें, तब उसका चेहरा तुमने देखा? इतनी बड़ी सभा में किसी को भी साहस नहीं हुआ कि कहे, ऐसा नहीं होना चाहिए! फिर भी जैन जैन ही तो हैं। उस प्रधान के अहंकार को तुमने नहीं देखा? वह महाराज को ही उपदेश दे रहा था न कि पट्टमहादेवी को उन्हीं के स्थान पर होना चाहिए! ऐसा भी हो सकता है बेटी? हमारे चोलराज्य में ऐसा हुआ होता तो उसकी जीभ काट दी जाती...''

''हाँ हाँ, इसी से डरकर न आचार्य पोय्सल राज्य में भाग आये!''

''जाने दो बेटी। तुम्हीं अगर यह कहने लगीं तो फिर यहाँ आचार्य के पन्थ का विकास भी कैसे होगा? उन्होंने तुमको रानी बनाया तो वह इसलिए नहीं कि तुम गद्दी पर आराम से इतराती बैठी रहो। उन्होंने इस पद पर बिठाया, इसका ऋण तुम्हें चुकाना होगा।''

''वे स्वयं बताएँ कि उन्हें क्या चाहिए, मैं उसे पूरा करूँगी। दूसरों को माध्यम बनाया जाए, यह मैं नहीं चाहती।''

''तो क्या मैं तुम्हारे लिए गैर हो गया?''

''नहीं, परम आत्मीय, रक्षक हो। इसीलिए वैरियों के गुप्तचर से मित्रता स्थापित

की। तुम्हारे बरताव से, तुम्हारे इस तरह के चाल-चलन से, मुझे लज्जा से सर झुकाना पड़ा। मेहरबानी करके आइन्दा मुझसे कोई बात न कहो। मैं तुम्हारी बातों को नहीं सुनूँगी। तुम्हारे यहाँ आने से गड़बड़ी होगी, यह जानकर ही आचार्यजी ने तुम्हें डाँटकर छोड़ दिया और आने से मना कर दिया था। फिर भी इस तरह दखलन्दाजी करके, हथकड़ी पहनाये जाने तक...मुझे और अधिक अपमानित मत करो। अब तुम्हारा यहाँ से चले जाना ही अच्छा है।" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

घण्टी बजी। नौकरानी अन्दर आयी, प्रणाम किया और "सिन्दगेरे से पूर्व महाराज की रानियाँ मिलने आयी हैं," कहकर आदेश की प्रतीक्षा में खड़ी रही।

"मैं खुद दर्शन करने जाऊँगी। वे तो ज्येष्ठा हैं।" लक्ष्मीदेवी ने उठते हुए कहा।

"वे यहीं आ गयी हैं। और द्वार पर प्रतीक्षा कर रही हैं।"

लक्ष्मीदेवी उठकर जल्दी-जल्दी द्वार के पास गयी, कहा, "पधारिए, कब आना हुआ? मुझे मालूम ही नहीं चला! खबर भेजती तो मैं स्वयं सेवा में आ पहुँचती।" कहकर उन्हें साथ विश्रामागार में ले आयी।

उन्हें उचित आसनों पर बिठाकर खुद भी एक आसन पर बैठ गयी। "ये मेरे पिता हैं," कहकर तिरुवरंगदास का परिचय दिया।

रानियों ने मुस्कराते हुए नमस्कार किया। उसने भी जवाब में नमस्कार किया। "बहुत दिनों बाद ही सही, आप आयीं तो! बहुत खुशी की बात है। ठीक वक्त पर ही आना हुआ। सुना कि आप लोगों को उदयादित्यरस जी के साथ आना था? आयी होतीं तो यहाँ इधर जो कुछ हुआ सो आँखों से देख सकतीं और सुन भी सकतीं।" तिरुवरंगदास ने किस्सा शुरू किया।

"हमारा क्या है? हमारा जमाना ही गुजर गया। बहुत भारी विजय हुई है; चोलों से गंगवाड़ी की विजय के इस महोत्सव के सन्दर्भ में आकर आशीर्वाद देने के लिए हमारी पट्टमहादेवी ने जोर दिया तो हम आ गये। एक साथ दोनों काम हो जाएँगे। एक तो अपने पुराने लोगों से मिलना भी होगा और नवागतों से भी परिचय हो जाएगा। देखिए, हमारे राजघराने की सभी रानियाँ, हमारे मूलपुरुष सळमहाराज से लेकर हमारे विवाह तक, सभी जिनभक्त ही रहीं। अब समय बदल गया है। हमारे वर्तमान महाराज स्वयं आपके मत के अनुयायी बने हैं। साथ-ही अपने नये मत की इन छोटी रानी से पाणिग्रहण किया है। इस सबको जानने का कौतूहल उत्पन्न हो गया तो आ गयीं। तो आप यहीं, राजमहल में ही रहते हैं?" पद्मलदेवी ने एक छोटा-सा भाषण ही दे डाला।

"नहीं, मैं तो यादवपुरी में रहा करता हूँ। अभी इस उत्सव के लिए आया हूँ। आमन्त्रितों के लिए बने निवासों में से एक में अकेला ही रहता हूँ। पूजा-अर्चना आदि के लिए हमें कुछ स्वतन्त्रता चाहिए। हमारा स्नान-पान, पूजा-पाठ आदि का राजमहल के वातावरण में होना कुछ मुश्किल है।"

''सो तो सच है। इस तरह के औचित्य-अनौचित्यों को हमारी पट्टमहादेवी जी अच्छी तरह समझती हैं। उन्होंने उचित व्यवस्था की होगी।''

''सो ठीक है। वे सदा ही दूर की बात सोचती हैं। ऐसा क्या है जो आप नहीं जानतीं? आपके जमाने में भी राजमहल में उनका बहुत प्रभाव रहा, सो तो आप जानती ही हैं न? तब कहना ही क्या है? आपका अनुभव भी कम है क्या?''

''अनुभव किसी का कुछ भी हो, दैवेच्छा के सामने किसी का कुछ नहीं चलता। हम सब उसके सामने तिनके के बराबर हैं।''

''ऐसा कहेंगी तो कैसे चलेगा? मानव का तन्त्र ईश्वरेच्छा को भी बदल सकता है।''

''आप जैसे देवभक्त के मुँह से ऐसी बात सुनकर आश्चर्य होता है! आपको मालूम नहीं, ईश्वरेच्छा को बदलने के इरादे से हमारी माँ ने पता नहीं कौन-कौन से तन्त्र किये। फिर भी वह बदली नहीं। यदि हमारी इच्छा दूसरों को हानि पहुँचाने की हो तभी तो हम तन्त्र रचते हैं। उस तन्त्र के फल को हम तीनों बहनों ने भोगा। हम स्वयं आपस में झगड़ पड़ीं। सब झेल चुकने के बाद अक्ल आयी। परन्तु हमें अपना सर्वनाश कर लेने के बाद ही अक्ल आयी। आपकी बेटी बड़ी भाग्यवती है। अगर उसे अपने भाग्य को ज्यों-का-त्यों बनाये रखना हो तो इन मन्त्र-तन्त्रों का आश्रय न लें। हमारे महाराज पट्टमहादेवी से कितना प्रेम करते हैं सो आप लोगों को मालूम नहीं। स्वयं मतान्तरित होने पर भी पट्टमहादेवी ने मतान्तर स्वीकार नहीं किया, इसलिए महाराज उनसे असन्तुष्ट हैं, ऐसा विचार किसी का होगा तो वह उसकी भूल होगी। पट्टमहादेवी जी भी महाराज से उतना ही प्रेम करती हैं। महाराज की सभी इच्छाओं को पूर्ण करती आयी हैं। अपने पारिवारिक अनुभव की पृष्ठभूमि में हम विचार करती रहीं कि पोय्सल राजा एक-पत्नीव्रत का ही पालन करें। इसीलिए हमने बम्मलदेवी और राजलदेवी को रानी बनने से रोकने का प्रयत्न भी किया, परन्तु हम सफल नहीं हुए। स्वयं पट्टमहादेवी जी ने ही आगे बढ़कर यह विवाह करवाया। शायद आपकी बेटी का विवाह भी उनकी सम्मति से हुआ है। उन्हें हम बाल्य-काल से जानती हैं। उनके मन में कभी खोटी भावनाएँ आती ही नहीं। क्षमा उनका महान् गुण है। उनके विरुद्ध कोई भी तन्त्र नहीं चल सकता। न चलेगा। उनके आश्रय में किसी को कभी भी बुराई नहीं होगी।'' चामलदेवी ने कहा।

''आपने कहा कि आपको माताजी ने कोई तन्त्र किया, सो क्या किया था जान सकती हूँ?'' लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

''क्या रखा है उसमें? अवश्य जान सकती हैं। वह एक बड़ा किस्सा है। फुरसत से कहना होगा। उत्सव आदि कार्यक्रम समाप्त हो जाएँ, बाद में बताऊँगी। उन सब बातों को जाने रहना अच्छा है।''

"आप कुछ भी कहिए, वे मतीय विषयों में, धर्म के विषयों में, बहुत जिद्दी हैं। मुझे तो ऐसा ही लगता है।" तिरुवरंगदास ने कहा।

"आप जिद्दी नहीं हैं? आपके माथे पर का यह लांछन ही बता देता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। जिस पर विश्वास होगा उसी का अवलम्बन करना सहज है। फिर भी मत-सहिष्णुता में वे सबसे आगे हैं।"

"मुझे क्या मालूम, मुझे जैसा लगा मैंने बता दिया। आपका अनुभव मेरे अनुभव से भी अधिक व्यापक है। जितना आप उन्हें समझती हैं, उतना मैं कैसे समझ सकता हूँ?"

"सच है। कल देखिएगा, वे किस तरह आप सभी लोगों से बढ़कर श्रीवैष्णव के प्रति श्रद्धा-भक्ति से आचरण करेंगी। यह सम्पूर्ण मन्दिर उन्हीं के निर्देशन में बना है, सो तो आप जानते ही हैं।"

"फिर भी यह आश्चर्य है कि मूल विग्रह बनाने के लिए दोषयुक्त शिला का प्रयोग किया गया। इस मन्दिर का पुण्य प्रभाव है, आचार्यजी का पुरस्कृत पुण्य भी रहा। यह बात प्रकट हुई और नयी मूर्ति बन रही है।"

"ऐसा है! जहाँ पट्टमहादेवी हों, वहाँ ऐसा होना सम्भव ही नहीं है न!" पद्मलदेवी ने कहा।

"पर अब हुआ है न! विकृत उदर की वह मूर्ति ज्यों-की-त्यों खड़ी है। चाहें तो देख आइए।" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"हो सकता है। आखिर मनुष्य ही हैं, कभी-कभी दृष्टि-दोष के कारण ऐसा भी हो जाता है।"

"कोई एक भित्ति-चित्र या विग्रह ऐसा होता तो कोई चिन्ता नहीं थी। मूल मूर्ति ही ऐसी हो तो इसे केवल दृष्टिदोष कैसे मान लें? मानना कठिन है।" तिरुवरंगदास ने कहा।

"आपकी क्या राय है?" चामलदेवी ने प्रश्न किया।

"पिताजी, अब ये सारी बातें क्यों? वह तो निर्णीत है। उसके बारे में चर्चा न करें। सुबह महासन्निधान ने जो कहा सो भूल गये?" लक्ष्मीदेवी ने उस बात को वहीं समाप्त कर दिया।

तिरुवरंगदास उठ खड़ा हुआ।

"रानीजी को लेकर एक बार सिन्दगेरे आइएगा।" पद्मलदेवी ने कहा।

"हमें कहाँ ऐसी स्वतन्त्रता? अब तो रानीजी को ही चाहिए कि हमें ले जाएँ। इसलिए उन्हीं से कह दीजिएगा। अब मुझे आज्ञा देवें।" तिरुवरंगदास वहाँ से निकल पड़ा।

रास्ते में जाते हुए वह सोचने लगा, 'रानी पद्मलदेवी बिना दाँत के साँप-सी बन

गयी। उनका किस्सा सुनकर सोचा था कि उनसे मुझे मदद मिल जाएगी। कुछ फायदा नहीं।' पर आगे की चाल सोचने से उसने अपने आपको रोका नहीं। बेटी की बात का उस पर कोई असर नहीं पड़ा। सोचने लगा, आगे हम क्या करना है!

तीनों रानियों में यह कौतूहल रहा कि न जाने रानी लक्ष्मीदेवी के मन में क्या है, उसका स्वभाव कैसा है। उम्र छोटी; सुन्दर है; शारीरिक गठन भी अच्छा है, सलोनी है। बाहर से सब ठीक है। मगर उसका अन्तर कैसा है? तीनों के सामने यही प्रश्न था।

रानी पद्मलदेवी ने ही बातचीत आरम्भ की। साधारण विषय से बात उठी तो वह विषयान्तर होकर कहीं-की-कहीं पहुँच गयी। लक्ष्मीदेवी के पूर्व वृत्तान्त को जान ही नहीं सकीं। फिर भी, उन्हें लगा, उसे महाराज से अपार प्रेम है। उनसे डरती भी है। पट्टमहादेवी का वह सम्मान करती है। दूसरी रानियों के विषय में उसने कोई विचार नहीं किया है। पिता के प्रति वह कृतज्ञ है, फिर भी उसकी सब बातों को मान लेना नहीं चाहती। कुल मिलाकर उसका मन एक तरह से डाँवाडोल है। उसे अपने तईं छोड़ दें तो वह राजमहल के वातावरण में खप सकती है। परन्तु बार-बार कान भरते रहने पर उसकी बुद्धि किस तरफ मुड़ेगी, कहा नहीं जा सकता, आदि-आदि विचार, उससे हुई बातचीत के फलस्वरूप, पद्मलदेवी के मन में उठने लगे। पद्मलदेवी ने यह भी सोचा कि जब तक वहाँ रहेंगी तब तक उसे समझा-बुझाकर उसके मानसिक संघर्ष को कुछ कम करना होगा।

वहाँ से विदा होकर राजमहल के नव-विस्तारित भागों को देखती हुई वह आगे बढ़ी कि इतने में रानी बम्मलदेवी, रानी राजलदेवी, दोनों के लौट आने की खबर मिली। उन्हें देखकर कुशलक्षेम पूछने के बाद वे अपने विश्रामागार की ओर चल दीं। पट्टमहादेवी जी के साथ ही सूर्यास्त के पूर्व, उन सबका भोजन भी हुआ, उस दिन किसी को भी आराम करने के लिए समय ही नहीं मिला। प्रतिष्ठा-महोत्सव दूसरे ही दिन होने वाला था, इसलिए सभी व्यस्त थे।

सुबह तड़के ही महाराज और पट्टमहादेवीजी को मांगलिक स्नान भी करना था। मायिकब्बे और प्रधानजी की धर्मपत्नी लक्कलदेवी ने शास्त्रोक्त रीति से अभ्यंजन विधि को सम्पन्न किया। दूसरी रानियों से भी मंगलस्नान करने का अनुरोध किया गया।

मंगलस्नान के पश्चात् आचार्य द्वारा प्रेषित शुभ्र, नूतन वस्त्र धारण कर राजदम्पती देवमन्दिर की ओर चलने को तैयार हुए। मंगलवाद्य बजने लगे। सारी वेलापुरी मंगलवाद्य-ध्वनि से गूँज उठी। जात-पाँत का भेदभाव भूलकर, वेलापुरी की सारी जनता स्नानकर, शुभ्र वस्त्र धारण कर, मन्दिर की ओर जाने लगी। वेलापुरी में उत्साह-ही-उत्साह दीख रहा था। सारा नगर सर्वत्र गली-कूचों तक बन्दनवार, अल्पना, रंगवल्ली आदि से सजकर जगमगा रहा था मानो भूमाता ने अपनी सारी प्रसाधन सामग्री को वेलापुरी में ही बिखेर दिया हो। पिछले दिन, सूर्यास्त के समय से ही मन्दिर में नूतन विग्रह को

अभिषेक, धान्याधिवास आदि सारी क्रियाएँ चलने लगी थीं। मन्दिर का कल्याण मण्डप अधिकतर तिलकधारियों से ही भरा हुआ था। अन्य लोग भी नहीं थे, सो बात नहीं, परन्तु इन तिलकधारियों का अग्रिम स्थान था, यह कहा जा सकता है। मन्दिर के बाहरी प्रांगण की छत के नीचे का भाग खचाखच भर गया था।

प्रतिष्ठा महोत्सव को सम्पन्न करने के लिए सम्पूर्ण राज-मर्यादा के साथ राजदम्पती पैदल आये। उनके लिए तथा राजपरिवार के अन्य लोगों के लिए पहले से आसन तैयार थे। वे सब उन आसनों पर बैठ गये। आगमशास्त्रियों ने शास्त्रोक्त रीति से सभी कार्यों का समापन कर मूर्ति को भद्रपीठ पर प्रतिष्ठित करके [illegible] का फूल करना मात्र बचाये रखा था।

समस्त भक्तजनों की स्वीकृति की प्रतीक्षा करते हुए आगमशास्त्रियों के नेता ने पूछा, "मुहूर्त सन्निहित है, प्राण-प्रतिष्ठा के लिए स्वीकृति देवें।"

स्थपति, उनका बेटा और तीन-चार शिल्पी भी मंगलस्नान से परिशुद्ध होकर विग्रह को ठीक ढंग से खड़ा करके उसे वैसे ही थामे खड़े रहे।

एक कण्ठ से सबने स्वीकृति दी। वेदोक्त रीति से चेन्नकेशव की शिलामूर्ति में राजदम्पती के हाथों प्राण-प्रतिष्ठा करायी गयी। स्थायी रूप रखने के लिए मूर्ति को शिल्पियों ने मजबूत पीठ पर खड़ा किया। मांगलिक वाद्य बज उठे।

आगमशास्त्रियों ने कहा, "आचार्यश्री के आदेशानुसार चेन्नकेशव की इस मूर्ति की स्थापना एवं निश्चित अभिजिन्मुहूर्त में विधिपूर्वक प्राणप्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न हुआ। पोय्सल महाराज के हाल के विजयोत्सव, खासकर तलकाडु जीतकर गंगावाड़ी को फिर से प्राप्त कर लेने के इस शुभ अवसर के स्मारक के रूप में भगवान् को विजयनारायण के नाम से अभिहित करेंगे। इस अभिधान से विभूषित करने के पूर्व प्रतिष्ठापित भगवान् को पंचामृत से, पंचनदियों के जल से अभिषेचन पूर्वक षोडशोपचार पूजा करने के लिए अनुमति प्रदान करें।"

लोगों ने हर्षोद्गार के साथ अनुमति प्रदान की। घण्टे-नगाड़े आदि बज उठे। आगमशास्त्रियों ने उक्त रीति से पूजा-कार्य शुरू किया। क्षीर, दधि, मधु, घृत, फल, शर्करायुक्त महाभिषेचन हुआ। कावेरी, कपिला, तुंगभद्रा एवं वरदा नदियों के जल से भगवान् का मंगलस्नान भी कराया गया। बाद में गन्ध, अक्षत, यज्ञोपवीत, हरिद्रा, कुंकुम, सिन्दूर आदि से सजाकर पुष्पार्चन, सहस्रनामार्चन, धूप दीप, नैवेद्य और आरती—सब यथावत् सम्पन्न किये गये। अब अन्त में सैद्धान्तिक सेवाएँ होनी चाहिए। इनके लिए कौन क्या सेवा करे, यह सब पहले से ही निश्चित था। चारों वेदों का पठन, मन्त्रपुष्प के बाद एक-एक कर सभी कार्य सम्पन्न हुए। अब संगीतसेवा की बारी थी। प्रधान आगमशास्त्री ने संगीतसेवा की घोषणा की। वहाँ केवल वाद्य-वृन्द रखा था। कोई गायक नहीं था। राजदम्पतियों ने इधर-उधर देखा। अब तक सभी कार्यक्रम

यन्त्रवत् चलते आये और अब यह देरी तो सह्य कैसे हो?

"कौन है? संगीतसेवा के लिए कौन नियुक्त था?" महाराज ने पूछा।

"कोयतूर के आनन्दाळ्वार।"

"वे कहाँ गये?"

"सुबह से यहीं थे। ठीक समय पर ऐसा हो गया।" आगमशास्त्री हाथ मलने लगे।

पट्टमहादेवी ने अपने पीछे खड़े कुँवर बिट्टिगा को संकेत से पास बुलाया। "छोटे दण्डनायक तानपूरा बजावें। श्रुति शुद्ध रहे," आदेश दिया। वह तानपूरे के कान उमेठकर श्रुति बिठाकर बजाने लगा।

पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने मधुर गायन प्रारम्भ किया। सन्निधान जनता के साथ-साथ मौन भाव से इस गान-माधुर्य का एकाग्रचित्त होकर आस्वादन किया। लोगों को पहले मालूम नहीं हुआ कि गानेवाली कौन है। फिर भी उस गान-माधुर्य ने उन्हें दिव्यलोक में पहुँचा दिया था।

पट्टमहादेवी ने जो गीत गाया वह आशु-कवित्व था, उसका सारांश यह था : भिन्न-भिन्न मतावलम्बी तुम्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं और देखते हैं, परन्तु तुम सर्वव्यापी हो और इन भिन्न-भिन्न रूपों में भक्तों को सन्तुष्ट करते हो। हे प्रभु! सबकी रक्षा करो।

पता नहीं, पट्टमहादेवी को क्या सूझा, "दण्डनायक जी मुरज बजाएँगे?" उन्होंने पूछा।

"बजाऊँगा। पर क्यों?"

"बताऊँगी। दो हैं न? एक यहाँ दो। मैं बजाऊँगी। तुम अनुसरण करते जाना। बाद में ठीक बजा लेंगे। नृत्य-सेवा के लिए कोई दूसरा नहीं है, ऐसा मालूम होता है। सन्निधान अनुमति प्रदान करें। इस सेवा का समर्पण न हो तो पूजा परिपूर्ण नहीं होगी। पीछे चलकर लोग यह न कहें कि इतने बड़े महाराज द्वारा सम्पन्न इस प्रतिष्ठा-महोत्सव में नृत्य-सेवा नहीं थी।"

बिट्टिदेव ने सम्मति प्रदान की।

पट्टमहादेवी ने रानी बम्मलदेवी को बुलाया और, "नृत्य-सेवा कर लौटने तक महाराज की बगल में उस स्थान पर जाकर बैठिए जहाँ मैं बैठी थी," यह कहकर नृत्य-सेवा के लिए नियत स्थान पर, जो प्रतिष्ठापित मूर्ति के सामने ही सजाकर तैयार किया गया था, मुरज लेकर खड़ी हो गयीं। स्वयं मुरज बजाती हुई, नृत्यानुरूप गाती हुई, बड़े हृष्ट मन से जगन्मोहिनी ताण्डवेश्वरी की तरह लास्यपूर्ण-नृत्य करने लगीं। उनकी मन्दगति के अनुसार कुँवर बिट्टियण्णा ने मुरज बजाया। अपने पादों से गति सूचक ताल भी देने लगा। दोनों एक अलग ही कल्पना-लोक में पहुँच गये थे। नृत्य-

सेवा से चेन्नकेशव सुप्रीत हुए। गर्भ-गृह से घुँघरू की ध्वनि सुनाई देने लगी। भगवान् को जो पुष्पमाला पहनायी गयी थी, वह घुँघरू की लय पर धीरे-धीरे दक्षिण स्कन्ध पर से खिसकने लगी। यों खिसकती-खिसकती नीचे तक आ गयी। आगमशास्त्रियों ने उसे उठा लिया और नृत्य-सेवा समाप्त होते ही पट्टमहादेवी को देकर कहा, "चेन्नकेशव स्वामी द्वारा प्रदत्त यह प्रसाद स्वीकृत हो।" फिर महाराज की ओर मुँड़कर बोले, "महासन्निधान ने एक विनती है। आचार्यजी ने हमें सूचित किया था। सन्निधान को भी बताया होगा। स्वामी की कण्ठमाला इस तरह दक्षिण भुजा पर से होकर खिसके तो प्रतिष्ठा शास्त्रीय विधि से हुई है, ऐसा माना जाए। ठीक उसी समय अलग-अलग गाँवों से दो चर्मकार स्वामी के चरणों में समर्पित करने के लिए जो पादत्राण बनाकर लाएँगे, उन्हें गौरव के साथ अन्दर लाकर स्वामी के चरणों के पास रखवावें। प्रति वर्ष इसी दिन चर्मकारों को भी देव सन्दर्शन का अवसर मिलता रहे, यह आग्रह श्री आचार्यजी का है।"

बाहर से गगनभेदी नगाड़ों की आवाज सुनाई पड़ी।

"चेन्नकेशव भगवान् के पादत्राण आ गये, यह उसी की सूचना है।" बिट्टिदेव ने कहा।

पट्टमहादेवी कुँवर बिट्टियण्णा को साथ लेकर, आगमशास्त्रियों के प्रमुख नेताओं को आगे करके मन्दिर से बाहर आयीं। उन पादत्राणों को रखवाने के लिए मन्दिर के महाद्वार के सामने दो पीढ़े लगवाये गये थे। लाल वस्त्र में लपेटे हुए एक-एक पादत्राण को अपने सिर पर रखे दो चर्मकारों ने आकर उन्हें पीढ़ों पर रख दिया। आगमशास्त्रियों ने उस लपेटे हुए वस्त्र को खोलने का आदेश दिया।

पट्टमहादेवी उनके पास गयीं, देखा, और एक परिक्रमा की।

"बिट्टि, देखो न! इन दोनों को अलग-अलग गाँवों के चर्मकारों ने बनाया है। ये एक-दूसरे से परिचित नहीं। मगर रूप, आकार, माप, प्रयुक्त चमड़ा सब एक जैसा है। इन्हें तैयार करने वाले दोनों जन भगवान् के आदेशानुसार एक-एक पादत्राण बना लाये हैं। है न यह एक अद्भुत बात?" शान्तलदेवी ने कहा।

"अद्भुत तो है! इससे भी अद्भुत यह है कि इस बात को बहुत पहले आचार्य जी ने आपसे कहा था।" बिट्टियण्णा ने कहा।

आगमशास्त्रियों ने उन पर मन्त्रपूत जल छिड़का और उन्हें लाने वाले उन चर्मकारों पर भी जल छिड़का और कहा, "आप दोनों जैसे इन्हें यहाँ ले आये, उसी तरह, सिर पर रखकर मन्दिर की एक परिक्रमा करके, अन्दर ले आवें और भगवान् के सान्निध्य में इन्हें रख दें।"

पास में खड़े तिलकधारी ने आगमशास्त्री की बात सुनकर प्रश्न किया, "क्या चर्मकार मन्दिर के अन्दर आवेंगे?"

''हाँ, ये पादत्राण केशव भगवान् के आदेश के अनुसार तैयार करके लाये गये हैं।'' आगमशास्त्रियों ने कहा।

''उस भगवान् ने आकर आपसे कहा है? अभी तो प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। इसके पहले इस भगवान् का अस्तित्व ही कहाँ था?'' तिलकधारी की आवाज ऊँची हुई।

''तो क्या केशव भगवान् अभी उत्पन्न हुए हैं? आपकी बात भी अजीब है! मानव-सृष्टि के कारण-कर्ता भगवान् केशव के अस्तित्व पर ही शंका करनेवाले आपके विश्वास का आधार ही नहीं रहा? आपके सर्वांग पर लगे इन लांछनों का क्या महत्त्व रहा है? विश्वास रहित, अशुद्ध मन वाले आप, लगता है, इस विषय को समझते ही नहीं हैं।''

''मैं समझता नहीं? छोड़िए। और भी सैकड़ों हैं, कई सैकड़ों की संख्या में लोग होंगे। उन सबको बुलाकर पूछ लीजिए। चर्मकारों को अन्दर आने देने को किस केशव भगवान् ने कहा है? उन्हें कहने दें। जल्दी न करें। इस पवित्र कार्य को सम्पन्न कर लेने दीजिए अभी-अभी प्राण-प्रतिष्ठा हुई अब उस भगवान् को अपवित्र न बनावें। मैं अभी आया,'' कहकर वह भीड़ में गायब हो गया।

दो-चार क्षणों के अन्दर, एक तैयार सेना की तरह तिलकधारियों का झुण्ड उस तिलकधारी के साथ वहाँ आ पहुँचा। वे लोग 'रास्ता, रास्ता' चिल्लाते हुए महाद्वार के पास से लेकर पादत्राणों के उन पीढ़ों तक कतार बाँधकर खड़े हो गये। उस टोली का तिलकधारी नेता जोर-जोर से चिल्लाकर कहने लगा, ''इन्हें अन्दर ले जाना हो तो हमें रौंदकर जावें। जहाँ जो खड़े हैं वे वहीं बैठ जावें।''

आगमशास्त्री ने पट्टमहादेवी की ओर देखा। शान्तलदेवी ने कुँवर बिट्टियण्णा के कान में कुछ कहा। वह वहाँ से चला गया।

पट्टमहादेवी ने कहा, ''इन पादत्राणों को तैयार करने वाले चर्मकार मेरे पास आकर खड़े हो जावें।''

वे दोनों कुछ संकोच से नत हो, वहाँ आकर खड़े हो गये।

''इन पादत्राणों को तैयार करने के लिए राजमहल ने आदेश दिया था?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''नहीं।'' दोनों ने जवाब दिया।

''तो इन्हें यहाँ क्यों ले आये?''

''उस हमारे सिरजनहार पिता ने स्वप्न में आकर आदेश दिया, सो हम बनाकर ले आये।'' दोनों ने कहा।

''क्या आदेश दिया था?''

''मैं केशवदेव हूँ। वेलापुरी में शक संवत् 1039 हेमलम्ब संवत्सर, चैत सुदी पंचमी को स्थिरवासर के अभिजित् मुहूर्त में प्रतिष्ठित होने वाले चेन्नकेशव देव में मेरा

अंश सम्मिलित होना है। ठीक उस समय तक पादत्राण तैयार कर, मुहूर्त के समय वहाँ पहुँच जाएँ। और हाँ, 'जोड़ा मत बनाना। मेरे दायें पैर का माप ले लें। उसके बराबर पादत्राण तैयार करना तुम्हारा काम है। वह कैसा हो, सो बाद में बताऊँगा। अभी माप ले लो।' स्वामी के कहे अनुसार मैंने माप ले लिया। बाद में भगवान् ने पादत्राण का आकार प्रकार कैसा हो, ऊँचाई कितनी हो, ऊपर की पट्टियाँ किस तरह की हों, अँगूठा कैसा बने, आदि-आदि सब बातें बतायीं और आदेश दिया, 'उस दिन सुबह तड़के ही उठकर नहा-धोकर गीले वस्त्र पहने, तुम्हें ही इसे ले जाना होगा, सो भी पैदल चलकर। और किसी को छुए बिना ही ले जाना होगा, और इसे वेलापुरी पहुँचाना होगा। उसे मैं पहनकर देखूँगा। जब तक मैं यह न बताऊँ कि यह ठीक है, तब तक तुम्हें उसके साथ रहना पड़ेगा।'—यों आदेश दिया। मैं आदेशानुसार बना लाया।'' उत्तर की ओर के गाँव के चर्मकार ने कहा।

दक्षिण के गाँव से पादत्राण लाने वाले दूसरे चर्मकार ने भी लगभग यही बात दुहरायी।

''क्या तुमने नहीं पूछा कि दूसरे पैर के लिए पादत्राण कौन बनाएगा।''

''पूछा तो स्वामी ने कहा, 'इससे तुम्हें क्या मतलब? जो कहा सो करो। न हो सके तो बता दो, दूसरे चर्मकार से कहूँगा'।''

''तो तुम दोनों ने पहले एक-दूसरे को नहीं देखा?''

''नहीं। यहीं, अभी थोड़ी देर पहले देखा।''

ये बातें हो ही रही थीं। इतने में महाराज और चम्मलदेवी वहाँ आ पहुँचे। उनके साथ शस्त्रसज्जित एक अंगरक्षक दल भी था।

शान्तलदेवी ने महाराज को सारी बात बतायी।

महाराज ने उस तिलकधारी को बुलाया और कुछ गरम होकर ही कहा, ''श्री आचार्य जी ने जैसा हमें आदेश दिया है, हम वैसा ही करेंगे। हमें उनके आदेश पर पूरा विश्वास है। उनके आदेश में बाधा पैदा करने वाली किसी तरह की कार्रवाई के लिए यहाँ अवकाश नहीं देंगे। अब बे-रोकटोक रास्ता दें।''

''यह धर्म-सम्बन्धी विषय है। हमें उस धर्म का स्वरूप मालूम है। हम इस मन्दिर को अपवित्र नहीं होने देंगे। सन्निधान हमें अन्यथा न समझें। यह मन्दिर भक्तों का है। राजमहल का स्वत्व नहीं।'' उस तिलकधारी ने धृष्टता के साथ कहा।

''भगवान् के सान्निध्य में इस तरह का हठ उचित नहीं। आप लोगों को हटाकर रास्ता बनाकर जाने की ताकत भी हममें है। परन्तु श्रोत्रिय जनों का रक्त न बहे, इसलिए फिर से हमारी यह प्रार्थना है कि चुपचाप रास्ते से हट जावें।'' बिट्टिदेव की आवाज कुछ ऊँची हो गयी थी।

''चर्मकारों की छाया भी पड़ जाए तो हम अपवित्र हो जाएँगे। नहा-धोकर धुले

वस्त्र पहनकर ही हम फिर शुद्ध हो सकेंगे। ऐसों को मन्दिर के अन्दर ले जाएँगे? यह धर्मद्रोह है, हमारा रक्त बहे, कोई हर्ज नहीं। हम रास्ता नहीं देंगे।''

''मतलब हुआ, आप श्रेष्ठ हैं और वे नीच; यही न?''

''हमारा जन्म ही उत्तम वंश में हुआ।''

''यह संसार किसकी सृष्टि है?''

''उस भगवान् की ही है।''

''आपके कितने बच्चे हैं?''

''छह।''

''उनमें श्रेष्ठ कौन है?''

''हमारे सभी बच्चे हमारे लिए बराबर हैं।''

''मतलब हुआ कि केवल आपके लिए आपके बच्चे समान हैं। यह समानता केवल आप तक सीमित है? भगवान् के लिए अपने बच्चों में ऐसी ही समानता नहीं, ऐसा आप समझते हैं? आप लोग आपस में भेद की कल्पना कर सकते हैं किन्तु भगवान के लिए वह भेदभाव नहीं। आचार्यजी ने भी यही बात कही है। संघर्ष के लिए मौका न देकर चुपचाप रास्ता छोड़ दीजिए।''

''हमें यह शोभा नहीं देता।''

''ऐसा है तो आप जा सकते हैं। आप लोगों को यहाँ रहने के लिए मजबूर कोई नहीं कर रहा। कुछ लोगों को पसन्द नहीं, इसलिए हम जनता एवं आचार्यजी को जो पसन्द है उसे करने से नहीं रुकेंगे।''

''धर्मपोषक महाराज के लिए धर्म-विरोधी काम करना उचित है?''

''हमें अपना धर्म मालूम है। आपसे सीखना नहीं है।''

''इसका अर्थ हम समझते हैं। नाम के लिए श्रीवैष्णव, कर्म सब जैन पद्धति के अनुसार करनेवाले महाराज हैं, यही हुआ। इस जैन पट्टमहादेवी को आगे करके समस्त कार्य करनेवाले आपका धर्म क्या है सो दुनिया को मालूम हो गया। चर्मकारों का प्रवेश कराके इस मन्दिर को अपवित्र बनाने से बेहतर है कि हम जैसे श्रेष्ठों का रक्त बहे। रणभूमि में रक्त बहाने पर जैसे आपके लिए वीरस्वर्ग है वैसे यहाँ रक्त बहेगा तो हमें धर्मस्वर्ग की प्राप्ति होगी। अहिंसा का ढोंग करनेवाले ये जिनभक्त क्या करेंगे, सो हम भी देख लेंगे।'' तिलकधारी ने कहा।

''अर्हन्, धर्म के नाम से यह कैसा अन्धकार फैला है? इसीलिए उपनिषदों ने गाया है : 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। धर्मान्धता से बड़ा अन्धकार दूसरा क्या है? इस अन्धकार में ज्योति जगाओ'' कहकर, हाथ जोड़कर शान्तलदेवी ने प्रार्थना की। समस्त क्रियाओं के साक्षी, ज्योति प्रदान करनेवाले, सस्य जाति के लिए भी चेतना प्रदान करनेवाले आकाश के ठीक बीच में प्रकाशमान सूर्य भगवान् को देखकर, फिर आँखें

बन्द करके 'गोम्मट-जिननं' श्लोक का गान किया। उनके अन्तरंग की पीड़ा प्रतिस्पन्दित होकर सभी के हृदयों में प्रविष्ट हो गयी। उस उत्तेजनापूर्ण वातावरण में एक तरह की शान्ति उत्पन्न हो गयी।

"प्रभु! बाहुबली ने करुणा दर्शायी है। मैं स्वयं इन पादत्राणों को अपने सिर पर ढोकर मन्दिर में प्रवेश करूँगा। इनके बनानेवाले दोनों मेरे दोनों पार्श्व में चलेंगे। सन्निधान हमारा मार्गदर्शन करेंगे। आगमशास्त्रियों को घण्टानाद के साथ आगे-आगे चलना होगा। यह जनता स्वयं ही रास्ता बना देगी। यहाँ हिंसा-क्रोध आदि के लिए स्थान नहीं। प्रेम ही हमारे लिए मार्गदर्शक ज्योति है। हम जब तक तैयार होंगे तब तक स्वयं बाहुबली यहाँ विराजमान होकर रास्ता बना देंगे। चिन्ता न करें, आगे बढ़ें।" कहती हुई शान्तलदेवी ने उन दोनों पादत्राणों को अपने सिर पर रख लिया।

आगमशास्त्री घण्टानाद करते हुए मन्दिर के द्वार की ओर बढ़े। रास्ता रोके हुए तिलकधारियों की जो टोली खड़ी थी, उसने प्रणाम किया और दो भागों में विभक्त होकर रास्ता बना दिया। सभी मन्दिर में प्रविष्ट हुए। रक्षक दल के पीछे तिलकधारी वैष्णवों की टोली, जो अन्दर प्रवेश करना चाहती थी, द्वार पर ही खड़ी रही मानो उसे काठ मार गया हो। फिर दो भागों में विभक्त होकर बीच में रास्ता बना दिया। थोड़ी देर बाद आँखें मल-मलकर देखने लगे। कहने लगे, "कहीं हम पर जादू तो नहीं कर दिया, नहीं तो यह कैसे सम्भव हुआ? मन्दिर में प्रवेश किया केशव भगवान् ने। क्षणभर बाद ही मन्दिर के अन्दर से लौटे नग्न वेशधारी बाहुबली स्वामी। यह सब ऐसा कैसे हो गया?" आश्चर्यचकित होकर तिलकधारियों ने कहा।

मन्दिर के अन्दर की सारी शास्त्रीय विधियाँ समाप्त हुईं। उधर पट्टमहादेवी के बगल में ही खड़े दोनों चर्मकार आनन्द-विभोर हो गये, आनन्द के आँसुओं से आँखें भर आयीं। महाआरती उतारी गयी, फिर तीर्थ-प्रसाद का वितरण हुआ। फिर महाप्रसाद का भोग भी सम्पन्न हुआ। आश्चर्यजनक व्यवस्था थी, इसलिए किसी भी तरह की गड़बड़ी पैदा नहीं हुई।

शाम को पालकी में केशव भगवान् को ले, वेलापुरी के राजमार्गों में उत्सव हुआ। लौटने पर रात की पूजा-अर्चा शास्त्रीय विधि के अनुसार सम्पन्न हुई।

अनेक बाधाओं के बावजूद विस्तृत एवं प्रशान्त रीति से प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न हुआ। आगमशास्त्री आनन्दित हो उठे। भगवान् के शयनोत्सव के पूर्व आरती उतारने के बाद, आरती देते हुए प्रधान आगमशास्त्री ने पट्टमहादेवी से निवेदन किया, "पोय्सल राष्ट्र के क्षेम और प्रगति के लिए यह प्रतिष्ठा-महोत्सव एक पवित्र भूमिका बन गया है।"

"परन्तु इसके लिए कितनी बाधाएँ! कितनी-कितनी मानसिक वेदना!" शान्तलदेवी ने कहा।

''श्रेयांसि बहु विघ्नानि'' यह आर्योक्ति है, पट्टमहादेवीजी इस उक्ति से अपरिचित तो नहीं हैं!

''मालूम है। फिर भी मानव की निकृष्टता का जब स्मरण हो आता है तब प्राण निचुड़-से जाते हैं।''

''सो भी सच है। लेकिन सोना खरा तभी बनता है जब तपता है।''

''सब भगवान् की इच्छा है।'' शान्तलदेवी ने कहा। प्रसाद आया। उसे स्वीकार कर पट्टमहादेवी ने मौन खड़े बिट्टिदेव तथा अन्य रानियों एवं राज-परिवार की ओर देखा। तभी गर्भगृह के सामने रेशम का परदा खिंच गया।

वहाँ से सब विदा हुए। दूसरे दिन विशेष पूजा-अर्चा हुई, विशेष भोज भी दिया गया। राज-परिवार ने उस दिन के सभी कार्य-कलापों में सहर्ष भाग लिया।

तीसरे दिन यानी सप्तमी सोमवार के दिन हिरण्यगर्भ और तुलापुरुष समारम्भ सम्पन्न हुए।

सोने से बनी गाय के उदर में प्रवेश कर बिट्टिदेव महाराज बाहर आये। बाद में पट्टमहादेवी, और रानियाँ, शान्तलदेवी के बच्चे, सब गोगर्भ से होकर बाहर आये। पश्चात् महाराज बिट्टिदेव का तुलाभार सम्पन्न हुआ। इस प्रसंग में पट्टमहादेवी ने अपने शरीर पर जितने जेवर थे उन सभी को उतारकर तुलाभार में डाल दिये। पट्टमहादेवी के ये जेवर तलकाडु से लायी गयी चोलों की स्वर्णराशि से बनवाये गये थे। तुलाभार की समाप्ति पर सुनारों से सोने की गाय तुड़ाकर उसके कुछ अंशों को वहाँ उपस्थित शैव, जैन, श्रीवैष्णव पुरोहितों को दान के रूप में दे दिया गया। बाकी सब युद्ध में प्राणों की आशा छोड़कर विशेष साहस दिखाने वाले योद्धाओं, गुप्तचरों तथा वीरगति-प्राप्त योद्धाओं के परिवारों में बाँट दिया गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चट्टला और मायण को भी स्वर्ण मिला। इस विशिष्ट समारम्भ को देखकर लोग अपने जन्म को सार्थक समझने लगे। हर्षोत्साह के साथ अपनी तृप्ति जताकर सभी जन दोपहर के भोजन के लिए निकले।

इसी तरह विजयोत्सव भी सम्पन्न हुआ। महाराज बिट्टिदेव ने तलकाडु की विजय पर 'तलकाडुगोंड' विरुद धारण किया। पोय्सल सेना ने कतार बाँधकर ध्वज-वन्दन किया। लोगों ने इस उत्सव को देखकर अपार सन्तोष व्यक्त किया।

इसके बाद महाराज बिट्टिदेव ने घोषणा की, ''पोय्सल राज्य के प्रजाजनो! आज का दिन हमारे राज्य के इतिहास के महत्त्वपूर्ण दिनों में एक है। बहुत समय पहले जिस गंगवाड़ी को हमने खोया था वह आज हमें प्राप्त हुई। आज हमने यह विरुदावली निमित्त मात्र के लिए धारण की। यह हमने वैयक्तिक रूप से धारण नहीं की है। यह विरुदावली सम्पूर्ण पोय्सल राष्ट्र की है। इस विरुदावली को अपने राज्य के लिए प्राप्त करनेवाले प्रधान गंगराज हैं, जिन्होंने बहुत मेहनत की और प्राणों का मोह छोड़कर

अपने नेतृत्व में सेना-संचालन किया। उन तमिलों ने अहंकार से कहा था, 'मनमानी बकनेवाला पोय्सल बिट्टिगा केवल एक ढपोरशंख है।' हमारी अर्थात् हमारे राज्य की इस तरह खिल्ली उड़ायी थी। वे ऐसे कामों में बड़े होशियार हैं। कन्नड़ प्रदेश के लोग चूड़ियाँ पहनकर बैठनेवाली औरतें नहीं। कंगन पहननेवाली कर्नाटक की स्त्रियाँ भी समय आने पर तलवार उठा सकती हैं, यह बताना हमारा कर्तव्य हो गया था। इस बार की जीत का श्रेय गंगराजजी को है। आज हम उन्हें 'महाप्रधान' की उपाधि से विभूषित करेंगे। कन्नड़-द्रोहियों के रक्त से क्रुद्ध कावेरी ने उन्हें उधर ही भगा दिया। उसका क्रोध शान्त करने के लिए द्रोहधरट्ट गंगराज ने शत्रु-रक्त से उसे नहला दिया। तलकाडु के कीर्तिनारायण का छोटा मन्दिर एवं इस वेलापुरी में अभी निर्मित विजयनारायण का यह मन्दिर दोनों कन्नड़ प्रदेश के और पोय्सल राज्य की विजय के प्रतीक हैं। इसलिए हमने कहा कि यह दिन हमारे राज्य के इतिहास में एक बहुत ही मुख्य दिन है। दोनों ही वैष्णव-मन्दिर हैं। अब तक महाराज समेत राज्य-संचालन सूत्र जैनियों के ही हाथ हैं। अब राजा ने कार्य-कारण-संयोग से श्रीवैष्णव मत का अवलम्बन किया है। वह केवल वैयक्तिक विषय है। फिर भी एक तरफ जिनभक्त-प्रमुख गंगराज ने विजय प्राप्त करायी, तो दूसरी तरफ जिनभक्त शिरोमणि हमारी पट्टमहादेवी की श्रद्धा और भक्ति के फलस्वरूप श्रीवैष्णव संकेत देवमन्दिर निर्मित हुआ, यह हमारे राष्ट्र की मतसहिष्णुता का प्रतीक है। मत केवल वैयक्तिक होकर अपने-अपने घरों तक सीमित रहें, यह पर्याप्त है। उसकी अन्दरूनी बातों को लेकर रास्तों में या यहाँ-वहाँ उसकी चर्चा करना, धर्मद्रोह कहलाएगा। अभी हाल में यहाँ ऐसा ही वातावरण पैदा हो गया था। परन्तु उस भगवान् की कृपा है, वह वैसे ही निवारित हो गया। चर्मकारों को मन्दिर-प्रवेश से मना कर देने के बहाने जैन धर्म की निन्दा करनेवाले मतान्धों को बाहुबली ने या भगवान् केशव ने दोनों रूपों में दर्शन देकर चकित कर दिया। इससे हमें कुछ पाठ सीखना चाहिए। हमारे राष्ट्र की धर्म-सहिष्णुता सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में स्पष्ट खुलकर दिखाई देनी चाहिए। इसमें ऊँच-नीच नहीं। भगवान के सामने सब बराबर हैं।''

''तलकाडु पर जीत एक मुख्य विषय होने पर भी, हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि हम शत्रु-संकट से पार हो गये। हमसे भी बड़े साम्राज्य की स्थापना करके वैभव के साथ राज्य करनेवाले चालुक्यचक्रवर्ती बिना कारण यों ही हम पर क्रुद्ध हो गये हैं। एक समय था कि जब पोय्सल उनके लिए प्राण तक न्योछावर करने को तैयार थे। आज उन्हीं पोय्सलों पर हमला करने चालुक्यचक्रवर्ती बारह सामन्तों को उकसाकर युद्ध की तैयारी करने में लगे हैं। उन बारह सामन्तों के गुप्तचर इस भीड़ में पकड़े गये हैं और वे इस वक्त कैद में हैं। इसलिए विरुद धारण के इसी शुभ अवसर पर भावी जैत्रयात्रा का भी निर्णय करेंगे। तरसों दशमी बृहस्पतिवार के दिन हमारी सेना राजधानी

से चल देगी। इस समय आप लोगों से हमारा इतना ही आग्रह है कि राष्ट्र के लिए सब लोगों को इस तरह के [illegible] के लिए तैयार हो जाना चाहिए। इस शुभ अवसर पर बाहुबली भगवान् के नाम से, विजयनारायण भगवान् के नाम से, धर्मेश्वर महादेव के नाम से—इनको साक्षी मानकर आप सभी को प्रतिज्ञा करनी होगी कि राष्ट्र के प्रति आपकी निष्ठा अचल है, अडिग है। किस-किस स्तर पर कहाँ-कहाँ से लोगों को हमारी सेना में सम्मिलित होना चाहिए, यह बात समय आने पर बतायी जाएगी।''

''राष्ट्र की रक्षा के लिए हम सब अपना तन-मन-धन समर्पित करने के लिए हमेशा तैयार हैं। हम सब यह प्रतिज्ञा इस शार्दूल-पताका के नीचे भगवान् की साक्षी देकर करेंगे। और पोय्सल राज्य के प्रति अपनी निष्ठा स्थायी रहेगी, यह घोषणा कर कन्नड़ राज्य के धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए हम कटिबद्ध हैं, यह वचन देंगे।'' जन-समुदाय ने घोषणा की। इस उद्घोष की ध्वनि-तरंगें उठकर आसमान तक व्याप्त हो गयीं। पंच महावाद्य बज उठे। बाद में वातावरण में मौन छा गया।

फिर बिट्टिदेव ने कहा, ''इस मन्दिर के निर्माण से हमें एक और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई है। इस राज्य के वास्तु-शिल्प को एक नया आयाम मिला है। इस नूतनता के कारण-कर्ता इसे बनाने वाले स्थपतिजी हैं। इस मन्दिर की कल्पना, रचना से उनके जीवन को एक शाश्वत कीर्ति प्राप्त हुई है। इतना ही नहीं, उन्हें अपेक्षित शान्ति भी प्राप्त हुई है। छूटा हुआ उनका पारिवारिक जीवन फिर से शुरू हुआ है। उनके पारिवारिक समागम ने एक बहुत दिलचस्प घटना बनकर, अनुभव बनकर हमारा मार्गदर्शन किया है। इन विशिष्ट पिता-पुत्र का नाम आम जनता की जिह्वा पर सर्वदा, युग-युगों तक, स्थायी बनकर रहे और उनमें उत्साह भरता रहे। यह वास्तुकला जक्कणवास्तु के ही नाम से अभिहित हो। सम्पूर्ण दक्षिण भारत के लिए यह नमूना बनकर रहे। यह स्थपति दक्षिण के शिल्पि-समाज के आचार्य के रूप में विख्यात हैं। ये 'दक्षिणाचार्य' कहलाने के लिए सर्वथा योग्य हैं; इसलिए हम इन्हें 'दक्षिणाचार्य' के विरुद से विभूषित करना चाहते हैं। आप सभी की ओर से हम स्थपतिजी को यह विरुद प्रदान करते हैं। आशा है, वे इसे स्वीकार करेंगे।''

स्थपति जकणाचार्य उठ खड़े हुए और झुककर प्रणाम कर बोले, ''सन्निधान के समक्ष मेरी एक विनती है। मैं एक घुमक्कड़ व्यक्ति था। लोगों के बीच आना-जाना ही मुझे पसन्द नहीं था। मेरे मन में ऐसी भावना ने घर कर लिया था कि सारी दुनिया ही मेरी शत्रु है। मगर यह मेरा पुराकृत पुण्य है कि मेरा इस विशिष्ट राजघराने के साथ सम्पर्क हुआ। पत्थर में भाव भरनेवाला मेरा यह हृदय स्वयं पत्थर बन गया था। परन्तु उस पत्थर बने हृदय को पिघलाकर, वहाँ मानवीयता उँड़ेलने वाली पट्टमहादेवीजी जगन्माता का ही अवतार हैं। उनसे मेरी कला और मेरा जीवन दोनों ने सार्थकता पायी। इसलिए इस कला का सारा श्रेय उन्हीं को है। मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ। यह कला

आचन्द्रार्क स्थायी रहनेवाली शक्ति है। इसलिए यह कला पोय्सल कला ही होकर संसार में अमर रहे। मैंने इसकी परिकल्पना की, यह गर्व मुझे नहीं। इसे मैंने रूपित किया, ऐसा अहंकार मुझे नहीं। मेरी परिकल्पना को जिसने प्रेरणा दी वह कौन है? परम्परा से प्राप्त समय के अनुसार परिवर्तित होकर रूपित होनेवाली यह कला ही तो है। परम्परागत प्रेरणा न हो तो परिवर्तित कल्पना के लिए स्थान कहाँ? अतः यह शैली, हमारे वास्तुशिल्प के संसार में एक आयाम है। यह स्थायी रूप से ऐसी ही रहे, यह सम्भव नहीं। इससे भिन्न और परिवर्तित शैलियों का हमारे इस वास्तुशिल्प में विकास होना चाहिए, यह वास्तु के भविष्य का स्वागत संकेत मात्र है। मनुष्य स्वप्रतिष्ठा और अज्ञान के कारण गलती करता है, इसलिए ये दोनों अभिशप्त हैं, इस बात की जानकारी मुझे हुई। इसके फलस्वरूप मुझे अब यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया है कि उस जगदीश्वर के सिवा दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं। मैंने जिन दो शास्त्रों में अपने को विशेषज्ञ माना था, उन दोनों में मैंने ठोकर खायी। ठोकर खाकर चेत गया, सबका प्रेम पाया। इस महान् कार्य की साधना के लिए अपने दोनों हाथों को अनन्त हाथों में परिवर्तित कर सहायता देने वाले ये मेरे मित्र शिल्पीगण इसके कारण हैं। उनके अभाव में मैं शून्य के बराबर हूँ। उनसे मेरी कल्पना को सिद्धि मिली है। इसलिए मैं इन सभी शिल्पियों का अत्यन्त ऋणी हूँ।" कहकर स्थपति ने सबको झुककर प्रणाम किया।

पट्टमहादेवी ने कहा, "मैं कुछ बोलना ही नहीं चाहती थी। स्थपतिजी ने एक बात कही, इस वजह से सन्निधान के समक्ष एक निवेदन करना चाहती हूँ। जो कला के विकास को पहचानने में सहायक बन सके, परम्परा और विकास एवं नयी कल्पनाओं के लिए जो मार्गदर्शन कर सके, ऐसा एक शिल्पविद्यालय यहाँ खोलने की अनुमति सन्निधान दें। और, उसे चलाने का उत्तरदायित्व स्थपतिजी लें इसके लिए उनसे अनुरोध किया जाए।"

इस प्रस्ताव का विरोध ही नहीं हुआ।

आज सारे दिन तिरुवरंगदास कहीं भी अधिक प्रकट नहीं हुआ। या यह कहना बेहतर होगा कि किसी का ध्यान उसकी ओर गया ही नहीं।

प्रातः होते ही उसने अपनी बेटी से मिलकर उससे यादवपुरी की ओर अपने प्रस्थान करने की बात कही।

उसने कहा, "यह बात सन्निधान से कहें।"

"वहाँ जाने पर वे कहेंगे, पट्टमहादेवी को बता दें। मुझे क्या पागल कुत्ते ने काटा है कि मैं एक जैनी के पास आऊँ?"

"क्यों पिताजी, उनसे आप असन्तुष्ट क्यों हैं?"

"मेरी उन्नति में वही तो पहले से रुकावट डालती आ रही है। जब तक उसका प्रभाव बना रहेगा, तब तक तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं। परसों सारे दिन किसी ने

तुम्हारी परवाह की? तुम्हारा ध्यान रहा किसी को? अवसर मिलने पर सब बम्मलदेवी को ही आगे करती रहीं। वह ऐसा करती ही रहेगी तुम्हारा नाम तक नहीं लेगी। परसों का सम्पूर्ण उत्सव तुम्हारे ही कर्तृत्व में होना चाहिए था। उसके अधिकार की व्याप्ति यहाँ सबकी नस-नस तक पहुँच गयी है। तुम मेरी बेटी हो, तुम्हें बताना चाहिए। मैं चलता हूँ।'' तिरुवरंगदास ने कहा।

''आपके न बताने पर सन्निधान यदि असन्तुष्ट हुए तो?''

''इसका मुझे कोई डर नहीं है। बहुत हुआ तो धर्मदर्शी के पद से हटा देंगे, इतना ही न? मुझ जैसे श्रोत्रियों को कहीं भी स्थान मिल जाएगा। देशो विशालः।''

''जल्दबाजी में क्यों यह सब कर रहे हैं?''

''जान पड़ता है तुम्हें भी इन लोगों ने किसी टोने-टोटके से बिलकुल बेवकूफ बना दिया है। चोट लगेगी तब अकल आएगी। मैं चला। तुम स्वयं ही सन्निधान को बता देना।'' कहकर तिरुवरंगदास राजमहल से बाहर आ गया और फिर यादवपुरी की ओर चल पड़ा।

अष्टमी के दिन की पूजा के समय महाराज, पट्टमहादेवी और रानियाँ मन्दिर में उपस्थित रहे। यथाविधि पूजा सम्पन्न हुई। राजमहल में लौटकर सबने भोजन किया। उसके बाद महाराज रानियों के साथ झूले के प्रकोष्ठागार में बैठकर, पान खाते हुए इधर-उधर की बातें करने लगे।

बातचीत के सिलसिले में प्रतिष्ठा-समारम्भ के समय की घटनाओं के बारे में भी बात चली। इस सिलसिले में जब महाराज ने कहा कि उत्सव के समय झुण्ड के झुण्ड लोगों को ले आने वाला यही तिरुवरंगदास था तो लक्ष्मीदेवी की शक्ति ही मानो गायब हो गयी। वह अन्दर ही अन्दर सहमी-सी बैठी रही।

''इसका क्या कारण है? सन्निधान ने या हममें से किसी ने, उनके प्रति कोई अन्याय किया है? आचार्य के शिष्य होकर ऐसा व्यवहार करना उनके लिए ठीक है?'' पट्टमहादेवी ने पूछा।

''ठीक लगा होता तो वे स्वयं ही सामने आते। जीते तो यहाँ ठाठ बने रहेंगे, हारे तो वहाँ ठाठ बने रहेंगे—यह समय-साधक प्रवृत्ति है। यही उनकी रीति है, यह स्पष्ट हो गया है। वेलापुरी का धर्मदर्शित्व नहीं मिला। उनके मन पर इस बात का बहुत प्रभाव पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''हम क्या हैं, कौन हैं, हमारी हस्ती क्या है, हैसियत क्या है—इनकी ओर ध्यान न देनेवाले व्यक्तियों की रीति ही मेरी समझ में नहीं आती। बेटी की शादी करवाकर उनकी गलती के लिए यह दण्ड भोगेगी, इस बात का भी विचार न करके ऐसा आचरण करनेवाले को क्या कहना चाहिए? इस बेटी को अपने स्वार्थ की साधना के लिए इस्तेमाल किया—यही कहना पड़ता है।'' बम्मलदेवी ने कहा।

"नहीं। उन्हें यहाँ एक बात स्पष्ट मालूम हो गयी है कि जो अपराधी होंगे, उनके अपराध के अनुसार दण्ड के भागी भी वही होंगे। इसलिए उन्हें मालूम है कि उनकी बेटी को कोई तकलीफ नहीं होगी। वह मतान्धताजन्य अज्ञान है। वह अभी यहाँ से चले गये हैं। पासों की घटना उनके लिए एक बहुत बड़ी हार साबित हुई। वे मूलतः जैनधर्म-द्वेषी हैं, ऐसा लगता है। इसलिए सभी जिनभक्तों से उनका वैर है। जैन-धर्मावलम्बियों से वैर प्रकट करेंगे तो उनका मूल्य घटेगा, यह जानकर कट्टर वैष्णव होने का स्वाँग भरा। उसका भी मनचाहा फल नहीं मिला। वह घोंघे जैसे स्वभाव के हैं। पीछे हटे। हमें भी बिना बताये चले गये। इससे स्पष्ट है कि इस हार से वे बेहद दुखी हैं। उनके इस तरह से चले जाने पर विस्तृत चर्चा करेंगे, तो छोटी रानी को परेशानी हो सकती है।" बिट्टिदेव ने कहा।

"मैंने ही उनसे कहा कि सन्निधान को बताकर जाइए। वे बहुत जल्दी में थे, 'तुम ही सन्निधान से कह देना। वे युद्धयात्रा की तैयारी में व्यस्त होंगे।' ऐसा कहकर चले गये।" लक्ष्मीदेवी ने धीरे से कहा।

"यह जानकर भी कि हम युद्ध में जा रहे हैं, यों ही चले गये? तो उन्हें अपनी बेटी के कुशलक्षेम तक की परवाह नहीं रही?" बम्मलदेवी ने कहा।

"उन्हें अब बेटी की चिन्ता क्यों?" लक्ष्मीदेवी ने व्यंग्य किया।

"क्योंकि हम युद्ध में जा रहे हैं। इस बार राजलदेवी भी साथ चलने को उत्साहित हो रही हैं। ऐसी हालत में छोटी रानी का अकेली रह जाना ठीक होगा?" बम्मलदेवी ने छेड़ा।

"तो आप लोगों का निर्णय है कि मैं युद्ध में न चलूँ?" लक्ष्मीदेवी ने कहा। उसके स्वर में असन्तोष था।

"अब की बार युद्ध में किसी भी रानी के जाने की जरूरत नहीं। बदले में बिट्टियण्णा जाएगा। उदय भी रहेगा। चट्टलदेवी और मायण तो रहेंगे ही। इस युद्ध के समय में जो जहाँ रहना चाहें, अभी बता दें तो उसके अनुसार व्यवस्था कर दी जाएगी।" बिट्टिदेव ने कहा।

"और किसी को ले जाएँ या नहीं, मैं तो चलूँगी ही।" बम्मलदेवी ने कहा।

पट्टमहादेवी अब तक मौन थीं। वे बोलीं, "किसी की जरूरत नहीं, यह सन्निधान ने अपने आप निर्णय कर लिया है, मालूम पड़ता है। सन्निधान भूल भी जाएँ, लेकिन मैं नहीं भूल सकती। सन्निधान की सुरक्षा के लिए आवश्यक सुरक्षा-दल, दक्ष दण्डनायक तो रहेंगे ही, फिर भी युद्ध में या तो मुझे या बम्मलदेवी को साथ में रहना ही चाहिए। इस बात को स्वीकार कर चुकने के बाद फिर इसे अमान्य करने का कोई कारण नहीं है। तलकाडु के युद्ध में एवं अभी हाल इस युद्ध में बम्मलदेवी रहीं। इस बार मैं रहना चाहूँगी।"

''कल ही शिल्पकला विद्यालय खोलने की स्वीकृति ली थी। यदि हमारे साथ चलेंगी तो उस विद्यालय का क्या होगा? अभी हाल में परिवार के साथ मिले स्थपति एवं उनकी पत्नी में रही-सही कमियों और अलग-अलग विचारों के कारण सम्भावित गलतफहमियों को कौन दूर करेगा?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''तो क्या मैं यही समझूँ कि सन्निधान की अभिलाषा बम्मलदेवी को ही साथ ले जाने की है?'' शान्तलदेवी ने कहा।

राजलदेवी ने कहा, ''तब तो मैं पट्टमहादेवी जी के ही साथ रहूँगी।''

लक्ष्मीदेवी ने कहा, ''मैं यादवपुरी जाऊँगी।''

उसी के अनुसार यात्रा की व्यवस्था की गयी। रानियाँ—पद्मलदेवी, शान्तलदेवी और बोप्पिदेवी कुछ समय और वेलापुरी में रहकर, बाद को सिन्दगेरे जाने की बात पर विचार करें, यह निर्णय हुआ।

राजधानियों एवं नवीन प्रदेश तलकाडु की सुरक्षा के लिए उपयुक्त व्यवस्था करने के बाद, रानी लक्ष्मीदेवी को यादवपुरी भेज देने की व्यवस्था की गयी। फिर महाराज ने दशमी के शुभ दिन सेना के साथ युद्ध-यात्रा पर प्रस्थान कर दिया।

दो-चार दिन आराम कर लेने के बाद, मन्दिर के बाकी बचे छोटे-मोटे कार्यों को करने की बात स्थपति को सूचित की गयी। पहले जिस मूर्ति को तैयार किया था, उसकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, इसलिए उसकी प्रतिष्ठापना के लिए भी एक छोटे से मन्दिर के निर्माण को आदेश देकर शान्तलदेवी ने बेलुगोल प्रस्थान करने का निश्चय किया। स्वयं शान्तलदेवी, उनके माता-पिता, राजलदेवी तथा महाराज की अन्य रानियाँ, रेविमय्या—सभी यात्रा की तैयारियाँ करने लगे।

यात्रा की खबर पहले ही बेलुगोल भेज दी गयी थी। इधर जैसे ही स्थपति को इस बात का पता चला, तो उन्होंने भी सपरिवार बेलुगोल की यात्रा पर साथ चलने के लिए पट्टमहादेवीजी से निवेदन किया। इसके लिए उन्हें सहज ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी। फिर क्या था, स्थपति ने तब तक के लिए अपना सम्पूर्ण कार्यभार शिल्पी दासोज को सँभाल दिया और पट्टमहादेवी के साथ वह भी बेलुगोल के लिए रवाना हो गये।

पट्टमहादेवी के आने की खबर से श्रवण-बेलुगोल में उत्साह की लहर दौड़ गयी। वहाँ के पुराने पुजारी वृद्धावस्था के कारण इधर कुछ समय से प्रति दिन गोम्मट की पूजा करने पहाड़ी पर नहीं चढ़ सकते थे। उस कार्य का निर्वाह उनका बेटा कर रहा था। पट्टमहादेवी जी के आने की खबर ने वृद्ध शरीर में भी यौवन-सा उत्साह भर दिया।

तड़के ही जागकर वे गोम्मट की पूजा के लिए पहाड़ी पर चढ़ गये थे।

पूर्व नियोजित न होते हुए भी महावीर जयन्ती के समय पर पट्टमहादेवीजी सपरिवार बेलुगोल पहुँच चुकी थीं। उस दिन बड़ी पहाड़ी पर और कटवप्र के नीचे बेलुगोल के समस्त जिन-मन्दिरों में विशेष पूजा की व्यवस्था की गयी थी। बेलुगोल के गाँव के जिनालयों का दर्शन कर सभी जल्दी ही पहाड़ पर चढ़ने लगे।

वृद्ध मारसिंगय्या और माचिकब्बे को ऊपर तक पहुँचने में विलम्ब हुआ। पहले जब बेलुगोल और शिवगंगा की यात्रा को थीं उस समय अपने-अपने भगवान् के बारे में चर्चा करनेवाला यह वृद्ध दम्पती आज मौन ही पहाड़ पर चढ़ा।

वृद्ध पुजारी ने सांगोपांग पूजा-विधि सम्पन्न की। अन्त में उन्होंने कहा, "पट्टमहादेवीजी गोम्मट-स्तुति-गान करने की कृपा करें। फिर आपकी अमरवाणी में उसे सुनने का मौका मिले न मिले। वेलापुरी के उस महान उत्सव में वहाँ आने की मेरी इच्छा थी। इतनी दूर की यात्रा थका देगी, यही सोचकर नहीं गया।"

"तो अभी इस पहाड़ पर कैसे चढ़ आये?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"पट्टमहादेवीजी का सान्निध्य क्या-क्या नहीं करा सकता?"

"तो यही पट्टमहादेवी तो वहाँ भी थीं?"

"फिर भी वह केशव की प्रतिष्ठा थी न? उत्साह कम रहा।"

"जिनालय होता तो उत्साह छलक पड़ता, यही न?"

"स्वाभाविक ही है। लेकिन ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि बाकी सब निकृष्ट हैं।"

"आपकी भावना चाहे कुछ भी हो, एक अपूर्व अवसर आपने खो दिया।"

"आप कहती हैं तो मानना ही होगा। क्या था सो बताने की कृपा होगी?"

"पूजा समाप्त हो जाए।"

"जो आज्ञा; गोम्मट-स्तुति..."

शान्तलदेवी ने गायन किया। जकणाचार्य के कान खड़े हो गये। श्रद्धा-भक्ति से गायन सुना। गायन की समाप्ति पर उन्होंने पूछा, "उस दिन वेलापुरी के मन्दिर के बाहरी प्राकार में पट्टमहादेवी जी ने यही गाया था न?"

"हाँ।"

"केशव मन्दिर में गोम्मट-स्तुति?" आश्चर्यचकित पुजारीजी ने पूछा।

"हाँ, उस दिन मालव पंचम में गाया था, अभी उसका राग शुद्ध वसन्त था।" स्थपति ने कहा।

"सच है। उस दिन प्रोत्साहित करना था। आज भगवान् को सुप्रीत करना रहा।"

"मेरी समझ में नहीं आया।" स्थपति ने कहा।

''पट्टमहादेवीजी को ऐसी ही रीत है। मैं इसे अब पाँचवीं बार सुन रहा हूँ। हो सकता है कि और अधिक बार सुना हो। परन्तु प्रत्येक बार उसका विन्यास ही अलग-अलग प्रतीत हुआ।'' पुजारीजी ने कहा।

''पट्टमहादेवी के रूप में इस धरती पर संगीत-सरस्वती ही अवतरित हैं। पत्थर में स्वर उत्पन्न कराने के लिए उन्होंने ही प्रेरित किया।'' स्थपति ने कहा।

''इनकी बात मत मानिए। ये बहुत ही श्रेष्ठ शिल्पी हैं। बेलापुरी के मन्दिर के निर्माता स्थपति जकणाचार्य हैं। निर्जीव प्रस्तर में प्राण भर देने वाले इनके हाथों के लिए स्वर उत्पन्न करना कौन बड़ी बात है!'' शान्तलदेवी ने कहा।

''कुछ नये लोग हैं, पूछना चाहता था कि ये कौन हैं, परन्तु थोड़ा संकोच रहा।''

''अब संकोच करने का कारण ही नहीं।''

''माने?''

''एक समय था जब परिचय प्राप्त करने में संकोच ही नहीं, डर लगता था।''

''तो मतलब हुआ कि अब पट्टमहादेवीजी ने उन्हें साधु बना दिया है।'' पुजारी ने कहा। फिर स्थपति से पुजारी ने कहा, ''स्थपतिजी, इन पट्टमहादेवी जी के सम्पर्क में आना पूर्वजन्म का पुण्य है। यह पोय्सल राज्य वास्तव में धन्य है।''

''आपकी बात अक्षरशः सत्य है। मेरा पूर्व सुकृत था, इसीलिए इन महादेवी जी से सम्पर्क प्राप्त हुआ। जीवन एक ठूँठ-सा हो गया था, अब उस ठूँठ में से कोंपलें निकल आयी हैं, वह हरा-भरा-सा हो गया है। पूर्व जन्म के किसी पाप के कारण मेरी पत्नी और पुत्र मुझसे दूर हो गये थे। न न, मैं ही उनसे दूर हो गया था। पट्टमहादेवी जी से सम्पर्क होने के ही कारण वे फिर मुझे मिल गये। जैसा उन्होंने कहा, उस दिन आपको वहाँ रहना चाहिए था। एक अद्भुत चमत्कार ही घटित हो गया था वहाँ।'' स्थपति ने कहा।

''मुझे भी उसे जानने की अभिलाषा हो रही है।'' पुजारी ने कहा।

''केशव भगवान् के पादत्राण बनानेवाले चर्मकारों को अन्दर प्रवेश करने में जो विघ्न-बाधाएँ उठ खड़ी हुई थीं, उन सबको आदि से अन्त तक विस्तार के साथ सुनाया। फिर कहा—

''उस समय पट्टमहादेवीजी ने यही गोम्मट-स्तुति का गायन किया जो अभी गाया। जैसा मैंने पहले ही बताया, वह किसी को प्रोत्साहित करने का-सा था। रास्ता रोककर जो लोग जिद पकड़कर खड़े थे, वे अपने आप विभक्त होकर, रास्ता बनाकर हट गये। स्वयं पट्टमहादेवी भगवान् के पादत्राणों को सिर पर रखकर अन्दर ले गयीं। चर्मकार भी उनके साथ अन्दर गये। रास्ता रोककर खड़े तिलकधारियों का वह झुण्ड एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ होकर देख रहा था। चर्मकारों के अन्दर जाने के बाद भी बहुत दूर तक उस भीड़ के तिलकधारियों की दृष्टि गयी। ऐसा लग रहा था कि वे किसी

जानेवाले को देख रहे हैं। पट्टमहादेवीजी को मदद के लिए गोम्मट स्वामी ही वहाँ उपस्थित होकर रास्ता बना रहे हों, ऐसा मालूम हो रहा था।'' स्थपति ने कहा।

''तो आपने किसी को नहीं देखा?'' पुजारी ने पूछा।

''नहीं।''

''मैंने देखा था।'' रेविमय्या ने कहा।

सबकी दृष्टि उस ओर गयी। वह आँखें बन्द करके हाथ जोड़े खड़ा था। उसने कहा, ''अम्माजी, उस दिन जब तुम और छोटे अप्पाजी उस कटवप्र पर थे तब मैंने वहाँ से गोम्मट स्वामी को जैसा देखा था उसी प्रकार वहाँ देखा। बात बहुत पुरानी है। तब स्वामी जहाँ खड़े थे, वहीं से आप दोनों को आशीर्वाद दिया था। शंख, चक्र, गदा, पद्म युक्त किरीट धारण कर, कुण्डल पहने जैसे दर्शन दिये थे, उसी रूप में अब मुस्कराते हुए आते स्वामी को देखकर वे सब तिलकधारी चकित हो गये और रास्ता छोड़ दिया। परन्तु स्वामी जब लौटने लगे तो अपने निजरूप में जैसे अब यहाँ खड़े हैं, नग्न होकर लौटे। अम्माजी, तुमने संगीत-सेवा के समय जो गीत गाया, उसे भी हमारे गोम्मट स्वामी ने सार्थक बनाया। उसने दिखा दिया कि वह अनन्त रूप हैं।'' रेविमय्या ने भावविभोर होकर कहा।

उसकी बात सुनकर जकणाचार्य ने पूछा, ''यह अम्माजी कौन हैं? छोटे अप्पाजी कौन हैं?''

रेविमय्या ने आँखें खोलीं। स्थपति के प्रश्न को सुनकर वह दिग्भ्रान्त-सा हो गया।

''यह हमारा रेविमय्या बहुत भावुक है। यह आज का रेविमय्या नहीं। मैं जब छोटी बच्ची थी तब यह मुझे गोदी में, कन्धे पर उठा लेता और खिलाता रहता था। तब मुझे यह अप्पाजी कहकर पुकारता था। सन्निधान तब सबके लिए छोटे अप्पाजी थे। यह अभी भी उस पुराने समय से जुड़ा हुआ है। उसका अपना ही एक ढंग है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

रेविमय्या की आँखों में आँसू छलक पड़े।

''अहा, वह दिन कितना शुभ था! हमें भी मालूम है। छोटे अप्पाजी उस छोटे पहाड़ पर खड़े गोम्मट को देखते ही रहे। वह दृश्य अभी भी मुझे याद है।'' पद्मलदेवी ने कहा।

''उसे भूल कैसे सकते हैं? मैं और मेरी यह दीदी पत्थर पर अपना नाम उकेरने में मग्न थीं। हमारी ओर किसी का ध्यान ही नहीं रहा। जब हमें मालूम पड़ा कि पहाड़ पर केवल हम दो ही हैं तो हम डर के मारे काँप गयी थीं। भाग्य से यह रेविमय्या और छोटे अप्पाजी दोनों ऊपर थे। तब हमें कुछ धीरज बँधा।'' चामलदेवी ने बताया।

''तब इन्हीं पुजारीजी ने कहा था कि हमारी पट्टमहादेवी कैसा गाती हैं।''

पद्मलदेवी ने कहा।

''आपसे भी तो विनती की थी। मगर आपने मेरी विनती की ओर ध्यान ही नहीं दिया था।'' पुजारीजी बोले।

''सो भी याद है?'' चामलदेवी ने पुजारीजी की ओर देखा।

उसी बात की धुन में पता नहीं कौन-कौन-सी पुरानी बातों की यादें आती गयीं। कोई सिलसिला नहीं था। इसलिए स्थपति जकणाचार्य ने कहा, ''मुझे रेविमय्या से सारा वृत्तान्त सुनने की इच्छा हो रही है। एक व्यक्ति को यदि कुछ बनना हो तो क्या सब अनुभव होना चाहिए यह उससे मालूम पड़ेगा, ऐसा लगता है।''

''मैं तो सब कह दूँगा। पर आपको भी खुले दिल से अपना किस्सा सुनाना होगा।'' रेविमय्या ने कहा।

''मैं एक छोटा शिल्पी हूँ। मेरी कहानी से किसका क्या प्रयोजन होगा? और फिर मैंने सब कुछ पट्टमहादेवीजी से निवेदन कर दिया है और अपने दिल का बोझ उतार दिया है। एक संयमी जीवन से इस सनकी व्यवहार वाले की क्या तुलना?'' स्थपति ने कहा।

''सबके जीवन में एक न एक मानवीय मूल्य छिपा रहता है। किसी से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले बूतुगा के किस्से से एक अनमोल बात मिल सकती हो तो एक महान् शिल्पी होने के नाते आपके जीवन का वृत्तान्त दुनिया को मालूम होना ही चाहिए। कहिए।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''अब यहीं बैठे रहने पर भोजन का समय हो जाएगा।'' पुजारी ने कहा।

सबने ऊपर आसमान की ओर देखा। सूरज आसमान के बीचोंबीच दीख पड़ा। अब तक वहीं ठीक आसमान के नीचे बैठे रहने पर भी किसी को न तो गर्मी ही लगी, न समय का पता ही चला।

''तो?'' पट्टमहादेवी ने कहा।

''दोपहर बाद छोटे पहाड़ पर चलेंगे। पूर्णिमा भी नजदीक है। चाँदनी भी रहेगी। कुछ देर तक बैठ जाएँ तो कोई हर्ज नहीं। देर से लौटेंगे तो भी चिन्ता न रहेगी।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''शाम के भोजन के लिए?'' पुजारी ने कहा।

''भोजन के पश्चात् पहाड़ पर चढ़ेंगे। शाम को भोजन न भी किया तो भी कोई हर्ज नहीं।'' शान्तलदेवी ने कहा।

पहाड़ से उतरकर सब अपने मुकाम पर पहुँचे। महावीर जयन्ती पर विशेष भोजन तैयार था। भोजनोपरान्त थोड़ी देर विश्राम कर, जब सूर्य ढलने लगा तो सभी कटवप्र पर चढ़े। वृद्ध पुजारी भी साथ रहे। वहाँ की चन्द्रगुप्त बसदि और चामुण्डराय बसदि का दर्शन कर, बाद में दूर स्थित गोम्मट स्वामी के ठीक सामने आकर सब लोग

बैठ गये। वही पुरानी जगह। रेविमय्या को जहाँ पहले किरीटधारी गोम्मट ने दर्शन दिया था, वही जगह।

रेविमय्या ने कहना शुरू किया, "मैंने यहीं से अलंकृत बाहुबली को देखा था।" इसके बाद पहले-पहल शान्तलदेवी को देखने के समय से लेकर उस समय कहाँ क्या कुछ बीता सो विस्तार के साथ बताया। उसके कहने में चामव्वा दण्डनायिका की बात जब उठती तो उसे संकोच का अनुभव होता। वह कह सकता था कि वह बहुत नीच प्रवृत्ति वाली थीं। सम्पूर्ण जीवन को बड़े संयम से बिताने वाले रेविमय्या की बातों में ऐसा नहीं था जो बहुत हेय या उत्तेजनापूर्ण हो। सब बातें कह सुनने के बाद उसने कहा, "हमारी पट्टमहादेवीजी मेरे हृदय की अम्माजी ही सही। उन्होंने एक गलती की है। उसे कहने की स्वतन्त्रता मुझे नहीं। परन्तु मैंने उसे अपने मन में अब तक दबाकर रखा है। अब ऐसा करना दुःसाध्य है, इसलिए कहे देता हूँ। मैं विश्वास करता हूँ कि रानी राजलदेवी जी भी मुझे क्षमा करेंगी। इस द्वारपाल को इतनी बड़ी बात से क्या वास्ता। यदि मेरी बात गलत मालूम पड़े, तो मेरी प्रार्थना है कि मुझे क्षमा करें। ये तीनों रानियाँ भी आज यहाँ उपस्थित हैं, यह मेरे लिए बहुत ही हितकर है। मैंने अब तक जो बताया उसमें उनकी कथा भी निहित है। एक ही माता-पिता से जन्म लेनेवाली सगी बहनें एक मन होकर सहजीवन व्यतीत नहीं कर सकीं। परिस्थितियों ने उन्हें इस तरह जीने नहीं दिया। अर्थहीन, दिशाहीन, लक्ष्यहीन होकर उनमें यह विचार उठा कि किसके गर्भ-सम्भूत को पीछे चलकर सिंहासन मिलेगा। इसी चिन्ता में उल्टी-सीधी चलकर, गलत रास्ते पर कदम बढ़ाकर, उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को ही बरबाद कर लिया। अपने इस कटु अनुभव की पृष्ठभूमि में रानी पद्मलदेवी ने मनसा यह आकांक्षा की थी कि सन्निधान श्रीराम की तरह, एक पत्नीव्रती होकर रहें। जिन तरह उनका जीवन बरबाद हुआ, वैसे हमारी अम्माजी और अप्पाजी का जीवन भूलभुलैया में पड़कर नष्ट न होने पावे—यही उनका उद्देश्य था। परन्तु हमारी इन अम्माजी ने, आपस में लड़ने-झगड़ने वालों को ठीक करनेवाली अम्माजी ने, सौतों का स्वागत किया है। अब तक रानी बम्मलदेवी या रानी राजलदेवी जी ने ऐसा-वैसा व्यवहार नहीं किया, यह सच है। सदा ऐसे ही रहेंगी—यह कैसे कहा जा सकता है। अब तक के अनुभव के आधार पर वे अब जैसी हैं वैसी ही रहेंगी, यह मान भी लें तो जो नयी रानी अब आयी हैं। वे ऐसी ही रहेंगी, मुझे विश्वास नहीं। वह रानी चाहें तो रह भी सकती हैं, परन्तु उनके पिताजी उन्हें वैसा रहने नहीं देंगे। वह तो हर बात में इस तिलक को ही मान्यता देनेवाले आदमी हैं, कुएँ में मेढक जैसे। कल तिलकधारी को ही सिंहासन पर बिठाने की कोशिश करेंगे, इसके लिए हठ ठानकर वह लोगों की भीड़ जमा करेंगे, ऐसे ही जैसे परसों चर्मकारों के प्रसंग में लोगों को इकट्ठा किया था। इसलिए मैं कहता हूँ कि हमारी अम्माजी ने सचमुच गलती की है। वे तो निर्लिप्त होकर रह सकती हैं, पर

ये जो बच्चे हैं बल्लालदेव, छोटे बिट्टिदेव, विनयादित्य और हरियलदेवी उनका भी भविष्य सुरक्षित होना चाहिए न? वह संघर्ष शुरू हो जाए तो राजद्रोह की तरह फैलता ही जाएगा; और तब वह एक ऐसा घाव होगा जो कभी नहीं भरेगा। पट्टमहादेवी बनकर हमारी अम्माजी 'सर्वानुनन्धारणा' की उपाधि से विभूषित अवश्य हुई हैं, परन्तु सदा शान्ति चाहने वाली अम्माजी यदि कल यह कहें कि हमारे बच्चों को सिंहासन न भी मिले तो कोई हानि नहीं, तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं। बड़े हेग्गड़ेजी हैं, हेग्गड़तीजी भी हैं। बड़ी रानियाँ, आप भी हैं। इन अम्माजी से अब आगे ऐसी गलती न हो और इन बच्चों के प्रति अन्याय न हो, इस बात का वचन लें। इतनी कृपा करें।" वह बहुत विचलित हो गया था। भावुकता वश वह यह सब अनायास ही कह गया।

शान्तलदेवी हँस पड़ीं।

"क्यों अम्माजी, क्या मेरी बातें हँसी में उड़ा देने की हैं?"

"रेविमय्या, तुम अपनी खास दृष्टि से सोच रहे हो। तुम्हारे लिए मैं और मेरे बच्चे ही सारा संसार हैं। इसलिए कहीं थोड़ी सी भी शंका पैदा हो जाए तो तुम सोचने लगते हो कि उससे मेरी बड़ी हानि होगी और उसे लेकर आशंकित हो। इसलिए व्यापक दृष्टि से विचार किया जाए तो ये तुम्हारी बातें हँसी-सी लगती हैं। यहाँ मेरे माता-पिता मौजूद हैं। उन्होंने या मैंने कभी नहीं सोचा था कि हमारा सम्बन्ध राजमहल से होगा। यह बात हमारी कल्पना में भी नहीं आयी थी, न इसकी आशा ही की थी। परन्तु पता नहीं, तुम्हारी अभिलाषा थी या गोम्मट स्वामी की करुणा थी, अथवा मेरे पिताजी के इष्टदेव धर्मेश्वर का वरप्रसाद था कि मुझे यह स्थान, मान और गौरव प्राप्त हुआ। इस पर मुझे घमण्ड नहीं करना चाहिए। न हो मुझे किसी तरह से भी हठ करना चाहिए कि यह मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। अलभ्य का लाभ मुझे जब मिला है, तो मेरे बच्चों को जो लभ्य होना चाहिए वह लभ्य न होगा, इस तरह की शंका तुम्हारे मन में क्यों आयी? कोई आशंका तुम्हारे भीतर बैठ गयी है। यह सब छोड़ दो। सन्निधान कभी अपनी सन्तान के प्रति अन्याय नहीं करेंगे। इसलिए इस सम्बन्ध में तुम चिन्ता मत करो। तुम जैसे प्रिय लोगों को पाने वाले पोय्सल राज्य में अन्याय नहीं होगा।" शान्तलदेवी ने कहा।

"हाथ की सभी अँगुलियाँ बराबर नहीं होतीं, अम्माजी।"

"उसके लिए तुम्हारी क्या सलाह है?"

"सौतों से कोई कष्ट न हो, इसके लिए कुछ करना होगा।"

पद्मलदेवी, चामलदेवी और बोप्पिदेवी, तीनों हँस पड़ीं। पद्मलदेवी ने कहा, "रेविमय्या! तुम भी अच्छे हो! अब तक तो हमने समझा था कि तुम बुद्धिमान् और होशियार हो, परन्तु तुम्हारी बातों को सुनने के बाद पता नहीं लगता कि तुम्हें क्या कहें।

हमारी माँ का सारा किस्सा सुनाकर और उससे फल जो हमें मिला, उसको देखते हुए अगर तुम्हारे मुँह से ऐसी बात निकले तो क्या कहना चाहिए? आगे चलकर कुछ हो जाने की आशंका करके अभी से कुछ करने लग जाना मूर्खता की चरम सीमा होगी।''

''कुछ भी हो, जो मैंने कहना चाहा था, कह दिया है। अब पट्टमहादेवीजी की मर्जी।''

''तुम्हारे मन को भी दुख न हो। कभी-कभी तुम्हारी सूझ पूर्ण अन्तःप्रेरित होती है, इसलिए मैं तुमको एक वचन देती हूँ। इस कटवप्र पर एक शान्तिनाथ बसदि की स्थापना कराऊँगी जिससे यदि कभी तुम्हें ऐसा भान हो कि मेरी और मेरी सन्तान की कोई बुराई करता है, तो तुम्हें या तुम जैसे लोगों को यहाँ मानसिक शान्ति मिले और वे सन्मार्गी बनें। ठीक है न?'' शान्तलदेवी ने कहा।

यह उत्तर उसको पूर्णरूप से सन्तोषजनक नहीं लगा। योंही सिर हिलाकर सूचित किया कि कम से कम मेरी बातों का इतना तो मूल्य रखा।

थोड़ी देर तक कोई कुछ न बोला। कुछ क्षण बाद चामलदेवी बोली, ''स्थपतिजी को अब अपनी कहानी शुरू करनी चाहिए न?''

''अपनी कहानी कहने से पहले मुझे एक बात स्पष्ट करनी पड़ेगी। किसी एक मौके पर मैंने जल्दबाजी की। गलत कदम रखा। इसका कारण मेरी पत्नी या पुत्र नहीं जानते। उन लोगों ने समझा होगा कि मैं पागल होकर किसी से कहे बिना चल पड़ा था। अभी तक उन्हें कारण मालूम नहीं। यह जो समागम हुआ न, मैं अत्यन्त योग्य स्थान पर अच्छे काम में हूँ—इस बात ने उन्हें तृप्ति दी है, खुश रखा है। फिर उस पुरानी किसी भी बात को याद न करेंगे, उसे एक बुरे स्वप्न की तरह विस्मृत रखेंगे, यही वे कहते हैं। एक तरह से वह सही है। यदि मुझे पट्टमहादेवीजी का सम्पर्क प्राप्त न हुआ होता तो मैं उसी को ठीक मानकर अपनी गलती को छिपाये रखता। यदि ऐसा होता तो यह मेरे पुत्र और पत्नी के साथ धोखा करने के बराबर होता, इसके बदले गलती को स्वीकार करने का साहस करना सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है—इस सत्य को मैंने पट्टमहादेवीजी से जाना है। इसलिए अब मैं जो कहने जा रहा हूँ वह मेरी पत्नी और पुत्र के लिए त्रासदायक हो सकता है। मैं समझता हूँ कि वे उसे सह लेंगे और मुझे क्षमा करेंगे।'' बात रोककर स्थपति ने उनकी ओर देखा।

''उन दोनों को सारी जानकारी है। मैंने उन्हें वे सारी बातें बता दी हैं जिन्हें मैं जानती थी। वह सब सुनकर जैसा आपने कहा, उन्हें बहुत दुख हुआ। फिर भी इस पुनर्मिलन की खुशी में उस दुःख को उन्होंने नगण्य मान लिया। इसलिए अब उन्हें कोई वेदना नहीं होगी। अपना सर्वस्व त्याग कर, नग्न अवस्था में मुस्कराते हुए यह गोम्मटस्वामी सामने खड़े हैं; उनके समक्ष एवं इन बुजुर्गों के सामने आप स्वयं अपनी कहानी कह देंगे तो आपके मन में भी कोई चुभन नहीं रह जाएगी।'' शान्तलदेवी ने कहा।

कर, उसे हँसते हुए पट्टमहादेवीजी ने ही मुझे बताया। मेरा तिरस्कार न कर, सहानुभूति से मुझे समझाया कि मेरी इस गलती के कारण पत्नी और पुत्र के प्रति कितना घोर अपराध और अन्याय हुआ है। इतना ही नहीं, इन्होंने मुझे मनुष्य बनाया। मेरे सम्पूर्ण परिवार में व्याप्त हो गयी कटुआहट को दूर कर, पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाया। मेरे दाम्पत्य जीवन का पुनर्जन्म, मेरे इस पुत्र के साथ जिस पर मैं गर्व कर सकता हूँ, हुआ। हम तीनों पट्टमहादेवी के आजीवन ऋणी हैं। ईर्ष्या-द्वेष बढ़ाकर, एक-दूसरे पर क्रोधाग्नि भड़काकर, स्वार्थ को साधकर खुश होनेवाली मानव प्रवृत्ति के विपरीत, क्षमा और प्रेम द्वारा जीवन को भव्य बनानेवाली त्यागबुद्धि को व्यावहारिक जीवन में लाकर, मानवीयता के मूल्य को बढ़ानेवाली पट्टमहादेवीजी के व्यक्तित्व ने ही मुझे यह पाठ पढ़ाया। हमारी बात छोड़िए, सब-कुछ मेरे अविवेक एवं जल्दबाजी के कारण हुआ। चट्टलदेवी और मायण का जीवन जो सुधरा, उसका स्मरण करने पर आश्चर्य होता है। मानव का काम तोड़-फोड़ करना नहीं है। पट्टमहादेवीजी का आदेश होने से इस भव्य गोम्मट भगवान् के समक्ष खुले दिल से मैंने कह दिया। आप सभी के समक्ष कह देने के बाद, मैं समझता हूँ कि मुझमें अपराधी का भाव नहीं रह जाएगा। अब तक, इस समागम के पश्चात्, मेरी पत्नी और पुत्र ने यह सब जानते हुए भी मुझे सुख-सन्तोष ही दिया है। परन्तु मैंने ही एक तरह से कृतघ्न व्यवहार किया। क्यों छोड़कर चला गया, इसका कारण मैं नहीं बता सका। यदि कभी पूछ बैठे तो क्या कहूँगा? यही खटका लगा रहता था। अब निश्चिन्त हो गया। आइन्दा मेरे और मेरे पुत्र की सेवाएँ पट्टमहादेवीजी और पोय्सल वंश की धरोहर हैं।" स्थपति ने कहा।

रेविमय्या और जकणाचार्य की कहानी सुनते हुए किसी को भी समय का पता नहीं चला। पद्मलदेवी ने कहा, "देखिए तो, चन्द्रमा कहाँ तक चढ़ चला है! पूर्णिमा के अब दो ही दिन रहे गये हैं। वह उतना ही अपूर्ण है। जो भी पट्टमहादेवी के सम्पर्क में आये वे परिपूर्ण होकर सुखी जीवन जीने लगे हैं; मगर हमने अपने जीवन को आखिर तक अपूर्ण ही बनाये रखा। हमारे बारे में पट्टमहादेवी अभी तक कृतकार्य नहीं हुईं! हम स्वयं ही उसके कारण हैं। यह अपूर्णता हमारी अपनी ही देन है। फिर भी उनकी क्षमाशीलता ने हमें उनके अत्यन्त निकट बनाये रखा है। अपना किस्सा सुनते समय जितना उत्साह रहा, स्थपतिजी की कहानी सुनते हुए भी वह उत्साह उसी मात्रा में रहा। समय का पता ही न चला! अब हम अपने मुकाम पर जा सकती हैं न?"

सभी जन कटवप्र से उतरकर अपने-अपने मुकाम पर आ गये।

पुजारीजी उन्हें विदा करने निवास के द्वार तक आये, उन्हें प्रणाम किया और कहा, "मेरा सम्पूर्ण तन-मन इस गोम्मटस्वामी के चरणों में ही विलीन हो गया। फिर भी मानव-जीवन के अनेक पहलुओं से परिचय ही नहीं हुआ। आज मुझे उसका

विस्तृत दर्शन ही मिल गया। सचमुच मैं भाग्यवान हूँ। सब ठीक हो गया। बड़ी रानियों ने अपने उत्कीरित नाम नहीं देखे! बीच में कहना चाहता था, मगर रेविमय्या की कथा सुनते-सुनते भूल ही गया।''

''वह अभी तक बने रहे होंगे? हमने तब पत्थर से खरोंच-खरोंचकर बनाये थे। इतने साल बीत चुके; पानी, हवा, धूप के प्रभाव से वह पूर्ण रूप से नष्ट हो गये होंगे!'' चामलदेवी ने कहा।

''शायद अभी भी बच रहे हों!'' पुजारी ने कहा।

''न भी बचे हों तो भी कोई नुकसान नहीं।'' पद्मलदेवी ने कहा।

''हमारे लिए नहीं, दुनिया का नुकसान होगा, आज्ञा हो तो...'' पुजारी बोले।

''अच्छा, आपके लिए बहुत समय हो गया।'' शान्तलदेवी बोलीं।

''कुछ नहीं, खरोंटे लेते हुए सोने की अपेक्षा, आज मैंने जो पाठ सीखा वह महान् है। अच्छा, अब चलता हूँ।'' पुजारी जाने लगे।

''रेविमय्या! पुजारीजी को घर पहुँचा आओ।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''जो आज्ञा।'' रेविमय्या पुजारीजी के साथ चला गया।

बाकी लोग अपने निवास पहुँचे। हाथ-मुँह धोकर लेट गये। सबको जल्दी ही नींद आ गयी।

रेविमय्या के लौटते-लौटते सब निद्रामग्न हो गये थे।

रेविमय्या को नींद नहीं आयी। अभी उसके मन में वही बातें मँडरा रही थीं जो उसने कही थीं। उसने भगवान् को याद किया, ''हे भगवन्, हमारी अम्माजी को अभी सौतों से हानि न पहुँचाओ, मेरी प्रार्थना है। इसे ठुकराओ नहीं भगवन्! एक द्वारपाल की बात अनसुनी करके ठुकराओ मत!'' वह वैसे ही चित लेटा-लेटा ऊपर की छत को देखता रहा। बहुत देर बाद उसे नींद आयी। महाराज बिट्टिदेव और बम्मलदेवी, दोनों के होते हुए भी युद्ध-शिविर में सारी युद्ध-व्यवस्था तलकाडु के युद्ध की ही तरह द्रोहघरट्ट गंगराज के हाथ में रही। गंगराज का पुत्र एचम, उदयादित्यरस और बड़े दण्डनायकों में एक मंत्रियरस और छोटे दण्डनायक बिट्टियण्णा उनके सहायक रहे।

माचण, डाकरस, सिंगिमय्या, बोप्पदेव और पुनीसमय्या—तलकाडु, यादवपुरी और दोरसमुद्र की सुरक्षा के कार्य में लगे रहे। सचिव नागिदेवण्णा करीब-करीब यादवपुरी के ही लिए सुरक्षित थे। उनके और आचार्यजी के बीच में एक तरह का मेल था और आचार्यजी ने यदुगिरि को ही अपना मुख्य केन्द्र बना रखा था, इसलिए उन्हें अन्यत्र भेज देने के बारे में बिट्टिदेव ने सोचा तक नहीं था।

बारह सामन्त राजा चालुक्य विक्रमादित्य की मदद के लिए सम्मिलित हुए थे। उनमें गोवा और हानुंगल के कदम्ब, सवदत्ति के रट्ट, उच्चंगी के पाण्ड्य और एम्बरिगे के सिन्द प्रमुख थे। ऐसा समझना चाहिए कि बिट्टिदेव को पूर्णरूप से दबाकर उनका

तख्ता उलट देने के लिए ही वे इकट्ठे हुए थे। चालुक्य के ये मण्डलेश्वर अलग-अलग भी काफी शक्तिशाली थे। एक-एक का सामना करना ही जब दुःसाध्य था तो इनकी एकत्रित सेना का सामना करना कितना कठिन न रहा होगा? अभी तलकाडु में जो भयंकर युद्ध हुआ था, उसमें बिट्टिदेव ने जयमाला धारण की थी। परन्तु लोगों को यह भी मालूम था कि इस युद्ध में इनकी काफी शक्ति नष्ट हो चुकी है। और फिर, एरेयंग प्रभु के मरने के बाद लगातार एक के बाद एक युद्ध होते ही रहे हैं। ऐसी हालत में कितनी सेना संगठित की जा सकती, और बढ़ायी जा सकती? चालुक्य जगदेकमल्ल विक्रमादित्य का यह खयाल था कि अपने वश में अनेक मण्डलेश्वर हैं। उन्हें एकत्र कर लेने पर इस बिट्टिदेव को धूलिसात् कर देना कौन-सा बड़ा काम है? इसके लिए उन्होंने सबको उकसाकर बिट्टिदेव के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए यही समय चुना था। परन्तु पहले जब सामन्त जग्गदेव से युद्ध हुआ था तब से किस तरह युवकों को प्रोत्साहित कर पोय्सल अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ा रहे हैं, यह विक्रमादित्य को मालूम नहीं था। अपने गुप्तचरों से भी यह मालूम नहीं हो सका कि इस तरह गाँव-गाँव से युवकों को संगठित कर सैन्य शक्ति बढ़ायी गयी है और व्यापक रूप से यह कार्य चल रहा है। चालुक्यों ने समझा था कि विजय अपनी ही है। प्रतिष्ठा-महोत्सव के सन्दर्भ में लोगों की भीड़ में अपने गुप्तचरों को छोड़कर अन्दर ही अन्दर संघर्ष पैदा करके लोगों ने अनबन पैदा करने की योजना बना ली। स्वयं राजा के मतान्तरित हो जाने पर भी पट्टमहादेवी द्वारा मतान्तर स्वीकार न किये जाने से, उन दोनों की इस मतभिन्नता को तूल देकर जनता में भ्रम फैला दें और जनता की एकता छिन्न-भिन्न कर कमजोर बना दें—यही सब सोच रखा था उन्होंने। कुल मिलाकर चालुक्यों के इस गुट का यही खयाल था कि उनका सामना कोई नहीं कर सकेगा, कोई उनके बराबर नहीं हो सकेगा।

परन्तु उनको यह भी मालूम नहीं था कि उनके द्वारा भेजे हुए गुप्तचर दल की क्या हालत हुई। वे बेधड़क आगे बढ़ते ही जा रहे थे। पोय्सल-सेना के प्रधान संचालक गंगराज को शत्रुसेना की गतिविधि आदि के बारे में समय-समय पर समाचार मिल जाता था। उन्हें इस बात की जानकारी थी कि अपनी सेना कितनी ही बड़ी क्यों न हो, चालुक्यों के इस सम्मिलित सैन्य के बराबर नहीं हो सकती। इसलिए गंगराज ने निश्चिय किया था कि आक्रमण, सुरक्षा, व्यूहरचना के बारे में विशेष व्यवस्था करनी होगी, इस विषय पर विचार-विनिमय करने के लिए एक विशेष बैठक हुई। उसमें गंगराज, मायण, मंचियरस, एचम, बिट्टियण्णा, बम्मलदेवी और स्वयं महाराज बिट्टिदेव ने भाग लिया।

"उन लोगों ने भ्रम में पड़कर यह समझा होगा कि हमारी एकता को तोड़ दिया है। इसलिए हम ही हमला शुरू कर दें तो अच्छा होगा," मंचियरस ने सलाह दी। "इसके अलावा यह भी है कि हमारा अश्वदल बलवान् है, वह एकत्र होकर शत्रुओं

पर धावा बोल दे तो उनकी सेना में खलबली मच जाएगी और वह तितर-बितर हो जाएगी। वही हमारी जीत के लिए नान्दी होगा।'' मंचियरस ने सूचित किया।

परन्तु बिट्टियण्णा की सलाह इसके विपरीत थी। उसने कहा, 'हमें अश्वदल को सुरक्षित रखना होगा। नवागत घोड़ों को शिक्षित होकर हमारे साथ सम्मिलित होना हो तो उसके लिए समय लगेगा। शुरू में ही हम अपनी शक्ति का उपभोग करने लग जाएँ तो उन्हें हमारी क्षमता मालूम हो जाएगी। अभी तो उन्हें दुविधा में डाल कर सताना चाहिए। यह एक तरह से विलम्बित मार्ग होगा, सच है, फिर भी वर्तमान स्थिति में यही उपयुक्त है। इससे एक तो हम सीधे हो सकने वाले हमले को रोक सकते हैं; साथ ही चारों ओर से कई जगहों से हमला आरम्भ करके उनके इरादों को कुचल सकेंगे। मंचियरस, मैं, मायण हम तीनों तीन ओर से यह शीतयुद्ध शुरू कर दें तो अच्छा है।''

''दोनों की राय में लक्ष्य एक ही है—वह है शत्रु को भ्रम में डाल देना। मगर एक बात है। कुँवर बिट्टियण्णा ने जो कहा उसका मैं अनुमोदन करता हूँ। शुरू में ही हमें अपनी अश्वशक्ति का उपयोग नहीं करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर ही उसका उपयोग करना ठीक होगा। तब तक उसे सुरक्षित ही रखना चाहिए। शत्रु को आगे का कार्यक्रम क्या है, इसे जानने के लिए कुछ समय तक तटस्थ रहेंगे। यदि उनकी तरफ से जोरों का हमला शुरू होता है तो हम सामना करने के लिए तैयार हैं ही। ऐसा न होकर अगर वे हमारी गतिविधियों को जानने के उद्देश्य से तटस्थ ही बैठे रहेंगे, तो जैसा बिट्टियण्णा ने कहा, हमारी मूल सेना को यहीं शिविर में रखकर, बाकी सेना को तीन भागों में विभक्त कर मंचियरस, मायण और बिट्टियण्णा के नेतृत्व में शीतयुद्ध शुरू कर देंगे।'' गंगराज ने सलाह दी।

''मेरे पति मेरी मदद के लिए यहीं सन्निधान के साथ रहें तो अच्छा है। उनके बदले दण्डनायक एचमजी को इसके लिए भेजा जा सकता है, अगर प्रधानजी सही मानें तो।'' चट्टलदेवी ने निवेदन किया।

जवानी के उत्साह में एचम गंगराज के कुछ कहने के पहले ही बोल उठा, ''चट्टलदेवी की सलाह बहुत ठीक है। मायणजी सन्निधान के साथ रहें। मैं एक सैन्य टुकड़ी को लेकर चल दूँगा।''

ऐसा ही निर्णय हुआ।

इसलिए फिलहाल तटस्थ रहकर ही हमारी सेना शिविर में रहेगी। शत्रुओं की गतिविधि को जानने के लिए गुप्तचरों का दल चौकन्ना होकर काम में लग जाए—यह निर्णय हुआ। दो-तीन दिनों के अन्दर-अन्दर यह निश्चित खबर मिली कि चालुक्य विक्रमादित्य युद्धक्षेत्र में नहीं आये हैं।

इसी तटस्थता में एक सप्ताह गुजर गया होगा। इतने में तलकाडु और कोषलालपुर से पत्र आये। समाचार था कि कंची पर कब्जा करने के लिए यह बहुत ही उपयुक्त समय है।

फिर मन्त्रणा हुई। तलकाडु की रक्षा के लिए थोड़ी सेना को वहीं रखकर, वहाँ की बाकी सेना के साथ कोवलालपुर पहुँचने के लिए मायण को खबर भेजकर, बिट्टिदेव बम्मलदेवी, उदयादित्य, मायण, चट्टलदेवी और कुछ रक्षक-दल के साथ कोवलालपुर की ओर चल पड़े।

चालुक्यों की सम्मिलित सेना का सामना करने की पूरी जिम्मेदारी अब गंगराज पर आ पड़ी।

महाराज के कोवलालपुर जाने और कंची पर हमला करने की बात गुप्तचर के द्वारा वेलापुरी भेजी गयी। उसके साथ एक और सूचना भी थी—यादवपुर में डाकरस जैसे निष्णात दण्डनाथ रहें, यह उचित नहीं। एक साधारण अनुभवी गुल्मनायक के नेतृत्व में वहाँ एक रक्षक-दल का रहना पर्याप्त है, शेष राजकाज की देखभाल करने के लिए नागिदेवण्णाजी तो हैं ही। इसलिए डाकरस दण्डनाथ को एक सैन्य टुकड़ी के साथ कंची भेज दें।

शान्तलदेवी ने दोरसमुद्र से बोप्पदेव को तुरन्त बुलवा लिया। स्वयं और बोप्पदेव तथा सिंगिमय्या मिले। साथ ही मारसिंगय्या और वित्त-सचिव मादिराज को भी बुलवाया गया। विचार-विमर्श हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि बोप्पदेव के अधीन काम करनेवाले कोनेय शंकर दण्डनाथ को यादवपुरी भेजने तथा डाकरस को वहाँ से छुटकारा देकर महाराज के साथ शामिल होने के लिए भेजा जाए। यह भी तय हुआ कि डाकरस का परिवार उनके लौटने तक वेलापुरी में ही रहे। यह खबर राजमहल के नवनियुक्त विश्वासपात्र योद्धा चिन्न के द्वारा पत्र भेजकर दी गयी और वहाँ से दण्डनायिकाजी और बच्चों को बुला लाने की भी व्यवस्था की गयी।

चिन्न ने डाकरस दण्डनायक तक शीघ्र ही पत्र पहुँचा दिया। डाकरस अपनी सेना लेकर महाराज के साथ सम्मिलित होने के लिए रवाना हुए। तभी दोरसमुद्र से कोलेय शंकर दण्डनाथ भी आ पहुँचा। वह सुरिगे नागिदेवण्णा के अधीन यादवपुरी के रक्षण में नियुक्त होकर कार्यरत हुआ। डाकरस की पत्नी और पुत्र योद्धा चिन्न के साथ वेलापुरी पहुँच गये।

बेलुगोल से लौटने के बाद पद्मलदेवी और उनकी बहनों ने सिन्दगेरे जाने का आग्रह किया। शान्तलदेवी ने ही उन्हें ठहरा लिया था, इसलिए कि पूर्व-निर्मित चेन्नकेशव मूर्ति की प्रतिष्ठा के बाद भेज देंगे। इस बार तो उनकी भाभी और बेटे भी आये थे। वे सब राजमहल में ही ठहरे थे। दण्डनायक का अलग निवास था, तो भी रानियाँ पद्मलदेवी और उनकी बहनें राजमहल में ही रहीं, इसलिए उन्हें भी राजमहल ही में ठहराया गया था।

शिल्प-विद्यालय आरम्भ हो गया। मन्दिर-निर्माण के लिए जो शिल्पी आये थे उनमें अनेक को यथोचित पुरस्कार प्रदान किया जा चुका था, और वे सब अपने-अपने

गाँव जा चुके थे। इस बार जब शान्तलदेवी बेलुगोल गयी थीं तब उन्होंने कवि बोकिमय्या और शिल्पी गंगाचार्य से बेलापुरी आने का आग्रह किया था। लेकिन उन्हें प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय जो गड़बड़ी हुई थी, उसकी खबर लग चुकी थी। इसलिए दूर रहना ही बेहतर समझकर वे बड़ी होशियारी से छुटकारा पा गये थे। वास्तव में शान्तलदेवी की इच्छा थी कि बोकिमय्याजी उनके बच्चों के गुरु बनें। बोकिमय्या ने कहला भेजा, "बाहुबली का सान्निध्य छोड़कर आना अभी मुश्किल है।" उन्हें मानसिक-शान्ति वहीं रहने से मिलती हो तो उससे उन्हें क्यों दूर करें, यही सोचकर शान्तलदेवी चुप हो रहीं। दासोज और चावुण को वहीं रख लिया गया। बचे-खुचे छुट-पुट काम उन्होंने ही पूरे किये। जैसा सोचा था, मन्दिर के आवरण में दक्षिण-पश्चिम के कोने में एक छोटा मन्दिर भी तैयार हो गया।

सुविधानुसार मुहूर्त निश्चय कर प्रतिष्ठा-समारम्भ के आयोजन की अनुमति महाराज ने दे दी थी। आगमशास्त्रियों की सलाह के अनुसार जकणाचार्य द्वारा निश्चित मुहूर्त में यह उत्सव सम्पन्न हो गया। इसमें डाकरस के बच्चे मरियाने, भरत सभी शामिल थे। भरत ने सहज कुतूहल से पूछा, "एक ही जगह दो चेन्नकेशव...?" स्थपति ने सारा किस्सा सुनाया और कहा, "इस मूर्ति के उदर में मेंढक था। इसलिए एक और मूर्ति को बनवाकर प्रतिष्ठित किया गया है।"

"तो यह कप्पे (मेंढक) चेन्नकेशव हैं!" भरत ने कहा।

दण्डनायिकाजी ने उसके मुँह पर हाथ रखकर कहा, "बेटा, पट्टमहादेवी के सामने इस तरह बात करेगा? सो भी भगवान् के बारे में?"

"गलत तो नहीं न! हमने मण्डूकगर्भ चेन्नकेशव कहा। उसी को इस बच्चे ने कन्नड़ में आसानी से कह दिया 'कप्पे (मण्डूक) चेन्नकेशव'। मुझे भी यही नाम अच्छा लग रहा है। पट्टमहादेवीजी अनुमति दें तो इसे इसी नाम से पुकार सकते हैं।" स्थपति जकणाचार्य ने कहा।

"यही नाम इस मूर्ति का होगा, और उसका और इस देश के एक श्रेष्ठ शिल्पी तथा उसके पुत्र का इतिहास युग-युगान्त तक स्थायी हो जाएगा। हम सबने अपनी-अपनी इष्ट मूर्ति के नीचे अपने गाँव, गली, उपाधियाँ, नाम, घराना आदि जो उकेर दिये हैं, इसलिए कि हमारा नाम अमर बना रहे। परन्तु हम सबके और पट्टमहादेवी के जोर देने पर भी स्थपतिजी ने कहीं भी अपना नाम अंकित नहीं किया। उन्होंने कह दिया कि कृति कृतिकार से प्रधान है। वह नाम कुछ अजीब लगने पर भी हमेशा जनमन में तरोताजा ही बना रहेगा। इसलिए पट्टमहादेवी जी इसके लिए स्वीकृति दें।" दासोज ने कहा।

"कोई दोष नहीं। इस भूमि पर सृष्टिकर्म किस तरह हुआ, यह बताने के लिए हमारे पुरखों ने दस अवतारों की कल्पना की है न! प्रथम सजीव प्राणी की उत्पत्ति पानी

में हुई। उसमें जमीन पर जीने की शक्ति नहीं थी। यही मत्स्यावतार है। दूसरा कूर्मावतार, वह पानी और जमीन दोनों पर जी सकनेवाले जीव का प्रतीक है। जीव का तीसरा स्तर मेढक है जो जल और जमीन दोनों पर रह सकता है अर्थात् जमीन पर पानी में जी सकता है। इसलिए उस देव का नाम 'कप्पे (मेढक) चेन्नकेशव' हो तो उसमें क्या गलत है? यह एक अपूर्व विषय है। इसलिए इसे इसी अभिधान से अभिहित करेंगे। उस बालक के मुँह से जो बात निकली वह अन्तःप्रेरणा से ही निकली होगी।'' आगमशास्त्रियों ने कहा।

वैसा ही किया गया।

उस दिन कुछ प्रमुख लोगों को निमन्त्रित किया गया था। उनके लिए इस प्रतिष्ठा-महोत्सव पर विशेष भोज की व्यवस्था भी की गयी थी। दण्डनायिका एचियक्का, शान्तलदेवी, पद्मलदेवी एक साथ अगल-बगल बैठी थीं। इधर-उधर की बातों के सिलसिले में पद्मलदेवी ने कहा, ''सुबह प्रतिष्ठा-समारम्भ के समय अचानक मेरे मन में एक विचार आया। यदि वह सफल हो जाए तो बहुत खुशी होगी।'' इतना कहकर वह चुप हो गयी।

''क्यों? चुप क्यों हो गयीं? क्या विचार आया है?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''कुछ नहीं। मेरे माता-पिता की आशा अधूरी रही आयी।'' पद्मलदेवी ने कहा।

''कैसे? एक के बदले तीन गुना सफल हुई न! वास्तव में तब अकेली आपका विवाह भावी महाराज से करना चाहते थे। उसके बदले तीनों का विवाह उनसे हो गया तो फल तिगुना मिला न!''

''फल तिगुना नहीं, तीन-तेरह हो गया। जाने दें। अब इस बात की जरूरत नहीं। उसके लिए हम ही जिम्मेदार हैं। उस दर्द को भुगता है। स्थूल रूप से एक तरह से सफल होने पर भी, वह पूर्ण नहीं हुआ। एक घराने का दूसरे घराने के साथ सम्बन्ध हो जाए तो उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ाते रहना चाहिए। हम तीनों के रानियाँ होने पर भी वह सम्बन्ध नहीं बढ़ सका।'' कुछ खिन्न होकर पद्मलदेवी ने कहा।

''आपके पुत्र कुमार नरसिंह और बोप्पिदेवी की पुत्री को भगवान् ने बचा दिया होता तो आपके मुँह से यह बात निकलने का मौका ही नहीं रहता।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''वह हमारा दुर्भाग्य था। उस बात को जाने दीजिए। उसके बारे में मैं सोच नहीं सकती। अपनी माँ की विचारधारा जैसी किसी भी तरह की बात मैं नहीं सोच सकूँगी। यों करने पर यों होगा अथवा यों करें तो यह फल मिलेगा, इस तरह का विचार मन में नहीं आने दूँगी। मेरे मन में विचार आया भी तो एक अनमोल मुहूर्त में। सम्बन्धित सभी के सामने मैं उसे प्रस्तुत कर रही हूँ। बाद में आप ही लोग निर्णय करें। फिर भी मेरी बात धृष्टतापूर्ण समझें तो मुझे क्षमा कर दें। मेरी इस भाभी के दो बच्चे हैं। वे मेरे

पिता के पौत्र हैं। उन बड़े मरियाने दण्डनायक के वंश के अंकुर हैं। मेरे भाई ने बड़े की सगाई निश्चित कर रखी है। छोटे भरत को अगर पट्टमहादेवीजी अपना दामाद बना लें तो हमारे पिताजी की आशा थोड़ी-बहुत पूरी हो जाएगी, ऐसा मेरे मन को प्रतीत हुआ। इस प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय इन दोनों को मन्दिर के गर्भगृह के द्वार पर आमने-सामने खड़े देखा तो लगा कि यह जोड़ी अच्छी रहेगी। जैसा लगा, मैंने कह दिया। निर्णय आप लोगों का।"

शान्तलदेवी ने तुरन्त कुछ नहीं कहा। दण्डनायिका एचियक्का ने अपनी ननद की ओर इस अन्दाज से देखा कि उससे पूछे बिना एकदम यों ही कह दिया? फिर स्वयं चुप रहे आएँ तो उचित होगा समझकर बोली, "यह कैसे भला?" हम ठहरे आखिर राजमहल के नौकर, उनके आश्रय में जीनेवाले। पट्टमहादेवी जी की पुत्री का विवाह एक साधारण दण्डनायक के पुत्र के साथ! ऐसी माँग करेंगे तो लोग क्या कहेंगे? वे चाहे हमारे घर से लड़की ले सकते हैं, लेकिन राज-परिवार की लड़की को माँगना व्यावहारिक होगा?"

"आप दोनों के कथन में एक सद्भावना है। रानीजी की अभिलाषा एक मानव सहज अभिलाषा है। एक बार जो सम्बन्ध हो गया वह ऐसे ही बढ़े, यह इच्छा बहुत ही अच्छी है, उचित भी है। दण्डनायिकाजी की बात लौकिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है। स्थान-मान, हस्ती-हैसियत को महत्त्व देनेवाले लोगों की क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, उसे सोचकर उन्होंने यह बात कही है। इस राजमहल की परम्परा को मैंने महामातृश्री से सीखा है। यहाँ स्थान-मान प्रतिष्ठा आदि से अधिक महत्त्व गुण और मानवीयता को दिया जाता है। ऐसा न होता तो मैं एक साधारण हेग्गड़े की पुत्री इस स्थान पर बैठ सकती थी? आप लोग ऐसा मत समझिए कि मैं अपनी प्रशंसा करने लगी। उन्होंने मुझमें जो गुण पहचाना उसके लिए मान्यता मिली। मैं ही इसका प्रथम उदाहरण नहीं, हमारे बड़े मरियाने दण्डनायकजी भी अपने गुणों के कारण ही राजमहल के प्रेमपात्र बने। ऐसी स्थिति में रानीजी का यों विचार करना अनुचित नहीं। इसी तरह अपने मामा सिंगिमय्या की बेटी को अपनी बहू बना लूँ तो यह भी अनुचित न होगा। रानीजी का विचार मेरे लिए मान्य है। सन्निधान और दण्डनायकजी युद्ध से लौट आएँ तो उनके सामने प्रस्ताव रखेंगे, उनकी स्वीकृति मिलने तक प्रतीक्षा करनी होगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

पद्मलदेवी को शान्तलदेवी की यह बात सुनकर सन्तोष हुआ। चामलदेवी ने अपनी बगल में बैठी सिरियादेवी से पूछा, "तो सिरियादेवी ने अपनी बेटी को राजमहल में ब्याह देने की बात सोची है?"

"मैंने कुछ नहीं सोचा है। पट्टमहादेवीजी बेटी को माँगें तो हम, मैं और मेरे पतिदेव, इनकार कैसे कर सकते हैं? हमारी लड़की के भाग्य में जो होगा सो ही होगा,

हम तो ऐसा ही समझती हैं।'' उसके कहने का ढंग ऐसा था कि वह न इस तरफ है और न उस तरफ। प्रकारान्तर से शान्तलदेवी के विवाह के पहले से ही पोय्सल राजमहल का इतिहास वह जानती थी। किसी भी प्रसंग में अपने को न फँसाकर उसने इतना समय गुजार दिया था।

बोप्पिदेवी ने भी अपनी एक बात जोड़ दी। बोली, ''वैसे ही सोचिए, इसी मुहूर्त में और किस-किस का विवाह कराया जा सकता है?''

''हमारे स्थपतिजी का एक पुत्र है जो विवाह के योग्य है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

पद्मलदेवी ने कहा, ''ऐसे ही राजमहल से बाहर की बात सोचेंगे तो हजारों लड़के और लड़कियाँ होंगी। उन सबके बारे में सोचना हमारा काम नहीं।''

''जिन्हें हम अपने कार्य योग्य नहीं मानते, वे ही परिस्थितिवश हमारे काम के बन जाते हैं। आप शायद नहीं जानती होंगी, रेविमय्या के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। मेरा सन्निधान के साथ विवाह हो जाए तो कितना अच्छा हो, यह बात सबसे पहले रेविमय्या के ही मन में आयी थी। ऐसे में सब हमारा ही काम है। स्थपतिजी के बेटे का विवाह भी जल्दी ही करा देना चाहिए। उसके योग्य कन्या के बारे में विचार करें।'' शान्तलदेवी ने कहा।

यों भरत-हरियलदेवी के विवाह के सम्बन्ध में जो बात उठी वह डंकण के लिए कन्या देखने की ओर बढ़कर रुक गयी।

इस तरह वेलापुरी का जीवन शान्त रीति से चलने लगा।

उधर गंगराज, जो चालुक्य विक्रमादित्य के बारह सामन्तों की सेना का सामना कर रहे थे, और इधर महाराज जो कंची पर हमला कर रहे थे, दोनों की तरफ से गतिविधियों की बराबर खबर मिलती रही। वेलापुरी और दोरसमुद्र में राष्ट्र के युवक सैनिक शिक्षण पा रहे थे। जब जहाँ से माँग होती, शिक्षित सैनिकों को भेज दिया जाता। वेलापुरी में सिंगिमय्या और दोरसमुद्र में बोप्पदेव एवं पुनीसमय्या शिक्षण दे रहे थे। राजनीतिक दृष्टि से एक ओर यह शिक्षण जारी था तो दूसरी ओर सांस्कृतिक दृष्टि से संगीत, साहित्य, शिल्प आदि का शिक्षण भी व्यवस्थित रूप से चल रहा था। चारों ओर यह खबर फैल गयी थी कि वेलापुरी के विशाल मन्दिर के निर्माता स्थपति एवं बलिपुर के ओंकारेश्वर मन्दिर के निर्माता प्रसिद्ध शिल्पी दासोज शिल्प-शिक्षण दे रहे हैं। इससे राज्य के कोने-कोने से शिक्षार्थी आ-आकर शामिल हुए थे। मन्दिर के लिए सुरक्षित

पश्चिमोत्तर कोने के प्रांगण में विद्यालय की स्थापना की गयी थी।

उस दिन विद्यालय का अवकाश था। शान्तलदेवी एचियक्का के साथ बातचीत कर रही थीं। बातचीत के सिलसिले में यादवपुरी की बात उठी। यादवपुरी की बात उठती है तो रानी लक्ष्मीदेवी की बात आएगी ही, उसके पोषक पिता तिरुवरंगदास की भी बात सहज ही उठेगी।

"—'वेलापुरी की मूल चेन्नकेशवमूर्ति के प्रतिष्ठा-समारोह का सारा श्रेय आचार्यश्री को जाता है। मैं यदि वेलापुरी न जाता तो आचार्यजी का सारा प्रयास हवा में उड़ जाता। वे आगे नहीं बढ़ सकते थे। पहले जो मूर्ति बनी वह दोषपूर्ण शिला से बनी थी इस बात को सबसे पहले मैंने ही कहा। कुछ लोगों ने दोष प्रकट करने के कारण मुझे दुरभिमानी तक कह दिया। कहें, मुझे क्या। कुत्ता भौंकेगा तो सुरलोक की क्या हानि? मुझे क्या चाहिए? मैं तो केवल आचार्यश्री का श्रेय चाहता था' आदि-आदि कहकर 'मेरे ही कारण वह प्रतिष्ठा समारोह विधिवत् और शास्त्रोक्त रीति से सम्पन्न हो सका', यह कहते हुए तिरुवरंगदास अपने बड़प्पन का प्रचार कर रहे हैं।" एचियक्का ने कहा।

"सारी बात दण्डनायकजी जानते हैं?"

"हाँ, जानते हैं। वह वस्तुस्थिति को ब्योरेवार बताना चाहते थे। इतने में रानीजी वहाँ आ गयीं तो वातावरण कुछ और तरह का बन गया। दण्डनायक जी इन सभी बातों की ओर सन्निधान का ध्यान आकर्षित करने के लिए इस तरह आना ही चाहते थे कि इतने में उन्हें युद्धक्षेत्र में जाने का आदेश मिला। और हम इधर आ गयीं।"

"सचिव नागिदेवण्णाजी?"

"अगर आचार्यजी के नाम का जिक्र आवे तो वे होठ तक नहीं हिलाएँगे। मत या धर्म की बात आवे तो हम चर्चा नहीं करेंगे—ऐसा उन्होंने सोच रखा है।"

"रानी लक्ष्मीदेवीजी?"

"वे जब यहाँ से गयीं तो प्रसन्नचित्त थीं। लगता है, जैसे-जैसे दिन गुजरते गये, उनमें परिवर्तन होता गया।"

"हो सकता है। छोटी रानी का मन अच्छा है, परन्तु उसके पिता उसे अपनी इच्छानुसार रहने नहीं देते। जब पहली बार मैंने तिरुवरंगदास को देखा तब से ही मेरे मन में उसके बारे में अच्छी राय नहीं रही है। उसके व्यवहार ने मेरी राय की पुष्टि की है। वास्तव में सन्निधान को उस व्यक्ति पर बड़ा गुस्सा हो आया था जब वह उस नोलम्बबाड़ी के गुप्तचर के साथ बड़ी आत्मीयता से रहा करता था। मैंने सन्निधान को समझा-बुझा कर शान्त किया। बहुत से राजनीतिक ऐसा ही अविवेकपूर्ण आचरण करते हैं इसलिए इस बात को सन्निधान यहीं छोड़ दें, कहकर समझाया, तो सन्निधान ने मेरी बात मान ली। परन्तु वह व्यक्ति सोच समझकर सही रास्ते पर चल नहीं रहा है—यही मानना पड़ता है। अब तो यही हुआ कि चाविमय्या के शिष्यों को यादवपुरी

भेजना पड़ेगा। वैरियों पर गुप्तचर रखना ठीक है, मगर हमारे अपने ही लोगों पर गुप्तचरों को तैनात करना पड़े तो यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है। पहले भी एक बार ऐसा हुआ था, वह सब हम जानते हैं। कुछ भी हो, सन्निधान अभी यहाँ उपस्थित नहीं हैं, आचार्यजी भी यहाँ नहीं हैं। ऐसी हालत में नागिदेवण्णाजी असहाय हो जाते हैं, गुप्तचरों को भेजना उपयुक्त है। वित्त-सचिव मादिराज और सिंगिमय्या को बुलवाकर उनसे विचार-विमर्श करूँगी।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''वहाँ कोनेय शंकर दण्डनाथ को भेजा जा चुका है न?''

''अभी वह युवा है, उस पर पूरी तरह निर्भर करना ठीक नहीं होगा।''

''वास्तव में स्मरण ही नहीं कि कभी मैंने उनका नाम सुना हो। अभी हाल में जब वह आये तभी उन्हें देखा है।'' एचियक्का ने कहा।

''नाम शंकर होने पर भी उसे श्रीवैष्णव के प्रति विशेष आकर्षण है। शायद इसीलिए उसे यादवपुरी भेजने की बात सोची है, जिससे आचार्यजी के कार्यों में सहूलियत हो।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''नागिदेवण्णाजी अभी एक तरह से निर्लिप्त हैं। वे यदि तिरुवरंगदास के धुन पर नाचने लगें, तो अन्य मतानुयायियों को तकलीफ न होगी?'' एचियक्का ने प्रश्न किया।

''अब तक ऐसा कुछ हुआ है?''

''अब तक तो नहीं हुआ। और फिर, दण्डनायकजी जब तक वहाँ रहे तब तक कुछ नैतिक भय भी था।''

''आचार्यजी के उत्तर की ओर जाने पर यहाँ उनके कुछ चेलों की प्रतिष्ठा अपनी नजर में बढ़ गयी-सी लगती है। वे यहाँ होते तो इन सबके लिए मौका नहीं मिलता। प्रतिष्ठा-समारम्भ के समय भी कोई बाधा न हुई होती। बाधा उपस्थित होने के कारण मुझे विशिष्ट सेवा के लिए अवसर मिला। उस दिन की संगीत-सेवा और नृत्य-सेवा के लिए दूसरे ही व्यक्तियों को नियुक्त किया गया था। लोग ऐसे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि यदि मुर्गा बाँग न दे तो सवेरा ही नहीं होगा। यह बात इसकी साक्षी है। शायद उन लोगों ने समझा होगा कि ठीक समय पर उन्हें न आने देने पर कार्यक्रम में अव्यवस्था हो जाएगी, उसमें कमी रह जाएगी।''

''तो पट्टमहादेवीजी का विचार है कि उन व्यक्तियों को न आने देने में किसी का हाथ था?''

''हाँ, वे कौन हैं और क्या सब हुआ, यह सब मैं जानती हूँ। हमने उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया।''

''ये लोग भी कितने बुरे हैं! जिनका नमक खाया उन्हीं को निगल जावें! ऐसे लोगों को तो सूली पर चढ़ा देना चाहिए।''

''असूया ही एक ऐसी बुरी प्रवृत्ति है, दण्डनायिकाजी। वह एक बार मन में जम जाए तो वह नीच-से-नीच कार्य करवा लेती है। इसके लिए आपकी सास दण्डनायिका चामव्वेजी ही प्रमाण हैं न? उस असूया का फल उन्होंने ही भोगा।''

''फिर भी महामातृश्री की उदारता कितनी महान् थी! मेरी सास के मन की तरह उनका मन भी कलुषित होता तो हमारे वंश को ही निर्मूल कर दिया जा सकता था।''

''क्षमा, उदारता, प्रेम इस त्रिसत्व से उनका हृदय सदा परिशुद्ध रहा। ऐसा हृदय प्राप्त करना हो तो एक जन्म में सम्भव नहीं। अनेक जन्मों का फल है वह। प्रत्येक व्यवहार में उनकी रीति को देखकर मैं बहुत प्रभावित हुई हूँ। दण्डनायिकाजी, सचमुच मैं बहुत भाग्यवती हूँ। अच्छे माँ-बाप और अच्छे सास-ससुर, अच्छा पति इन्हें पाने का सुयोग भला कितनों को मिलता है!''

''माता-पिता और सास-ससुर की बात तो ठीक है परन्तु आपके साथ और तीन स्त्रियों से विवाह करनेवाले सन्निधान क्या उन्हीं बुजुर्गों की परम्परा में ढले माने जा सकते हैं?'' दण्डनायिका ने कुछ संकोच से कहा।

''उनके बाहरी रूप ने अनेक के मन में उनके प्रति संशय पैदा किया है। सच तो यह कि उन लोगों को उनके अन्तर का परिचय ही नहीं। हम दोनों की यह जोड़ी सन्निधान के जन्म-दिन के अवसर पर, उस सुदूर अतीत में महामातृश्री को जो वचन दिया था उसके कारण, बहुत ही पवित्र है। मैं जो सुख पा रही हूँ वह मानसिक सुख है। हम दोनों एक-दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं। इस ज्ञान की छाया में कोई बाहर की चीज बाधक नहीं बनी है। अन्य रानियों के साथ सन्निधान के रहने पर यदि मुझमें ईर्ष्या उत्पन्न होती तो मेरा जीवन नरक ही बन जाता, दण्डनायिकाजी। आप चाहे विश्वास करें या न करें, हमारे दाम्पत्य जीवन में सन्तान-प्राप्ति के पश्चात् भी कुछ काल तक हमने जिस सुख का अनुभव किया, उसकी स्मृति ही हमारे समूचे जीवन को हराभरा रख रही है। शरीर-पोषण के लिए जितना जरूरी है उतना आहार-सेवन करना भी बन्द कर 'सल्लेखना व्रत' के द्वारा सायुज्य को प्राप्त करनेवाले जैनधर्मी के लिए कौन-सा त्याग कठिन है? दाम्पत्य प्रेम का फल सन्तान है। वह मुझे प्राप्त है। और कौन-सी आकांक्षा हो सकती है, आप ही बताइए? दाम्पत्य जीवन में शरीर और मन को एक-दूसरे के साथ संयुक्त कर ऐक्य साधना करने का फल ही सन्तान है न? सन्निधान ने इस विषय में सम्पूर्ण तृप्ति देकर मुझे कृतार्थ किया है।''

''आपका सौभाग्य है कि अभी तक अन्य रानियों को सन्तान नहीं हुई। उन्हें सन्तान प्राप्त होने पर, उन्हें उकसा कर ईर्ष्या उत्पन्न कर, लालच पैदा करने वाले लोग सिर उठाएँगे। ऐसी स्थिति सहज ही उत्पन्न हो सकती है। इसका डर होना अस्वाभाविक तो नहीं?''

''सन्निधान इस विषय में अटल रहेंगे तो रानियाँ क्या करेंगी?''

"हमारी ननदों की बात भूल गयीं?"

"नहीं, उन्होंने ही गलत कदम रखा था। उन्होंने स्वयं रीति-विरुद्ध निर्णय के लिए मौका दिया, इसलिए ऐसा हो गया।"

"रीति-नीति को मनमाना बरतनेवाले लोग पैदा हो जाएँ तो क्या होगा?"

"सो कैसे सम्भव है?"

"एक ही मतावलम्बी हों तो नियम-आचरण भी एक-से होंगे। भिन्न मतावलम्बी जब होंगे तब विधि-विधान शंका के लिए मौका दे सकते हैं न?"

"मुझे विश्वास है कि यह राजमहल उस सबको समुचित रूप दे सकता है, दण्डनायिकाजी। अभी आपके दिमाग में वही धुन समायी हुई है जिसकी उस दिन कटवप्र पर हमने चर्चा की थी। वही सौतों की बात, है न? मैं और मेरी सन्तान सन्निधान की इच्छा के विरुद्ध चलेंगे तो कुछ भी बाधा आ सकती है। उनकी इच्छा के अनुसार चलें तो कोई बाधा ही नहीं रहेगी। सबसे प्रबल ईश्वरेच्छा ही तो है। जिस पद को मैंने चाहा भी नहीं, उसे देने की कृपा करनेवाला भगवान, मेरी सन्तान पर कृपा नहीं करेगा? इस बात को लेकर हमें अपना दिमाग खराब नहीं करना चाहिए।"

"सब आप जैसे नहीं हो सकते। अभी तो इस बात का प्रमाण मिल चुका है कि मत-धर्म की बात को लेकर ऊँच-नीच का भेदभाव पैदा करने और लोगों को उकसाने वालों की कमी नहीं है। शैव और जैन एक होकर, ऊँच-नीच के भेदभाव के बिना आराम से सहजीवन यापन करते आ रहे हैं। अब लोगों में यह विचार फैलने लग जाए कि श्रीवैष्णव सबसे ऊपर हैं, तो भविष्य के लिए बहुत बुरा होगा न? इसलिए अभी से इस तरह की विचारधारा पर रोक लगाने का काम होना चाहिए।"

इस बीच घण्टी बजी।

दासी ने अन्दर आकर कहा, "वित्त-सचिव मादिराजजी दर्शन के लिए आये हैं।"

"मन्त्रणागृह में पहुँचें। मैं आती हूँ। कुमार बल्लाल जहाँ भी हों, वहीं आ जावें। मामा सिंगिमय्या भी वहाँ पहुँचें।" शान्तलदेवी ने कहा।

दासी चली गयी।

"लो, आपके लिए तो राजकाज का तकाजा आ लगा। फुरसत से बैठ भी नहीं सकतीं।" एचियक्का ने कहा और उठ खड़ी हुई।

"मनुष्य का जन्म हुआ है कर्तव्य करने के लिए, फुरसत से समय बिताने को नहीं।" कहकर शान्तलदेवी मन्त्रणागार की ओर चल दीं। एचियक्का अपने मुकाम पर विश्राम करने चली गयी।

शान्तलदेवी मन्त्रणागार जब पहुँचीं, मादिराज वहाँ मौजूद थे। दासी की सूचना के अनुसार, कुमार बल्लाल भी वहाँ आ पहुँचा था।

शान्तलदेवी ने मादिराज से पूछा, "क्या बात है?"

वह जवाब देना ही चाहते थे कि इतने में सेवक ने आकर कहा, "सिंगिमय्याजी आये हैं।"

"उन्हें अन्दर भेज दो।" शान्तलदेवी ने कहा।

सिंगिमय्या अन्दर आये और अपने लिए नियत आसन पर बैठ गये। सिंगिमय्या ने मादिराज को देखा तो प्रणाम किया, और समझा कि कुछ विशेष बात होगी। मादिराज भी सोचने लगे कि यह क्यों आये।

"मैंने सोचा था कि आप लोगों को कल बुलवाकर कुछ बातचीत करूँ। इतने में स्वयं मादिराजजी ने आकर दर्शन करना चाहा। फिर सोचा कि कल तक प्रतीक्षा क्यों करें। इससे मैंने मामाजी के पास खबर भेजी। बताएँ क्या बात है, भण्डारीजी?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"आज मेरे पास दो जगहों से पत्र आये हैं। एक प्रधानजी से, दूसरा यादवपुरी से।" कहकर मादिराज चुप हो गये।

"कुछ गड़बड़ी तो नहीं है न?"

"मेरे पास आनेवाले सभी पत्र ऐसे ही पेचीदगी पैदा करनेवाले होते हैं। सन्निधान और आप, दोनों ने विचार कर यह निश्चय किया था कि कुछ करों में वृद्धि की जाए। इससे खजाने में धन तो काफी संग्रह हुआ था लेकिन तलकाडु के युद्ध और इधर मन्दिर-निर्माण—इन दोनों के और गोगर्भ-तुलाभार एवं इस समय चल रहे द्विमुख युद्ध, इन सभी के कारण खजाना खाली होने की सम्भावना है। अब तो गंगराज के पत्र के अनुसार उनके लिए कुछ व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। किसी भी कारण से उन्हें मदद देने से इनकार नहीं कर सकते। टकसाल से नये सिक्के ढलवाने होंगे। महासन्निधान यहाँ नहीं हैं। इसलिए परिस्थिति समझाकर, सलाह लेकर आगे के कार्य का निर्णय लेने के उद्देश्य से आया था।" मादिराज बोले।

"यादवपुरी से किसका पत्र आया है?"

"वहाँ जो हाल में गये, उन्हीं कोनेय शंकर दण्डनाथ का।"

"क्या समाचार है उनका?"

"यह रानीजी के आदेश का परिणाम लगता है। आचार्यजी के लौटने से पहले यदुगिरि में चेलुवनारायण भगवान् के लिए एक मन्दिर-निर्माण करने के बारे में है। उन्होंने इसके लिए आवश्यक धन एवं शिल्पियों को तुरन्त भेजने को लिखा है।"

"अभी गंगराजजी का कार्य तुरन्त होना चाहिए। दूसरी बात पर बाद में विचार किया जा सकता है। गंगराजजी को तुरन्त कितने धन की आवश्यकता है?"

"केवल धन ही नहीं, युद्ध की गति धीमी होने के कारण उन्हें रसद की भी आवश्यकता है। विजयोत्सव में राजधानियों के आहार-सामग्री के सभी भण्डार करीब-

करीब खाली हो गये हैं। अब केवल राजमहल के लिए सुरक्षित ग्रामीण खाद्य-भण्डारों से अनाज और धन का संग्रह करके भेजना होगा। ग्रामीण भण्डारों में धन कम रहता है, इसलिए नये सिक्के ढलवाकर भेजने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।''

''आवश्यक होने पर करना ही पड़ता है। परन्तु आप के पास इतना सोने का संग्रह होना चाहिए न?''

''तलकाडु के युद्ध में वहाँ का जो भण्डार हमारे कब्जे में आया था, उसकी सोने की सभी मुद्राओं को सन्निधान अपने साथ लाये थे। वह ज्यों की त्यों भण्डार में सुरक्षित हैं।''

''ठीक, उसे गलवा कर हमारे सिक्कों में परिवर्तित करवा दीजिए।''

''एक सलाह है; गलत हो तो माफ करें।''

''कहिए!''

''मुझे लगता है कि दो-तीन किस्म के सिक्के बनवाये जाएँ। उनमें हमारा पोय्सल शार्दूल चिह्न ही रहेगा। वह सिक्का जहाँ भी जाए, पता लग जाएगा कि पोय्सलों का है। साथ ही कुछ सिक्कों पर 'मलेपरोल गोंड' और कुछ पर 'तलकाडु गोंड' छपवावें तो महासन्निधान के जमाने में यह सिक्का चला था, भावी इतिहास में यह भी ज्ञात रहेगा।''

''सलाह तो अच्छी है। इस विषय में सन्निधान की स्वीकृति भी होती तो अच्छा था!''

''वित्त-सचिव की सलाह सराहनीय है। सन्निधान की स्वीकृति मिल ही जाएगी। आखिर सन्निधान की कीर्ति को प्रकाश में लाने का ही तो कार्य है। हमें संकोच की आवश्यकता नहीं है। ये सिक्के यदि थोक व्यापारियों द्वारा अन्य राज्यों में भी प्रवेश करेंगे तो वह उन्हें प्रभावित करेंगे। इसलिए पट्टमहादेवीजी वित्त-सचिव की सलाह पर सम्मति दें।'' सिंगिमय्या ने कहा।

''ठीक वैसा ही कीजिए। जिन स्वर्णमुद्राओं को हमारे सिक्कों के रूप में परिवर्तित करना है, उन्हें तुलवा लीजिए। अभी जितनी आवश्यकता हो उतने ही सिक्के ढलवाएँ। फिर, कोवलालपुर और कंची से भी जीती हुई निधि भण्डारों में आएगी न? साथ ही उन बारह सामन्तों के भण्डार भी हाथ लगेंगे। यह सुनने में आया है कि उन बारह सामन्तों में उच्चंगीवालों के पास बहुत धन है। प्रतिष्ठा-समारोह में उस गुप्तचर से हमने इसका पता लगवा लिया था। जैसा हमें लगता है, इस दोहरे युद्ध, तिहरे हमले...आखिर उस उच्चंगी के पाण्ड्य के पराजित हो जाने पर, सम्पूर्ण नोलम्बवाड़ी हमारे कब्जे में आ जाएगी। जीत से खुशी तो होगी, यह सच है। परन्तु इसके लिए कितने लोगों के प्राणों की हानि हुई होगी? इस मानव-यज्ञ को पूरा किये बिना क्या राष्ट्र में सुख-शान्ति नहीं रह सकती?'' शान्तलदेवी ने कहा।

''हम स्वयं तो युद्ध छेड़ कर उनके राज्य को हड़पने नहीं गये। अपनी रक्षा के लिए हम युद्ध करें तो इस तरह की हानि अनिवार्य है।'' सिंगिमय्या बोले।

''आत्मरक्षा के लिए यह अनिवार्य है, इसी से हमें सन्तुष्ट होना चाहिए। जनता ने मुझे 'रणव्यापार में बलदेवता' की उपाधि से विभूषित तो किया, पर जब युद्ध समाप्ति के बाद के परिणाम का स्मरण हो आता है तो सारा शरीर काँप उठता है। यह मानव की एक विचित्र रीति है। कहना कुछ, करना कुछ और। 'राष्ट्र में सुख-शान्ति चाहिए, राष्ट्र समृद्ध बने' राष्ट्र के सूत्रधार स्वयं कहते हैं—यही एक मानसिक तृप्ति है। परन्तु वह सब कहाँ है? रक्त के प्यासे होकर जब लड़ते हैं तो शान्ति और सुख कैसे सम्भव हो? घर-घर में युद्ध का आतंक छाया रहता है।'' शान्तलदेवी का स्वर भावपूर्ण था।

''पट्टमहादेवीजी की यह अधीर वाणी? वास्तव में उत्साह भरनेवाली आप ही इस तरह अनासक्त हो जाएँ तो कैसे चलेगा? महासन्निधान के लिए तो आपकी वाणी ही स्फूर्ति देनेवाली है।'' मादिराज ने कहा।

''बाहरी शत्रुओं के विषय में सोचते हैं तो यह सब ठीक ही लगता है। परन्तु आन्तरिक शत्रुओं के बारे में सोच-विचार करते हैं तो मन अधीर हो उठता है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''आन्तरिक शत्रु? पोय्सल राज्य में ऐसे आन्तरिक शत्रुओं के लिए अवकाश ही कहाँ है?' मादिराज ने आश्चर्यचकित होकर उत्तर दिया।

''मैंने भी यही समझा था। महासन्निधान ने अचानक ही जब मतान्तर की बात कही, तभी पहली बार मेरे मन में अधीरता उत्पन्न हो गयी थी। वह बात केवल वैयक्तिक थी। साथ ही, यह विश्वास था कि उसका प्रसार नहीं होगा, इसी विश्वास में उस अधीरता का निवारण कर लिया था। परन्तु मत के दबाव में आकर महासन्निधान एक और विवाह करने पर सहमत हो गये, इससे मैं एक बार फिर से अधीर हो उठी। तब भी मैंने अपने को समझाया। किसी ने कहा भी था कि 'यह विवाह अंचल की आग है।' मैंने कहा था, अगर हवा न दें तो वह वहीं राख बन जाएगी। परन्तु चेन्नकेशव भगवान् की प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में ये मत सम्बन्धी संकुचित भावनाएँ इधर-उधर सिर उठा रही हैं। इससे मेरे मन पर बड़ा आघात हुआ है। यही हमारे अन्तरंग शत्रु हैं, शरीर में रहनेवाली स्थायी व्याधि की तरह। यह दुर्बल बना देते हैं। कौन मत उच्च और कौन नीच—इस तरह का वाद छिड़ जाए तो वह अन्धाधुन्ध बढ़ता जाएगा। इसलिए इसके बारे में हमें बहुत सतर्क रहना होगा। इसी विषय पर बातचीत करने के लिए आप दोनों को बुलवाना चाहती थी।''

''इस तरह के मतीय वाद-विवादों को कौन से तत्त्व जिम्मेदार हैं, उन्हें पता लगाकर वहीं का वहीं दबा दें तो मामला खतम हो जाएगा।''

''कभी-कभी इतना आसान नहीं होता जितना हम समझते हैं। क्योंकि हम इस

आशय तक सहज ही में नहीं पहुँच पाते कि किस स्तर के कौन-कौन व्यक्ति इसमें कारणकर्ता हैं।'' इतना कहकर शान्तलदेवी ने, यादवपुरी का जितना समाचार वह जानती थीं, वह सब कह सुनाया। फिर बोलीं, ''यहाँ प्रतिष्ठा-उत्सव पर जो घटना घटी उसके अनुभव से जब इस बात पर विचार करते हैं तो लगता है कि इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। इसलिए तुरन्त ही जहाँ श्रीवैष्णव जन संख्या अधिक दिखती है उन सभी स्थानों पर हमें अपने गुप्तचर भेजकर समाचार संग्रह करना होगा। अभी कोनेय शंकर दण्डनाथ ने जो पत्र भेजा है वह भी किसी के उकसाने से ही लिखा गया है। मुझे लगता है, इस सम्बन्ध में स्वयं रानी को भी मालूम नहीं। इसलिए उन्हें खबर न देकर मैं स्वयं सीधे यदुगिरि और यादवपुरी हो आने की सोच रही हूँ।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''तो हमारे दण्डनाथ?''

''ऐसा सोचने की जरूरत नहीं कि उनका व्यवहार शंकास्पद है। उन्हें श्रीवैष्णव पर विशेष अभिमान है। वे हाल में श्रीवैष्णव बने हैं। अभी उमड़ती जवानी है। उनमें उत्साह होना सहज है। किसी ने उनके कान भरकर, उनसे यह काम करा लिया हो; ऐसा प्रलोभन भी दिया हो कि यह काम हो जाने से श्री आचार्यजी महाराज के वे प्रिय बन जाएँगे और फिर महादण्डनायक या प्रधान बना दिये जाएँगे, ऐसा सब कहकर पत्र लिखवा दिया हो। इसलिए हम किसी पर संशय न करें। गुप्तचरों का काम चलने दें। हम भी हो आएँ। मेरे साथ मेरे मामा रहेंगे तो यहाँ कोई कष्ट तो न होगा आपको?''

''बड़े हेग्गड़ेजी यहीं होंगे, उनसे सलाह ले लूँगा। साले से भी अधिक अनुभवी हैं बहनोईजी। पहले से वे सारी बातें जानते हैं। बैठे-बैठे ही वे अच्छी तरह विवेचना कर सकेंगे। परन्तु इस बात पर पुनर्विचार करें तो अच्छा होगा कि पट्टमहादेवीजी का जाना जरूरी है?'' मादिराज ने कहा।

''क्यों? भय है क्या?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''भय नहीं। फिर भी, सर्वत्र पट्टमहादेवी की प्रशंसा होने पर भी, मतान्तरित होना आपने स्वीकार नहीं किया, इस वजह से कहीं-कहीं कुछ वर्गों में असन्तोष है। इसलिए स्वयं जाएँ और ऐसे लोगों में जाएँ यह ठीक होगा या नहीं, यह सोचने की बात है। अलावा इसके कि अभी महासन्निधान भी यहाँ नहीं हैं।'' मादिराज बोले।

''आप शंकित न हों। मैंने जाने का निश्चय कर लिया है। मेरी रक्षा के लिए मेरे मामा रहेंगे, और रेविमय्या तो रहेगा ही। साथ में सारा दल भी रहेगा।''

ऐसा ही निर्णय हुआ। टकसाल का सारा काम मादिराज ने स्वयं अपनी देखभाल में करवाया। उन्होंने भिन्न-भिन्न मूल्य के तीन तरह के सिक्के ढलवाये। गंगराज के पास उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितना धन भेजना था, उसे सैन्य-दल के साथ भेज दिया। फिर ग्रामों के अधिकारियों के पास खबर भेजकर युद्ध-क्षेत्र में रसद भिजवाने की भी व्यवस्था कर दी।

शीतयुद्ध होने के कारण खर्च ही खर्च होता रहा। आय का कोई मार्ग ही नहीं था। फिर भी तीन तरफ से युद्ध होने के कारण एकत्रित सामन्त-सेना ने अपने शिविर-स्थान को सुरक्षित न समझकर, कुछ पीछे की ओर जाकर वहाँ मुकाम किया। प्राप्त समाचार के अनुसार, इन सामन्तों में से पाण्ड्य और कदम्ब बहुत दूर तक पीछे हट चले थे। पाण्ड्य अपने अधीन राजधानी उच्चंगी के पास और कदम्ब हानुंगल को वापस लौट चले थे। गंगराज ने जो खबर फैला दी थी वही इसका कारण था। उन्होंने खबर फैला दी थी कि 'पोय्सल सेना सीधे उच्चंगी और गोवा पर हमला करेगी। गोवा पर हमला करने दण्डनाथ रायण और चामय के नेतृत्व में वरदा नदी की तरफ से सेना चल चुकी है, और उच्चंगी पर स्वयं महाराज बिट्टिदेव ही सीधा हमला करेंगे और उनकी मदद के लिए हाथी, घोड़े और पैदल सेना भारी संख्या में साथ गयी है।' फलस्वरूप सम्मिलित सेना के तीन मुख्य भागों में विभक्त होकर पीछे चले जाने के कारण, गंगराज को जिसका सामना करना था, उसकी शक्ति क्षीण हो गयी। राजधानी से जो मदद चाही थी, सो उसकी प्रतीक्षा में दिन गुजरते रहे। उधर डाकरस, माचण और उदयादित्य, इनके साथ स्वयं बिट्टिदेव ने कोवलालपुर और नंगली को अपने अधिकार में कर लिया। आगे कंची को कब्जे में करके मूल पाण्ड्यों की मधुरा तक आगे बढ़े जाने की योजना बनायी। इसके लिए माचण के साथ कुछ सेना को नंगली में ही रखा। उधर तलकाडु, उधर कोवलालपुर उनके कब्जे में हो जाने के बाद, चोलों के वंश में जो गंगवाड़ी रही, वह उनसे छूटकर पोय्सल राज्य में सम्मिलित हो गयी। कोवलालपुर में उदयादित्य को रखकर, संगृहीत निधि-निक्षेप साथ लेकर बिट्टिदेव डाकरस के साथ राजधानी लौट आये। उस समय पट्टमहादेवी यादवपुरी गयी हुई थीं। सचिव मादिराज से सारी बातें मालूम हुईं। कुल मिलाकर परिस्थिति की जानकारी मिल जाने पर उन्हें एक तरह से सन्तोष ही हुआ। दो दिन आराम से समय बिताया।

रानी राजलदेवी को उस समय महाराज के साथ एकान्त सुख मिला उसने उस समय भरत-हरियला के विवाह के बारे में भी जो बातें चली थीं, उन्हें विस्तार से बतायीं।

डाकरस को भी एचियक्का से ये बातें विस्तारपूर्वक मालूम हुईं। वे भी सहमत हो गये। यदि राजकुमारी अपनी बहू बनेगी तो कौन खुश न होगा?

बिट्टिदेव ने कहा, "यह सारा युद्ध सम्बन्धी कार्यकलाप एक बार समाप्त हो जाए; फिर इन बातों पर विचार करेंगे!"

पद्मलदेवी को जब यह मालूम हो गया कि बिट्टिदेव सभी बातों से परिचित हो गये हैं तो वह और चामलदेवी दोनों ने महाराज के समक्ष निवेदन किया।

"अब इस राज-परिवार के लिए आप ही बड़ी हैं। आपकी बातों को पट्टमहादेवीजी, कभी नहीं टालेंगी। हम फिर युद्ध-क्षेत्र से लौट आने के बाद, पट्टमहादेवी और उनके

बुजुर्गों की तथा माचण दण्डनाथजी की उपस्थित में ही विचार करेंगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

नये सिक्कों को देखकर बिट्टिदेव मन-ही-मन खुश हुए। बोले, "अब जो निधि लाये हैं उसमें से आधा सोना लेकर और कुछ सिक्के बनवाने की व्यवस्था कीजिए। उन कुछ चोल सिक्कों में व्यक्तिगत राजचिह्न अंकित हैं। विरुद के साथ राजचिह्न की आकृति भी उनमें आ जाए, इस तरह कैसे बनाये जा सकेंगे, इस पर विचार कीजिए। स्थपतिजी के साथ भी इसकी चर्चा कर लें तो वह भी बता सकेंगे कि सिक्के का रूप क्या हो। इसके लिए वे सिक्के के दोनों मुखों के कुछ चित्र तैयार कर देंगे। हम चालुक्यों के युद्ध से विजयी होकर लौट आएँगे तब विचार करके उन चित्रों से चुनकर सिक्के ढलवाने का आदेश दे देंगे।"

"स्वयं सन्निधान ही बुलवाकर कह देंगे तो अच्छा होगा। अभी जो सिक्के बने हैं उनका भी रूप उन्होंने ही बनाकर दिया था, पट्टमहादेवीजी के आदेश पर।" मादिराज ने कहा।

स्थपति को बुलवाकर उन्हें सूचना दी गयी। फिर बिट्टिदेव डाकरस, बम्मलदेवी और मायण-चट्टला के साथ राजधानी से रवाना होकर माचण के साथ मिल गये।

उधर शान्तलदेवी का आकस्मिक आगमन कोनेय शंकर दण्डनाथ के लिए आश्चर्य का विषय था। उसे और तिरुवरंगदास को यह खबर पट्टमहादेवी के यादवपुरी पहुँचने के दूसरे दिन सुबह मालूम हुई। वे पहले यदुगिरि जाकर वहाँ की सारी बातें जानकर ही आयी थीं। नागिदेवण्णा वहीं उपस्थित रहे, इसलिए इधर-उधर की बातों के सिलसिले में बहुत कुछ उन्हें भी ज्ञात हो गया।

आचार्यजी उत्तर की यात्रा पर गये हुए थे। उन्होंने वहाँ सुल्तान से जिस चेलुवनारायण की मूर्ति को प्राप्त किया था, उसे अपने प्रिय शिष्य एम्बार के साथ यदुगिरि भेज दिया था। वह मूर्ति कैसे प्राप्त हुई यह उसने सब विस्तार के साथ बताया : "दक्षिण के राज्यों को लूटकर जब सुल्तान लूट के सारे माल को दिल्ली ले गये, तब उसके साथ यह मूर्ति भी वहाँ पहुँच गयी थी। सुनते हैं कि वह मूर्ति लूट के अन्य माल के साथ धूलधूसरित हो, धराशायी होकर पड़ी थी। एक दिन सुल्तान की बेटी की नजर उस पर पड़ी। पता नहीं क्यों, शाहजादी उस मूर्ति को बहुत चाहने लगी। खाते-पीते, सोते-जागते, किसी भी वक्त कभी वह उससे अलग नहीं रहती थी। अलग रहना उसे सहन नहीं था। उनकी बेटी इस हिन्दू देवमूर्ति को प्यार करे, यह सुल्तान को पसन्द नहीं था। बहुत तरह से उसे समझाया, डराया-धमकाया। कुछ भी असर नहीं हुआ। उन्होंने इस मूर्ति को कुएँ में डलवा दिया। बेटी को जब यह मालूम हुआ तो उसने खाना-पीना छोड़ दिया। कमजोर पड़ गयी। उस मूर्ति को कुएँ से बाहर जब तक निकलवाकर नहीं दिया गया, तब तक उसने निराहार व्रत रखा। फिर वह उसके कब्जे

में आ गयी। इसके कुछ दिन बाद वहाँ आचार्यजी का आगमन हुआ। उन्होंने सुल्तान से मिलकर अपने स्वप्न का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुल्तान ने कहा, 'आपके भगवान् की मूर्ति को लेकर मैं क्या करूँगा? सारा खजाना देखा जा सकता है। यदि वहाँ हो तो ले जाइए।' खजाने में वह मूर्ति कहीं नहीं दिखाई पड़ी। तब अचानक सुल्तान को सूझा कि वह मूर्ति अभी बेटी के पास ही होगी। उसकी अनुपस्थिति में सुल्तान आचार्यजी को वहाँ ले गये। 'वह देखो, मेरे स्वामी वो हैं', कहते हुए आचार्यजी उस ओर लपके और मूर्ति को उठाकर छाती से लगा लिया। फिर बोले, 'तुम मिल गये, मेरी सारी थकावट मिट गयी।' फिर सुल्तान से पूछा, 'अब तो यह आपके अधीन है, इस पर आपका अधिकार है। इसका मूल्य क्या है, बताइए।'

'इस सबका मूल्य माँगे, ऐसा हीन नहीं यह सुल्तान। इसके साथ मैं आपको कुछ भेंट भी देना चाहूँगा।' कहकर सुल्तान ने दीनारों से भरी एक परात मँगायी। चेलुवनारायण की मूर्ति के साथ उन दीनारों को आचार्यजी को उन्होंने दान में दे दिया। आचार्यजी ने सन्तुष्ट होकर, वह मूर्ति मेरे हाथ में देकर मुझे इधर भेज दिया। वहाँ से बंग देश जाकर एवं नदी-समुद्र, संगम-स्थान देखकर लौटने की बात कहकर वे उस ओर प्रस्थान कर गये।'' एम्बार ने संक्षेप में उस मूर्ति का तथा उसकी प्राप्ति का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

शान्त चित्त से शान्तलदेवी ने सब सुना और कहा, ''महात्माओं का मार्ग महात्मा ही जानते हैं। परन्तु उनके अनुयायियों को भी वह मालूम होता तो कितना अच्छा होता!''

''यह तो बहुत बड़ी बात है! तब सब महात्मा ही हो जाते।'' एम्बार के स्वर में एक तरह का भावावेग था।

''तो तब महात्माओं का मूल्य न होता—यही आपका तात्पर्य है?''

''और क्या? आचार्यजी ने जो स्वप्न देखा, यदि मैं उसे देखता तो मैं उसपर ध्यान ही नहीं देता। जब उन्होंने यह बताया, तो हम सबने उस यात्रा पर जाने के लिए मना ही कर दिया था। फिर भी वे अपनी बात पर अटल हो रहे। 'मेरे स्वामी मुझे बुलाएँ और मैं न जाऊँ तो मैं कैसा भक्त? चाहे जो भी हो जाए, मैं तो जाऊँगा ही।' कहकर, हठपूर्वक वह चले गये। इस मूर्ति की प्राप्ति उनके अटल विश्वास का ही फल है।'' एम्बार बोला।

''आचार्यजी यदुगिरि कब पधारेंगे?''

''एक पखवारे में शायद आ जाएँ। वह जगन्नाथ का दर्शन कर कोणार्क भी जाएँगे। वहाँ सूर्य-मन्दिर का दर्शन कर लौटने की उनकी इच्छा है। बंग-समुद्र की ओर से जब लौटेंगे तब तिरुमलै होते ही आएँगे।''

''आप भी उनके साथ होते तो अच्छा होता!''

"यह बात वे भी जानते हैं। अपनी सुरक्षा से अधिक अपने इस आराध्य को ठिकाने पर सुरक्षित पहुँचा देना मुख्य था। और फिर, अच्चान साथ हों तो और किसी की जरूरत नहीं। वास्तव में आचार्यजी के गुरु गोष्ठिपूर्णजी ने आचार्यश्री को अच्चान के हाथ सौंपा है। वह भी एक विचित्र घटना है।" कहकर एम्बार ने उस प्रसंग को बहुत दिलचस्प ढंग से विस्तारपूर्वक कह सुनाया।

"प्रेम और भक्ति को किन-किन माध्यमों से पहचाना जा सकता है, यह भी विचित्र है न? आपके अच्चान को तो खुलकर बात करते मैंने कभी नहीं देखा। फिर भी उसकी श्रद्धा और भक्ति अवर्णनीय है।"

"रेविमय्या और वह, दोनों एक-से हैं।"

थोड़ी दूर पर खड़े रेविमय्या की ओर शान्तला ने देखा। वह एकदम निर्लिप्त-सा खड़ा था।

"आचार्यजी के यदुगिरि लौटने पर राजधानी में समाचार पहुँचाइए।"

"जो आज्ञा।"

"आचार्यजी ने कुछ और सन्देश कहला भेजा है?"

"और कुछ नहीं। मेरे लौटने के बाद मैंने सुना कि वेलापुरी में विजय नारायण भगवान् की प्रतिष्ठा बड़े समारोह से सोल्लास सम्पन्न हुई और हजारों लोग इकट्ठे हुए। मन्दिर की भव्यता की बात भी सुनी।"

"जब हम लौटेंगे तब आप हमारे साथ चलेंगे। उसकी भव्यता को आप एक बार देखकर आएँ।"

"पट्टमहादेवीजी, मुझे क्षमा करें। आचार्यजी के लौट आने तक इस चेलुवनारायण की पूजा प्रतिदिन होना जरूरी है। एक बार यदुगिरि में पहुँचने के बाद स्थानान्तरित न हों, ऐसी उनकी आज्ञा है।"

"तब फिर आप उस मन्दिर को कब देख सकेंगे?"

"आचार्यजी के साथ।"

"ठीक। यदि आपको यहाँ और कोई सुविधा चाहिए तो...;"

एम्बार ने बीच में ही कहा, "हमें कोई असुविधा न हो, इस बात का सचिव नागिदेवण्णाजी ने विशेष ध्यान रखा है, सारी व्यवस्था भी कर दी है। हमारी सुविधाओं का खयाल रखकर ही तो महासन्निधान ने उन्हें यादवपुरी में रखा है, तब फिर किस बात की कमी होगी?"

"यहाँ बहुत काम होना है, उसके लिए धन की आवश्यकता है, यह खबर हमारे पास आयी है। सब देखकर व्यवस्था करने के खयाल से हमारा इधर आना हुआ। इसलिए किसी तरह के संकोच की आवश्यकता नहीं, कहिए।"

"ऐसा है मन्त्रीजी?" एम्बार ने नागिदेवण्णा से पूछा।

''और नहीं तो! वैसे मेरी तरफ से तो ऐसी कोई विनती राजधानी तक नहीं पहुँची है।'' नागिदेवण्णा ने कहा।

''तो मतलब यह कि किसी और ने आपकी तरफ से समाचार भेज दिया है। यही हुआ न?''

''ऐसा ही समझना चाहिए।'' नागिदेवण्णा ने संकोच के साथ कहा।

''राजमहल को आपके विवेक पर विश्वास है, इसीलिए व्यवस्था करने के विचार से खुद चले आये। पर अब बात ही कुछ और हो गयी। आपकी जानकारी के बिना ऐसी बात राजधानी में पहुँचे तो वह अनुचित है न?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''बेशक। तुरन्त तहकीकात करके अपराधी को योग्य दण्ड दिया जाना चाहिए।'' नागिदेवण्णा ने कहा।

''दण्ड की बात पर बाद में विचार करेंगे। अभी इसके पीछे कौन है? उसका क्या उद्देश्य है, यह जानना जरूरी है। इसलिए हमें पहले यादवपुरी जाकर वहाँ इन बातों की तहकीकात करनी होगी। इस सम्बन्ध में कोई अफवाह न उड़े, इस बात का ध्यान रखें। आपको भी अनजान की तरह रहना होगा। मेरा आगमन कुछ लोगों में कुतूहल पैदा करता है। ऐसे कुतूहली लोग हमारे आगमन का कारण जानना चाहेंगे। आप उनके सामने केवल आश्चर्य प्रकट करें।'' शान्तलदेवी ने नागिदेवण्णा को एक तरफ बुलाकर जताया।

योजित रीति से उन्होंने यादवपुरी की ओर प्रस्थान किया। किसी पूर्व सूचना के बिना पट्टमहादेवी का आना रानी लक्ष्मीदेवी को कुछ अजीब-सा लगा। साथ ही उसके मन में कुछ उथल-पुथल भी मची। फिर भी उसने उसे प्रकट नहीं किया। सहजभाव से मानो कुछ हुआ ही न हो, बोली, ''पहले ही खबर भेज देतीं कि पट्टमहादेवीजी आ रही हैं तो राजगौरव के साथ नगर-प्रवेश की उचित व्यवस्था की जा सकती थी।''

''रहने भी दो। ऐसी सब व्यवस्था विशेष प्रसंगों में होनी चाहिए। मुझे इस यादवपुरी से एक तरह का स्नेह है, शायद तुम्हें भी हो सकता है। क्योंकि मेरा दाम्पत्य-जीवन यहीं अंकुरित हुआ। तुम्हारे बारे में भी ऐसा ही है न?''

''सो तो है। मुझे तो वास्तव में बेलापुरी से यह जगह ज्यादा अच्छी लगती है।...पट्टमहादेवी के आगमन का कोई कारण होना चाहिए?'' कारण जानने की इच्छा से लक्ष्मी ने बात छेड़ी।

''आचार्यजी के शिष्य उत्तर से लौटकर यदुगिरि आ गये हैं, यह समाचार मिला। आचार्यजी का कोई सन्देश तो नहीं, यह जानने के उद्देश्य से हम आये थे।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''मैं इतने निकट हूँ। उनके आने का समाचार मुझे मालूम ही नहीं हुआ!''

''क्यों? तुम्हारे पिताजी ने नहीं बताया?''

"शायद उन्हें भी मालूम नहीं होगा।"

"सुना है कि सचिव नागिदेवण्णाजी उनको बताकर ही यदुगिरि गये थे।"

"ऐसा? तब तो पिताजी को चाहिए था कि वह मुझे भी बता देते!"

"बेचारे, काम-काज की गड़बड़ी में शायद नहीं बता सके हों। या ऐसा भी हो सकता है कि यह बात तुम्हें बताना उतना जरूरी न समझे हों।"

"मेरे पिताजी भूलने ज्यादा लगे हैं।" पिताजी के इस भूलने की आदत को कारण समझने पर भी उसके मन में एक बेचैनी बनी रही।

"हो सकता है। बेचारे वृद्ध हो चले हैं। कल सुबह एक सभा बुलाने की बात सचिव नागिदेवण्णा ने सोची है। आचार्यजी सम्भवतः एक मास के अन्दर-अन्दर पधारने वाले हैं। उनके लौटने तक यहाँ क्या सब तैयारियाँ करनी होंगी, इन सब बातों पर विचार-विमर्श करना है।"

"इसके लिए इतनी दूर से आपको आने का कष्ट करना पड़ा, सचिव और हम सब मिलकर निर्णय कर सकते थे न?"

"तुम स्वयं उपस्थित रहकर निर्णय करो तो वह एक तरह से ठीक है। परन्तु तुम्हारे पीठ-पीछे कुछ निर्णय हो, और वह तुम्हारा ही निर्णय कहकर प्रचारित हो तो मुश्किल होगी। अभी तुम्हें अनुभव कम है। तुम्हारे नाम पर कुछ कलंक नहीं लगना चाहिए। तुम अब पोय्सल रानी हो। इसलिए मेरा आना अनिवार्य हो गया। सन्निधान युद्ध-क्षेत्र में गये हैं। उनकी अनुपस्थिति में राजधानियों के सभी कार्य अबाध गति से चलने चाहिए। आचार्यजी के प्रति सन्निधान को कितनी भक्ति और श्रद्धा है, यह तो तुमको बताने की जरूरत नहीं। तुम जानती ही हो।"

"तो पट्टमहादेवीजी के मन में यह शंका उत्पन्न हो गयी है कि मेरे पीठ-पीछे भी निर्णय लिये जाने की सम्भावना है?"

"सवाल शंका का नहीं, यह सतर्क रहने की बात है। आगे चलकर तुम समझ जाओगी।"

"सभा दोपहर को बुलवा सकते थे न? आप यात्रा के कारण थकी हैं, आराम कर लेतीं तो अच्छा था!" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"मुझे इतनी थकान नहीं। थोड़ी-बहुत थकावट थी सो कल यदुगिरि में विश्राम ले लिया था।"

"तो अभी सभी के पास खबर भेजनी होगी?"

"सचिव नागिदेवण्णाजी और मैं, साथ ही आये। वे सब व्यवस्था करेंगे। कल की सभा में जिन-जिनको उपस्थित रहना होगा, अब तक उन सबके पास खबर पहुँच गयी होगी।"

"सभा में कौन-कौन रहेंगे?"

"सचिव, दण्डनायक, मैं, तुम और धर्मदर्शी। कुछ प्रमुख पौर भी रहेंगे। रानी और जिन्हें चाहें, बुलवा सकती हैं।"

"असल में बात क्या है सो मुझे मालूम नहीं, ऐसी हालत में और लोगों को बुलवाने की सलाह भी क्या दे सकती हूँ। अलावा इसके, सचिव नागिदेवण्णा जी रहेंगे तो वे अकेले ही दस लोगों के बराबर होंगे। वे सभी बातें जानते हैं।"

"ठीक। तो अब हम आराम करने जाएँ?" शान्तलदेवी उठ खड़ी हुईं। सोने का समय भी हो गया था। वे अपने-अपने विश्रामागार में चली गयीं।

रानी लक्ष्मीदेवी के मन में यह बात खटकती रही कि आचार्यजी के शिष्य एम्बार के वापस आने की बात मालूम होने पर भी उसके पिता ने उसे क्यों नहीं बतायी। इसे अपने पिता के बुढ़ापे की भूल कहकर, आन की रक्षा करने के विचार से, परदा रखा। फिर भी पिता के प्रति उसके मन में असन्तोष ही रहा। उसके साथ, पट्टमहादेवीजी की एक और बात—'तुम्हारे पीठ-पीछे कोई निर्णय हो जाए और वह तुम्हारा ही निर्णय कहकर प्रचारित हो, तो फिर मुश्किल होगी'—काँटे की तरह उसके मन को चुभ रही थी। वह इस बात को हजम नहीं कर सकी। मेरे पीठ-पीछे निर्णय करें और मेरा नाम लें, ऐसा साहस किसे हो सकता है? ऐसा करने का उद्देश्य क्या हो सकता है? चुप रहूँ तो भी ये लोग मेरा नाम क्यों घसीटते हैं? आदि-आदि सोचने लगी। रात को पता नहीं कि कब आँख लग गयी और सवेरा हो गया।

सुबह नियोजित रीति से सभा बैठी। सभी उपस्थित सभासदों को पिछले दिन रात ही में खबर मिल चुकी थी। परन्तु पट्टमहादेवीजी के आने की खबर सुबह राजमहल में आने के बाद ही सबको मिली।

आम तौर पर नागिदेवण्णाजी जो सभा बुलाते थे उसमें विशेष पेचीदगियाँ नहीं रहा करती थीं। केवल दो बातें रहा करतीं—एक आचार्यजी के कार्यकलापों से सम्बन्धित और दूसरे राजधानी से प्राप्त आदेश से। इसलिए लोग सोच-विचार करके सभा में नहीं आया करते थे। आज भी ऐसे ही आये थे। सुबह की सभा हो तो उसमें नाश्ते का प्रबन्ध भी हुआ करता था। बहुत से तो इस नाश्ते के आकर्षण के कारण ही आते थे।

सदा की तरह पहले नाश्ते से बैठक का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। जब लोग नाश्ते का स्वाद ले रहे थे तभी पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी दोनों का आगमन हुआ।

"नाश्ता आराम से हो।" पट्टमहादेवी ने कहा।

नाश्ते में लीन सभासदों के लिए यह ध्वनि अनपेक्षित थी।

कोनेय शंकर दण्डनाथ और तिरुवरंगदास ने सिर उठाकर आवाज जिधर से आयी थी, उधर देखा। दण्डनाथ ने उठने का प्रयत्न किया।

"रहने दीजिए, बैठिए, उठने की जरूरत नहीं। इन औपचारिकताओं के लिए दूसरी जगह है।" पट्टमहादेवी ने कहा।

नाश्ते का उत्साह कम हो गया। सब जल्दी-जल्दी नाश्ता समाप्त कर मन्त्रणागार में एकत्र हुए। पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी ऊँचे आसनों पर जा बैठीं।

सचिव नागिदेवण्णा उठ खड़े हुए। उन्होंने एम्बार से जो समाचार मालूम हुआ था, उसे सुनाकर कहा, "आचार्यजी के स्वागत के लिए क्या सब व्यवस्था करनी होगी, इस पर विचार करने के उद्देश्य से यह सभा बुलायी गयी है। उपस्थित सभासद विचार कर अपनी-अपनी सलाह दें।"

"अनुमति हो तो मेरा एक निवेदन..." कोनेय शंकर दण्डनाथ ने बात शुरू करनी चाही।

"पट्टमहादेवीजी सलाह दें तो हमारे लिए स्वीकार कर लेना आसान होगा।" बीच में ही तिरुवरंगदास ने कहा।

शंकर दण्डनाथ ने तिरुवरंगदास की ओर देखा। तिरुवरंगदास ने उसे चुप रहने का इशारा किया। शंकर दण्डनाथ बैठ गया।

"दण्डनाथजी, बैठ क्यों गये? बोलिए!" पट्टमहादेवी ने कहा।

उसने तिरुवरंगदास की ओर फिर देखा।

"यहाँ के निर्णय धर्मदर्शी के नहीं। बोलिए, दण्डनाथजी।" शान्तलदेवी ने कहा।

रानी लक्ष्मीदेवी ने अपने पिता की ओर देखा। उसने उस इशारे को नहीं पहचाना।

कोनेय शंकर दण्डनाथ फिर उठ खड़े हुए। बोले, "यह मेरी सलाह नहीं, वास्तव में छोटी रानीजी की सलाह है।" उसने रानी की ओर देखा।

रानी ने आश्चर्य प्रकट किया। "मैंने कौन-सी सलाह दी?" वह पूछना चाहती थी। पिछली रात को शान्तलदेवी ने जो बात कही थी वह उसके मन में अभी भी चुभ रही थी। क्या बात निकलेगी, यह सुनना चाहती थी, इसलिए चुप रही।

"मौन सम्मति का लक्षण है, यह मालूम नहीं दण्डनाथजी? कहिए। रानीजी को कहने में संकोच हो सकता है, इसलिए आप ही कहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

अपनी पोष्य पुत्री का यों मौन रहना तिरुवरंगदास को कुछ खटका। फिर भी वह कुछ कर नहीं सकता था। वह कुतूहलपूर्वक दण्डनाथ की बात सुनने लगा।

"छोटी रानीजी की एक महती अभिलाषा है। उसे कार्यान्वित करने के लिए मैंने राजधानी में एक पत्र भेजा था।"

"किसे पत्र भेजा था?"

"वित्त-सचिव मादिराजजी के पास।"

"क्या लिख भेजा था?"

शंकर दण्डनाथ ने ब्योरा बताया।

"तो आपने इस बात को लेकर रानीजी के साथ विचार-विमर्श किया था?"

''विचार-विमर्श तो नहीं किया।''

''तो आपने कैसे समझा कि यह रानीजी की अभिलाषा है?''

''धर्मदर्शी तिरुवरंगदासजी ने कहा कि यह रानी की इच्छा है। राजधानी पत्र भेजो। मैंने दिया।''

''रानीजी के नाम से कोई कुछ कहे तो अपने राज्य की रीति के अनुसार उनसे पूछना चाहिए कि इसके लिए उनकी अनुमति है या नहीं, यह बात आपको मालूम है न?''

''हाँ, मालूम है।''

''तो इस सम्बन्ध में रानीजी से क्यों नहीं पूछा?''

''उनके पिताजी ने ही बताया. इससे मैंने विश्वास कर लिया। और फिर यह किसी भी तरह से बुरा काम न था।''

''आप दण्डनाथ हैं न?''

''हाँ।''

''इस समय दो-तरफा युद्ध चल रहा है, यह आपको मालूम नहीं?''

''मालूम है।''

''अभी राज्य के खजाने पर कितने भारी खर्च का बोझ है, यह आपको मालूम हुआ होगा?''

''हाँ, मालूम है।''

''ऐसी हालत में वर्तमान स्थिति में, इतना भारी व्यय-वहन करना सहज नहीं होगा, यह बात आप उन्हें समझा सकते थे न?''

''हाँ, समझा तो सकता था। परन्तु मैं एक सामान्य अधिकारी हूँ। रानीजी की अभिलाषा में बाधा न हो, इसलिए कुछ हिचकिचा गया।''

''अगर यहाँ खजाने में धन होता और आप उसके जिम्मेदार होते, तो आगा-पीछा सोचे-समझे बिना, धन खर्च कर देते, हैं न?''

''शायद।''

''अच्छा, जाने दीजिए। अब बताइए, रानीजी की क्या अभिलाषा है?''

कोनेय शंकर दण्डनाथ ने परिस्थिति को समझ लिया था। उसने रानीजी की ओर देखा। इतने में तिरुवरंगदास बोल उठा, ''मेरी बेटी की अभिलाषा को मैं नहीं जानता? मैंने ही दण्डनाथ से कहा था इसलिए उन्होंने लिखा।''

''आपने रानीजी की स्वीकृति ली थी?''

''रानी मेरी बेटी है!''

''हो सकता है। पोय्सल रानी अपने स्वाधिकार के अन्तर्गत विषय पर दूसरों को अधिकार नहीं दे सकती। अपनी जानकारी के बिना अपने नाम से किये जानेवाले कार्य

का वह खण्डन करती है।''

''यहाँ कोई अन्यायपूर्ण सलाह नहीं दी है। अपनी बेटी और दामाद के श्रेय के लिए ही सलाह दी है, उसके नाम का उपयोग किया।''

''तो अपनी बेटी के श्रेय के लिए ही, आचार्यजी के शिष्य एम्बार आ गये हैं, यह सूचना उन्हें नहीं दी?''

''एक परिचारक के आने की बात कौन-सा महत्त्वपूर्ण विषय है? न बताएँ तो कोई नुकसान नहीं, इसलिए नहीं बताया।''

''आपकी दृष्टि में ऐसा हो सकता है। विजयोत्सव पर अपने शत्रुओं के गुप्तचरों के सहायक बने रहे, सो भी शायद बेटी और दामाद के कल्याण ही के लिए! है न?''

''मुझे इन राजनीतिक बातों की जानकारी नहीं। उनका चेहरा और उनके धर्मसार आदि को देख, मैंने सोचा कि वह हमारे धर्मावलम्बी हैं और हमारे हैं। इसलिए ऐसी गलती हो गयी।'' तिरुवरंगदास ने कुछ संकोच से कहा।

''राजनीतिक प्रज्ञा है या नहीं, यह इसका कारण नहीं। असल में अपने बारे में बढ़ा-चढ़ाकर बोलने की और मनमानी करने की आदत है आपकी। लोगों को यह बताकर कि आप महाराज के ससुर हैं, डींग मारते चलने की आपकी प्रवृत्ति ही मूल कारण है। मेरी बात कड़वी लगेगी, रानीजी की अभिलाषा कहकर, दण्डनाथ के दिमाग में अण्ट-सण्ट बातें भरकर, उनसे पत्र क्यों लिखवाया? यादवपुरी के समस्त व्यवहार सचिव को मालूम होने चाहिए। रानीजी को भी मालूम होने चाहिए। इन दोनों की जानकारी के बिना, वहाँ पत्र भेज देना आपने उचित माना? आपके इस तरह के व्यवहार से रानीजी के विषय में गलत धारणा बन सकती है। सन्निधान इस समय राजधानी में उपस्थित नहीं इसलिए उन्हें आपकी या दण्डनाथ की यह हरकत मालूम नहीं। रीति-नीति को छोड़कर व्यवहार करनेवाले राजमहल का विश्वास खो बैठेंगे। एक बार अविश्वास पैदा गया तो फिर विश्वास पैदा करना असम्भव होगा। यह आप जैसे बुजुर्गों को समझना चाहिए। धर्मान्धता कभी लोगों में एकता पैदा नहीं कर सकती। भाषा अधिक व्यापक रूप से यह काम कर सकती है। इसलिए केवल माथे पर के तिलक पर मुग्ध होकर कोई काम न कर बैठिएगा। और, उन तिलकधारियों का गुट बनाने की कोशिश मत कीजिएगा। धर्म का दुरभिमान काँटेदार बेल की तरह बहुत जल्दी फैलने लगता है। यदि इस तरह वह फैलने लग जाए तो जहाँ कदम रखें वहीं काँटे लगेंगे फिर कहीं खड़े होने के लिए जगह नहीं रहेगी। अज्ञान से किये गये कार्य क्षम्य हैं, परन्तु उस कार्य को दोहराना अक्षम्य होगा। दण्डनाथजी, इसमें सीधा आपका कोई अपराध नहीं। फिर भी आपको यह बात नागिदेवण्णाजी से करनी चाहिए थी। आप अभी कम-उम्र हैं, उत्साही हैं। आपका घराना पोय्सल राजवंश के विश्वस्त घरानों में एक है। उस घराने के गौरव की रक्षा करना आपका धर्म है। आपका भविष्य आपकी निष्ठा पर

अवलम्बित है। डाकरसजी जिस कार्य का निर्वहण करते थे, उनके लिए आपकी छोटी उम्र के बावजूद, राजमहल ने आपको जब भेजा तो आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि कितना विश्वास आप पर रखा है। पोय्सल राजा सभी धर्मों को एक समान गौरव देते हैं। किसी भी धर्म के लिए कोई पक्षपात नहीं, इस बात को सब याद रखें।''

कोनेय दण्डनाथ या तिरुवरंगदास किसी ने चूँ तक न की। चुपचाप बैठे रहे।

''सन्निधान ने बताया कि राजमहल ने हम पर जो विश्वास रखा है, हमें उसके योग्य बनना चाहिए। हमारी जानकारी के बिना यदि राजधानी में पत्र जाएँ तो वह हमारी असमर्थता का साक्षी है। इस सन्दर्भ में गलती मुझसे भी हुई है, यह मैं स्वीकार करता हूँ।'' सचिव नागिदेवण्णा ने कहा।

''राजमहल ने आप पर जो विश्वास रखा वही विश्वास आपने दण्डनाथ पर रखा। अच्छा, अभी कोई ऐसी भयंकर गलती नहीं हुई है। हम यदि सीधे सचिव के पास, वर्तमान स्थिति में असमर्थता सूचित करते हुए पत्र भेज देते तो यहाँ किस-किस के मन में कौन-कौन-से विचार उठते, कौन जाने ? इस तरह के व्यवहारों को रोक देने तथा कहीं किसी के मन में किसी तरह की कटुता उत्पन्न न हो, इसी इरादे से हम स्वयं यहाँ आये। रानीजी को भी अब मालूम हुआ होगा कि उन्हें कितना सतर्क रहना होगा। आपके नाम का, आपकी जानकारी के बिना उपयोग किया गया है, इस बात का अब प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया न ? इसी तरह दूसरों के नामों का भी उपयोग करना असम्भव नहीं। इसलिए जब उच्चस्तरीय व्यक्तियों के नामों का उपयोग किया जाए तो उस पर बड़ी सतर्कता से विचार होना चाहिए। एकदम विश्वास कर लें तो हम समस्याओं के जाल में फँस जाएँगे। इसी प्रसंग में मैं एक बात और कहे देती हूँ—बेलापुरी में चेन्नकेशवस्वामी के प्रतिष्ठा-समारम्भ के अवसर पर भगवान् की सन्निधि में संगीत-सेवा और नृत्य-सेवा के मौके पर बाधा उपस्थित करनेवाले कोई अन्य लोग नहीं, श्रीवैष्णव ही थे। उस समय भी रानीजी का नाम लिया गया था। उस समय की सारी घटनाओं को प्रकट करते तो धर्म के प्रति अश्रद्धा की भावना उत्पन्न हो सकती है, यही सोचकर राजमहल चुप रहा। राजमहल के विरुद्ध लोगों को भड़काने से कोई फल नहीं मिलेगा, यह बात भी श्रीवैष्णवों को समझना चाहिए। पोय्सल राज्य में उन्हें सुखी जीवन व्यतीत करना हो तो उन्हें अन्य धर्मवालों के साथ भ्रातृभाव से व्यवहार करना होगा। कुतन्त्र करके नहीं। सचिव, दण्डनाथ व्यक्तिगत रूप से श्रीवैष्णव के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं, यह राजमहल जानता है। इसलिए आचार्यजी के कार्यों में सुविधा हो, यही विचार कर उन्हें यहाँ नियुक्त कर रखा है। आप लोगों के नाम का भी धर्म के बहाने, कुधर्मियों के द्वारा दुरुपयोग किया जा सकता है। इसलिए आप लोगों को भी सावधान रहना होगा। मत-सहिष्णुता की प्रवृत्ति को बढ़ाना और बढ़ावा देना चाहिए। यदि कहीं कभी ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़े, धर्म के नाम पर कहीं कोई शिकायत या नवन

दिखे, तो उसे वहीं खतम कर देना चाहिए। यह बात सब पर लागू होगी। नीचता मनुष्य की अत्यन्त हेय प्रवृत्ति है। शिकायत करनेवाले और उसे सुननेवाले दोनों बुरे होते हैं और सहृदयता को समाप्त कर देते हैं। इस बात को कहने की मैं अधिकारी हूँ या नहीं, मैं कह नहीं सकती, फिर भी कह देने का मैंने निश्चय किया है। धर्मदर्शीजी मेरी बातों को अन्यथा नहीं लेंगे। आचार्यजी के शिष्य एम्बार के विषय में आप जैसों के मुँह से ऐसी बात नहीं निकलनी चाहिए थी। सच है, अब आप राज्य के स्वामी के ससुर हैं। केवल इस कारण दूसरे लोगों को अपने से हीन समझना ठीक नहीं। एम्बार उनके सेवक हैं, उनके लौटने की बात को अप्रधान विषय कहना आपके स्थान मान और आचार्यजी के आपके प्रति निहित कृपा-पूर्ण प्रेम के अनुरूप नहीं। आज एम्बार के बारे में जो कहा, वही कल शंकर दण्डनाथ के विषय में भी कह सकते हैं, सचिव नागिदेवण्णा के विषय में भी कह सकते हैं। आपको भाग्यवश जो स्थान मिला है, वह रानी लक्ष्मीदेवी की जन्मपत्री के बल पर और आचार्यजी की कृपा से। कल आपके व्यवहार से आपकी बेटी को शर्म से सिर झुकाना न पड़े, इसलिए अपने स्थान-पद आदि के अनुकूल व्यवहार करना आपके लिए अच्छा है। सुना है कि 'मैं आपकी प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाती रही हूँ' यह बात आपने किसी से कही। इतना ही नहीं, और भी आपने क्या-क्या कहा है सो सब दोहराने की आवश्यकता नहीं, इतना पर्याप्त है। मेरे बारे में भी जब तरह-तरह की बातें करने लगे हैं तो आगे चलकर और क्या-क्या करेंगे, यह सोचा जा सकता है। प्रमुखों को राजमहल के व्यवहारों की जानकारी है। वहाँ छिपाव-दुराव के लिए कोई स्थान नहीं है। आपके सामने इन सब बातों को कहने का उद्देश्य इतना ही है कि कम-से-कम आगे चलकर परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करने की बात सोचें। रानी लक्ष्मीदेवीजी को समक्ष रखकर, क्या सब बीता सो सभी प्रमुखों के सामने कहा है, इसका भी कारण है। घटनाओं और बातों को नमक-मिर्च लगाकर कहने का मौका न रहे, इसलिए वास्तविक स्थिति का परिचय सभी को हो जाए, यही यहाँ की रीति है। इसकी उन्हें भी जानकारी होनी चाहिए। वेलापुरी के प्रतिष्ठा समारम्भ के समय से लेकर, अर्थात् श्री आचार्यजी के उत्तर के प्रवास के समय से अब तक क्या सब गुजरा है, सो सब विस्तार के साथ उनके आते ही, सचिव नागिदेवण्णा को उनसे निवेदन करना होगा। शिष्यों की गलतियों के कारण गुरुजी के व्यक्तित्व पर कलंक नहीं लगना चाहिए। अब सारी बातों की जानकारी होने के कारण रानी लक्ष्मीदेवीजी को मालूम हो गया होगा कि पोय्सल सिंहासन के अनुरूप रीति से, सतर्क रहकर व्यवहार करना चाहिए। यह सभा अब विसर्जित की जाती है।" कहकर पट्टमहादेवी उठ खड़ी हुईं और शेष सब लोग भी उठ गये।

पट्टमहादेवी रानी लक्ष्मीदेवी के साथ अन्तःपुर में चली गयीं। बाकी लोग अपने-अपने काम पर चले गये। सबके चले जाने के बाद तिरुवरंगदास धीरे से राजमहल से

निकला। पूर्णरूप से अपमानित-सा होकर वह वहाँ से चला था। 'यदि कुछ कहना था तो मुझ अकेले को बुलवाकर एकान्त में कह लेती तो पट्टमहादेवी का क्या बिगड़ जाता? इस तरह सबके सामने अपमानित करने के ही इरादे से इसका आयोजन करने के लिए आयी होगी। मैंने कितने घाटों का पानी पिया है। इस तरह अपमानित होकर जीने से फाँसी लगाकर मरना अच्छा है। एम्बार को एक परिचारक कहा तो पट्टमहादेवी को गुस्सा आना चाहिए? आचार्यजी को सब बातें सचिव द्वारा बता देंगे! बताने दें? उनके बताने से पहले मैं स्वयं जाकर उनके कान भर आऊँगा। इसके लिए पट्टमहादेवी के वेलापुरी लौटने तक प्रसन्न मुख सबसे मिलते-जुलते रहने का स्वाँग करते हुए, कुछ बहाना करके यादवपुरी से निकलकर बीच रास्ते में ही आचार्य से मिल लूँगा। अपने मन की बात किसी से नहीं कहूँगा। इसके पहले लक्ष्मी को अपनी ओर कर लेना होगा। महाराज के लौटने के पहले ही उसे अपने बस में कर लेने के लिए, उससे कह लेना अच्छा है।' यों उसके मन में अण्टसण्ट और असम्बद्ध बातें एक-के-बाद एक ताँता बाँधकर उठने लगीं।

पट्टमहादेवी नहीं समझी थीं कि यह तिरुवरंगदास इस तरह अण्टसण्ट सोचेगा। इसलिए उस दिन रानी लक्ष्मीदेवी को बड़ी आत्मीयता से पोय्सल राज्य का सारा इतिहास, एवं घटित समस्त घटनाएँ विस्तार के साथ समझायीं और कहा, "हम सब एक ही वृक्ष के सहारे पनपने वाली बेल की तरह हैं। हम बिना तौर-तरीके से बढ़ने लगीं तो उस आश्रयदाता वृक्ष को ही निगल जाएँगी। ऐसा नहीं होना चाहिए। उसे बढ़ाने के लिए हमें यत्नशील रहना होगा। महामातृश्री जैसी स्त्री का जन्म बिरला ही होता है। उनके व्यवहार की रीति ने हमें संयम से रहना सिखाया है, जीवन को सुधारा है। महासन्निधान की पत्नियाँ होने के नाते हमें उन महामातृश्री की सद्भावनाओं को बढ़ाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। आज की सभा में कुछ बोलने की इच्छा होते हुए भी तुमने अनावश्यक और अप्रस्तुत समझकर संयम से काम लिया। इससे मेरे मन में एक भावी आशा का भाव तुम्हारे बारे में उत्पन्न हुआ है। तुम भी राजमहल की परम्परा की रक्षा करती हुई, प्रजा के लिए एक आदर्श मार्ग दिखा सकोगी। दिवंगत बल्लाल महाराज की तरह महासन्निधान का जीवन न हो। तुम विश्वास करो या न करो, वास्तव में रानी पद्मलदेवी जी ने कह दिया था कि मेरे सिवा अन्य किसी से महासन्निधान विवाह न करें। हाल के विवाह को वे रोक देना ही चाहती थीं। इसके लिए असूया कारण नहीं, उनके अपने ही जीवन का कटु अनुभव है। ऐसा कटु अनुभव दूसरे को न हो, इस उदारता से। इसलिए हम रानियों पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। उस उत्तरदायित्व को समझकर आचरण करने की बुद्धिमत्ता तुममें है, ऐसा मैं समझती हूँ।" यह सब समझाकर दूसरे दिन पट्टमहादेवी वेलापुरी के लिए प्रस्थान कर गयीं।

उधर महाराज बिट्टिदेव डाकरस दण्डनाथ के साथ कोवलालपुर की ओर रवाना हुए। कोवलालपुर पहुँचकर फिर वहाँ की सेना एवं उदयादित्य को साथ लेकर नंगलि पहुँच गये। वहाँ एक मजबूत रक्षक सेना को तैनात कर, उस पर निगरानी रखने की जिम्मेदारी अपने भाई उदयादित्य को सौंपने का निर्णय करके वहाँ से मायण को साथ लेकर, कंची की ओर रवाना हो गये। तलकाडु के युद्ध में मार खाकर आदियम, दामोदर और नरसिंह वर्मा छिपकर भाग गये थे। उन लोगों ने जाकर राजेन्द्र चोल से पोय्सलों के युद्ध-कौशल एवं युद्ध-नीति का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया। राजेन्द्र चोल को पोय्सलों से चाहे कितना ही द्वेष हो, उसने जल्दबाजी से कोई काम न करने का विचार कर, युद्ध से सम्बन्धित सारी कार्रवाइयों को अपने ही नेतृत्व में संचालित करने का निर्णय किया। परन्तु अधिक उम्र हो जाने के कारण उन्होंने अपने बेटे विक्रमचोल को अपने सब अधिकार सौंपकर उसे सारी नीति-रीति समझा दी।

विक्रम चोल को बिट्टिदेव के गुप्तचर दम्पती की योजना मालूम थी। उनके बारे में उसने कड़ी आज्ञा दे रखी थी कि कोई शंकास्पद पुरुष या स्त्री मिले, तो उसे बाँधकर ले आएँ।

पोय्सलों की गतिविधि के बारे में वह बराबर समाचार प्राप्त करता रहता था। बीच रास्ते में उन पर हमला करने से अधिक उचित होगा कंची में ही उनका सामना करना, यह सोचकर पोय्सलों के हमले को विफल बनाने के उद्देश्य से उसने सारी तैयारियाँ कर ली थीं। पल्लव-काल में निर्मित किले को और अधिक सुरक्षित बनवाने के लिए आवश्यक मरम्मत करवा दी गयी थी। अपने गुप्तचर जत्थे को भी और विस्तृत बना दिया गया था।

बिट्टिदेव ने यह समझकर कि पिनाकिनी नदी के किनारे पर ही शत्रु का सामना करना पड़ेगा, अपने गुप्तचरों को भेजकर शत्रु की शक्ति को पहले से जान लेने का इन्तजाम कर लिया था। अब की बार चट्टला और मायण को आगे बढ़ने नहीं दिया था। सारी सेना को कंची में ही रखकर सामना करने की तैयारी के लिए गुप्तचरों ने खबर दी थी। इसलिए उनकी सेना बिना किसी व्यवधान के कंची की ओर बढ़ चली।

गुप्तचरों से प्राप्त समाचार के कारण, अपने रास्ते को थोड़ा बदल दिया था। समाचार यह था कि नरसिंह वर्मा, जो तलकाडु के युद्ध में मार खाकर भाग गया था, चेंगिरि के संरक्षण के उद्देश्य से सेना के साथ वहाँ बैठा है, उसे हराये या गिरफ्त में लिये बिना कंची की ओर बढ़ते हैं तो पीछे से हमला होने की प्रबल सम्भावना है। इसलिए उसे पूरी तौर से खतम कर, अपने रास्ते को सुगम बनाने के खयाल से ऐसा ही निर्णय करके, पोय्सल सेना चेंगिरि की ओर मुड़ी। नरसिंह वर्मा इस बात को जानता था और इसलिए वह युद्ध के लिए तैयार बैठा था। जोरों का युद्ध हुआ। वह पोय्सल सेना का सामना न कर सका और अन्त में हारकर युद्ध में मारा गया। इस विजय से

बिट्टिदेव को लाभ हुआ, चेंगिरि का खजाना, भण्डार आदि उनके कब्जे में हो गये। रसद की दिक्कत की शंका थी, सो वह अब दूर हो गयी। उन्होंने आगे बढ़कर कंची के निकट ही अपना डेरा डाल दिया। दो-तीन दिनों में कंची में जो तैयारी हुई थी, उसका पूरा ब्योरा प्राप्त कर लिया और विचार-विमर्श करने के बाद उन्होंने सीधे हमला कर देने का निर्णय ले लिया।

कंची पर यह हमला बिट्टिदेव के ही नेतृत्व में किया गया। चोलों के साथ युद्ध कोई आसान काम नहीं था। तलकाडु के युद्ध में जिस रणनीति का प्रयोग किया था, वह यहाँ इस समय कामयाब नहीं होगी, यह सोचकर इस युद्ध में उसका प्रयोग नहीं किया।

युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। दोनों तरफ के सैनिक काफी संख्या में कट मरे। दो-तीन पखवाड़े युद्ध चला। अन्त में कंची नगर पोय्सलों के कब्जे में आ गया। विक्रम चोल पकड़े जाने के डर से श्रीरंग की ओर भाग गया। कंची में पोय्सलों का झण्डा फहराकर, उसकी रक्षा के लिए चोकिमय्या को वहाँ तैनात कर बिट्टिदेव ने कंची और चेंगिरि विजय का समाचार वेलापुरी भेज दिया, और स्वयं गंगराज से मिलने के लिए निकल पड़े। गंगराज ने चालुक्यों को हराने के लिए युद्ध जारी रखा था।

रास्ते में आराम करने में अधिक समय न लगाकर, आवश्यकतापूर्ति भर के लिए जहाँ-तहाँ थोड़ा समय रुककर, शीघ्र ही गंगराज से जा मिले। पोय्सलों ने तीन तरफ से युद्ध जो करना शुरू किया था, उसका सामना सामन्तों की सम्मिलित सेना भी बड़ी चतुरता से करती रही। हमले का जवाब हमला करके ही दिया जाता रहा। साँप मरे न लाठी टूटे, वाली बात चल रही थी तब। बिट्टिदेव ने पहुँचते ही गंगराज और दण्डनायक से सम्पूर्ण स्थिति की जानकारी प्राप्त की और भावी कार्यक्रम के लिए विचार-विनिमय किया। यह मालूम हुआ था कि पाण्ड्य इरुक्कवेलन की शक्ति औरों से अधिक है। अतः कदम्ब और पाण्ड्यों को पहले जीत लें तो अच्छा होगा, यह निश्चय हुआ। फिर विचार किया गया—एक सैन्य टुकड़ी एचम और बिट्टियण्णा के नेतृत्व में हानुंगल भेजी जाए, और वहाँ, हानुंगल पर, हमला करके उसे कब्जे में ले लिया जाय, और दूसरी टुकड़ी स्वयं बिट्टिदेव ने नेतृत्व में माचण और डाकरस दण्डनाथ के साथ उच्चंगी पर हमला कर दे। शेष सेना चालुक्यों का सामना करने के लिए युद्धक्षेत्र में ही रहे। यह भी निश्चय किया गया कि हानुंगल तथा उच्चंगी की ओर सेना के रवाना हो जाने के तीन-चार दिन बाद ही इस बात को प्रकट होने दें।

योजना के अनुसार कार्यारम्भ हुआ। यह खबर सुनकर इरुक्कवेलन पाण्ड्य के लिए वज्राघात-सा हुआ। पल्लवों के बाद नोलम्बवाडी को अपने कब्जे में करके वह बड़े ठाठ के साथ उच्चंगी को केन्द्र बनाकर, वहाँ चालुक्यों का माण्डलिक बनकर, राज

कर रहा था। पोय्सलों से उसे यह डर था कि वे उसके अस्तित्व को ही मिटा देंगे। इस डर की वजह से, और हाल में कंची-युद्ध में विजय प्राप्त करने की खबर सुनकर इरुक्कवेलन अपने अधीन सेना को लेकर अपनी राजधानी की ओर भाग चला। फिर भी दुम्मी के पास दोनों सेनाओं में टक्कर हो गयी। इरुक्कवेलन के इतने जल्दी तैयार हो जाने की आशा बिट्टिदेव को नहीं थी, इस वजह से उन्हें कुछ पीछे हटना पड़ा। फिर भी घमासान लड़ाई हुई, काफी लोग दोनों ओर के कट-मरे भी। अन्त में विजय इन्हीं की हुई। शनिवार का दिन था वह। पाण्ड्यों पर पूर्णरूप से विजय पा चुकने के बाद, बिट्टिदेव ने माचण के नेतृत्व में एक सैन्यदल को भेजकर 'उच्चंगी' के किले को भी अपने अधिकार में ले लिया। वहाँ अपना झण्डा फहराने का आदेश देकर वे पुनः गंगराज से आ मिले।

पाण्ड्य के पराजित होने की खबर चालुक्य-सामन्तों को लग गयी। एक दूसरी खबर यह भी मिली कि हानुंगल के पतन के बाद पोय्सलों की सेना गोवा की ओर बढ़ चली है। इससे सामन्त समवाय की सेना में खलबली मच गयी। वे पीछे की ओर खिसक जाने की बात सोचने लगे। यह बात गुप्त रखने की कोशिश तो उन्होंने की, परन्तु उनके सैन्य में जड़ जमाये पोय्सल-गुप्तचरों ने यह खबर गंगराज को दे दी। ठीक इसी समय पर बम्मलदेवी का युद्ध-शिविर में ही स्वास्थ्य खराब हो गया। स्थिति भाँप कर गंगराज ने अन्य अधिकारियों से भी सलाह-मशविरा करके, महाराज से रानीजी के साथ वेलापुरी लौट जाने की विनती की और बड़ी मुश्किल से मना लिया। बात को गुप्त रखने की हिदायत दी गयी। महाराज, रानी, मायण और चट्टला भेस बदलकर चार-छः अंगरक्षकों के साथ शिविर से चलने की तैयारी करने लगे। इस तरह गुप्त रीति से उन्हें विदा किया गया।

अब युद्ध की पूरी जिम्मेदारी गंगराज पर आ पड़ी। उस वीर को यह दायित्व सहर्ष शिरोधार्य था। महाराज के प्रस्थान कर जाने के बाद एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर गंगराज ने चालुक्य सामन्तों की सम्मिलित सेना पर रात के वक्त हमला करने का निर्णय ले लिया। उन्होंने अपनी समस्त सेना को एकदम आगे बढ़ा दिया। भयंकर युद्ध हुआ। उस सम्मिलित सेना को तहस-नहस कर दिया गया। पोय्सलों की जीत हुई। चालुक्य विक्रमादित्य पेर्माडी के पक्षधर सभी सामन्त एकबारगी पीछे की ओर खिसक गये। युद्ध-शिविर में जो धन और रसद था वह सब पोय्सलों के हाथ लग गया।

बिट्टिदेव के वेलापुरी पहुँचने के एक पखवाड़े के अन्दर-अन्दर गंगराज की इस विजय का समाचार राजधानी पहुँच गया। बाकी दण्डनाथों के साथ गंगराज राजधानी में कब तक पहुँच सकेंगे, इसकी सूचना भी मिली। उनके भव्य स्वागत की तैयारियाँ राजधानी में होने लगीं। उनके लौटने पर विजयोत्सव मनाने के लिए दिन पक्का करने की बात राजमहल में तय हुई। अभी गोवा की तरफ से एचम और बिट्टियण्णा के बारे

में खबर नहीं मिली थी। उनके पास गुप्तरूप से खबर भेजी गयी कि यदि शत्रु भाग चले हों तो उनका पीछा करने की जरूरत नहीं। ऐसी स्थिति में वे लौटकर राजधानी आ जाएँ।

"तलकाडु के युद्ध से लेकर अब तक लगातार, जान की परवाह न कर मातृभूमि के लिए लड़नेवाले योद्धाओं को विश्राम करने का अवकाश देना उचित है। फिलहाल आक्रमण रोककर, विजित प्रदेशों की सुरक्षा-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया जाए तो अच्छा होगा। इस तरह से उनमें नये उत्साह का संचार हो सकेगा।" शान्तलदेवी ने परामर्श दिया। स्वीकृति भी मिल गयी और एचम तथा बिट्टियण्णा के पास लौट आने की खबर भी भेज दी गयी।

तलकाडु, कोवलालपुर, नंगलि, कंची, उच्चंगी और हानुंगल आदि प्रदेशों में उचित सुरक्षा की व्यवस्था की गयी। सभी दण्डनायक राजधानी लौट आये। दो बड़े राज्यों पर विजय पायी गयी थी। इस खुशी में विजयोत्सव मनाने के निश्चय के साथ पोय्सलराज ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित करने का भी निर्णय किया। साथ ही नोलम्बवाडिगोंड, कंचिगोंड, उच्चंगिगोंड, हानुंगलगोंड, आदियम-हृदयशूल, नरसिंहवर्म-निर्मूलन आदि विरुदावली से राजा विभूषित हो, यह भी निर्णय किया गया। परन्तु इस उत्सव को सीमित रूप से ही मनाने का निश्चय हुआ। कारण यह था कि दो साल से भी अधिक समय तक लगातार युद्ध चलता रहा था और इस वजह से राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं रह गयी थी। इसलिए ग्राम-प्रतिनिधि की हैसियत से नाडगोंडा, और सभी बातों की निगरानी के लिए नियुक्त हेग्गड़े, दण्डनायक, सवारनायक, और कुछ प्रजा-प्रमुख मात्र आमन्त्रित हों और इस उत्सव को चेन्नकेशव स्वामी के मन्दिर में ही मनाया जाए, ऐसा निर्णय किया गया। "प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय आचार्यजी नहीं आये, कम से कम अब तो उन्हें बुलवा सकेंगे", एक सलाह दी गयी।

"वे अभी वंग देश से लौटे नहीं, उत्सव के समय तक लौट आएँ तो बुलवा सकते हैं।" शान्तलदेवी ने कहा। इतना ही नहीं, "उत्सव के समय तक सन्निधान यादवपुरी ही में रहें, और यदि तब तक आचार्यजी लौट आएँ तो उन्हें भी साथ ला सकते हैं।" यह भी सलाह दी।

"इसके लिए अभी से वहाँ जाकर बैठें? क्या हमें दूसरा कोई काम नहीं है? उनके लौट आने की खबर मिल जाए, तब चाहे स्वयं जाकर उन्हें बुला लाएँगे।" कहकर बिट्टिदेव ने शान्तलदेवी की ओर प्रश्नार्थक दृष्टि से देखा।

समझने पर भी उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखायी। उस दिन की वह सभा विसर्जित हुई।

उस रात को किसी सूचना के बिना बिट्टिदेव पट्टमहादेवी के शयनागार में पहुँच गये। शान्तलदेवी को एकाएक ऐसी आशा नहीं थी। इसलिए उन्हें अपने विचारलोक

से सहज स्थिति में लौटना पड़ा। उन्होंने अभी तक यादवपुरी से सम्बन्धित किसी भी बात की चर्चा नहीं की थी। कहना है या नहीं, इस पर विचार कर रही थीं। एक तरफ यह चिन्ता थी कि बताने पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, तो दूसरी तरफ आत्म-वंचना का भाव। बात यदि छोटी रानी के पिता से सम्बद्ध न होती तो वह चिन्ता न करतीं। इस वजह से उन्होंने यही अच्छा समझा कि बात पहले उधर से ही मालूम हो, बाद को वस्तुस्थिति क्या है, सो बता देंगी। इसलिए आचार्यजी के आगमन का बहाना करके महाराज को यादवपुरी भेजने का विचार किया था। परन्तु पता नहीं क्यों, महाराज ने इस सलाह को मान्यता नहीं दी। इसलिए अब क्या करना है, यही सोचती रहीं। उन्होंने तात्कालिक परिस्थिति के अनुकूल अपने को सँभाल लिया और हँसती हुई महाराज का स्वागत किया। उन्हें पलंग की ओर ले जाकर उस पर बैठाया, खुद भी बगल में जा बैठीं और पूछा, "यह अचानक आगमन कैसे हुआ...?" और प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी ओर देखने लगीं।

"आज की सभा में पट्टमहादेवी ने जो सलाह दी उसे सुनकर हमें ऐसा लगा कि शायद हमारी उपस्थिति अब पट्टमहादेवीजी को नहीं भाती। अपनी इस शंका का निवारण करने के लिए हम प्रत्यक्ष मिलने के इरादे से आये। हमारे आने से कोई असुविधा तो नहीं हुई न?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"कभी मेरे मुँह से आज तक ऐसी बात निकली है, स्वामी?"

"फिर यादवपुरी जाने की सलाह क्यों दी?"

"हमारी उम्र हो चुकी है। अपनी आकांक्षा से भी ज्यादा छोटों की आकांक्षाओं की ओर ध्यान देना ठीक है न?"

"इस तरह की उदारता के लिए उनमें उसके अनुकूल योग्यता भी तो होनी चाहिए न?"

"क्यों? अब क्या हुआ है?"

"जानते हुए ऐसा सवाल नहीं करना चाहिए। पट्टमहादेवी के यादवपुरी हो आने के बारे में सब-कुछ हमें मालूम हो चुका है।"

"तो मतलब हुआ कि ठीक तरह से मालूम नहीं।"

"क्यों?"

"फिर यादवपुरी जाने के लिए यह हिचकिचाहट क्यों?"

"इस राजमहल के गौरव की रक्षा जिससे न हो, ऐसे के साथ..."

"तो, क्या छोटी रानी पर क्रोध है?"

"क्रोध नहीं, उग्र रोष।"

"इसीलिए मैंने कहा कि सन्निधान ने गलत समझा है।"

"इसमें गलत समझने की कोई गुंजाइश ही नहीं है।"

''सन्निधान का ऐसा विचार हो सकता है। परन्तु यदि मेरी बात मानें, वह सारा काम छोटी रानी की जानकारी के बिना हुआ है। इसलिए सन्निधान का उस पर क्रोध करना उचित नहीं होगा। सन्निधान को जो खबर मिली है वह सच्ची नहीं। उसे कुछ रँगकर बताया गया है, ऐसा लगता है। वह अज्ञान के कारण हुआ है या किसी उद्देश्य को लेकर, इसे जानना चाहिए।''

''छोटी रानी पर क्रोध दिलाने में उसके पीछे किसी का स्वार्थ है क्या?''

''हो सकता है। छोटी रानी पर सन्निधान क्रोधित होंगे तो उसका मैं ही कारण हूँ, यह सोचकर उसने अपना स्वार्थ साधा हो। इसलिए अभी सोच-विचार कर लें, यही अच्छा है। मैंने सभा में जो सलाह दी, वह आकस्मिक नहीं, सोच-समझ कर ही सलाह दी है। वह दिखावा नहीं था।''

''तो जो कुछ हुआ सो ब्यौरेवार जान सकेंगे?''

शान्तलदेवी ने विस्तार के साथ सारी बातें बतायीं, और कहा, ''मुझे उन तिरुवरंगदास से कोई द्वेष नहीं। पर उनके काम तोड़-फोड़ करने में सहायक बने हैं, यह मेरा स्पष्ट अभिमत है। अब राजमहल से उनका सम्बन्ध हो गया है, इसलिए हमें बहुत सतर्क होकर व्यवहार करना पड़ेगा।''

''किसी व्यक्ति विशेष से हमें डरने की आवश्यकता नहीं है।''

''यहाँ मतान्तर की भी बात निहित है। और सन्निधान ने उस मत का अवलम्बन लिया है। इसलिए अनजान लोगों को उकसाकर, तोड़-फोड़ करना बहुत आसान है। इस कारण सन्निधान इस सन्दर्भ में इस तरह का व्यवहार करें मानो कुछ नहीं हुआ है। सन्निधान का छोटी रानी को अपने सान्निध्य का सुख देकर, उसके साथ सहज रीति से व्यवहार करना, राज्य की एकता की दृष्टि से बहुत ही आवश्यक है।''

''बाकी रानियों के लिए वह सान्निध्य-सुख नहीं चाहिए था...?''

''रुक क्यों गये?''

''या सान्निध्य-सुख उनके लिए सह्य न होगा?''

''अनुभवपूर्ण संयम, यौवन का उत्साह दोनों एक नहीं हैं, यह बात सन्निधान को अविदित नहीं है।''

''तो पट्टमहादेवी की सलाह क्या है?''

''सभा में ही निवेदन कर दी थी।''

''वहाँ नहीं जाना...''

''सो क्यों? ठीक है, महाराज का निर्णय व्यक्तिगत है। कोई उनके उस स्वातन्त्र्य का हरण नहीं कर सकता।''

बिट्टिदेव तुरन्त कुछ न बोले। उन्होंने एक भावपूर्ण दृष्टि से शान्तला की ओर देखा।

''ऐसे क्यों घूर रहे हैं?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''हमारी पट्टमहादेवी युद्ध-कौशल में निपुण हैं। उन्हें भी भय? यही हमें आश्चर्यचकित कर रहा है।''

''राष्ट्र-हित के किसी काम को भय की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सन्निधान छोटी रानी के पास जाएँ तो बड़ी रानियाँ बुरा मानेंगी, यह डर यदि सन्निधान के मन में हो तो उसका कोई कारण नहीं।''

''पट्टमहादेवी की बात हम जानते हैं।''

''बम्मलदेवी साथ ही रहीं। अब रहीं राजलदेवी। सन्निधान उन्हें साथ ले लें।''

''सोचेंगे।'' कहकर बिट्टिदेव उठ खड़े हुए। शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी। किवाड़ खुले। नौकरानी ने अन्दर प्रवेश किया तो बिट्टिदेव ने कहा, ''कुछ नहीं'' वह किवाड़ लगाकर चली गयी। बिट्टिदेव चहल-कदमी करने लगे। शान्तलदेवी की ओर नहीं देखा।

शान्तलदेवी यह सब देख रही थीं। फिर बोलीं, ''सन्निधान के उठ खड़े होने से समझा कि जाने लगे हैं, इसलिए मैंने घण्टी बजायी थी। क्षमा करें।''

''शायद पट्टमहादेवी से हमें ही क्षमा माँगनी पड़ेगी।''

''क्यों? सन्निधान दूसरों से क्षमा तो नहीं माँगते!''

''ऐसा ही है। तुम्हें क्षमाशील जानकर ही हमने दो बड़ी गलतियाँ की हैं। इसकी पूरी जानकारी हमें हो गयी है।''

''मुझे ऐसा तो कुछ भी नहीं लगा!''

''हमने जो गलती की, उसका दण्ड हम ही तो भोग रहे हैं।''

''ऐसा कौन-सा दण्ड है?''

''देवि! वह कहना मुश्किल है। उसी का फल है कि निकट होते हुए भी ऐसा लगता है कि तुम दूर चली गयी हो। और हम अतृप्त रह गये हैं।''

''यह सब केवल मन के विकार हैं।''

''ऐसा नहीं है, देवि! अपनी अतृप्ति के लिए हम स्वयं ही कारण हैं।''

''ऐसी बातों को मन में स्थान देने पर यही सब होता है।''

''देवि! तुमने हमारे दूसरे विवाहों के लिए सम्मति क्यों दी? और तुमने अपने को हमसे दूर क्यों कर लिया?''

''मैं दूर कभी नहीं हुई। मैं निकट ही हूँ। मेरे हृदय में अकेले आप ही प्रतिष्ठित हैं।''

''तो हमें जो इच्छा होती है, वह तुम्हें क्यों नहीं होती?''

''कौन-सी?''

''इस समय पूर्वसूचना के बिना हम आये, तो भी मालूम नहीं हुआ?''

"ओफ, वह! यह सन्निधान की जन्म-पत्री का फल है। सन्निधान को भी ज्योतिष का ज्ञान है न?"

"देवी की तरह मैं पण्डित नहीं हूँ।"

"आपकी पट्टमहादेवी की जन्मपत्री में कुछ दोष नहीं है, यह आपको मालूम नहीं?"

"ओफ! हमारी जन्मपत्री में वह दोष प्रखर है, इसलिए संयम कम है, यही?"

"ऐसी बात नहीं, देव। स्त्री की सहज अभिलाषा सन्तान में परिणति पाती है। अब उस ओर मेरा मन जाता ही नहीं।"

"तो तुम्हारा यह मन्तव्य है कि हमारा मन सदा उसी ओर रहता है।"

"आपको तृप्त करने के लिए आपकी और रानियाँ हैं।"

"जहाँ इच्छा हो, वहीं तृप्ति मिलनी चाहिए न?"

"दैहिक तृप्ति एक तरह की, मानसिक तृप्ति दूसरी तरह की। भूख लगने पर ही भोजन रुचता है।"

"दैहिक तृप्ति के बिना मानसिक तृप्ति मिलती है?"

"वह मनोबल से मिलती है। संन्यासी भी हमारी ही तरह के मनुष्य ही तो हैं न? उन्हें इच्छा होती ही नहीं।"

"इच्छा होने पर भी शायद वे कहते नहीं।"

"ऐसा भी हो सकता है। परन्तु संन्यास के लिए संयम बहुत ही मुख्य है।"

"असंयमी संन्यासी लुक-छिपकर अपनी इच्छा पूरी कर लेगा।"

"इसी तरह यदि हम संयम को खो देंगे तो गलत मार्ग पर चले जाएँगे।"

"तो यह बात हम पर लागू होगी?"

"इस समय बौद्धिक चर्चा हो रही है। सन्निधान की जन्मपत्री में कुज के विषय को लेकर हमने चर्चा आरम्भ की है। यहाँ विचार गलत मार्ग का अनुसरण नहीं, भूख का परिमाण क्या और कितना होता है, यह प्रश्न है।"

"तो तुम लोगों की भूख की एक परिमिति है, और हमारी भूख एक ज्यादती है, यही न मतलब?"

"हाँ, परन्तु सन्निधान उसका कारण नहीं। आपके ग्रह कारण हैं।"

"दूसरी रानियों की जन्मपत्री को पट्टमहादेवी ने देखा है।"

"जन्मपत्री देखने का मौका ही नहीं आया। सन्निधान ने जो चाहा उसमें हमारी सहमति थी। साथ ही अन्य कारण भी रहे।"

"हमें इस चर्चा से कोई प्रयोजन नहीं। जिस उद्देश्य से आये, वह सफल हो जाय, इतना ही हमारे लिए पर्याप्त है।"

"सन्निधान अब मुझे परीक्षाधीन क्यों बना रहे हैं? मुझे अपना व्रतपालन करने

की सुविधा दें, यही मेरी प्रार्थना है।''

''हमारी सारी उम्मीदें तब उल्टी हो गयीं!''

''यह तो छोटे बच्चों की तरह सोचनेवाली बात है। प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसा नहीं बोलते।''

''तुम मेरी धर्मपत्नी हो न?''

''सन्निधान को इसमें शंका क्यों हुई?''

''अग्नि को साक्षी देकर 'धर्मे च अर्थे च कामे च' आदि वचन दिया था; सो सब भूल गयीं?''

''वचन दिया था सन्निधान ने। उसके पालन में दाम्पत्य का सम्पूर्ण फल प्राप्त होने तक, मैंने हर कदम पर सन्निधान का साथ दिया है। सहधर्मिणी बनी रहकर अपने कर्तव्य का पालन किया है। महामातृश्री और प्रभुजी ने जैसे तीन पुत्रों और एक पुत्री को इस संसार को उपहार में दिया, वैसे ही मैंने भी अपना धर्मपालन कर सन्तान प्रदान की है।''

''वह सब ठीक है। इतने ही से तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो गया? उस दिन हमारे जन्मदिन के अवसर पर जब हम विवाहित नहीं थे, तुमने तब मेरी माताजी को वचन दिया था, भूल गयीं? वचन दिया था कि मेरे मन को दुःख न दोगी। वह अपना वचन आज पालन करने योग्य नहीं रह गया?''

''महामातृश्री को जो वचन दिया, उसका मैंने अक्षरशः पालन किया है। अब मेरा यह शरीर आपको उपभोग के लिए न मिला तो मुझपर वचनभ्रष्ट होने का आरोप क्यों लगाते हैं? इस शरीर का उपभोग मात्र आपका लक्ष्य हो और मेरी इच्छा-अनिच्छा का यदि महत्त्व न हो तो यह शरीर आपका है, जैसा चाहें आप इसका उपयोग कर लें।'' उसके स्वर में वेदना भर आयी थी।

बिट्टिदेव जल्दी-जल्दी द्वार की तरफ बढ़ गये और खुद ही किवाड़ खोलकर बाहर निकल गये।

जो कुछ हुआ शान्तलदेवी उस पर विचार करती हुई, और यह सोचती हुई कि अपनी ओर से गलती शायद हुई हो, पलँग पर चित हो लेट गयीं। कब नींद आ लगी, पता ही नहीं।

दूसरे दिन जब जागीं तो बहुत विलम्ब से। सेविका ने जागते ही रानी राजलदेवी के दर्शनाकांक्षी होकर दो बार आकर लौटने की खबर सुनायी।

''उन्हें बुला लाओ। मैं अभी आयी।'' कहकर शान्तलदेवी प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होने के लिए चली गयीं। सब कामों से निबटकर लौटीं, तो देखा कि राजलदेवी आकर वहाँ बैठी हैं। शान्तलदेवी के आते ही खिले मुँह से कहने लगीं—

''सन्निधान के साथ यादवपुरी जाने की मुझे आज्ञा मिली है। यात्रा के लिए सब

तैयारियाँ हो चुकी हैं। जाने से पहले आपसे पूछकर जाने के इरादे से आयी थी।''

''राजलदेवी, सन्निधान ने बहुत ही अच्छा किया। तुम्हें उनके सान्निध्य का लाभ इस तरह कभी नहीं मिला था।''

''उन्हें मेरा सान्निध्य तृप्ति दे सके, इतना ही मेरे लिए पर्याप्त है।''

''क्यों? शंका क्यों करती हो?''

''आपकी तरह मुझमें न प्रतिभा है न बम्मलदेवी की तरह मैं होशियार हूँ। मेरा सम्पूर्ण जीवन मौन रहने में ही बीता है।''

''ऐसा अवसर नहीं मिला था। अवसर मिलने पर स्त्रीत्व उसमें स्वतः समा जाता है। शंका मत करो।''

''मुझे इस बात की शंका है कि यादवपुरी में मिल-जुलकर रहना मुझसे हो सकेगा। मैंने रानी लक्ष्मीदेवी को समझ नहीं पाया।''

''अब उन्हें समझने का मौका खुद-ब-खुद आया है। उससे तुम्हें अच्छा अनुभव भी मिल जाएगा।''

''आप जानती ही हैं कि मैं बहुत बात भी नहीं करती।''

''वहाँ यही अत्यन्त उत्तम है। आँख खुली रहें, मुँह बन्द रहे, तब वहाँ की सारी रीति जल्दी ही तुम्हारी समझ में आ जाएगी। इतना खयाल रखना कि सन्निधान सदा खुश रहें।''

इतने में रेविमय्या ने आकर प्रणाम किया। शान्तलदेवी ने पूछा, ''तुम यादवपुरी जाओगे, रेविमय्या?''

''हाँ।'' उसने कहा।

''ठीक। तब तो मैं निश्चिन्त हो गयी। रानी राजलदेवी की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहे।'' शान्तलदेवी बोलीं।

''सन्निधान तैयार होकर रानीजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

''आपके साथ?''

''बिट्टियण्णा और कुमार बल्लालदेव भी जाएँगे।''

''मायण-चट्टला?''

''नहीं।''

''ठीक है।'' शान्तलदेवी उठीं। साथ ही रानी राजलदेवी भी उठीं। रेविमय्या ने परदा हटाया। दोनों बाहर आयीं। फिर वह परदा छोड़कर जल्दी-जल्दी उनके आगे-आगे कदम बढ़ाता चलने लगा। दोनों महाराज के विश्रान्तिगृह में जब पहुँचीं तब महाराज चहलकदमी कर रहे थे।

''सन्निधान ने जल्दी ही यात्रा का निश्चय किया-सा लगता है। मुझे कुछ घण्टे-आध घण्टे का समय दें तो इतने में मैं नहा-धोकर आ जाऊँगी। सन्निधान के रवाना हो

जाने के बाद नहाना नहीं चाहिए। आज जागने में विलम्ब हो गया। मेरे कारण देरी हो रही है। माफ करें।''

''मुहूर्त...''

''उसमें बाधा न पड़ेगी। मैं जल्दी ही आ जाऊँगी। रेविमय्या, पता लगाओ कि बम्मलदेवी स्नान कर चुकी हैं?''

''हाँ, कर चुकी हैं।'' राजलदेवी ने कहा।

''ठीक। मैं अभी आयी।'' कहती हुई शान्तलदेवी जल्दी-जल्दी चली गयीं।

बिट्टिदेव बैठ गये। रानी राजलदेवी भी बैठ गयीं। थोड़ी ही देर में कुमार बल्लाल भी वहाँ आ गया।

शान्तलदेवी के जाने के थोड़ी ही देर के अन्दर रानी बम्मलदेवी मंगलद्रव्य-युक्त परात पकड़े दो नौकरानियों के साथ वहाँ आयीं। इतने में स्नान कर शुभ्रवस्त्र धारण करके हरियलदेवी, छोटे बिट्टिदेव तथा विनयादित्य को साथ लेकर शान्तलदेवी भी आ पहुँचीं। यात्रा के लिए प्रस्तुत महाराज, रानी और राजकुमार को तिलक करके आरती उतारकर, शुभकामना करते हुए विदा करना था। महाराज, रानी और राजकुमार तीन रहेंगे और तीन का होना शुभ नहीं माना जाता, इसलिए उनके साथ हरियल देवी को खड़ा करके शान्तलदेवी और बम्मलदेवी ने आरती उतारी। बिट्टियण्णा भी तब साथ में था।

''भगवान् के समक्ष एक दिन रानी पद्मलदेवी ने कहा था कि हरियला का विवाह डाकरस दण्डनायक जी के लड़के भरत के साथ सम्पन्न हो तो बुजुर्ग मरियाने दण्डनायकजी के घराने के साथ राज-परिवार का सम्बन्ध बढ़ेगा। इस तरह सम्बन्ध जुड़े, इसका विचार कर अनुकूल निर्णय करें तो अच्छा होगा। अभी डाकरस दण्डनाथ जी यादवपुरी में होंगे ही। सन्निधान इस सन्दर्भ में विचार करके निर्णय कर आएँ।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''तुम साथ होतीं तो अच्छा होता न?''

''डाकरसजी मान लें तब उन दम्पती को बुलवाकर मुहूर्त निश्चित कर लेंगे।''

''दण्डनायिकाजी की राय?''

''इसे अपना सौभाग्य मानेंगी।''

''तो इस सम्बन्ध में पहले ही निर्णय हो चुका है?''

''क्या सब हुआ है सो राजलदेवी जानती हैं। सन्निधान को यह बात मोटी तौर से विदित भी है।''

''ठीक।''

महाराज बिट्टिदेव, रानी राजलदेवी, बिट्टियण्णा और कुमार बल्लाल को विदा करने के लिए हरियलदेवी, शान्तलदेवी, बम्मलदेवी, छोटे बिट्टिदेव और विनयादित्य

राजमहल से बाहर आये।

रवाना होते समय शान्तलदेवी महाराज के पास आयीं और बोलीं, ''एक बात कहना भूल गयी थी। दोरसमुद्र के एक धनी व्यापारी केसरी शेट्टी अपनी धर्मपत्नी केलेयब्बेजी के साथ चेन्नकेशव के दर्शन के लिए वेलापुरी आये थे। तब राजमहल में आकर एक विनती की थी। उन्होंने कहा था कि उनके बेटे केतमल्ल की इच्छा है कि दोरसमुद्र में एक शिवालय का निर्माण कराएँ, इसके लिए सन्निधान स्वीकृति दे दें। जैत्रयात्रा समाप्त कर जब सन्निधान लौटें तो सूचित कर देने की बात मैंने कही थी। इसलिए एक दिन दोरसमुद्र में ठहरकर, सन्निधान केतमल्लजी को बुलवाकर बातचीत कर लें तो अच्छा हो।''

''ये सब पट्टमहादेवी और उदयादित्य की जिम्मेदारी के विषय हैं।''

''उदयादित्यरस इस समय यहाँ नहीं हैं। अभी मंगली, कोवलालपुर की ही तरफ रह रहे हैं। सन्निधान बातचीत कर सूचित करेंगे तो शेष कार्यों के लिए हमारा मार्गदर्शन रहेगा ही।''

''सन्निधान की तरफ से स्वयं पट्टमहादेवी ही स्वीकृति दे सकती थीं न?''

''उनके मन में एक विशाल मन्दिर की कल्पना है। ऐसे मन्दिर के निर्माण के लिए सन्निधान की स्वीकृति अत्यन्त आवश्यक है। और फिर ऐसे मन्दिर को अपूर्ण नहीं रहना चाहिए। ऊपर से मन्दिर निर्माण कराने वाले भक्तों के मन को सन्निधान की सीधी स्वीकृति से विशेष सन्तोष और आनन्द होगा।''

''ऐसा हो तो पट्टमहादेवी भी साथ चल सकती हैं न?''

''जो आज्ञा। पहले वहाँ खबर भेज दी जाए, हम दोरसमुद्र पहुँचें, तब तक वे राजमहल में आकर हमारी प्रतीक्षा करें। बातचीत समाप्त करके मैं साँझ को वेलापुरी लौट आऊँगी।''

''ऐसी जल्दी क्या?''

''कल हमारे पिताजी का जन्मदिन है।''

''पहले ही मालूम होता तो हम अपनी यात्रा को स्थगित कर देते।''

''यह तो हर वर्ष सम्पन्न होने वाला पारिवारिक कार्य है। इसके लिए सन्निधान को यात्रा स्थगित करने की आवश्यकता नहीं।''

निश्चयानुसार राजपरिवार रवाना हुआ। पट्टमहादेवी के साथ लौटते वक्त रहने के लिए एक रक्षकदल मायण के नेतृत्व में रवाना हुआ।

राजपरिवार दोरसमुद्र में पहुँचा ही था कि केसरिशेट्टी, केलेयब्बे और केतमल्ल, सबने राजमहल के द्वार पर राजपरिवार का स्वागत किया। अल्पाहार के बाद सब जाकर मन्त्रणागार में पहुँचे।

शान्तलदेवी ने ही बात शुरू की, ''श्रेष्ठी जी! आप जब वेलापुरी आये थे तब

आपने जो कहा था, उसे हमने सन्निधान से निवेदन किया है। अब आप स्वयं अपनी बात को स्पष्ट रूप से निवेदन कर सकते हैं।''

केसरिश्रेष्ठी ने अपने बेटे की ओर देखा। वह उठ खड़ा हुआ। झुककर प्रणाम किया, और निवेदन किया, ''महासन्निधान ने हमें राजमहल में बुलवाकर यह सुयोग दिया, इसके लिए मैं अपनी तरफ से, और अपने माता-पिता की ओर से भी, कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। अपने घराने की भक्ति के स्मारक चिह्न के रूप में एक शिव-मन्दिर इस राजधानी में बनवाना चाहता हूँ। उसका वास्तुशिल्प वैशिष्ट्यपूर्ण होना चाहिए, यह हमारे बुजुर्गों की अभिलाषा है। इसके लिए हमने एक शिल्पी से प्रार्थना की है कि हमें एक मन्दिर की रूपरेखा बनाकर दें। उन्होंने एक चित्र बनाकर दिया है। परन्तु उसमें युगल मन्दिर रूपित हैं, और उनमें दो शिवलिंगों की प्रतिष्ठा करनी है। महासन्निधान के नाम पर इस ईश्वर-मन्दिर को बनवाने का संकल्प था। परन्तु शिल्पी ने युगल मन्दिर की सलाह दी है, इसलिए पोय्सल महाराज और पट्टमहादेवीजी के नामों को संयुक्त करके पोय्सलेश्वर के अभिधान से अभिहित करने की अनुमति प्रदान करें। और तालाब के दक्षिण पश्चिम वाले स्थान को मन्दिर-निर्माण के लिए हमें दिलवाएँ।''

''वह रेखाचित्र यहाँ है?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

केतमल्ल ने चित्रों का पुलिन्दा प्रस्तुत किया। बिट्टिदेव ने पुलिन्दे को खोलकर देखा और उसे शान्तलदेवी के हाथ में देते हुए प्रश्न किया, ''यह वेलापुरी के मन्दिर का अनुकरण है न?''

शान्तलदेवी ने उसे देखा और कहा, ''हाँ। परन्तु इसमें कुछ बारीक काम है। इस युगल मन्दिर की कल्पना में कुछ नवीनता है।'' फिर पूछा, ''इसे बनाने वाले शिल्पी कौन हैं?''

''उनका नाम है हरीश।''

''ओडेयगिरि के?'' शान्तलदेवी ने सवाल किया।

''हाँ। उन्हें वेलापुरी जँची नहीं, यह सुनने में आया। इसलिए वैष्णवालय से शिवालय जँच जाएगा, यह उनकी भावना थी, यह भी सुनने में आया। सुना कि किसी ने हमारी योजना उन्हें बतायी होगी अतः वे स्वयं यहाँ चले आये और कहा 'हम बना कर देंगे'।'' केतमल्ल ने कहा।

''वे यहाँ हैं?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''नहीं। वे इस ज्येष्ठ बदी और आषाढ़ की समाप्ति के बीच यहाँ आएँगे। क्यों?''

''होते तो उनसे भी मिल सकते थे।''

''हुक्म हो तो उनके आते ही ले आऊँगा।''

''अभी तो महासन्निधान यादवपुरी की तरफ रवाना हो रहे हैं। उनके लौटने के

बाद आप उन्हें अवश्य ले आएँ।''

''उनके आते ही उन्हें पट्टमहादेवीजी का सन्दर्शन करवा दें। वे वेलापुरी में ही रहेंगी। आगे इस विषय में जो भी कार्य होना हो, उनसे पूछ लें। आपने स्थान की माँग की है, उसे देने के लिए प्रधानजी के पास खबर भेज दूँगा। और कुछ?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''हम कृतार्थ हुए।'' उन तीनों ने एक साथ कहा, और अनुमति लेकर विदा हुए।

बिट्टिदेव के उठने के साथ ही सब उठ खड़े हुए।

भोजन के बाद शान्तलदेवी वेलापुरी की तरफ और महाराज आदि यादवपुरी की ओर रवाना हो गये।

कुछ असन्तोष और अनमने भाव से जो यात्रा शुरू हुई थी वह एक समाधान पूर्ण वातावरण में महाराज और पट्टमहादेवी के मानसिक सन्तोष का कारण बन सकी। दोनों सन्तुष्ट थे।

पट्टमहादेवी इधर उसी शाम वेलापुरी पहुँच गयीं। उधर महाराज बिट्टिदेव परिवार के साथ सकुशल यादवपुरी पहुँचे। महाराज का आगमन लक्ष्मीदेवी को बहुत सन्तोषदायक लगा। युद्ध विषयक सारी बातों को सुनने की अभिलाषा होने के कारण लक्ष्मीदेवी महाराज बिट्टिदेव को घेरे ही रहीं। युद्ध की बातें सुनाते-सुनाते एक सप्ताह बीत गया। इसके यह माने नहीं कि दूसरा कुछ काम नहीं हुआ। पर किसी विशिष्ट विषय की ओर महाराज ध्यान नहीं दे सके।

एक बार तिरुवरंगदास आकर महाराज के दर्शन कर गया। लेकिन यह भेंट केवल कुशल-प्रश्न तक ही सीमित रही।

दण्डनायिका एचियक्का के वहीं रहने के कारण रानी राजलदेवी के लिए समय बिताना कठिन नहीं रहा। बीच-बीच में महाराज से उसकी भेंट हो जाया करती थी। रानी लक्ष्मीदेवी के साथ सीमित व्यवहार था। सम्पर्क भी बिल्कुल सीमित रहा। वहीं खुद कुछ पूछती तो बता देती, स्वयं बताने नहीं जाती। कुमार बल्लाल व बिट्टियण्णा भी रहे, इसलिए उसे कोई नये वातावरण में रहने का-सा अनुभव नहीं हुआ। ऐसे ही किसी विशेषता के बिना दिन गुजरने लगे।

प्रस्थान के समय जैसा शान्तलदेवी ने कहा था, डाकरस दण्डनायकजी से बातचीत कर हरियला के साथ भरत के ब्याह की बात पक्की भी कर ली गयी थी। भरत बिट्टियण्णा से उम्र में छोटा था परन्तु था बहुत होशियार। बड़े मरियाने घराने का रक्त उसकी धमनियों में बह रहा था। कुमार बल्लाल, बिट्टियण्णा और मरियाने, भरत के आपस में मिलते-जुलते रहने के कारण, उनमें मैत्री गाढ़ी बनती जा रही थी। चार-

छः साल का अन्तर होने पर भी यौवन के कारण ये लोग अपने भावी जीवन की कल्पना करते रहते थे। यह चढ़ते यौवन का स्वभाव ही है। उनके विचार करने का एक ही ढंग था। उम्र में इन सबसे बड़े होने के कारण बिट्टियण्णा ही इस गुट के नेता की तरह था। इन लोगों के लिए कोई विशेष काम नहीं था, इसलिए सैनिक-शिक्षण में ही ये अपना अधिक समय व्यतीत कर रहे थे। रेविमय्या साथ रहता था, जब कभी समय मिलता, वह भी पुरानी बातों, व्यक्तियों और घटनाओं तथा उन पुराने व्यक्तियों के व्यवहार की रीति-नीतियों के विषय में सुनाया करता।

वेलापुरी और यादवपुरी के बीच बराबर, कम-से-कम हफ्ते में एक बार इधर से उधर और उधर से इधर समाचार आया-जाया करता।

राजलदेवी ने कभी अपनी कोई भी इच्छा महाराज से निवेदित नहीं की थी। एक दिन उन्होंने बड़े संकोच से महाराज से निवेदन किया, "मेरी अभिलाषा है कि एक बार पहाड़ पर चलें। केवल हम दोनों।"

"सो क्यों? वहाँ कौन-सी खास बात है?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"वहाँ चलने पर बताने से नहीं होगा?"

"मना कर दें तो?"

"कोई जबरदस्ती नहीं।"

"आज तेरस है। परसों पूर्णिमा है। उस दिन सूर्यास्त के बाद पहाड़ पर चलेंगे।"

"यह बात किसी को न बताएँ तो अच्छा।"

"क्यों, शरम लगती है?"

"ऐसा नहीं। महाराज जोर से साँस लें तब भी कान खोलकर सुननेवाले लोग रहते हैं। बार-बार पट्टमहादेवीजी कहती रहती हैं कि सदा सतर्क रहना चाहिए।"

"तो मतलब हुआ कि कोई रहस्य है।"

"रहस्य कुछ नहीं। फिर भी..."

"ठीक है। वैसा ही करेंगे। रेविमय्या साथ रहेगा। उसकी राय के अनुसार चलें तो अच्छा होगा!"

"जैसी मर्जी।"

राजलदेवी पूर्णिमा की प्रतीक्षा में रहीं। प्रतीक्षा के दो दिन दो युग-से लगे।

महाराज के आदेश के अनुसार सारी व्यवस्था हुई थी। परन्तु एक अनपेक्षित काम हुआ था। वह यह था कि आचार्यजी के पूर्णिमा तक बंग देश से लौट आने की सम्भावना का समाचार मिला था इसलिए महाराज ने तिरुवरंगदास को बुला भेजा और कहा, "आप रानी को साथ लेकर यदुगिरि जाएँ और आचार्यजी का स्वागत कर लौटें। वे कुछ आराम कर लें तब हम जाकर उनके दर्शन कर आएँगे।"

''सन्निधान भी साथ होते तो अच्छा था!'' तिरुवरंगदास ने सिर खुजलाते हुए कहा।

''श्री आचार्यजी को हमें वेलापुरी आने का आमन्त्रण देना है। दर्शन करते ही हमें आमन्त्रण देना पड़ेगा। इसी समय यदि वह चलने को राजी हो गये तो उन्हें आराम करने के लिए समय नहीं मिलेगा। इसलिए पहले आप लोग हो आएँ। हमारी तरफ से हमारी रानी रहेंगी न।'' इतना कहकर बात समाप्त कर दी थी।

पिता-पुत्री यदुगिरि की यात्रा पर चल पड़े। शंकर दण्डनाथ को भी साथ में भेज दिया गया।

पूर्णिमा के दिन रानी राजलदेवी की इच्छा के अनुसार महाराज बिट्टिदेव और वह दोनों सूर्यास्त के बाद पहाड़ पर चढ़े। रेविमय्या ने व्यवस्था की थी कि उस वक्त पहाड़ पर कोई दूसरा न जाय। पहाड़ पर नरसिंह भगवान् के मन्दिर तक जो चाहे जा सकता था, उससे ऊपर नहीं। वह काफी दूर पर एक ऐसे स्थान को चुनकर बैठा था जहाँ से उसे मण्डप का द्वार दिखाई दे। वास्तव में शान्तलदेवी ने अपने सुखमय दिनों की मीठी स्मृति में इस मण्डप का निर्माण कराया था। राजदम्पती उसके अन्दर जा बैठे। उस पुराने जमाने में क्या सब व्यवस्था की जाती थी, सो रेविमय्या को याद थी। उसी तरह से व्यवस्था हुई भी थी।

चाँदनी दूध की तरह फैली थी। राजलदेवी का भाग्य था कि बादल नहीं थे। ठण्डी मन्द हवा बह रही थी।

''मैंने सुना था कि पट्टमहादेवी को अत्यन्त सुख दिया था इस जगह ने।''

''आपसे किसने कहा?''

''उन्हीं ने एक दिन कहा था। वे कभी-कभी पुरानी बातों को याद किया करती हैं। ऐसे किसी प्रसंग में बातचीत करते हुए इस स्थान पर जो आनन्द पाया था उसका उन्होंने वर्णन किया था।''

''उस समय न हम महाराज बने थे, न वह रानी ही।''

''सुना कि तब न कोई बन्धन था, न कोई नियमित आचरण ही। उनका जीवन एक पंछी के जीवन का-सा था। उस समय जिस सुख और आनन्द का अनुभव हुआ वह दस-दस जन्मों के लिए पर्याप्त है—यह भी कहा था। इसलिए उन्होंने जिस सुख का अनुभव किया था, उसका कम-से-कम एक अंश मैं भी अनुभव करूँ, यह अभिलाषा हुई। मेरे लिए तो ऐसा प्रवास और सान्निध्य बिल्कुल अनपेक्षित है।''

''पट्टमहादेवीजी की बात सच है। हम भी उन दिनों को भूल नहीं सकते। अलावा इसके, अब तो ऐसा मौका मिल सकेगा, ऐसी आशा तक नहीं। इसलिए जैसा तुमने कहा हमें उस सुख का एक आंशिक उपभोग ही सम्भव हो सकता है। आजकल

हमारी पट्टमहादेवी एक तरह से विरक्त हो गयी हैं यह तो तुम जानता ही हो। ऐसे में वह पूरी तरह सम्भव ही नहीं।''

''सन्निधान इस विचार से दुखी हैं?''

''यह तो दुख है ही। परन्तु इस दुख को सहन करना ही है, क्योंकि उसे अपने लिए हमने खुद उत्पन्न कर लिया है।''

''ऐसा कहीं हो सकता है? सन्निधान उनसे कितना प्रेम करते हैं, यह हमें मालूम नहीं?''

''परन्तु अब हम पट्टमहादेवी की दृष्टि में अपवित्र हैं।''

''मेरा विचार है कि उन्होंने कभी ऐसी भावना को अपने मन में स्थान नहीं दिया।''

''जाने दो, इस विषय की चर्चा अभी हमें नहीं करनी है। हमने अपने हृदय को स्वयं वचन दे रखा है कि हम पट्टमहादेवी की सारी इच्छाओं को पूर्ण करेंगी।''

''वह जिस तरह सन्निधान की इच्छाओं को पूर्ण करती हैं।''

''सो कैसे मालूम?''

''सन्निधान की नजर जब बम्मलदेवी पर लगी, और बाद में लक्ष्मीदेवी के विषय में जब अपनी इच्छा प्रकट की, तब उन्होंने कितने उदार हृदय से सन्निधान की इच्छा को पूर्ण करने के लिए, कितना बड़ा त्याग किया है, इसके लिए मुझसे अच्छा और कोई गवाह चाहिए? हमारी वह इच्छा हमें इतना दुख देगी, इसकी उस वक्त कल्पना ही नहीं थी।''

''पट्टमहादेवी स्थित-प्रज्ञ हैं। उनके किसी काम में कोई दुर्भावना नहीं रहती। हर काम वे उदारता और त्याग-बुद्धि से किया करती हैं। वह उदारता न होती तो पता नहीं, हमारी क्या दशा हुई होती। मैं केवल उनकी अनुवर्तिनी हूँ। थोड़े में ही तृप्ति पा जाती हूँ। मैं समझती हूँ कि जो भी होता है वह हमारी भलाई के ही लिए होता है।''

''यह जानकर ही पट्टमहादेवी ने तुमको साथ लेने की सलाह हमें दी थी।''

''वह सौतों के विषय में कितनी विशाल मनोभावना से व्यवहार करती हैं, इसे समझने के लिए इससे बढ़कर और कौन-सा प्रमाण चाहिए? वह यदि सन्निधान के साथ इस प्रशान्त वातावरण में होतीं तो सन्निधान को कितना आनन्द मिलता! उस आनन्द को उतनी ही मात्रा में अनुभव करने का मौका आज पट्टमहादेवीजी की उदारता से मुझे प्राप्त हुआ है। फिर भी उनके प्रति छोटी रानी जी क्यों असन्तुष्ट हैं, यह समझ में नहीं आता।''

बिट्टिदेव ने चकित होकर राजलदेवी की ओर देखा। कुछ बोले नहीं।

''सन्निधान ऐसा कभी न समझें कि मैं चुगली कर रही हूँ। पट्टमहादेवीजी ने

कभी भी रानी लक्ष्मीदेवी के बारे में एक भी अप्रिय शब्द नहीं कहा। फिर भी रानी लक्ष्मीदेवी उनके प्रति ऐसी क्यों हैं, यही समझ में नहीं आता। यह ठीक नहीं है। इसलिए मुझे जैसा प्रतीत हुआ, मैंने निवेदन किया। राजमहल में यह बात कहने का साहस नहीं हुआ।''

''ऐसी ही कुछ बात होगी, यही समझकर मैंने रानी और उनके पिता को उस दण्डनाथ के साथ यदुगिरि भेज दिया।''

''तो क्या सारी घटना से आप परिचित हैं, ऐसा समझूँ?''

''सब कुछ मालूम है, ऐसा तो हम नहीं समझते। यह भी कह नहीं सकते कि तुम जो जानती हो वह हमें भी मालूम है। जब पट्टमहादेवी ने सलाह दी कि हमें यहाँ आना चाहिए तब भी हमने नहीं समझा कि कुछ दाल में काला है। पट्टमहादेवी ने भी इस सम्बन्ध में कोई ऐसी-वैसी बात नहीं कही।''

''वे कह देतीं तो अच्छा होता!''

''कह सकती थीं। न कहने का क्या उद्देश्य है, इसे मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। खैर, अब तुम्हीं बताओ, बात क्या है?''

''सुना कि इस मौके पर यदि आचार्यजी यहाँ आएँ तो जैन मतावलम्बियों से उनके प्राणों को खतरा है। अतः वे तिरुमलाई में ही ठहरें तो अच्छा! इस तरह का समाचार आचार्यजी के पास पहुँचाया गया है।''

''ऐसा है! इस तरह का समाचार किसने भेजा है?''

''यह तो प्रकट नहीं हुआ कि समाचार भेजनेवाले कौन हैं। सुना कि राजमहल से यह समाचार भेजा गया है।''

''यह खबर कौन देने गया?''

''सुना कि कोई अपरिचित व्यक्ति हैं, और यात्री की हैसियत से आये थे। यह भी सुना कि यात्रियों की एक छोटी टोली ही आयी थी, आचार्यजी का दर्शन करने। उनमें से एक यात्री दूसरे से ऐसा कह रहा था, यह भी सुना। हमारी चट्टला की बहन चंगला यहाँ दण्डनायिका एचियक्का के यहाँ काम करती है। वह उस तरफ से झाड़ियों के पास से गुजर रही थी तो ये बातें उसके कानों में पड़ीं। बात आचार्यजी से सम्बन्धित होने के कारण उसने आड़ में छिपकर उनकी सारी बातें सुनीं और उस व्यक्ति को देखा। उसने दण्डनायिकाजी को बताया, यही सुनने में आया है। सन्निधान उसे बुला कर पूछताछ करें तो पूरी बात मालूम हो सकती है। ऐसा क्यों किया और इसका फल क्या होगा, यह मुझे मालूम नहीं पड़ा। दण्डनायिकाजी ने दण्डनायकजी के लौटते ही उन्हें बता दिया है। परन्तु सुना कि इतने में सभी यात्री यहाँ से जा चुके थे।''

''तो मतलब यह है कि किसी स्वार्थ से कुछ लोग जैन-वैष्णवों में झगड़ा पैदा करने में लगे हैं। पता लगाकर ऐसे लोगों को निर्मूल कर देना होगा। इस प्रवृत्ति को

ऐसे ही बढ़ने देंगे तो राज्य में अशान्ति पैदा हो सकती है और शत्रुओं को अपना प्रयोजन सिद्ध करने का मौका मिल सकता है। परन्तु इसमें एक सन्तोष का विषय यह है कि आचार्यजी यहाँ आ रहे हैं।''

''ये नीच शायद उनसे मिले ही न हों!''

''यदि मिले भी हों तो उन्होंने उन लोगों की बातों को कोई महत्त्व न दिया होगा। खैर, उनके आने पर सब स्पष्ट हो ही जाएगा। परन्तु राजमहल में ऐसे नीच कौन-कौन हैं, इसका पता लगाना होगा। चट्टला हमारे पास यहाँ होती तो वह पता लगा लेती। अच्छा, सोचेंगे।''

''तो सन्निधान ने और क्या सुना है?''

''आचार्यजी के आते ही धर्म-जिज्ञासा के लिए जैनों के साथ चर्चा-गोष्ठी का इन्तजाम करके उनको अपमानित करने का विचार किया गया है। इसके लिए हमारे नाम का उपयोग किया गया है, यह भी सुना है।''

''उसी वक्त पट्टमहादेवी ने इस सम्बन्ध में निवेदन किया था। उनकी कितनी दूरदृष्टि है। यह मतान्तर की बात न हुई होती तो कितना अच्छा होता!''

''अब इस बात के सोचने से कुछ नहीं होगा। जैन हों या वैष्णव, यदि इस तरह का जब भी विवाद उठे कि कौन बड़ा है और कौन छोटा, तो उस बात को वहीं खतम कर देना होगा। आज ही चट्टला-मायण को आदेश भेज देंगे कि वे यहाँ आ जाएँ।''

''यह धर्म-जिज्ञासा कहीं राजव्रण न बन जाए। इसका समय रहते सही उपचार हो जाना चाहिए।''

''यदि जड़ को ही काट दें तो वह वैसे ही सूख जाएगा। जड़ का पता लगाना होगा। इसके लिए वे ही ठीक हैं।''

''किसे भेजेंगे?''

''और किसी को नहीं भेजा जा सकता, सिवा रेविमय्या के।''

''वह दिन-ब-दिन बूढ़ा ही होगा, युवा तो नहीं हो जाएगा? एक ही दिन में पहुँच सके, ऐसे किसी युवक को भेज दें तो अच्छा होगा।''

''इस काम के लिए विश्वस्त व्यक्ति चाहिए। अभी वहाँ यादवपुरी में कौन कैसा है, पहले इसकी जानकारी करनी होगी। तब तक विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए उसी को भेजना होगा। परन्तु उसे फिर लौटना नहीं है।''

''सो भी ठीक है। किसी भी हालत में आचार्य जी के दर्शन के बाद उनके साथ वेलापुरी ही तो जाएँगे?''

''हाँ। अच्छा, दण्डनायिकाजी ने जो कहा सो तुमने बता दिया। रानी लक्ष्मीदेवी तुम्हारे साथ कैसा बरताव करती हैं?''

''लगता तो है कि सहज ही व्यवहार करती रही हैं। शायद अपने मन में सोचती

होंगी कि मैं न आती तो अच्छा होता!''

''यह सिर्फ कल्पना है या इसके आधार-स्वरूप कोई घटना घटी है?''

''घटना जैसे बड़े शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं। थोड़े दिनों के लिए सन्निधान यहाँ रहेंगे तो समझ जाएँगे। 'आपने यहाँ तक आने का कष्ट क्यों किया?' यह बात एक व्यंग्य की तरह कही थी, पर ऊपरी सहानुभूति के साथ। मैंने कहा, 'हम केवल उनकी छाया मात्र हैं। इसमें कोई तकलीफ की बात नहीं। पट्टमहादेवीजी समझती हैं कि सदा सन्निधान के साथ किसी-न-किसी का रहना उचित है। मुझे भी लगा कि बात ठीक है'।''

''फिर?''

''तब उन्होंने बात ही बदल दी। कहा, 'वे ही आ सकती थीं न? शायद यह वैष्णव-स्थान है, इसलिए नहीं आयी होंगी।' कहने के ढंग में कुछ शंका और कड़वापन लगा। फिर भी मैंने कहा, 'ऐसा कुछ नहीं। जब सन्निधान नहीं थे तब वे आयी थीं न? अभी वहाँ विजयोत्सव की तैयारियाँ हो रही हैं। मेरी दीदी युद्ध क्षेत्र में साथ रहीं। उन्हें विश्रान्ति की आवश्यकता थी। मैं खाली थी तो मुझसे ही साथ आने को कह दिया।' तो उन्होंने पूछा, 'तो क्या जिससे पाणिग्रहण किया उनके साथ रहने के लिए इनकी-उनकी अनुमति लेनी चाहिए?' मैंने जवाब दिया, 'ऐसा कुछ नहीं, सन्निधान की इच्छा जैसी होगी, वैसा ही।' बात यहीं रुक गयी।''

''तात्पर्य यही हुआ कि लक्ष्मीदेवी के दिमाग में अण्ट-सण्ट विचार किसी ने भर दिया है।''

''लक्ष्मीदेवी ने सन्निधान से भी ऐसी बातें कही हैं?''

''मेरे समक्ष कोई बात नहीं उठायी। संग-सुख मात्र व्यक्त हुआ है।''

''ऐसी हालत में सन्निधान को ऐसा विचार करने की आवश्यकता नहीं है और न ही उनके दिमाग में किसी ने कुछ भरा है।''

''जो भी हो, सतर्कता से यह सब विचार कर देखना होगा। चलो, अब चलें?''

''सन्निधान यहाँ पट्टमहादेवीजी के साथ बहुत देर तक बैठा करते थे, ऐसा सुना है।''

''तब...अब वह बात क्यों?''

''आपको उस समय की वह तृप्ति हम कभी नहीं दे सकेंगी?''

''यहाँ एकाग्र मनों का परस्पर ऐक्य होना जरूरी है। तब जो सुख मिलेगा वह कुछ और ही होगा।''

''तो उस तरह के ऐक्य के लिए हम सहयोगी नहीं बन सकेंगी?''

''ऐसा नहीं, देवि! यह एकतरफा व्यवहार नहीं। तब हमारा मन एकमुखी था। एक ही जगह केन्द्रित था। वह अब चारों ओर व्याप्त है। एक जगह नहीं टिक पा रहा

है। उसके लिए हम ही कारण हैं, आप लोग जरा भी नहीं।''

''इस पूर्वग्रह को छोड़कर उस आनन्द से हमें तृप्ति देने की कृपा करें, देव! बाहर को भूलकर अन्दर में झाँकिए तब देखिए प्रभु! कोई अन्तर नहीं दिखेगा।''

बिट्टिदेव कुछ न बोले। निरभ्र आकाश में विराजमान हिमांशु की ओर देखते हुए बैठे रहे।

''तारानाथ ने मेरी सलाह का अनुमोदन कर दिया है प्रभु! उसके उस हास्य भरे मुख को तो देखिए।'' कहती हुई राजलदेवी ने बिट्टिदेव को अपनी बाजुओं में लेकर गाढ़ालिंगन के साथ उनका चुम्बन ले लिया। बिट्टिदेव के बाहुओं ने अनायास ही राजलदेवी को कस लिया। दोनों दूसरी दुनिया की सैर करने लगे।

राजदम्पती के बैठने के लिए जो गद्दी लगी थी, वही बिछावन बन गया। राजलदेवी को इस निसर्ग सौन्दर्य में अपरिमित सुख प्राप्त हुआ। बिट्टिदेव भी तन्मय बने रहे। उन्होंने कहा, ''देवि, तुमने हमें आज एक नयी प्रेरणा दी। तुमसे यह सब हो सकेगा, इसकी हमने कल्पना भी नहीं की थी। पट्टमहादेवी की भावनाओं की स्मृति ही इस सबका शायद कारण है। इसीलिए शायद पट्टमहादेवी ने तुम्हें साथ ले जाने की सलाह दी थी। वहाँ की परिस्थिति और धार्मिक विचारों की कट्टरता आदि हमारी मानसिक शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी, यही उन्होंने विचार किया होगा।''

इस समय चन्द्रमा बीच आसमान में पहुँच चुका था। राजदम्पती मण्डप से निकले और रेविमय्या से आ मिले। रेविमय्या का इशारा पाकर, नरसिंह भगवान् के मन्दिर के पास जो लोग पहरे पर थे, ऊपर चढ़ आये। इन अंगरक्षकों के साथ राजदम्पती राजमहल पहुँचे।

रेविमय्या दूसरे ही दिन वेलापुरी के लिए रवाना हुआ। दो ही दिनों में मायण-चट्टला, दोनों यादवपुरी जा पहुँचे थे।

इस बीच आचार्यजी का स्वागत कर रानी लक्ष्मीदेवी, तिरुवरंगदास और शंकर दण्डनाथ यादवपुरी लौट आये थे।

लक्ष्मीदेवी को रेविमय्या के लौट जाने की बात मालूम हुई तो उसने पूछा, ''रेविमय्या क्यों चले गये।''

''श्रीआचार्यजी की वापसी की बात बताकर, विजयोत्सव के लिए मुहूर्त निश्चय करने का सन्देश देने के लिए हमने ही उसे भेजा है। जल्दी ही मुहूर्त निश्चित करके वेलापुरी से किसी को भेज देंगे।'' बिट्टिदेव ने कहा।

मायण और चट्टला खबर ले आये होंगे, ऐसा समझकर लक्ष्मीदेवी ने पूछा, ''मुहूर्त कब का निश्चय हुआ है?''

''तीन-चार मुहूर्त ठीक किये हैं। आचार्यजी की सुविधा को ज्ञात करने के बाद ही खबर भेजनी होगी। इसलिए हम सब कल यदुगिरि के लिए रवाना होंगे।'' बिट्टिदेव

ने कहा।

''हम सबके माने?''

''हम, तुम, रानी राजलदेवी, कुमार बल्लाल और बिट्टियण्णा।'' बिट्टिदेव ने कहा।

पिता के नाम का उल्लेख नहीं था, इसलिए उसे कुछ बुरा ही लगा। फिर भी उसने अपने मनोभाव को प्रकट नहीं किया। निश्चय के अनुसार राजपरिवार यदुगिरि के लिए रवाना हुआ। मायण और चट्टला यादवपुरी ही में रह गये...परन्तु मायण-चट्टला बनकर नहीं।

तिरुवरंगदास को बुरा लगना सहज ही था। अपने आपको बड़ा और प्रतिष्ठित समझनेवाले, अँगूठा दिखाने पर हाथ को ही निगल जाने के स्वभाववाले ऐसे ही होते हैं। उसको केवल बुरा ही नहीं लगा, उसके दिल में विद्वेष की भावना भी भड़क उठी। उसका एक और कारण भी था। आचार्य जी से पहले की तरह मिल न पाया और अब वहाँ उसकी दाल गल न सकी। अतएव तिरुवरंगदास सोचने लगा, 'आचार्य के मन को किसी ने मेरे विरुद्ध भड़का दिया है। मैंने किसके साथ क्या अन्याय किया? दूसरों के लिए कुछ भी किया हो, आचार्यजी की क्या बुराई मैंने की? जब उनके मुँह से यह बात निकली की विशिष्टाद्वैत का झण्डा लेकर मत जाओ तो मुझ पर भारी आरोप ही लगा दिया होगा। दीक्षा उन्होंने दी, अब वे ही उसकी जड़ काटें, यह भी सम्भव है? इसके पीछे बहुत बड़ा षड्यन्त्र ही है। इसके विरुद्ध यदि मैं कुतन्त्र न रचूँ तो मैं भी आचार्य का शिष्य नहीं।' यों उसने संकल्प कर लिया। कई तरह के लालचों में पड़कर यह शंकर दण्डनाथ अभी भी तिरुवरंगदास की बातों में आ जाता था। उसकी आयु जो छोटी थी। इससे तिरुवरंगदास ने समझ रखा था कि उसे दण्डनाथ का बहुत बड़ा सहारा मिल गया है।

शंकर दण्डनाथ बेलापुरी के विजयोत्सव में जाना चाहता था। लेकिन कोई आदेश नहीं था उसे। राजमहल से सचिव नागिदेवण्णा और डाकरस दण्डनाथ को बुलाया गया था, रानी के पिता को नहीं। इसलिए उसने सोचा, 'मुझे और तिरुवरंगदास को क्यों नहीं बुलाया गया, इसका कारण? मेरे खिलाफ शिकायत करनेवाले कौन होंगे? इससे उनका क्या लाभ होगा?' यों शंकर दण्डनाथ के मन में तरह-तरह के विचार उठते रहे। उसने सोचा कि ऐसे लोगों का पता लगाना चाहिए।

राजपरिवार जिस दिन रवाना हुआ उसी दिन दण्डनाथ और तिरुवरंगदास मिले। दोनों ने मिलकर विचारोपरान्त निर्णय किया कि जो अपमान हुआ है, उनका प्रतिकार करना ही होगा।

''परन्तु इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए रानी लक्ष्मीदेवी का सहयोग अपेक्षित होगा। उनके बिना कोई काम नहीं बनेगा।'' शंकर दण्डनाथ बोला।

''यह मैं देख लूँगा। अभी मैंने उसके मन में एक हलचल मचा रखी है। जल्दी ही उसका परिणाम सामने आएगा।'' तिरुवरंगदास ने आश्वासन दिया।

''ऐसा! क्या किया है?''

''अभी से चिन्ता क्यों? समय आने पर बताऊँगा।''

''विजयोत्सव में जाते तो अच्छा होता न!''

''उस उत्सव को न देखें तो नुकसान भी क्या है? हजारों आदमियों का रक्त बहाकर जो विजय प्राप्त की गयी, उसे मानो अकेले उन्होंने पाया—यों एक व्यक्ति की प्रशंसा होगी। क्या वह कोई भगवान् हैं? अथवा किसी धर्म का प्रवर्तन करनेवाले संन्यासी या किसी धर्मपीठ के अधिपति हैं?''

''इस तरह कहेंगे तो कैसे होगा, धर्मदर्शीजी? जबकि आर्योक्ति प्रसिद्ध है 'राजा प्रत्यक्ष-देवता'।''

''वह सब आर्यों के जमाने की बात थी। अब के राजाओं की हालत हम नहीं जानते? राजेन्द्र चोल ने क्या किया?''

''क्या किया?''

''कहा कि शिव ही सबसे बड़े हैं और अन्य देवों की पूजा करनेवाले विधर्मी हैं। उसने क्या निर्णय किया था, मालूम है?''

''किस विषय में?''

''यही, हमारे आचार्यजी के बारे में।''

''क्या निर्णय किया था?''

''उनकी आँखें निकलवाने का निर्णय किया था।''

''उन्होंने क्या अन्याय किया?''

''और कुछ नहीं, नारायण को अपना आराध्य माना और श्रेष्ठ कहा।''

''अब भी तो वही कहते हैं, हमें और आपको उनकी बातों पर विश्वास है। उनके आदेश के अनुसार हम चलते हैं। तब राजेन्द्र चोल को इसमें कौन-सी हानि दिखाई पड़ी?''

''आचार्यजी से बहस में जीत न सके, इसलिए आँखें निकलवाने की बात कह कर डराया। आचार्य ने सोचा कि ऐसे पागल का साथ देना अच्छा नहीं, इसलिए यहाँ कन्नड़ राज्य में भाग आये आश्रय पाने।''

''ऐसा है? मुझे तो यह बात मालूम ही नहीं थी!''

''केवल इतना ही नहीं, आचार्य को बचाया किसने, जानते हो?''

''मुझे क्या मालूम? आप ही बताइए।''

''मैंने ही बचाया। उनकी सब तरह से सुरक्षा की व्यवस्था करके, दिन के वक्त छिपाये रखकर, रात के वक्त एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाकर, धीरे-धीरे उन्हें

चोल राज्य की सीमा से बाहर ले आया, और पोय्सल राज्य में पहुँचाया।''

''तभी तो आप पर आचार्यजी का विशेष स्नेह है। इसीलिए आपकी बेटी का विवाह महाराज से करवाकर उन्हें रानी बना दिया।''

''यह सब दूसरा किस्सा है। वे सदा भगवान् के ध्यान में ही निरत रहनेवाले हैं। इन भौतिक विषयों की ओर उनका दिमाग नहीं जाता। जब वे बहुत सन्तुष्ट हों, ऐसा समय देख हमें उनसे 'हाँ' करा लेनी होती है।''

''राजा या संन्यासी से 'हाँ' कराने में कोई अन्तर नहीं।''

''कोई अन्तर नहीं! उनकी दुनिया ही अलग है।''

''सो तो ठीक है। इतनी सब जानकारी होते हुए आपने अपनी बेटी को चौथे विवाह के लिए क्यों दिया?''

''उसका कारण अभी बताएँ तो तुम नहीं समझ सकोगे। समय आने पर बताऊँगा। परन्तु मुझे तुमसे एक आश्वासन मिलना चाहिए। तुम वचन दो कि मेरा साथ न छोड़ोगे। मैं तुम्हें सबसे बड़ा दण्डनायक बना दूँगा।''

''मैं आपके साथ रहूँगा, सही। मगर कितना भी असन्तुष्ट क्यों न होऊँ, मैं राजघराने के विरुद्ध नहीं जाऊँगा।''

तिरुवरंगदास हँस पड़ा। बोला, ''पागल की तरह मत बोलो। महाराज मेरे लिए कोई पराये नहीं। मेरे लिए वे पुत्र के समान हैं। अपनी बेटी को जब ब्याह दिया है तो मुझसे उनको कोई तकलीफ नहीं होगी, यह निश्चित है।''

''तो आपने एक बहुत भारी आन्दोलन की तैयारी कर रखी है। उसका स्वरूप क्या है, जब मुझे वह सब ज्ञात ही न हो...''

बीच में ही तिरुवरंगदास बोल पड़ा, ''तुम्हें न बताऊँ, यह कैसे होगा? ठीक समय पर बता ही दूँगा। मेरा सारा आन्दोलन उनके खिलाफ होगा जिन्होंने मुझे और तुमको दूर कर रखा है। महाराज से नहीं। वे तो बहुत ही अच्छे हैं।''

''तो अब हमें क्या करना होगा?''

''फिलहाल कुछ नहीं। चुप रहना होगा। महाराज आचार्यजी को मनाकर जब बेलापुरी ले जाएँगे, उसके बाद अन्य सारी बातें होंगी।''

''ठीक।'' शंकर दण्डनाथ ने कहा।

फिर वे अपने-अपने काम पर चले गये।

महाराज, रेविमय्या, रानी राजलदेवी—सिर्फ इन तीनों को ही यह मालूम था कि मायण-चट्टला यादवपुरी में ही रह रहे हैं। ऐसी हालत में तिरुवरंगदास और शंकर दण्डनाथ कैसे जान सकते थे कि चट्टला-मायण वहीं हैं।

सपरिवार महाराज के यदुगिरि के लिए रवाना होने के तीन-चार दिनों के बाद, धर्मदर्शी और शंकर दण्डनाथ को यदुगिरि आने का निमन्त्रण मिला। उन दोनों ने इसकी

अपेक्षा नहीं की थी। कुछ हड़बड़ी ही में वे दोनों यदुगिरि पहुँचे।

शंकर दण्डनाथ और तिरुवरंगदास के यदुगिरि पहुँचने के दूसरे ही दिन आचार्यश्री के साथ राज-परिवार वेलापुरी की ओर रवाना हो गया। नागिदेवण्णा और उनका परिवार, डाकरस दण्डनाथ और उनका परिवार, सभी इस यात्रा में सम्मिलित थे। एम्बार अकेले यदुगिरि में ठहरा रहा; क्योंकि उसे आचार्यजी ने आदेश दिया था कि दिल्ली से लाये गये चेलुवनारायण की पूजा वही करेगा। अच्चान तो उनका अंगरक्षक ही था। वह भी साथ रहा। पर अब उसके सिर के बाल कुछ-कुछ पक आये थे। गाल पर और दाढ़ी में भी यत्र-तत्र सफेद बाल दिखने लगे थे। उसका पहलवान जैसा बलिष्ठ शरीर कुछ ढीला-ढाला-सा दिखने लगा था। फिर भी उसमें उत्साह की कमी नहीं थी। राजपरिवार के वेलापुरी आने की खबर पहले ही दी जा चुकी थी। आचार्यश्री का प्रथम स्वागत दोरसमुद्र में हो, इस इरादे से पट्टमहादेवी वहीं गयी थीं। वेलापुरी में स्वागत की व्यवस्था का सारा दायित्व बम्मलदेवी को सौंपा गया था। वास्तव में विजयोत्सव वेलापुरी में ही होनेवाला था। इसलिए गंगराज, पुनीसमय्या आदि सचिवमण्डली, दण्डनायक समूह, सब वेलापुरी में ही रहे। दोरसमुद्र में पट्टमहादेवी की मदद के लिए गंगराज के पुत्र बोप्प दण्डनाथ थे।

समय कम था, अतः उतने समय में ही दोरसमुद्र में काफी भव्य व्यवस्था की गयी। नगरद्वार पर पट्टमहादेवी ने आचार्यजी का स्वागत किया। राजमहल और गुरु-मठ के अनुरूप सम्पूर्ण गौरव के साथ यह स्वागत-समारम्भ विशेष आकर्षक रहा। राजवैभव की विशालता और आचार्य-पीठ का गाम्भीर्य—इन दोनों का समन्वय देख दोरसमुद्र की जनता बहुत आनन्दित हुई। अच्चान को दोरसमुद्र के वैभव ने चकित कर दिया था। आचार्यश्री पोय्सल राज्य में नये-नये जब आये थे तब यादवपुरी में जिस तरह का जुलूस निकला था, उसकी याद हो आयी। उस दिन भी वह साथ था। आज भी साथ है। वह यह सोचकर खुशी से फूल उठा—काश, आज आचार्यजी के गुरु होते और वह यह सब देखते तो कितने खुश हुए होते!

राजमहल में पहुँचकर कुछ देर आराम कर लेने के बाद, केतमल्लजी को महाराज के सन्दर्शन के लिए ले जाया गया। केतमल्ल ने आकर प्रणाम किया और कुशल-क्षेम पूछने के बाद कहा, "मेरी एक छोटी-सी विनती है।"

"क्या है?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"पट्टमहादेवीजी से निवेदन किया था..." इतना कहकर केतमल्ल चुप हो गये।

"उन्होंने हमसे कुछ नहीं कहा!"

''समझा था, शायद निवेदन कर दिया हो।''

''इससे क्या? आप ही कहिए। किसी माध्यम की आवश्यकता ही क्या है?'' बिट्टिदेव कह ही रहे थे कि इतने में घण्टी बजी।

द्वार खोलकर रेविमय्या अन्दर आया, बोला, ''रानी लक्ष्मीदेवीजी दर्शनाकांक्षी होकर आयी हैं।''

''इन सबसे बातचीत करने के बाद हम स्वयं उनके विश्रामागार में पहुँचेंगे।'' बिट्टिदेव बोले।

रेविमय्या झुककर पीछे की ओर सरक गया और द्वार खोलकर एक तरफ खड़ा हो गया। पट्टमहादेवी ने अन्दर प्रवेश किया। उन्हीं के पीछे लक्ष्मीदेवी भी आयीं। बिट्टिदेव ने प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी ओर देखा, और पूछा, ''पट्टमहादेवीजी को कोई जरूरी कार्य था?''

इतने में केतमल्ल ने कहा, ''आज्ञा हो तो मैं फिर दर्शन करने आ जाऊँगा।''

रेविमय्या द्वार पर खड़ा रहा। उसको देखकर लगता था कि उसका ध्यान इस तरफ नहीं है, पर उसके कान चौकन्ने थे।

शान्तलदेवी ने कहा, ''मैंने रेविमय्या से कहा था कि यदि केतमल्लजी आएँ तो उन्हें सन्निधान से मिलाने की व्यवस्था कर देंगे। इनके आने से पहले इनके विषय में सन्निधान से निवेदन करना चाहती थी। परन्तु किसी और कार्य के कारण विलम्ब हो गया।''

''हमें किसी दूसरे के माध्यम की आवश्यकता नहीं, यह हमने केतमल्लजी से अभी कहा ही है।'' बिट्टिदेव बोले।

''तो अब...'' शान्तलदेवी ने बात को बीच में ही रोक लिया।

''आ तो गयी हैं, बैठिए।'' बिट्टिदेव बोले।

एक क्षण सोचकर शान्तलदेवी बैठ गयीं। लक्ष्मीदेवी भी बैठ गयीं। रेविमय्या किवाड़ लगाकर बाहर चला गया। केतमल्ल के लिए दूसरा कोई चारा न था। उन्होंने महाराज की ओर देखा। बिट्टिदेव के संकेत पर वे भी बैठ गये। कुछ बोले नहीं।

''कुछ कहना चाहते थे न? कहिए!'' बिट्टिदेव ने कहा।

केतमल्ल पट्टमहादेवी की ओर देखने लगे।

''कहिए। महाराज की आज्ञा का पालन करना हम सबका कर्तव्य है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''वही, यहाँ युगल मन्दिर-निर्माण की बात पहले ही निवेदन कर सन्निधान की स्वीकृति ली थी न, उसके लिए शंकुस्थापना के बारे में...'' कहते-कहते रुक गये।

''क्या सोचा है?''

''सन्निधान के हाथ से यह कार्य सम्पन्न हो।'' कुछ प्रार्थना के स्वर में कहा केतमल्ल ने।

''किस मन्दिर का निर्माण हो रहा है?'' लक्ष्मीदेवी बीच में बोलीं।

''केतमल्लजी जिसकी आराधना करते हैं, उस भगवान् का।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''हाँ, शिवालय।'' केतमल्ल बोले।

''शिव-मन्दिर की शंकुस्थापना और उसे श्रीवैष्णव करें, यह कैसे सम्भव है?'' लक्ष्मीदेवी ने तुरन्त पूछा।

''पोय्सल राज्य में यह सम्भव है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''सन्निधान ऐसा करें, ठीक है। लेकिन जब सन्निधान आचार्यजी के साथ हों, तब करें तो आचार्यजी को इससे कितनी व्यथा होगी, यह विचारणीय नहीं है?'' लक्ष्मीदेवी बोलीं।

''हाँ, विचारणीय तो है। क्यों न हम आचार्यजी से ही पूछ लें? केतमल्ल जी, वेलापुरी प्रस्थान करने से पहले हम अपना निर्णय सूचित कर देंगे। ठीक है न?'' बिट्टिदेव ने कहा।

''जो आज्ञा।'' केतमल्ल ने कहा।

''सन्निधान इस विषय पर जिज्ञासा के लिए मौका न देकर, स्वीकार कर लें तो अच्छा है, ऐसा मुझे लगता है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''अन्तिम निर्णय तो हमारा है ही। फिर भी जब वे यहाँ मौजूद हैं, तो एक बार पूछ लें। इसमें बुरा क्या है?'' बिट्टिदेव ने कहा।

शान्तलदेवी बात को आगे बढ़ाना नहीं चाहती थीं। ''सन्निधान की मर्जी,'' कहती हुई उन्होंने घण्टी बजायी। रेविमय्या द्वार खोलकर अन्दर आया। केतमल्ल प्रणाम कर चले गये। बाकी लोग बैठे रहे, इसलिए रेविमय्या किवाड़ बन्द कर फिर बाहर आ गया।

''क्यों? पट्टमहादेवीजी को कुछ असन्तोष-सा...?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''मुझे असन्तोष क्यों? फिर भी इस बात पर सन्निधान कुछ गहराई से सोचें तो अच्छा हो, यह मेरी भावना है।''

''इसमें सोचने के लिए क्या है?''

''सन्निधान यदि आचार्यजी से पूछें और वे मना कर दें, तब आगे क्या होगा?''

''वे कभी ऐसा नहीं कहेंगे।''

''मान लीजिए, कहा, तब?''

''हमारे निर्णय में वे बाधा नहीं डाल सकेंगे।''

''नहीं डाल सकेंगे, सच है। परन्तु उनसे पूछने के बाद उनकी राय के विरुद्ध

कोई काम करें तो इससे उनका अगौरव न होगा?''

''तो...''

''पूछने पर वे जो कहेंगे वही करना पड़ेगा।''

''इसलिए न पूछें, यही ठीक है, यही आपकी राय है?''

''निर्णय सन्निधान का है। इसलिए किसी और से पूछने जाना उचित नहीं होगा। इसीलिए केतमल्लजी ने हमसे जो निवेदन किया, उस सम्बन्ध में हमने सन्निधान के समक्ष कुछ नहीं कहा।''

''ताकि कोई आक्षेप हो तो वह सन्निधान पर ही रहे, इसीलिए?''

''यह सन्निधान ही सोचें।''

''छोटी रानी क्यों सुदर्शन चाहती थीं?'' बिट्टिदेव ने उसकी ओर दृष्टि फेरी।

लक्ष्मीदेवी सब दृष्टियों से सुन्दर है। उसकी नाक के रन्ध्र मात्र प्रश्नसूचक चिह्न-से थे। यही नाक दूसरों की दृष्टि आकर्षित करती थी। अब वह प्रश्नसूचक होने के साथ कुछ व्यंग्यपूर्ण लग रही है। क्षणभर उसने शान्तलदेवी की ओर देखा।

''कोई हर्ज नहीं। विषय कितना ही रहस्यपूर्ण हो, पट्टमहादेवीजी के सामने निःशंक हो कह सकती हैं।'' बिट्टिदेव ने बढ़ावा दिया।

''हमारे यहाँ आने के बाद मालूम हुआ कि यहाँ वेलापुरी के मन्दिर से भी भव्य और विशाल शिवालय निर्माण कराने की तैयारी हो रही है।''

''किसने कहा?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''सुना कि मेरे पिताजी से कहा गया है।''

''क्या कहा है?''

''वेलापुरी के केशव मन्दिर से भी अधिक सुन्दर शिवालय यहाँ बन रहा है। सन्निधान ने उसकी स्वीकृति दे दी है, यह बात भी मालूम हुई है। बेचारे डरते हुए मेरे पास भागे-भागे आये और यह खबर मुझे सुनायी।''

''उन्हें डर क्यों लगा?''

''वैष्णव राजा का धन शिवालय के निर्माण पर व्यय हो तो लोगों की भावना क्या हो सकती है?''

''यहाँ महाराज का धन नहीं, बनवाने वाले केतमल्लजी का धन लगेगा।''

''सन्निधान ने स्वीकृति दी, इसके अलावा यदि शंकुस्थापना भी सन्निधान करेंगे तो आगे क्या होगा?''

''यह पोय्सल राज्य आचार्य का जन्मदेश चोलदेश नहीं है। जिस विषय को तुम नहीं समझती हो उसे लेकर अपने दिमाग को खराब करने की कोई जरूरत नहीं।'' कहते हुए बिट्टिदेव ने घण्टी बजायी। रेविमय्या किवाड़ खोलकर अन्दर आया।

''रेविमय्या, वेलापुरी के विजयोत्सव के बाद यहाँ के शिवालय की शंकुस्थापना

हम करेंगे। मुहूर्त निश्चित करके हमें समाचार भेज देने के लिए केतमल्लजी से कहो।" यह कह वह उठ गये।

रानियाँ भी उठ गयीं।

"हमें कुछ जरूरी काम है। अन्यथा न समझें।" पट्टमहादेवी से कहकर बिट्टिदेव वहाँ से चले गये।

पट्टमहादेवी को भी उनका व्यवहार कुछ अजीब-सा ही लगा। लक्ष्मीदेवी को ऐसा लगा कि किसी ने जोर से थप्पड़ मार दिया हो। चेहरा फक पड़ गया। शान्तलदेवी ने देखा और कहा, "इन सब बातों को लेकर हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। वे केवल वैष्णवों के ही राजा नहीं हैं। सभी धर्मावलम्बियों के राजा हैं। सबको उनकी आवश्यकता है और उन्हें सब चाहते हैं। अभी व्यवस्था करने के लिए बहुत-से काम हैं। चलो, चलेंगे।" कहकर लक्ष्मीदेवी को साथ लेकर अन्तःपुर में चली गयीं।

बिट्टिदेव वहाँ से अन्यत्र कहीं न जाकर सीधे वहाँ पहुँचे जहाँ श्री आचार्यजी के ठहरने की व्यवस्था की गयी थी। तिरुवरंगदास और शंकर दण्डनाथ भी वहाँ थे। उन लोगों ने महाराज के आने की कल्पना नहीं की थी। महाराज को देखते ही उनकी भाव-भंगिमा बदल गयी। कुछ घबराकर, कुछ संकोच से, दोनों उठ खड़े हुए। बिट्टिदेव ने भी उस वक्त इन लोगों के वहाँ होने की आशा नहीं की थी।

आचार्यजी ने अपने पास के एक आसन को सरकाकर कहा, "महाराज बैठने की कृपा करें। ऐन वक्त पर पधारे, अच्छा हुआ। तुम लोग भी बैठो।" शंकर दण्डनाथ और तिरुवरंगदास से भी कहा।

महाराज बिट्टिदेव आसन पर बैठ गये। वे दोनों खड़े ही रहे।

"क्यों, बैठो।" आचार्यजी ने कहा।

"शायद सन्निधान आचार्यजी से एकान्त में बातचीत करना चाहते होंगे। आज्ञा हो तो फिर दर्शन करेंगे।" तिरुवरंगदास ने कहा।

"ठीक है।" बिट्टिदेव ने जाने को कह दिया।

वे दोनों प्रणाम करके चले गये।

"कोई जरूरी काम था?" आचार्यजी ने बिट्टिदेव से पूछा।

"दोरसमुद्र के एक धनी व्यक्ति ने यहाँ एक युगल शिवालय के निर्माण कराने की अनुमति माँगी थी। स्वीकृति दे दी गयी। उस मन्दिर के निर्माण की रीति-नीति से सम्बन्धित सभी रेखाचित्रों को पट्टमहादेवी ने देखकर, स्वीकृति दे दी है।"

"इसके स्थपति भी जकणाचार्य ही हैं न?"

"नहीं।"

"क्यों, वे फिर खिसक गये?"

"नहीं, वेलापुरी में हैं। आचार्यजी के सन्दर्शन के लिए पत्नी-पुत्र के साथ

प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

''तो मन्दिर के स्थपति वह क्यों नहीं बने?''

''उस धनी व्यक्ति ने जिन्हें चुना है वे ही स्थपति रहें, यही निश्चय हुआ था।''

''खुशी की बात है। कार्य कहाँ तक हुआ है?''

''शंकुस्थापना करनी है। भू-शुद्धि आदि प्रारम्भिक सभी कार्य हो चुके हैं।''

''शंकु की स्थापना कब होगी?''

''आचार्यजी जब कहें, तब।''

''उसके लिए हमारी सम्मति की क्या आवश्यकता? महाराज की स्वीकृति ही पर्याप्त होगी।'' तुरन्त जवाब न देकर कुछ सोचने के बाद आचार्यजी ने कहा।

''आपके हाथ से यह सम्पन्न होना है।''

''यह किसकी सलाह है?''

''आचार्यजी के शिष्य धर्मदर्शी की सलाह है।''

''न-न, उनकी ऐसी सलाह नहीं हो सकती। वे श्रीमन्नारायण के परमभक्त हैं।''

''तो श्रीमन्नारायण के भक्त दूसरे देवों के प्रति गौरव भाव नहीं रखते?''

''नारायण पर भक्ति रखने का मतलब यह नहीं कि दूसरे देवों को अगौरव से देखें। ऐसा कौन कहेगा?''

''स्पष्ट शब्दों में न बताने पर भी, ध्वनि तो यही है। अभी कुछ देर पहले क्या हुआ, सो बताएँगे। आप ही निर्णय कर सकते हैं।'' बिट्टिदेव ने शंकुस्थापना के प्रसंग से लेकर, रानियों के प्रवेश के बाद की बातचीत और उस समय रानी लक्ष्मीदेवी की बात करने की रीति आदि सभी बातों को विस्तारपूर्वक बताया।

आचार्यजी ने मौन होकर सब सुना, फिर कहा, ''आप महाराज हैं। अज्ञानियों की बातों को महत्त्व नहीं देना चाहिए। उनकी परवाह किये बिना आगे बढ़ना ही उचित है।''

''उनके अज्ञान को दूर करना हो तो आचार्यजी को इस शंकुस्थापना के लिए अपनी स्वीकृति देनी होगी।''

''हमारे लिए यह अनपेक्षित और अकल्पित विषय है। सोच-विचार करने के लिए महाराज कुछ समय दें।'' आचार्य बोले।

''हमने केतमल्लजी से कह दिया है कि शंकुस्थापना विजयोत्सव के बाद होगी।''

''ठीक है। सोचने के लिए समय है। परन्तु इन सब बातों के बारे में जब सोचते हैं, और जब हमें यह सलाह दी गयी कि पोय्सल राज्य में लौटने की आवश्यकता नहीं, और फिर यहाँ आने पर जो बातें हमें सुनने को मिलीं, इन सब पर विचार करने से

लगता है कि यहाँ का वातावरण कलुषित हुआ है।''

''आचार्यजी की बात सही है। लेकिन उसका कारण वे हैं जिन्होंने श्रीवैष्णव पन्थ को नया-नया स्वीकार किया है।''

''तो महाराज भी इनमें सम्मिलित हैं क्या?''

''महाराज की बात आचार्यजी जानते हैं। पोय्सल राज्य में सभी मतावलम्बियों को समान गौरव देने की प्रथा चली आयी है। एक बार आप बल्लिगाँवे के जयन्ती बौद्ध विहार को देख आएँ, और उस विहार का निर्माण करानेवाली बाप्पुरे नागियक्का की भक्ति के विषय में जानें, तो इस राज्य में बौद्धों के प्रति समान आदरभाव है, यह स्पष्ट हो जाएगा। जिस तरह जैनों के लिए श्रवणबेलुगोल पवित्र तीर्थ है, उसी तरह बौद्धों के लिए बल्लिगाँवे है। बौद्ध इस क्षेत्र को दक्षिण का 'मृगदाव' बताते हैं।''

''उसी तरह इस दोरसमुद्र को शिवक्षेत्र बनाने की अभिलाषा है?''

''राजमहल की कोई अभिलाषा नहीं। भक्तों की अभिलाषा को मान्यता देनी है।''

''इसके लिए हम स्वयं ही साक्षी हैं न? याचक बनकर आये और हमें राजमहल की उदारता से एक अच्छा स्थान प्राप्त हुआ।''

''परन्तु अब जैन-श्रीवैष्णव को लेकर ऊँच-नीच की भावना बढ़ रही है, ऐसा दिखता है। आचार्यजी को इस सम्बन्ध में अपने शिष्यवृन्द का मार्गदर्शन करना चाहिए।''

''हमने सुना है जैन ही इस विषय में अग्रसर हो रहे हैं।''

''इस बारे में हमारे गुप्तचरों ने सभी जानकारी विस्तार के साथ प्राप्त की है। आपके समक्ष उन सभी विचारों को प्रकट करने का निश्चय भी हमने किया है।''

''हमें तो चेन्नकेशव के दर्शन एवं विजयोत्सव में भाग लेने के लिए बुलवाया था न?''

''हाँ, परन्तु यह प्रसंग अनिवार्य है। अभी इन गलत रास्ते पर जानेवालों को चेतावनी नहीं देंगे तो वह पकड़ में ही नहीं आएँगे। हम विश्वास करते हैं कि आचार्यजी राजमहल को अपना सहयोग देंगे।''

''लोग सन्मार्गी बनें, भगवान् पर विश्वास रखें। सन्मार्ग पर चलनेवालों का समाज ही सुखी समाज है। सुखी समाज के निर्माण के लिए हम सदा तैयार हैं।'' आचार्यजी ने कहा।

बिट्टिदेव प्रणाम कर वहाँ से चल पड़े। दूसरे ही दिन सम्पूर्ण राजपरिवार वेलापुरी की ओर दोपहर के बाद रवाना हुआ।

यगची नदी के तीर पर से ही स्वागत-मण्डप बनवाये गये थे। राजपरिवार के साथ ही आचार्यजी के पधारने के मुहूर्त की सूचना वेलापुरी भेज दी गयी थी, इसलिए लोग राजपथ के दोनों ओर भीड़ जमाये खड़े थे। वेलापुरी सज-धज के साथ जगमग

हो रही थी। 'पोय्सल भूप घर-घर का दीप' यह बात वेलापुरी के विषय में चरितार्थ हो रही थी। मुहूर्त गोधूलि के समय का था, इसलिए राजपरिवार को उसकी प्रतीक्षा करनी थी। अत: वे एक मण्डप में कुछ देर के लिए ठहर गये। ठीक मुहूर्त के समय दीपमालिका के प्रकाश से वेलापुरी जगमगा उठी। वाद्यघोष हुआ। प्रधान गंगराज ने हस्त-लाघव देकर महाराज को झुककर प्रणाम किया और स्वागत किया। रानी बम्मलदेवी, पट्टमहादेवी तथा दोनों अन्य रानियों के साथ सम्मिलित हुईं। राजपरिवार को सुहागिन स्त्रियों में सबसे बड़ी उम्र की होने के कारण हेग्गड़ानी माचिकब्बे और प्रधान गंगराज की पत्नी लक्कलदेवी ने आरती उतारी, नजर उतारी और नगर-प्रवेश के लिए रास्ता सुगम कर दिया।

राजपरिवार के साथ समस्त गौरव से आचार्यजी का स्वागत भी सम्पन्न हुआ।

आचार्यजी ने पट्टमहादेवीजी से पूछा, "हमारे चेन्नकेशव के स्थपति कहाँ हैं?" उन्होंने सोचा था कि नगर के बाहर ही उनसे भेंट हो जाएगी।

शान्तलदेवी ने कहा, "वे पत्नी-पुत्र के साथ मन्दिर के पास ही प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

स्वागत का कार्यक्रम बहुत ही भव्य था। वेलापुरी दीपमालिका से जगमगा रही थी। उसे देखकर अच्चान को लगा कि वे किसी नक्षत्रलोक में पहुँच गये हैं। जलने-जलाने वाली अग्नि यदि प्रकाश में परिवर्तित हो जाए तो क्या बन जाती है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान अच्चान को हो गया।

मन्दिर के द्वार पर वह यात्री दिखाई पड़ा तो भी आचार्यजी उसे पहचान न सके। जब पति-पत्नी और पुत्र तीनों ने एक साथ प्रणाम किया तब कहीं वह उन्हें पहचान पाये। फिर हँसकर बोले, "पट्टमहादेवीजी ने आपमें बहुत परिवर्तन ला दिया है। पहचानना भी मुश्किल है।"

"सब भगवान् की कृपा है। आचार्यजी का आशीर्वाद है। पट्टमहादेवीजी की उदारता है। यह मेरी धर्मपत्नी लक्ष्मी है, यह हम दोनों के पुराकृत पुण्य का सुफल है मेरा पुत्र डंकण।" जकणाचार्य ने परिचय दिया। यह सुनकर सबको सन्तोष हुआ।

इतने में तिरुवरंगदास पूर्णकुम्भ आदि के साथ, "रास्ता, रास्ता" चिल्लाता हुआ आया। राज-परिवार के साथ ही तो आया था। सब चकित थे कि वह अन्दर कब आ गया। उस समय यह सब पूछ भी नहीं सकते थे। मन्दिर के प्राकार पर दीपमालिका जगमगा रही थी। आचार्यजी और राज-परिवार पूर्ण श्रद्धा के साथ मन्दिर की परिक्रमा कर आये। फिर मन्दिर में प्रवेश किया।

चेन्नकेशव भगवान् सर्वालंकार से भूषित थे। यथाविधि पूजा-सम्पन्न हुई। आचार्यजी की इच्छा के अनुसार, उनके ठहरने की व्यवस्था मन्दिर के अहाते में ही की गयी थी। उन्हें वहाँ ठहराकर राजपरिवार राजमहल में चला गया। जकणाचार्य फिर

दर्शन लेने की अनुमति पाकर सपरिवार अपने घर की ओर चले गये।

विजयोत्सव के लिए दो दिन शेष थे। वेलापुरी निमन्त्रितों से खचाखच भर गयी थी। बहुत बड़ा न होने पर भी, काफी विस्तृत मंच बनाया गया था। विजयोत्सव के योग्य मण्डप का भी निर्माण किया गया था। पिछले अनुभवों के आधार पर अधिक व्यवस्थित रूप से सुरक्षा-व्यवस्था भी हुई थी। सभी लोग व्यस्त दीख रहे थे।

आचार्यजी के लिए कोई विशेष कार्य नहीं था, सिवा अपने स्नान, जप-तप आदि के। इसलिए उन्होंने स्थपति को खबर दी। स्थपति आये।

स्थपति के आने के बाद उनके साथ मन्दिर देखने के उद्देश्य से आचार्यजी निकले। जकणाचार्यजी हर बात को विस्तार के साथ बताते गये। अपने इस वास्तुशिल्प के बारे में वे शिल्प-शास्त्र के आधार-ग्रन्थों के सूत्रों को उद्धृत करते जाते थे। आचार्यजी एकदम चकित रह गये। जब आनेवाले शिल्पी को सूचना मिली थी तभी उन्होंने समझ लिया था कि इस शिल्पी में एक विशेष प्रतिभा है। परन्तु इस तरह की नवीनता, बारीकी और पारम्परिक शैली का इतना सुन्दर समन्वय उसकी शिल्पकला में होगा, इसकी कल्पना भी आचार्यजी को नहीं थी। इस सबको देखकर वह आनन्द-विभोर हो गये। सारे मन्दिर का शिल्प स्थूल दृष्टि से देखकर, भगवान् के दर्शन कर, अपने मुकाम पर लौट गये। फिर आचार्यजी ने कहा, "स्थपतिजी, आप पर श्रीमन्नारायण की कृपा है। आपकी यह सौन्दर्य सृष्टि आचन्द्रार्क आपके नाम के साथ स्थायी रहेगी। पोय्सलराज ने हमारे शिष्य बनकर, अपने देश से चोलों को भगाकर विजय प्राप्त की। यह सब इस नारायण की कृपा से। इसलिए इसका नाम विजयनारायण है। जिस तरह विजयनारायण नाम अन्वर्थ है, वैसे ही वह आपके इस वास्तुशिल्प की विजय का प्रतीक है। भगवान् की कृपा से हमारा संकल्प सिद्ध हुआ, इसका हमें सन्तोष है। उस दिन यादवपुरी से कहे बिना जब आप खिसक गये, तब हमें बड़ी निराशा हुई थी। आपको अपने परिवार के साथ सुखी देखने का सौभाग्य भगवान् ने हमें दिया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सत्य की सदा विजय होती है और निराधार शंका का कोई मूल्य नहीं।"

"परन्तु भगवान् कब किस रूप में सत्य का दर्शन कराता है, कहा नहीं जा सकता। मैंने सोचा भी नहीं था कि मेरा जीवन इतना सुखमय हो सकता है। इस सबके लिए पट्टमहादेवीजी ही कारण हैं।" कहकर जिस दिन वेलापुरी में उसने प्रवेश किया उस दिन से अपने परिवार के साथ मिलने तक की सारी बातें विस्तार के साथ बतायीं।

"वह एक विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। अनेक जन्म-जन्मान्तरों के सुकृतों का पुंजीभूत सत्त्व हैं पट्टमहादेवी। समूचे संसार के लिए पूजनीय हैं वे। व्यवस्थित रूप से ज्ञानार्जन करने पर मानव कितना उच्च बन सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं पट्टमहादेवी। हम स्वयं उनसे पराजित हुए हैं। परन्तु उस पराजय में भी हमें एक प्रकार

का आनन्द मिला है, एक नयी रोशनी हमें प्राप्त हुई है।''

''ऐसी बात है?'' जकणाचार्य आश्चर्यचकित होकर बोले।

''आश्चर्यचकित होने की आवश्यकता नहीं। यदि विश्वास एक मजबूत बुनियाद पर स्थिर हो जाए तो किसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। इसे प्रत्यक्ष करके उन्होंने दिखा दिया है।'' यह कहकर मतान्तर से सम्बन्धित सभी पिछली बातें विस्तार के साथ आचार्यजी ने स्थपति को बतायीं।

''उनका विश्वास अटल है। परन्तु हम जैसे लोग अपनी सन्दिग्धताओं के कारण उन्हें कष्ट देते हैं। पोय्सल राज्य में मतान्तर की बात कहीं सुनने तक को नहीं मिलती थी। जैसे थे, वैसे ही ठीक था। महासन्निधान के आचार्यजी का शिष्यत्व स्वीकार करने के बाद, मतान्तर के सम्बन्ध में कुछ निम्नकोटि का व्यवहार सिर उठाने लगा है। इससे पट्टमहादेवीजी बहुत व्यथित हुई हैं।'' जकणाचार्य ने कहा।

''तो मतलब हुआ कि एक तरह से हम उनके इस दर्द का कारण बने हैं!''

''न-न, आपके विषय में वे पहले जैसी भावना रखती हैं। वह आपके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव पर जितनी भक्ति-भावना रखती हैं, उतनी ही आप पर भी।''

''यह आप कैसे जानते हैं?''

''इस मन्दिर के निर्माण में जो श्रद्धा और लगन उन्होंने दिखायी, इसके निर्माण से उन्हें जो सन्तोष प्राप्त करने की आकांक्षा थी, उसके लिए जिन कल्पनाओं को साकार बनाना था उन सभी बातों को मैं जानता हूँ। यदि भावना सच्ची न होती, केवल दिखावा मात्र होता, तो मात्र कर्तव्य-पालन के लिए कोई इतनी एकाग्रता से उसका निर्वहण नहीं कर सकता था।''

''उन्होंने तो प्रत्यक्ष, या परोक्ष रूप से भी, अपनी उन भावनाओं को मेरे सामने प्रकट नहीं किया।''

''वही तो बुद्धिमानी है। कलाकार अपनी कला के सृजन में संसार को सृजन करनेवाले भगवान् जैसा है। वह किसी को दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु उसके अस्तित्व की झलक सर्वत्र होती है। पट्टमहादेवीजी सभी कालाओं की मूर्तिमान अवतार हैं। उन्हें कहीं प्रकट होने की आवश्यकता नहीं। मेरा अपने परिवार के साथ समागम होना ही परमाश्चर्य का विषय है। मेरे मन में जो शंका घर किये हुई थी, उसे उन्होंने किस तरह दूर कर दिया। मुझ पर कौन-सा प्रयोग उन्होंने किया, यह कुछ भी मुझे मालूम नहीं हुआ। अपने परिवार के स्मरण मात्र से ही जुगुप्सा की भावना मेरे मन में आ जाया करती थी। किन्तु जब मैंने अपनी पत्नी को देखा तब बिना किसी कड़वाहट के मैंने स्वीकार कर लिया। यह एक आश्चर्य ही तो था।''

''फिर ऐसे व्यक्ति को दुख हो तो उसका निवारण करना चाहिए न?''

''निवारण करना चाहिए। परन्तु...''

"रुक क्यों गये? संकोच क्यों? कहिए।"

"दोरसमुद्र के शिवालय के निर्माण के विषय में अण्ट-सण्ट बातें कही जा रही हैं।"

"उसके बारे में हमें भी मालूम है। इसके पीछे और अधिक व्यापक राजनीतिक स्वार्थ दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में विजयोत्सव के बाद महाराज और पट्टमहादेवी के साथ चर्चा करने का निश्चय हमने किया है।"

"ऐसा करें तो बड़ा उपकार होगा।"

"यह उपकार नहीं स्थपतिजी, बहुत ही मुख्य विषय है। हमें कलंकित होकर जाने की इच्छा नहीं। सच है, हम भगवान् की प्रेरणा के अनुसार चलने वाले हैं। फिर भी हम अपने परिवेश के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। पुराने से चिपके लोग नये का जल्दी स्वागत नहीं करेंगे। नवीन की ओर इशारा करने वाले हम लोगों को आक्षेप, अनादर आदि के लिए सदा तैयार रहना होगा। जन्मभूमि से निर्वासित होकर हम आये, प्रेमपूर्वक आश्रय और प्रोत्साहन हमें इस पोय्सल राज्य में मिला। यहाँ जैन धर्म सर्वोपरि होकर स्थित है। देश के सभी कृति-निर्माता जैन ही हैं। हम विश्वास करते आये हैं कि अनादि काल से त्रिमूर्तियों (ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर) के हृदय-स्वरूप हैं श्रीमन्नारायण। उन भगवान् श्रीमन्नारायण के प्रेम को पाने का एक नूतन मार्ग, हम अपने पूर्वज ऋषियों की कल्पना की पृष्ठभूमि के आधार पर रूपित कर, स्थापित करना चाहते हैं, जो हमारा मूल-धर्म है। ऐसी हालत में दूसरे मार्गों की निन्दा से हमें क्या मतलब है? पर दूसरे मार्गावलम्बियों से हम भी दूषित न हों। हम समाज-सुधारक नहीं, लोगों की वृत्ति के आधार पर समाज का वर्गीकरण करने चले हैं। पंचमों (हरिजनों) को हम दूर रखते आये, पर वे भी समाज का एक अंग हैं। हमारे समाज में उनका भी स्थान है। उन्हें भी भगवान् का सान्निध्य चाहिए। उन्हें भी कम-से-कम साल में एक बार विजयनारायण का यह सान्निध्य मिले। आगे चलकर यह सुविधा और अधिक विस्तृत होती जाए, इसके लिए हमने मार्ग प्रशस्त कर दिया। यही हमारा लक्ष्य है। यह सलाह हमने दी, इस पर हमें कोई अहंकार नहीं, वह तो हमारी अन्तःप्रेरणा की सूझ है। पादत्राण बनानेवाले चर्मकारों को भगवान् ने कभी अपवित्र नहीं माना है। इस बात को बिना समझे झूठ-मूठ के मानव-मूल्यों को आगे रखकर अब तक हमने अपने धर्म को कमजोर बनाया है।"

शायद आचार्यजी बात को और भी आगे बढ़ाना चाहते थे। इतने में अच्चान ने आकर निवेदन किया कि पट्टमहादेवीजी दर्शन करने पधारी हैं।

"आने दो, उन्हें भी अनुमति लेनी है?" आचार्यजी ने कहा। स्थपति जकणाचार्य उठ खड़े हुए। अच्चान वहाँ से चला गया।

"राजमहल के रीति-रिवाजों का यथावत् पालन करके दूसरों को मार्ग-दर्शन देती हैं पट्टमहादेवीजी।" जकणाचार्य ने कहा।

उनकी बात समाप्त हो रही थी कि पट्टमहादेवीजी ने आकर प्रणाम किया और आचार्यजी के द्वारा निर्देशित आसन पर बैठ गयीं।

जकणाचार्य ने पूछा, ''यदि मुझे आज्ञा हो तो...''

''अच्छा, स्थपतिजी।'' आचार्यजी ने कहा। जकणाचार्य पट्टमहादेवी और आचार्य दोनों को प्रणाम कर चले गये।

''स्थपतिजी के साथ सम्पूर्ण मन्दिर को हम देख आये। यह बहुत कलापूर्ण है। स्थपतिजी कह रहे थे कि इस सारी सिद्धि का आप ही कारण हैं।''

''वह तो ऐसे ही व्यक्ति हैं। किसी जन्म से वे राज भी रहा होंगे जिस जन्म में यह सब किया है। इसकी सम्पूर्ण कल्पना उन्हीं की है। इधर-उधर एकाध छोटी-मोटी सलाह हमने दी होगी। अब यह सब क्यों? वह कार्य तो समाप्त हो गया न?''

''समाप्त कार्य नहीं, शुरू किया हुआ कार्य है। पोय्सल वास्तुशिल्प इससे अवतरित हुआ है। इसे अब आगे बढ़ाना होगा।''

''बढ़ाना तो होगा। परन्तु लोग इसे बढ़ाने दें तब न?''

''हमने पट्टमहादेवीजी से इस तरह की निराशावाद की अपेक्षा नहीं की थी।''

''देश को सशक्त बुनियाद पर जब स्थिर होना है, तब देश की एकता को तोड़ने के कुतन्त्र होने लगे हैं। इस बात की जानकारी हो जाने के बाद मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ है। मन दुःखी है। पाप कोई करे और दोष किसी और पर लादे, यह विचित्र बात है। उस सबको रहने दीजिए। इस सम्बन्ध में सोच-विचार करने के लिए एक विशेष आयोजन करने के बारे में सन्निधान विचार कर रहे हैं। अभी मैं एक व्यक्तिगत कार्य से आयी हूँ। विजयोत्सव के सन्दर्भ में सन्निधान एवं उनके कुटुम्बियों के मंगलस्नान करने की परिपाटी है। उस दिन आचार्यजी को भी यह सब करना चाहिए, यह रानी लक्ष्मीदेवी की अभिलाषा है। इसके लिए आपकी स्वीकृति प्राप्त करने आयी हूँ।''

''बेचारी लक्ष्मीदेवी, एक अबोध बच्ची है। उसे वहीं समझा देना चाहिए था। हम तक आने की आवश्यकता ही नहीं थी। हम प्रतिदिन मंगलस्नान ही तो करते हैं। लौकिक जीवन से मुक्त हो जाने के बाद हमारे लिए अमंगलकर कोई बात नहीं है। ऐसी स्थिति में संन्यासियों के लिए यह मंगलस्नान कुछ अर्थ नहीं रखता। रानी लक्ष्मीदेवी के पास हम खबर भेज देंगे। राजमहल के अन्य सभी कार्यों में हम साथ रहेंगे। इसके लिए सब काम छोड़कर यहाँ तक आने की क्या आवश्यकता थी? यह काम नौकर-चाकर कर सकते थे। इसके लिए पट्टमहादेवी जी...''

बीच में ही पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने कहा, ''यह बात पट्टमहादेवी जानती हैं, किसके पास किसका जाना उचित होगा। अब अनुमति दें तो चलूँगी।'' कहकर वह उठ खड़ी हुई।

आचार्यजी ने 'शुभमस्तु' कहकर, अभयहस्त से सूचित किया। शान्तलदेवी

प्रणाम कर चली गयीं।

आचार्यजी को कोई विशेष कार्य नहीं था। फिर भी विश्रान्ति के लिए रात को ही समय मिल सका, पूर्वपरिचित, अपरिचित, स्थानीय तथा आगत अनेक लोग आते और दर्शन पाते, आशीर्वाद लेकर चले जाते। आचार्यजी सबका स्वागत मुस्कराकर करते। हँसते हुए उनकी बातें सुनते।

इससे उन्हें यही बोध हुआ कि कहीं कोई चक्रवात चलकर आ रहा है। इसका पहल करनेवाला कौन है, और उसका क्या लक्ष्य है? इसका उन्हें बोध नहीं हुआ। तिरुमलाई से न लौटने का समाचार जब मिला था, उस समय जो शंका अंकुरित हुई थी, वह अब निश्चित हो गयी। परन्तु साथ ही यह भी पक्का हो गया कि महाराज और पट्टमहादेवी पहले जिस तरह थे उसी तरह अब भी रह रहे हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं आया है। एम्बार साथ होता तो विचार-विमर्श करने में सुविधा रहती। अच्चान इन बातों में नहीं पड़ता। तिरुवरंगदास से कोई मदद नहीं मिल सकेगी, यह बात यदुगिरि में ही स्पष्ट हो चुकी थी। वेलापुरी पहुँचने के पश्चात् यह सिद्ध हो गया था कि यदुगिरि का निर्णय बिलकुल सही है। प्रतिदिन पूजा-पाठ और भगवान् के ध्यान के सिवा किसी अन्य कार्य में आचार्यजी मन नहीं लगाते थे। उनकी प्रार्थना यही थी कि इस पोय्सल राज्य और राजपरिवार को भगवान् सुखी रखें। इसके सिवा प्रार्थना का अन्य कोई उद्देश्य नहीं था।

विजयोत्सव आचार्यजी के सान्निध्य में बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। इस समारोह में सभी सचिव, दण्डनाथ, सरदार, सर्वाधिकारी, गुल्मपति, दलपति, सैनिक, हेग्गड़े गौंड (पटवारी), व्यापारी, नगरप्रमुख आदि सबने राज्य और राजपरिवार के प्रति अपनी निष्ठा का वचन दिया। सबने एक कण्ठ होकर कहा कि किसी धर्म विशेष से राजनिष्ठा का कोई सम्बन्ध नहीं, धर्म वैयक्तिक है। राष्ट्र का सर्वतोन्मुखी विकास ही प्रजा के वैयक्तिक विकास का एकमात्र साधन है : "पोय्सल सन्तान स्वतन्त्र हो, चिरायु हो, स्वतन्त्र पोय्सल राज्य की शार्दूल पताका ऊँची रहे। कन्नड़ की ज्ञान-ज्योति सदा सर्वत्र फैले।" एकत्र जन-समूह ने एक स्वर से उद्घोषित किया।

अन्त में महाराज बिट्टिदेव खड़े हुए। आचार्यजी को प्रणाम किया, फिर उपस्थित सभी को नमस्कार करने के पश्चात् प्रधान गंगराज की ओर देखा।

प्रधान गंगराज मंच पर चार कदम आगे बढ़े, और झुककर प्रणाम करने के बाद संकेत किया। बगल से अंगरक्षक रेशम के वस्त्र से ढँके एक स्वर्ण की परात को लेकर मंच पर आकर गंगराज के पास खड़े हो गये। गंगराज ने रेशमी आवरण को हटाकर नौकर के हाथ में दिया। परात में नगों से जड़ा और पूजा किया हुआ खड्ग जगमगा रहा था।

गंगराज ने उसे प्रणाम किया। फिर कहा, "आज श्री श्री आचार्यजी के नेतृत्व

में हमारे राज्य के महासन्निधान विरुद स्वीकार करेंगे। आज का दिन पोय्सल इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। हमारे प्रभु ने सिंहासनारूढ़ होकर इन दस वर्षों के अन्दर हमारे इस राज्य के चारों ओर की सारी विघ्न-बाधाओं का निवारण ही नहीं किया, उन्होंने महत्त्वपूर्ण विजय भी प्राप्त की है, हममें से बहुतों को यह मालूम है। परन्तु मैं सभी लोगों के लिए यह जानकारी संक्षेप में दे रहा हूँ। चोल राजा कन्नड़ राज्य गंगवाड़ी को अपने आधीन करके उसका पर अत्याचार कर रहे थे। चोलराज से यहाँ आये आचार्यश्री को आश्रय जो दिया, यह चोलराज के लिए असन्तोष का कारण बना है, यह सुनने में आया है। इसीलिए इस तरह के संकट चारों ओर उठ खड़े हुए। हमारे सन्निधान ने उन्हें परास्त कर उनके केन्द्र तलकाडु को कब्जे में कर लिया, इससे सम्पूर्ण गंगवाड़ी प्रदेश पोय्सल राज्य में शामिल हो गया है। इस विजय के प्रतीक के रूप में महाराज ने 'तलकाडुगोंड' विरुद धारण किया था। अब श्री आचार्यजी के आशीर्वाद के साथ प्रजा के सम्मुख अन्य विरुदावली धारण करेंगे। हम विश्वास करते हैं कि प्रजा इससे बहुत प्रसन्न होगी।" इतना कहकर वे कुछ रुक गये। सभामण्डप तालियों से गूँज उठा।

फिर बोले, "इसी तरह दो वर्ष से भी अधिक समय तक युद्ध में निरत रहकर हमारे सन्निधान चालुक्यों की समवेत शक्ति को दबोचकर, विजय पर विजय पाते ही गये हैं। कांची, नोलम्बवाड़ी, उच्चंगी, हानुंगल, इनको भी शामिल करने से अब नयी विरुदावली धारण करने जा रहे हैं। विरुदावली क्रमशः इस प्रकार है—तलकाडुगोंड, कांचीगोंड, आदियम-हृदयशूल, नरसिंहवर्म-निर्मूलक। आचार्यजी से प्रार्थना है कि इस तरह विरुद-विभूषित सन्निधान को, आशीर्वादपूर्वक यह नवरत्न जड़ित खड्ग, स्वतन्त्र पोय्सल राज्य के संरक्षण के उद्देश्य से, उन्हें भेंट करें।"

आचार्यजी आसन से उठे, मंच पर चार कदम आगे बढ़े। उस परात में से खड्ग हाथ में लिया, आँखें बन्द कीं और भगवान से प्रार्थना कर, आशीर्वाद के साथ उसे महाराज को दिया। महाराज ने झुककर प्रणाम किया और विनीत होकर उसे स्वीकार किया। आचार्यजी आशीर्वाद देकर अपनी जगह बैठ गये।

बिट्टिदेव ने एक बार खड्ग चमकाया और कहा, "खड्ग स्वीकार करने का अर्थ है उत्तरदायित्व स्वीकार करना। सम्मिलित नये प्रदेशों की प्रजा तथा अपने इस राज्य की प्रजा, इन दोनों में बिना किसी तरह के भेदभाव के, एक-सी सुरक्षा की व्यवस्था यह राज्य करेगा। यह खड्ग इसी का प्रतीक है। इसीलिए हमने कहा, खड्ग स्वीकार करना उत्तरदायित्व को स्वीकार करना है। अब रही विजय और विरुदावली की बात। यह विजय प्राणों की परवाह न कर मेरे साथ लड़ने वाले वीर सैनिकों की, जिन्होंने युद्ध-भूमि में हमें विजय दिलाकर स्वयं वीरगति प्राप्त की, और जो विजयी होकर हमारे साथ लौटे उन योद्धाओं की विजय है। इस विरुदावली को प्राप्त करने का

अधिकार उनको है। उन सबकी तरफ से, पोय्सल राज्य की स्वतन्त्रता के प्रतीक के रूप में हम इन्हें स्वीकार करते हैं, इन्हें धारण करते हैं। इस महान् अवसर पर आचार्यजी आशीर्वाद के रूप में कुछ शब्द कहने का अनुग्रह करें, तो हम कृतकृत्य होंगे।'' इतना ही कहकर वह मौन हो गये।

आचार्यजी ने कहा, ''यह भाषण करने का समय नहीं, काम करने का वक्त है। साधारण-से-साधारण व्यक्ति से लेकर बड़े-से-बड़े व्यक्तियों तक में विश्वास शिथिल होकर, धर्म क्षीण हो रहा है। इसका कारण है अज्ञान। जो लोग अपने देवी-देवता को ही सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, उनसे बढ़कर अज्ञानी कोई नहीं। इस बात को अच्छी तरह जान लीजिए। इस राज्य को हमारा पूर्ण आशीर्वाद है। वेलापुरी में विजयनारायण की स्थापना अधर्म पर धर्म के विजय का प्रतीक है। वह मतश्रेष्ठता का चिह्न है ऐसा न कोई माने, न समझे। इसी तरह तलकाडु का कीर्तिनारायण अधर्म पर धर्म की विजय कीर्ति का प्रतीक है। पोय्सल राज्य की सर्वतोन्मुखी प्रगति हो, इसका सुन्दर विकास हो। देखनेवाले यह कहें कि यह चेलुव (सुन्दर) नाडु (प्रदेश) है। भगवान् की इच्छा होगी तो यदुगिरि में सांकेतिक रूप में चेलुवनारायण मौजूद हैं। यह सहज है कि ये सब श्रीवैष्णव के प्रतीक प्रतीत हों। परन्तु उसे जन्मस्थान और ससुराल दोनों के गौरव की, शीलस्वभाव की रक्षा करनेवाली बहू जैसा होना चाहिए, यही हमारा मन्तव्य है। यहाँ इन सात-आठ वर्षों के अनुभव ने हमारे मन में एक नयी आशा को जन्म दिया है। सहजीवन, सहअस्तित्व के योग्य देश बनकर यह पोय्सल राज्य बढ़े, पोय्सल-सन्तान चिरायु हो।''

आचार्यजी के इन वचनों के साथ सभा विसर्जित हुई। जयजयकार से आसमान गूँज उठा। मंच पर से आचार्य उठे और अच्चान के साथ पास के अपने मुकाम पर चले गये। महाराज, पट्टमहादेवी, रानियाँ, मारसिंगय्या-माचिकब्बे, दण्डनाथ मंचियरस, तिरुवरंगदास, प्रधान गंगराज, राजपुत्र और राजकुमारी नियोजित रीति से अपनी-अपनी पालकियों में लौटे।

किसी तरह की रोक-रुकावट या बाधा के बिना विजयोत्सव सांगोपांग सम्पन्न हो गया। आमन्त्रितों के लिए निवास, खान-पान, वैद्यकी आदि सम्पूर्ण व्यवस्था सन्तोषजनक ढंग से की गयी थी। वह एक प्रशान्त और व्यवस्थित समारोह था। वेलापुरी की शोभा अपूर्व ही थी। इस खुली सभा के साथ विजयोत्सव सम्बन्धी सभी कार्यकलाप समाप्तप्राय थे। कुछ प्रमुख लोगों को छोड़कर, बाकी सभी जन अपने-अपने नगर-ग्रामों के लिए रवाना होने लगे। दो-तीन दिनों के अन्दर-अन्दर सभी अतिथि लौट गये।

राजमहल के मन्त्रणालय में राज्य के मुख्याधिकारियों की एक अन्तरंग सभा की व्यवस्था की गयी थी, इसी उद्देश्य से उन्हें ठहराया गया था। इस सभा में महाराज और पट्टमहादेवी, सिर्फ ये दो उपस्थित रहे। अधिकारी वर्ग के सिवा और कोई उस सभा

में नहीं था। सभी दण्डनाथ, कुमार बल्लाल, मन्त्री भी राज-काज में प्रमुख होने के कारण उपस्थित थे। इस दृष्टि से मंचियरस के लिए भी इस सभा में स्थान था। परन्तु मारसिंगय्या या तिरुवरंगदास आमन्त्रितों में नहीं थे। इस बात को लेकर महाराज और पट्टमहादेवी में चर्चा भी हुई थी। पहले भी सभी राजनीतिक सभाओं में उपस्थित रहकर बुजुर्ग हेग्गड़े मारसिंगय्याजी ने सहयोग दिया है। इसलिए महाराज का कहना था कि वह यहाँ भी रहें। परन्तु पट्टमहादेवी इससे असहमत थीं। उन्होंने कह दिया, "उन्हें बुला लें, और तिरुवरंगदास को न बुलाएँ तो वह आक्षेप का कारण बनेगा, इसलिए मैंने यह सलाह दी।"

"मंचियरस को आमन्त्रित किया है। वे रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी के पोषक पिता हैं, मैं रानी लक्ष्मीदेवी का—मुझे भी बुलाना चाहिए था; यह बात तिरुवरंगदास कह सकते हैं।"

"इसके लिए मेरी सलाह ही एकमात्र समाधान है।"

"पर हेग्गड़ेजी क्या सोचेंगे?"

"यह बात मुझ पर छोड़ दीजिए। सारी बात यह है कि तिरुवरंगदास इस सभा में न रहें।"

"शंकर दण्डनाथ तो रहेगा न? दोनों घनिष्ठ मित्र हैं।"

"वे दोनों मित्र अवश्य हैं, मगर दोनों के मनोभाव एक-से नहीं। उन दोनों को बुलवाकर विचार करने के लिए एक अलग बैठक ही बुलाने की बात है न? इसलिए अभी इस सम्बन्ध में कोई बात सोचने की नहीं है।" कहकर इस चर्चा को पूर्णविराम लगाया शान्तलदेवी ने।

इस अन्तरंग सभा में जो बातें स्पष्ट की गयीं वे इस प्रकार हैं—राज्य की एकता की रक्षा होनी चाहिए। उसकी सीमाओं की सुरक्षा पर ध्यान रखना होगा। धर्म के नाम से सम्भावित गुटबन्दियों को प्रोत्साहन नहीं देना होगा। राज्य के विस्तृत होने के कारण, चारों ओर पराजित शत्रुओं के रहने की वजह से, सीमा-प्रदेशों पर विशेष निगरानी रखनी होगी। राज्य की रसद राज्य से बाहर न जाय, इस तरह की रोक लगानी होगी। अगर बाहर रसद को भेजना भी हो तो उसके लिए राज्य से आवश्यक अधिकार-पत्र प्राप्त करना होगा। ऐसी वस्तुओं पर कर चुकाना अनिवार्य होगा—ये सब बातें स्पष्ट रूप से बतायी गयीं। धर्म के नाम से, अधिकारियों की ओर से, राज्य के किसी भी भाग में, किसी भी तरह की तकलीफ जनता को नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक जन को उसके अपने धर्म के पालन में किसी भी तरह की बाधा नहीं होनी चाहिए।—इन सभी बातों को स्पष्ट समझा दिया गया। इसके बाद सभा विसर्जित होने ही वाली थी कि कुमार बल्लाल ने कहा, "मेरा एक छोटा-सा अनुरोध और है।"

बिट्टिदेव ने पूछा, "कहो।"

"मैं अब युवा हूँ। मुझे अब राजकाज का काफी परिचय भी हो चुका है। यहाँ राजधानी में रहूँगा तो मेरे लिए कोई काम नहीं रहेगा। खाना-पीना, कसरत करना, इन्हें छोड़कर कोई अन्य काम नहीं है। इसलिए मुझे राज्य के किसी भाग में भेजकर वहाँ के कार्य को सँभालने की जिम्मेदारी दें तो मुझे भी सेवा करने का मौका मिलेगा।" कुमार बल्लाल ने कहा।

"चालुक्यों को पराजित करने के बाद बलिपुर का प्रान्त हमारे कब्जे में आ गया है। वहाँ भेज सकते हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"उसको अकेले भेजने के लिए हम तैयार नहीं।"

"बलिपुर के उस प्रदेश से हमारे पिताजी अच्छी तरह परिचित हैं। उनके साथ भेज सकते हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इस उम्र में उन पर अधिक जिम्मेदारी डालना क्या उचित होगा?" बिट्टिदेव बोले।

"अभी दो-तीन वर्ष पूर्व ही शान्ति-यज्ञ किया गया था । कोई हर्ज नहीं।" शान्तलदेवी बोलीं।

"सोचेंगे। क्योंकि अम्माजी अभी चौदह वर्ष के ही हुए हैं। हृष्ट-पुष्ट होने से जवान लगते हैं।" कहकर बिट्टिदेव ने इस बात पर पूर्ण विराम लगा दिया। सभा विसर्जित हुई। इसके दो दिन बाद इस सभा के लिए जो रुके थे वे सब लौट गये। डाकरस दण्डनाथ, उनका परिवार, बड़ी रानियाँ पद्मलदेवी, चामलदेवी और बोप्पिदेवी राजकुमारी के विवाह के लिए मुहूर्त निश्चित करने के निमित्त रुकी रहीं। यह काम सम्पन्न हो जाए तो कन्यादान का पुण्य-फल भी मिल जाएगा। माचिकब्बे ने इसे जोर देकर कहा था। अलावा इसके, रानी पद्मलदेवी ही ने यह बात सुझायी थी और इस विषय में उनकी विशेष दिलचस्पी भी थी।

पोचिमय्या की बेटी मुद्दला का विवाह अन्यत्र हो चुका था। डाकरस के बड़े पुत्र मरियाने के साथ, एचियक्का दण्डनायिका के भाई का बेटा होने के नाते, उसकी सगाई निश्चित हुई थी और मुहूर्त भी निश्चय किया जा चुका था। ऐसी हालत में इस विवाह के लिए मुहूर्त निश्चित करने में कोई बाधा भी नहीं रही। बिट्टिदेव की राय थी कि सगाई के दिन आचार्यजी की उपस्थिति बहुत ही संगत है। आचार्यजी इस बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। राजकुमारी हरियलदेवी आचार्य की ही कृपा से नीरोग हुई थी। उस दिन उन्होंने उसे हरी की पुत्री श्रीवैष्णव कहकर आशीर्वाद भी दिया था। बिट्टिदेव के मन में दुविधा पैदा हो गयी—'आज पट्टमहादेवी मेरे बड़े भाई की पटरानी पद्मलदेवी की इच्छा से अपनी उसी बेटी को एक जैन परिवार में ब्याह दे रही हैं, यह सुनकर आचार्यजी क्या सोचेंगे।' उन्होंने अपने इस विचार को छिपाया भी नहीं। पट्टमहादेवी को बताया भी नहीं। शान्तलदेवी ने कहा, "यह हमसे सम्बन्धित बात है। हमारे इस

निर्णय को वे असीस दें, यही विनती करें।''

आचार्यजी के सान्निध्य में ही सगाई हो जाए, ऐसा निश्चित हो जाने पर आचार्यजी को समस्त गौरव के साथ राजमहल में बुलवाया गया। तिरुवरंगदास यादवपुरी नहीं लौटे थे। एक उद्देश्य से उन्हें रोक दिया गया था। श्रोत्रिय होने के नाते उन्हें निमन्त्रण दिया गया था।

माचण दण्डनाथ अपने कार्यक्षेत्र को लौट गये थे। सगाई के वक्त सपत्नीक आये थे। यों बड़े मरियाने दण्डनायक जी के सब पुत्र-पुत्रियाँ वहाँ मौजूद थे। प्रधान गंगराज, उनकी पत्नी लक्कलदेवी और उनके बच्चे भी उपस्थित थे। ये सभी वर पक्ष के ही थे। इधर शान्तलदेवी, उनके बच्चे, उनके माता-पिता, सपत्नीक मामा सिंगिमय्याजी उपस्थित रहे। महाराज और शेष रानियाँ, ये सब वधू पक्ष के ही तो थे। रानी पद्मलदेवी को तो दोनों पक्षों पर समानाधिकार था। उन्होंने ही पहले बात छेड़ी, ''श्री आचार्यजी के सान्निध्य में, मैं फिलहाल इस राजपरिवार में बड़ी होने के नाते कहती हूँ। हमें आपस में इस विषय में कोई मतभिन्नता नहीं, हम सब एक राय हैं। राजकुमारी हरियलदेवी का विवाह मेरे बड़े भाई डाकरस दण्डनाथ के छोटे पुत्र कुमार भरत के साथ करने का निश्चय सबकी सम्मति से हुआ है। श्री आचार्यजी इस राजकुमारी के जीवनदाता महापुरुष हैं। उनकी उपस्थिति में सगाई हो और इसके लिए उनका आशीर्वाद मिले, यह राजकुमारी का सौभाग्य होगा, ऐसा हम मानते हैं।''

''महाराज आचार्यजी के शिष्य हैं। दण्डनाथजी गण्डविमुक्त मुनि के शिष्य हैं न?'' मुहूर्त निश्चित करने के लिए जो पुरोहित आये थे उन्होंने व्यंग्य से कहा।

''हाँ, उससे क्या हानि होती है?'' तिरुवरंगदास ने बीच में कहा।

''मैं तो राजमहल की आज्ञा का पालन करनेवाला हूँ। परन्तु इसमें कुछ व्यावहारिक बात के होने के कारण, यदि न कहें, तो गलत हो सकता है। इसलिए अपने पौरोहित्य धर्म की रक्षा की दृष्टि से मैंने कहा। इस पर धर्मपीठाधिपति जी उपस्थित हैं। उनसे हमें मार्गदर्शन मिल जाएगा और सब भी काम सुगम हो जाएगा, यही मेरा आशय है।''

''तो यह बात क्यों उठायी?''

''कुछ लोग संकोचवश चुप रहते हैं, हमारे व्यवहार में समानधर्मियों का दाम्पत्य उचित है। इसलिए निवेदन किया। इतना ही।''

''दण्डनायकजी का घराना जैन सम्प्रदाय का है। राजकुमारी ने जब जन्म लिया तब उसके माता-पिता जैन सम्प्रदाय के ही थे। इसलिए यह विषय चर्चाधीन नहीं हो सकता, ऐसा मुझे लगता है। इसलिए मुहूर्त निश्चय कर दीजिए।'' पद्मलदेवी ने कहा। उनकी बात एक तरह से निर्णायक ही रही।

पुरोहितजी ने एक बार महाराज की तरफ देखा, फिर आचार्य की ओर।

आचार्यजी ने ध्यानस्थ मुद्रा में एक बार थोड़ी देर के लिए आँखें मूँद लीं। फिर

आँखें खोलकर कहा, "भगवान् की लीला ही परमाश्चर्यजनक है। सच है, उस एक शुभ मुहूर्त में राजकुमारी की बीमारी दूर हो गयी, हमारी वजह से। परन्तु उस कारण से उस बच्ची पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। इस संसार में जन्म लेते समय ही इस तरह के सम्बन्धों के निर्णय वहीं हो जाते हैं। उसे रोकना किसी से भी सम्भव नहीं। ऐसा प्रयत्न भी किसी को नहीं करना चाहिए। यहीं इसके अनेक साक्षी मौजूद हैं। रानी पद्मलदेवीजी से ही बड़े राजकुमार का विवाह कराने का प्रयत्न चला था। परन्तु उनके साथ उनकी बहनों का भी विवाह उन्हीं राजकुमार से हुआ। हमारी पट्टमहादेवीजी या उनके माता-पिता ने कल्पना भी नहीं की थी कि इतने बड़े घराने में सम्बन्ध होगा। फिर भी उन्हें कितनी तकलीफ उठानी पड़ी! वे केवल राजघराने की बहू ही नहीं, बल्कि पट्टमहादेवी बनकर राष्ट्र की प्रजा के मानस में स्थायी स्थान पाकर विराज रही हैं। उन्हें अपने पतिदेव की एकमात्र पत्नी होकर रहने की इच्छा थी। परन्तु अब महाराज की तीन और रानियाँ हैं। इस तरह ऐसी बातें हमारी आशा-आकांक्षाओं से परे निर्णीत हो जाती हैं। ऐसी हालत में इस सगाई के विषय में हम जो कुछ सोचते-विचारते हैं, वह सब भगवान् की प्रेरणा से ही होता है। इसलिए हम सभी को चाहिए कि इन बातों पर और अधिक चर्चा न करके हम भगवान् से यही प्रार्थना करें कि वह इन छोटे बच्चों के दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाए। इतना ही हमारा कार्य है। मुहूर्त निश्चित करें।"

मुहूर्त निश्चित किया गया। नूतन वस्त्रों का आदान-प्रदान हुआ।

माचिकब्बे ने धीरे से कहा, "इसी सन्दर्भ में कुमार बल्लाल के विवाह की भी बात निश्चित कर ली जाती तो अच्छा होता!"

"वह तो निश्चित ही है, माँ! परन्तु उसके लिए अभी कोई जल्दी नहीं। तीन-चार वर्ष के बाद देखेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

मरियाने का विवाह शार्वरी संवत्सर माघ सुदी पंचमी के लिए निश्चित हुआ था। यह विवाह इसी शार्वरी में माघ सुदी सप्तमी के लिए तय हुआ। यह भी निश्चित हुआ कि दोनों विवाह राजधानी में ही सम्पन्न हों। इसके बाद सगाई पर आयोजित विशिष्ट भोज में सम्मिलित होने के लिए सभी चल पड़े।

केतमल्ल फिर वेलापुरी आये। विजयोत्सव के बाद दूसरे ही दिन वह दोरसमुद्र चले गये थे। एक पखवाड़ा बीत चला था। इस बीच एक विचार-गोष्ठी हो चुकी थी। पश्चात् राजकुमारी के विवाह के लिए मुहूर्त भी निश्चित हो चुका था। महाराज मायण-चट्टला की प्रतीक्षा कर रहे थे, तभी केतमल्ल महाराज के सन्दर्शन के लिए उपस्थित

हुए। उनके सन्दर्शन का उद्देश्य विदित ही था। इसलिए महाराज, पट्टमहादेवी और स्थपति जकणाचार्य केतमल्ल को साथ लेकर आचार्यजी के पास गये।

"दोरसमुद्र के युगल-शिव-मन्दिरों की नींव-स्थापना के सम्बन्ध में निश्चित करने के लिए केतमल्लजी आये हैं।" बिट्टिदेव ने आचार्यजी से कहा।

"महाराज हमें गलत न समझें। वह युगल-शिव-मन्दिर है। इसलिए दो जगह नींव की स्थापना होनी चाहिए। दोनों का एक ही मुहूर्त हो। एक व्यक्ति से यह काम सम्भव नहीं, इसके लिए दो व्यक्ति चाहिए। मेरा अभिमत है कि इस कार्य के लिए राजदम्पती ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिए यह स्थापना वही करें। हमें छोड़ दें।" श्री आचार्य ने कहा।

बिट्टिदेव ने साफ पूछ लिया, "शिव मन्दिर की नींव की स्थापना आप अपने हाथ से नहीं करना चाहते, इसलिए?"

"ऐसी क्या बात है? आपने समझा कि हम डर रहे हैं?" आचार्यजी ने प्रश्न किया।

"आप शिवाराधक चोलों के क्रोध..."

बीच ही में आचार्यजी ने कहा, "हम एक मात्र अपने आराध्य के सिवा और किसी से नहीं डरते। किसी को खुश करने के लिए भी हम कोई काम नहीं करते। हमने इसलिए ऐसा नहीं कहा कि हमें करना नहीं चाहिए। आप राजदम्पती के हाथों यह कार्य सम्पन्न होना उचित है, अधिक गौरवपूर्ण भी है, इस दृष्टि से हमने कहा कि ऐसा करें।"

"बीच में बोलने के लिए मुझे क्षमा करें। युगल मन्दिर के होने पर भी एक ही नींव की स्थापना पर्याप्त है। इलावा इसके, ये मन्दिर एक नींव पर बनी जगत पर बननेवाले हैं। इसलिए दो व्यक्तियों को एक ही समय नींव की स्थापना करनी पड़ेगी, यह कोई कारण नहीं हो सकता।" जकणाचार्य ने कहा।

"वास्तुशिल्प शास्त्र चाहे कुछ भी कहे। दोनों मन्दिरों में लिंग-मूर्ति की ही प्रतिष्ठा जब होनी है तो अलग-अलग प्राण-प्रतिष्ठा आदि कार्य करना जिस तरह आवश्यक है, उसी तरह यह भी आवश्यक है। इस विषय में हमारी दो सलाह हैं। एक यह कि नींव की स्थापना राजदम्पती द्वारा होनी चाहिए और दूसरी यह कि यहाँ स्थापित होनेवाले शिवजी पोय्सलेश्वर और शान्तलेश्वर के नाम से अभिहित हों। यह युगल मन्दिर इस राजदम्पती की सर्व-धर्म सहिष्णुता का एक शाश्वत साक्षी बनकर रहे। केतमल्लजी हमारी बात को मानेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। चाहें तो वे एक बार अपने माता-पिता से भी विचार कर आएँ।" आचार्यजी ने निर्णयात्मक स्वर में कहा।

वास्तव में केतमल्ल तो अन्दर ही अन्दर खुश हुए, क्योंकि उनके मन में आचार्यजी की बात ही नहीं उठी थी। फिर भी उन्होंने उनके मन की बात कही थी, इसलिए बुजुर्गों

की राय एक बार पूछ लेने की बात शिरोधार्य कर वहाँ से चले गये।

''तो आपने इस मन्दिर का रेखाचित्र देखा है, स्थपतिजी?'' बाद में आचार्यजी ने पूछा।

''अकेला मैंने ही नहीं, पट्टमहादेवीजी ने भी देखा है। हमने जो सुझाव दिये उनको स्थपतिजी ने खुशी के साथ स्वीकार भी किया है।'' जकणाचार्य ने कहा।

''तो मतलब यह हुआ कि यह चेन्नकेशव मन्दिर से भी सुन्दर होगा!'' आचार्यजी ने प्रश्न भरी दृष्टि डाली।

''कला की सजीवता की पहचान वहीं होती है। और फिर, केवल अनुकरण ही उत्तम कला नहीं हो सकता। उसके साथ कुछ अपनी कल्पना भी होनी चाहिए। इस शिव-मन्दिर के स्थपतिजी ही पहले चेन्नकेशव मन्दिर के स्थपति थे। उस काम पर पट्टमहादेवीजी ने हमें लगा दिया तो वे अलग हो गये।''

''असन्तुष्ट होकर बीच ही में काम छोड़कर चले गये?''

''उत्साह भंग हो गया। कलाकार ऐसे ही होते हैं। गुस्सा करके चल देते हैं, या उस काम से हट जाते हैं। छोटी उम्र के प्रतिभावान कलाकार हैं ओडेयगिरि के हरीशजी।... और, जब हमें कला की ही अपेक्षा है तो फिर कलाकार के स्वभाव, उसके व्यवहार से भला क्या लेना-देना!''

''सच है, आपका कहना सही है। इसीलिए जब आपसे पहली बार हमारी भेंट हुई तभी हमने अपने शिष्यों से सावधान रहने के लिए कहा था।''

''ओह! वह पुरानी बात अब छोड़िए। मैं स्वयं भूल चुका हूँ। वह मेरे जीवन की एक काली घटना है।''

''जाने दीजिए। अभी आपके हाथ में कोई काम है?''

''ऐसा तो कोई काम नहीं है। परन्तु यहाँ जो विद्यालय खुला है, उसका कार्य आगे बढ़ाना है।''

''उसके लिए इन्हीं को रहना चाहिए, ऐसी कोई शर्त राजमहल या पट्टमहादेवीजी की है?'' आचार्यजी ने राजदम्पती की ओर देखा।

''वे समझ चुके हैं कि जो विद्या उन्होंने सीखी है, वह केवल उनके घराने तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। उसे विस्तार देना हो और प्रकाश में लाना हो तो उसका दान करना ही एक रास्ता है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''श्री आचार्यजी के इस प्रश्न के पीछे कोई उद्देश्य भी तो होना चाहिए न?'' बिट्टिदेव ने प्रश्न किया।

''हमारा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। यदुगिरि में एक मन्दिर का निर्माण होना है। हमने अपने प्रवास के समय इस कार्य के लिए बहुत-सा धन संग्रह किया है। दिल्ली के बादशाह ने जो दीनार दिये, वे वैसे ही सुरक्षित हैं। स्थपतिजी की सेवाएँ उपलब्ध

हों तो यदुगिरि के मन्दिर-निर्माण से भगवान् प्रसन्न होंगे।''

''राजपरिवार इसमें कोई रोक-रुकावट नहीं डालेगा, यह आश्वासन देती हूँ।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''मैंने प्रतिज्ञा की है। उसे पूरा किये बिना अन्यत्र मन्दिर का विचार फ़िलहाल नहीं कर सकूँगा। इसलिए इस कार्य को दूसरे स्थपति से करवाएँ तो मैं अपनी योग्यता के अनुसार उन्हें आवश्यक सलाह अवश्य देता रहूँगा।'' कुछ संकोच से जकणाचार्यजी ने कहा।

''प्रतिज्ञा ऐसी क्या है, पूछ सकते हैं?'' आचार्यजी ने प्रश्न किया।

''और कुछ नहीं। मेरे इन हाथों ने दोषयुक्त शिला से विग्रह बनाया था। उस गलती के लिए जो दण्ड मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला। इसलिए प्रायश्चित्त होना ही चाहिए। प्रायश्चित्त के रूप में मैंने अपने गाँव क्रीड़ापुर में एक केशव मन्दिर का निर्माण करने का निश्चय किया है। उस निर्माण के पूर्ण होने तक किसी अन्य शिल्प-कार्य में मेरे हाथ नहीं लग सकेंगे।'' जकणाचार्य ने कहा।

''गलती हुई हो तो प्रायश्चित्त भी ठीक है, लेकिन जब गलती हुई ही नहीं तो प्रायश्चित्त क्यों?'' आचार्यजी ने पुनः प्रश्न किया।

''यहाँ सही गलत का विवाद नहीं, उससे भी अधिक उस अहंकार की बात है जिसके लिए प्रायश्चित्त होना चाहिए।''

''तो तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् को हमारी इच्छा जँची नहीं। यादवपुरी में भी ऐसा हुआ। यदुगिरि में भी यही हुआ।'' आचार्यजी कुछ खिन्न हो गये।

''आपको दुःख पहुँचा, इसके लिए क्षमा करें। आचार्यजी क्षमा कर आशीर्वाद दें।''

यह बात यहीं समाप्त हुई।

''पोय्सल राज्य में अकाल पड़ा है, समझकर आचार्यजी ने यदुगिरि के मन्दिर के लिए अन्यत्र से धन संग्रह किया?'' बिट्टिदेव ने कुछ धीमे स्वर में कहा।

''न, न, ऐसा कुछ नहीं। यादवपुरी का लक्ष्मीनारायण, तलकाडु का कीर्तिनारायण, वेलापुरी का विजयनारायण, इनका उदय पोय्सल राज्य के धन के बल पर ही जब हुआ है, तब यह समझने का कोई कारण नहीं कि धन या जन की कमी है। खुले दिल के दाताओं की भी कमी नहीं, यह हम अच्छी तरह समझ गये हैं। परन्तु हमने अपनी तरफ से क्या किया? अपने शिष्य वर्ग से क्या करवाया? अब हम सब भी इस सेवा में भाग लें। खुले हाथ से दान करनेवाले दाता हैं, यह समझकर उन पर और बोझा डालना उचित नहीं। इस वजह से हमने धन-संग्रह किया है। अब दोरसमुद्र के युगल शिवालयों के निर्माण में राजमहल का कोई व्यय नहीं होगा न! यह भी ऐसा ही समझें। भक्तों पर, खासकर धनी भक्तों पर, यह जिम्मेदारी डालना अच्छा है। इसे अन्यथा न लें।''

"तब हमें भी सन्तोष है। कब कार्यारम्भ होगा, यह बताएँ तो हम योग्य शिल्पियों को वहाँ भेज देंगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

"हमारे वहाँ पहुँचते ही यह कार्य आरम्भ हो जाएगा। विजयोत्सव सम्पन्न हुए पखवाड़ा गुजर गया है। परन्तु हमें लौटने की अनुमति अब भी नहीं मिली। अब हमने जो कार्य सोचा है। उसे पूरा करके हमें अपनी जन्मभूमि की तरफ भी जाना है। वहाँ भी हमारा कुछ कर्तव्य है। उसे भी पूरा करना है। भगवान् के बुला लेने से पहले पूर्ण कर देना होगा, कुछ भी शेष न रह जाए। हमें अनुमति कब मिलेगी?"

"दोरसमुद्र की नींव-स्थापना के तुरन्त बाद।" बिट्टिदेव इतना कह रुक गये।

"नींव की स्थापना कब होगी?" आचार्य ने पूछा।

"आनेवाली पूर्णिमा को।"

"तो और दस दिन यहाँ रहना होगा?"

"जब चाहें तो आ नहीं सकते। इन छः-सात वर्षों में यही पहली बार आपका आगमन हुआ है न! विजयनारायण स्वामी की प्रतिष्ठा के समय भी नहीं आ सके थे। इस अवसर पर उपस्थित रहें, यह हमारी आकांक्षा है।"

"यह सब हमारे हाथ में नहीं है। भगवान् की इच्छा के अनुसार ही सब कुछ होता है।"

"हम धन्य हैं।" कह राजदम्पती उठे। शेष लोग भी साथ ही उठ गये। सभी ने आचार्यजी को प्रणाम किया और यथास्थान चले गये।

इसके दो दिन बाद ही मायण-चट्टला वेलापुरी में प्रकट हुए। उन दोनों ने जो समाचार संग्रह किया था और जिन-जिन व्यक्तियों को देखा-पहचाना था, सब निवेदन कर दिया। वहाँ से चार ही दिनों के अन्दर-अन्दर सम्पूर्ण राजपरिवार और आचार्यजी दोरसमुद्र गये। वहाँ एक सभा का आयोजन था। राज्य के सभी प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। महाराज, पट्टमहादेवी, रानियाँ, आचार्यजी, पट्टमहादेवी के गुरु प्रभाचन्द सिद्धान्तदेव, गण्डविमुक्तदेव, बाहुबली के पुजारीजी, मंचियरस, हेग्गड़े मारसिंगय्या, तिरुवरंगदास, सुरिगेय नागिदेवण्णा आदि सभी। वह एक सर्वधर्मसम्मेलन-सा लग रहा था।

महाराज ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा, "इस सभा का उद्देश्य सही-गलत का विमर्श कर अपराधियों को दण्ड देने के लिए नहीं, लोगों में समानता की भावना पैदा करने के लिए है। हाल में राज्य के कुछ हिस्सों में, खासकर राजधानियों में, और यदुगिरि में, एक तरह के आन्तरिक तनाव का वातावरण पैदा हुआ है। राजमहल को इसकी जानकारी मिली है। वेलापुरी के चेन्नकेशव-प्रतिष्ठा के समय भी ऐसा ही वातावरण उत्पन्न हुआ था। उस समय काफी चेतावनी दी गयी थी। और यह भी बताकर सतर्क रहने के लिए कहा गया था कि हमारी आपस की अनबन शत्रुओं के गुप्तचरों के लिए मनचाहा न्योता बनेगी। इसलिए हमें परस्पर सहृदयता से आचरण

करना चाहिए। हमारे दादाजी और पिताजी के समय में और मेरे बड़े भाई के राजत्वकाल में भी, पोय्सल राज्य की जनता ने पूर्ण सहयोग देकर राजमहल के आदेशों का पालन किया है। इस दायित्व को हम स्वयं दस साल से वहन कर रहे हैं। हमें भी वह सहयोग बराबर मिलता रहा है। हमारी राजकुमारी जब बीमार थी और बड़े-बड़े वैद्य चिकित्सा करके हार चुके थे तब पूज्यपाद आचार्यजी पधारे और राजकुमारी को उस भयंकर रोग से बचाकर उसकी रक्षा की। पूरी निराशा के उस समय हमने प्रतिज्ञा की थी कि हम उन आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करेंगे। अपने वचन के अनुसार हमने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। वह केवल वैयक्तिक मामला था। वास्तव में हमारी पट्टमहादेवी ने तभी चेता दिया था कि ऐसा मतान्तर अच्छा नहीं। लेकिन वचन-पालन पोय्सल राजवंश की नीति है, और उस नीति का हमने पालन किया। इस मतान्तर को मान्यता दी और वे खुद जैसी रहीं वैसी ही रहीं। हमने उस बात के लिए भी मान्यता दी है। इस सबके लिए आज यहाँ विराजमान दोनों गुरुवर्य साक्षी हैं। हमारा वैयक्तिक धर्म-परिवर्तन राष्ट्र की जनता पर किसी तरह का प्रभाव न डाले, यही हमारी आकांक्षा थी। परन्तु अब दो-तीन वर्ष से इसके नेपथ्य में धर्मान्ध व्यक्ति तरह-तरह के किस्से गढ़कर राज्य के अन्दर की एकता को बिगाड़ने की कोशिश करते हुए मौके की ताक में बैठे हैं। ऐसे लोगों को राज्य में रहने देना सर्वथा उचित नहीं। इन दुष्ट लोगों ने इस दूषित कार्य के लिए हमारी, पट्टमहादेवीजी का, हमारी रानियों का और गुरुवर्य श्री आचार्यजी एवं प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवजी का, इस तरह हम सबके नामों का दुरुपयोग, हममें से किसी की जानकारी के बिना किया है। इतना ही नहीं, और भी अनेक अधिकारियों के नामों का दुरुपयोग हुआ है। इन सभी बातों को आप सभी के समक्ष रखकर सिद्ध करने एवं आइन्दा ऐसे काम न हों, यह आग्रह करने के लिए यह सभा बुलायी गयी है। आचार्यजी जब तिरुमलाई में थे तब इन दुष्टों ने उनके कानों में जो बात डाली, उसे वे स्वयं इस सभा के समक्ष कहेंगे।" कहकर बिट्टिदेव ने आचार्यजी की ओर देखकर हाथ जोड़े।

आचार्यजी ने भी हाथ जोड़कर ध्यानमुद्रा में थोड़ी देर के लिए आँखें बन्द कीं। फिर आँखें खोलते हुए कहा, "पोय्सल महाराज, मान्या पट्टमहादेवी और अधिकारी गण, नगर-प्रमुख एवं सज्जनो! हमने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि भगवान् के सिवा अन्य किसी के समक्ष हमारे साक्षी बनने की स्थिति कभी आ सकती है। परन्तु सत्य कहने में किसी को आगा-पीछा नहीं करना चाहिए। हमसे दूसरों को मार्गदर्शन मिलना चाहिए, इस दृष्टि से हम सत्य बात स्पष्ट करेंगे। हमें किसी से कोई द्वेष नहीं। परमात्मा का प्रेम पाने के लिए जो चले हैं उनके पास द्वेष की भावना फटक भी नहीं सकती। हमसे द्वेष करनेवाले हो सकते हैं। द्वेष करनेवाले दो तरह के होते हैं। इनमें एक तरह के लोग ऐसे होते हैं जो सामने ही धीरज के साथ कह देते हैं। इस तरह के लोग स्वागत योग्य हैं। दूसरे किस्म के लोग ऐसे हैं जो अत्यन्त निकटवर्ती रहकर, आत्मीय मित्रों

जैसा दिखावा करते हैं और पीठ-पीछे छुरा भोंकते हैं, जहर उगलते हैं। ऐसे लोग महानीच होते हैं। ऐसे लोगों के लिए भयंकर-से-भयंकर नरक में भी जगह नहीं मिलेगी। एक घटना सुनाऊँ आपको? जब हम बालाजी के सन्निधान में रहे, तब ऐसे ही लोगों की एक टोली ने आकर बड़े प्रेम के साथ हमसे विनती की। कहा, 'आप हमारे लिए भगवान् के सदृश हैं। उत्तर की ओर आपके प्रवास के बाद पोय्सल राज्य में आपके विरुद्ध षड्यन्त्रकारी बढ़ते जा रहे हैं। आपने राजा को मतान्तरित किया, इतना ही नहीं, भ्रष्टशील लड़की से महाराज का विवाह कराकर उसे उनकी रानी बनाया है। उस लड़की से आपका क्या सम्बन्ध है, सो भी सुनने में आया कि वे जानते हैं। यह चर्चा महाराज और पट्टमहादेवी के कान तक पहुँची है अतः वे भी आप पर आग-बबूला हो रहे हैं। यदि आपको अपने प्राणों की चिन्ता हो तो आप यहीं रह जाएँ। नहीं तो आप चोल देश लौट जाइए' यों उन लोगों ने सलाह दी। वे यहीं तक न रुके, आगे बोले, 'हम धर्म-द्रोही कहलाने लायक हैं। यवन के महल में अपवित्र बनी और यवनकुमारी के पास खिलौने की तरह पड़ी रहनेवाली पंचलौह की प्रतिमा को लाकर पवित्रता का नाश किया है। इन कारणों से पोय्सल प्रजा ही विरुद्ध हो उठी है। इसलिए आप न यदुगिरि जाएँ, न ही पोय्सल राज्य में। और जल्दी ही अपने लोगों को चिट्ठी लिख भेजें और उन्हें अपने पास बुला लें।' आदि-आदि कहकर हमें डराया। अभी हम अकेले ये बातें सुना रहे हैं। वे एक साथ टोली बाँधकर आते और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से सुनाता तो शायद और अधिक प्रामाणिक होता। परन्तु हमें आपके अन्तर ने कुछ और ही सलाह दी। आज हम यहाँ हैं, ये सारी बातें झूठ निकलीं। अभी एक महीने से भी अधिक समय से हमारा यहाँ रहना ही इस बात का साक्षी है। धर्म के नाम पर इस तरह की बातें नहीं होनी चाहिए।" इतना बताकर वे मौन हो गये।

लोग मूक होकर सारी बातें सुनते रहे।

"मेरे परमपूज्य, प्रिय गुरुवर्य अपने अनुभव बताएँगे।" पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव से प्रणामपूर्वक विनती की। आमतौर पर गुरुवर्य प्रभाचन्द्रजी ऐसी सभाओं में सम्मिलित नहीं हुआ करते थे। आज पट्टमहादेवीजी की आग्रहपूर्ण विनती के कारण आये थे। वे हाथ जोड़, आँखें बन्द कर, ध्यानमुद्रा में बैठे, फिर थोड़ी देर बाद 'णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं' कहकर, प्रणाम कर आँखें खोलीं। उन्होंने उपस्थित सभासदों की ओर देखा और कहा, "विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तशिरोमणि श्रीश्री आचार्यजी महाराज एवं हमारी परम विश्वासपात्र शिष्या पट्टमहादेवीजी, पोय्सल राज्य के अनेक धर्मावलम्बी महनीय प्रजाजन! हम इस तरह के सभा-समारम्भों में नहीं आते। पट्टमहादेवीजी की साग्रह विनती को हम टाल नहीं सके, इसलिए चले आये हैं। उन्होंने हमसे अपने सन्तोष के लिए किसी कार्य की अपेक्षा नहीं की। परन्तु सत्य का निरूपण करने के

लिए वह आवश्यक है। महावीर स्वामी के द्वारा स्थापित सिद्धान्त प्रधान रूप से अहिंसाभाव से प्रेरित हैं। हम केवल शारीरिक हिंसा तक ही अहिंसा को सीमित करते हैं लेकिन उसका मानसिक हिंसा से भी सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में हम जो आरोप करेंगे वह मानसिक हिंसा का कारण हो सकता है, इसलिए हम ऐसी प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं देते। परन्तु आज की इस सभा में ऐसा कहने-करने का प्रसंग आया है। इसलिए पहले ही अपने इस अपराध को क्षमा करने की प्रार्थना करते हुए हमने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को नमन किया। परन्तु हमें इस बात का सन्तोष है कि हम व्यक्तिगत रूप से किसी पर आरोप नहीं लगा रहे हैं। हम अब जो कहने जा रहे हैं, वह इसी तरह या थोड़ा अदल-बदलकर यहाँ उपस्थित श्री गण्डविमुक्तदेवजी को भी मालूम हुआ होगा। इसका सृजन करनेवाले बड़े ही कुतन्त्र-निपुण हैं। शायद उनमें मारीच का रक्त बह रहा है। जैसे हम और आप सब जानते हैं और उन्होंने भी स्वीकार किया है कि महाराज ने वैयक्तिक रूप से, आचार्यजी के प्रभाव से प्रेरित होकर, श्रीवैष्णव पन्थ को स्वीकार किया। इस वैयक्तिक विषय का इन दुष्टजनों ने किस हद तक दुरुपयोग किया है, यह बात इस राज्य की सारी जनता को भलीभाँति समझ लेनी चाहिए। क्योंकि उस कहनेवाली जिह्वा पर कोई रोक-टोक नहीं; सुननेवाले कानों पर तो कोई अंकुश है नहीं। ऐसी दशा में दावानल की तरह फैलते जाने में कोई शंका ही नहीं। यह कहते-सुनते हैं, 'महाराज का यह मतान्तर हम जैसे जैन गुरुओं के लिए असन्तोष का कारण है, और इसलिए हम सब उनपर टूट पड़े हैं। साथ ही हमने मतान्तरित न होनेवाली पट्टमहादेवी को भी अपने गुट में सम्मिलित कर लिया है। इस मतान्तरण को अस्वीकार नहीं करेंगे तो उन्हें सिंहासन से उतार देने की हमने प्रतिज्ञा की है।' एक तरफ यह प्रचार कर रहे हैं तो दूसरी ओर यह कहते-सुनते हैं, 'इसके लिए हम जैनियों द्वारा एक आन्दोलन चला रहे हैं। और हमने, अर्थात् जैन गुरुओं ने, कभी इन महाराज को स्वीकार नहीं किया था। किसी अंगविकल को स्वीकार कर नहीं सकते।' इसी तरह के ऊल-जलूल कारण बताकर, 'महाराज को हमने स्वीकार नहीं किया' ऐसा कहते हैं। अब जब यहाँ विकलांगता है ही नहीं तो इस मनगढ़न्त किस्से का मूल्य ही क्या हो सकता है? ये बातें यहीं तक नहीं रुकीं। 'जैन गुरुओं के इनकार से क्रोधित होकर महाराज वैष्णव मतावलम्बी बने, और जैन वंश को ही नाश करने पर तुले हुए हैं। इसके लिए राज्य के सभी जिनालयों को तुड़वा देने की आज्ञा भी महाराज ने दे दी है। साथ ही सभी जैनियों को कोल्हू में पिरवाने की भी आज्ञा दी गयी है।' इतना ही नहीं, हमें इस तरह की सलाह भी दी कि हम इस वैष्णव राज्य से छिपकर भाग जाएँ। राजमहल से सीधा सम्पर्क होने के कारण हम जैसे कुछ लोगों को ये बातें विश्वसनीय प्रतीत नहीं हुईं। परन्तु दूर-दूर के गाँवों से भागकर आये जिन-भक्तों की दशा बड़ी शोचनीय लगती है। माथे पर तिलक लगानेवालों को देखकर वे डर से काँप

उठते हैं। पोय्सल राज्य में ऐसा नहीं होना चाहिए था। हमें लगता है कि राजकीय निर्वहण में कहीं कोई ढिलाई हुई है। हमने यह बात पट्टमहादेवीजी एवं महाराज से भी कही। उन्होंने इस सम्बन्ध में सभी स्तरों पर जरूरी तहकीकात की होगी। तात्पर्य यह कि जैन-वैष्णव विद्वेष का बीज बोकर दोनों तरफ की जनता को उकसाकर कुछ लोग अपने स्वार्थ-साधन में लगे हुए हैं, यह निश्चित है। ऐसे श्रीवैष्णवों को देश-निकाले का दण्ड देना, देशहित की दृष्टि से, आवश्यक प्रतीत होता है।" उन्होंने बेधड़क होकर घोषित ही कर दिया।

फिर गण्डविमुक्तदेवजी ने भी इसी तरह के प्रचार होने की बात बतायी।

उनके विचार व्यक्त करने के पश्चात् श्री आचार्यजी ने कहा, "इस कार्य को करनेवाले वास्तव में मतद्रोही हैं। उन्हें न धर्म का ज्ञान है, न व्यवहार की जानकारी ही है। अब कुल मिलाकर बात यह हुई कि ये लोग जैन और श्रीवैष्णवों में आपस में द्वेषभाव पैदा करके सारे राज्य में एक भारी तहलका मचाना चाहते हैं। ऐसे धर्म-द्रोहियों का पता लगाकर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए।"

"आपके प्रिय शिष्यों ने इस तरह का कार्य किया हो तो ?" प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव जी ने प्रश्न किया।

"यदि आपके प्रिय शिष्यों ने यह काम किया हो तो उन्हें जो दण्ड मिलेगा, इन्हें भी वही देना चाहिए।" आचार्यजी ने कहा।

"वे शिष्य भी हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं। इन तीन धर्म प्रवर्तकों ने जो कहा उन बातों के प्रकाश में अब विचार करेंगे। इन कार्यों में किस-किसका हाथ है, इसका पता लगाने के लिए हमने मायण-दम्पती को नियुक्त किया था। उन्होंने हमारे गुप्तचर नायक चाविमय्या की मदद लेकर आखिरकार इन बातों का पता लगा ही लिया। उन्होंने जो जानकारी प्राप्त की है वह वे स्वयं आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत करेंगे।" महाराज बिट्टिदेव ने कहा।

चाविमय्या उठा, आगे आया। महाराज और पट्टमहादेवी को प्रणाम किया और बोला, "महासन्निधान की अनुमति लेकर आज की इस सभा के सामने विचार होने के पूर्व दो बातें कहना चाहता हूँ। इस चर्चा से सम्बन्धित सभी बातों का पता लगाने के लिए सन्निधान ने मायण और उनकी धर्मपत्नी चट्टलदेवी को नियुक्त किया था। साथ ही, उन्हें यह स्वतन्त्रता भी दी थी कि सहायता के लिए चाहे जिसे साथ ले सकेंगे। मैं इस राजमहल के गुप्तचरों में बहुत पुराना व्यक्ति हूँ, इस वजह से उन लोगों ने मेरी मदद माँगी। इसके साथ, इस सभा के समक्ष साक्षियों को प्रस्तुत करने तथा अन्य साम्प्रदायिक कार्यों का निर्वहण करने आदि का कार्य मुझे सौंपा है। महासन्निधान की स्वीकृति है, यह मानकर उनके आदेश से मैं आप लोगों के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। तीनों गुरुवर्यों ने जो बताया वह बहुत हद तक सत्य है। इस षड्यन्त्र को इस तरह

दोमुखी बनने में काफी समय लगा है। वर्षों से अन्दर-ही-अन्दर गुप्त रीति से कार्य संचालित होता आया है। लेकिन षड्यन्त्र के विस्फोट होने से पूर्व ही वह प्रकट हो गया यह राष्ट्र-हित की दृष्टि से अच्छा समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में मेरे बताने की बजाय हमारी संरक्षकता में रहनेवाले उन लोगों को स्वयं पेश करना ठीक होगा इसलिए उनमें से कुछ लोगों को यहाँ बुला लाये हैं। हमसे सुनने से बेहतर होगा कि उन्हीं के मुँह से सुनें। सन्निधान, पट्टमहादेवीजी अथवा आचार्यजी जिनकी कल्पना भी नहीं कर सकते, ऐसे लोगों को भी यदि इस सभा के समक्ष प्रस्तुत करें तो आश्चर्यचकित न हों। पहले उस बेल्लिय बीरशेट्टी को बुलाया जाए।''

दो सिपाहियों के संरक्षण में वह बेल्लिय बीरशेट्टी वहाँ आया। दोरसमुद्र के अनेक लोग इस शेट्टी से परिचित नहीं थे। मगर नागिदेवण्णा, महाराज, पट्टमहादेवीजी, श्री आचार्यजी आदि प्रमुख जन उसे जानते थे। इसलिए उन सबको आश्चर्य हुआ।

बीरशेट्टी सिर झुकाये खड़ा था।

''बीरशेट्टीजी, हमने समझा था कि आप राजमहल के विश्वस्त जवाहरात के व्यापारी एवं निष्ठावान् प्रजा-जन हैं। आपको इस तरह यहाँ उपस्थित देख हमें आश्चर्य होता है। अच्छा चाविमय्या, इन्होंने क्या किया?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

चाविमय्या ने कहा, ''चट्टलदेवीजी निवेदन करें।''

चट्टलदेवी आगे आयी। प्रणाम किया और बोली, ''जन्मजात गुण जलने पर भी नहीं जाते, यह लोकोक्ति है। इस बीरशेट्टी के सारे गुण पैतृक हैं। या यह कहना बेहतर होगा कि ये गुण इसके भाई के हैं, हैं न शेट्टीजी?'' चट्टलदेवी ने पूछा।

''इनके भाई कौन हैं?''

''शायद सन्निधान को मालूम नहीं। पट्टमहादेवीजी जानती हैं।''

बिट्टिदेव ने पट्टमहादेवी की ओर देखा। उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। ''पहचान नहीं सकी, इस शेट्टी का भाई कौन है!'' शान्तलदेवी ने ही पूछा।

''परमारों का गुप्तचर रतनव्यास।'' चट्टला ने कहा।

''झूठ, सब झूठ है। परमारों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। जैसा सन्निधान ने कहा, मैं राजमहल का विश्वस्त जवाहरात का व्यापारी हूँ।'' बीरशेट्टी ने कहा, परन्तु उसकी आवाज में घबराहट थी।

''इसका चेहरा उसके चेहरे से मिलता-जुलता है। नाक-नक्श सब उसी रतन व्यास का है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''रतनव्यास कौन है?'' बिट्टिदेव ने शान्तलदेवी से पूछा।

''चालुक्य पिरियरसी चन्दलदेवीजी जब बलिपुर में हमारे यहाँ धरोहर के रूप में रहीं, तब धारानगरी के हमले के प्रसंग में...।''

''ओह! प्रभु के सान्निध्य ही में उसे दण्डित किया गया था न? अब याद आया।

परन्तु हमने उसे देखा न था।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''ओह! उसे याद करते हुए शरीर अब भी काँप जाता है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

शान्तलदेवी के कहने के ढंग को देख रानी लक्ष्मीदेवी के मन में कुतूहल हुआ परन्तु बीरशेट्टी से परिचित होने के कारण और कभी-कभी उसके राजमहल में आते-जाते रहने के कारण इस सन्दर्भ में न बोलना ही अच्छा समझकर, वह चुप रही।

''हाँ, हमने जब उस किस्से को खुद चालुक्य पिरियरसीजी से सुना था, तब एक तरह से हम भी रोमांचित हो उठे थे। अच्छा, अब प्रस्तुत विषय को लें। आगे?'' बिट्टिदेव बोले।

''क्या कहते हैं, बीरशेट्टीजी?'' चट्टलदेवी ने पूछा।

''कह दिया न! मुझे मालूम नहीं कि यह रतनव्यास कौन है। मैं परमारों का आदमी नहीं।''

''तो आप किसकी तरफ के हैं?''

''किसकी तरफ के माने? मैं अपनी ही तरफ का हूँ। यहीं पैदा हुआ और पला।''

''महासन्निधान के सामने झूठ नहीं बोलना चाहिए। हम खुद ही आपके मुँह से सच कहलवाएँ, तब तक प्रतीक्षा करेंगे तो कठोर दण्ड का पात्र बनना होगा।'' चट्टलदेवी ने कहा।

''एक वेश्या से हमें पाठ पढ़ने की जरूरत नहीं।'' क्रोध से दमकता हुआ बीरशेट्टी बोला। दूसरे ही क्षण उसे लगा कि ऐसा नहीं बोलना चाहिए था। परन्तु बात मुँह से निकल चुकी थी।

''शेट्टी! जबान पर काबू रहे। यह राजसभा है। चट्टलदेवी हमारे राज्य की एक निष्ठावती सेविका है।'' कुछ गरम होकर पट्टमहादेवी ने कहा।

बगल में बैठी रानी लक्ष्मीदेवी ने रानी राजलदेवी के कान में धीरे से कहा, ''जो बात सही है उसे कहने पर इन्हें गुस्सा क्यों आना चाहिए?''

राजलदेवी ने कुछ असन्तोष भरी दृष्टि से रानी लक्ष्मीदेवी की ओर देखा।

''जिनकी आत्मा शुद्ध है, उन्हें झूठ बोलनेवाले के सामने डरने की जरूरत नहीं। इसका साक्षात्कार मुझे पट्टमहादेवीजी से हो चुका है। इसलिए मैं इस बात से विचलित नहीं होती। कठोर दण्ड के लिए ही जब वह तैयार है तो हम क्यों पीछे हटें? इस सन्दर्भ में मेरी बहन चंगला से पूछना अच्छा होगा, इसलिए सन्निधान आज्ञा दें तो उसे भी बुलवा लूँ।'' चट्टलदेवी ने कहा।

''सच्चाई प्रकट करने के लिए जिन-जिन की जरूरत हो वे सभी आएँ। मगर चंगला तो यादवपुरी में है?'' बिट्टिदेव बोले।

"वह दण्डनायिका एचियक्काजी के यहाँ सेविका है। परन्तु सन्निधान के समक्ष शायद निवेदन करना पड़े, इसी खयाल से उसे यहाँ बुलवाया है।" चट्टलदेवी ने कहा।

"जिस किसी पर दोष थोपने की पहले से ही पूरी तैयारी है, ऐसा लगता है। मुझको एक कैदी की तरह यहाँ नहीं लाया गया। यहाँ पहुँचने तक मैं यही समझता रहा कि मैं सन्निधान का आदेश-पालन करने के लिए ही आया। वेलापुरी पहुँचने के बाद मुझे मालूम हुआ कि मैं राजमहल का कैदी हूँ। मैंने नहीं समझा था कि इस तरह से धोखा दिया जाएगा।" बीरशेट्टी बोला।

"धोखा किसने दिया, यह पीछे चलकर स्पष्ट होगा।" चट्टलदेवी ने कहा।

चंगलदेवी आयी। झुककर प्रणाम किया। चट्टलदेवी ने बेल्लित बीरशेट्टी को दिखाकर उससे पूछा, "इन्हें जानती हो।"

"ओह! अच्छी तरह जानती हूँ।"

"कैसे?"

"मैं दण्डनायकजी के घर की सेविका हूँ। राजमहल में आया-जाया करती हूँ। ये जेवर बनाने के लिए कभी-कभी आया करते हैं। इसलिए मैं इनसे अच्छी तरह परिचित हूँ, इनकी आवाज भी पहचानती हूँ। यदि आँखों के सामने न भी रहें तो आवाज मात्र से इन्हें मैं पहचान सकती हूँ।"

"इनकी आवाज से इतने घनिष्ठ परिचय का कारण?"

"नया जेवर तैयार हो, या नया-नया कोई नमूना तैयार करें, तब यह मुझे कहला भेजते हैं। इसलिए अनेक बार इनसे मिलने और बातचीत करने का मौका मिला है, इनकी आवाज कानों में बैठ गयी है।"

"जेवर बनाने में धोखा भी ये देते हैं?"

"न, कभी नहीं। इस बारे में किसी तरह की शिकायत के लिए गुंजायश नहीं। दण्डनायिकाजी जब कभी जेवर खरीदतीं तब ये मुझे कुछ पुरस्कार देने की कोशिश किया करते।"

"क्या-क्या दिया है अब तक?"

"जब भी कुछ देने आये, मैंने लिया ही नहीं। मेरी निष्ठा की प्रशंसा की। इनको भी मुझ जैसी विश्वस्त सेविका मिलती तो अच्छा होता, यही कहा करते थे। पुरस्कार दुगुना देने का लालच भी दिखाया, मगर मैंने माना नहीं। मुझे बेवकूफ भी कहा। कमाने की उम्र में खूब कमाने की भी राय दी। और कहा, 'किन्हीं पुराने जमाने की नेम-निष्ठा का पालन करते-करते जीवन घिस जाएगा। बुद्धिमान बनो!' और बताया, 'मेरा कहना मानो।' मैं इनकी किसी बात में नहीं आयी। यह बात मैंने दण्डनायिकाजी से भी कही थी। उन्होंने दण्डनायकजी को कहा। उन्होंने मुझे बुलाकर सारी बातें मुझसे सुनीं, और बोले, 'देखो चंगला, पता नहीं क्यों, मुझे शंका हो रही है, यदि वह तुम्हारा उद्धार करना

चाहता हो तो उससे डरे कोई न कोई लाभ जरूर है। डरे, क्या लाभ है; इसका पता लगाना चाहिए। यह बहुत जरूरी है, इसलिए तुम मान लो' और सलाह दी कि वह जो कहता है वह सब करो। मैंने वैसा ही किया। एक दिन पता नहीं, कौन-कौन इसके घर आये। उन लोगों से ये शेट्टी क्या बातचीत करेंगे, यह सुनना चाहा परन्तु नहीं हो सका। ये लोग गुप्तरूप से मिला करते। इसके लिए जमीन के नीचे एक कमरा बनवाया गया। उसके अन्दर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। इन सीढ़ियों के छोर पर एक दरवाजा है। उसे नीचे से बन्द कर दें तो कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता। बार-बार इस तलघर में ये लोग मिलते थे। मुझे कुछ शंका हुई। इस बात को भी मैंने दण्डनायकजी से कहा। उन्होंने कहा, 'मैं एक व्यक्ति को भेज दूँगा, उसे किसी तरह इस तलघर में भेज देना।' इस पर मैंने कहा, 'वह मुश्किल है, सदा ताला लगा रहता है।' तो उन्होंने पूछा, 'वहाँ कैसे-कैसे लोग आया करते हैं?' मैंने कहा, 'कभी केवल तिलकधारी ही आते हैं, तो कभी-कभी जैन ही आते हैं।' उन्होंने पूछा, 'तो क्या करना चाहिए? कब कौन वहाँ मिलते हैं, यह बता सकती हो?'

मैंने कहा, 'कोशिश करूँगी। क्योंकि जिस दिन इन लोगों की बैठक होती है, उस दिन सबके लिए वहाँ विशेष भोजन बनता है। मिलने वालों ने बताया कि उन्हीं मतावलम्बियों से खाना तैयार कराया जाता है। वह पहले ही बता दिया जाता है।' उन्होंने कहा, 'तो ठीक है। उसका ब्यौरा तुम हमें दोगी। तुमने जिन लोगों को बातें करते सुना है, उनका सम्बन्ध इन बैठकों से अवश्य होना चाहिए। बाकी मैं देख लूँगा।' यों दण्डनायकजी ने कहकर मुझे सतर्क कर दिया था।''

''उसके बाद क्या हुआ?'' चट्टलदेवी ने पूछा।

''क्या हुआ सो तो मालूम नहीं। मगर शेट्टीजी की दौड़-धूप बहुत तेज हो चली थी। दो-एक बार हमारे ये धर्मदर्शीजी भी वहाँ आये थे। शेट्टीजी ने दो-तीन बार कहा था कि रानीजी से मिलना है। यह बात दण्डनायकजी से कहकर रानीजी से मिलने के लिए दो-तीन बार व्यवस्था भी करायी थी।''

''यह सब कब हुआ था?'' चट्टलदेवी ने पूछा।

''मतलब?''

''आचार्यजी के लौटने के बाद या उसके पहले?''

''वह तो चल ही रहा था। पहले भी मिलते थे, बाद को भी इनकी बैठकें होती रहीं।''

''आचार्यजी के यहाँ आने के बाद भी?''

''वहाँ कोई रहे नहीं। दण्डनायकजी, सचिव, रानियाँ सभी आ गये थे। शेट्टी जी की बैठकें और कार्यक्रम बहुत अधिक होने लग गये।''

''कैसे कार्यक्रम?''

''क्यों? मुझे मालूम नहीं हुआ। परन्तु वे सब काम मुझे अच्छे नहीं लग रहे थे।''

''इस तरह अच्छा न लगने का कारण?''

''दो कारण हैं इसके। एक, कार्य-व्यवस्था करने की गुप्त रीति। दूसरे, इस सम्बन्ध में मुझे जो चेतावनी दी गयी थी, वह।''

''इन बातों को गुप्त रखने के लिए?''

''हाँ।''

''तुम चुपचाप मानती रहीं?''

''और क्या करती? दण्डनायकजी की आज्ञा जो थी।''

''तो शेट्टी का तुम पर बहुत विश्वास था?''

''विश्वास था फिर भी मुझे बैठक के समय नहीं आने देते थे।''

''क्यों?''

''मुझे मालूम नहीं। इन बैठकों में औरतें नहीं होती थीं।''

''इन बैठकों में क्या होता था, उसे तुमने कभी नहीं पूछा?''

''नहीं, पूछने पर विश्वास खो देना पड़ेगा, इसलिए बहुत सावधान रहने को दण्डनायकजी ने कहा था।''

''तो तुमको किसी तरह का विवरण मालूम नहीं?''

''नहीं।''

''सभा में जो आते-जाते थे, उनको पहचान सकती हो?''

''सभी को पहचान सकती हूँ सो तो नहीं कह सकती। परन्तु कुछ लोगों को तो जरूर पहचान सकती हूँ।''

''सो कैसे?''

''उस तलघर में मैं ही उन्हें ले जाया करती थी। बार-बार जो आते-जाते रहे, उनकी अच्छी याद है।''

''बता सकती हो वे कौन हैं?''

''दिख जाएँ तो पहचान लूँगी। परन्तु उनके नाम-धाम, जात-पाँत नहीं जानती।''

''यह बीरशेट्टी तुमसे कैसा व्यवहार करते थे?''

''अच्छा ही बरताव करते।''

''बुरी नजर से नहीं देखा?''

''नहीं। इन्होंने इस काम के लिए भी उपयुक्त स्त्रियों की व्यवस्था कर रखी है।''

''तो तुमको ललचाकर अपने जाल में फँसाने की कोई कोशिश नहीं की?''

''वह प्रयत्न फँसाने का था या नहीं, कह नहीं सकती। सन्निधान के साथ

आचार्यजी के राजधानी में आने के बाद, एक दिन उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और कहा, 'देखो चंगला, तुमने बहुत विश्वस्त रूप से कार्य का निर्वाह किया है। मैं इसके लिए तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ। अपनी इस कृतज्ञता का प्रदर्शन किस तरह करूँ, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। और थोड़े दिन रुको। यहाँ की हालत ही बदल जाएगी। तुम कल्पना भी नहीं कर सकोगी कि तब यह बीरशेट्टी क्या बन जाएगा। ऐसे अवसर पर मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा।' यह सुनकर पता नहीं क्यों मैं डर गयी थी। बताना चाहती थी, पर दण्डनायक जी उपस्थित नहीं थे, वैसे ही डरते-डरते इतने दिन तक किसी तरह समय गुजारा है।''

''इस शेट्टी के साथ हिल-मिलकर रहनेवाली औरतें कौन थीं, जानती हो?''

''जानती हूँ, परन्तु सबको नहीं।''

''किस-किस को जानती हो?''

''इसके माने?''

''वे जन्मत: यादवपुरी की हैं या किसी दूसरी जगह की?''

''यादवपुरी की नहीं। जन्मत: कहाँ की हैं सो भी नहीं जानती। बताती हैं कि वह पहले वेलापुरी और दोरसमुद्र में थीं।''

''वहाँ वह क्या करती थीं?''

''देवदासी का कार्य।''

''उसे छोड़कर इस शेट्टी के साथ चली गयीं?''

''हाँ। वेलापुरी में चेन्नकेशव के प्रतिष्ठा-समारम्भ पर गान और नर्तन सेवा के लिए नियुक्त थीं—यह बात सुनी है।''

''सो तुमको कैसे मालूम हुआ?''

''उन्होंने ही बताया था।''

''क्या?''

''कहा कि उन्हीं को नृत्य-सेवा करनी थी। तभी यह शेट्टी उन्हें अपने साथ यादवपुरी ले गये।''

''राजमहल के आदेश के उल्लंघन का साहस कैसे हुआ उन्हें?''

''मैं ज्यादा नहीं जानती। महाराज के ससुरजी के आदेश पर यह शेट्टी उन्हें फुसलाकर साथ ले गये, यही उन्होंने बताया।''

''इस बात को तुमने दण्डनायकजी से कहा?''

''हाँ, बताया था।''

''क्या कहा था उन्होंने?''

''इन लोगों से मैत्री रखकर, उनसे जानने लायक कोई बात हो तो उसकी जानकारी प्राप्त करो।''

''कुछ मालूम हुआ?''

''अभी हाल में एक आश्चर्यजनक बात उनके मुँह से निकली थी।'' कहती हुई रुकी और लक्ष्मीदेवी की ओर देखा।

''अभी हाल में, का मतलब?''

''यही शेट्टी बोलते थे न, कि यहाँ की स्थिति बदल जाएगी, उसके बाद।''

''वह क्या?''

''जल्दी ही रानी लक्ष्मीदेवीजी पट्टमहादेवी बन जाएगी, तब हमारे लिए स्वर्ण अवसर आएगा, ऐसा कहा करती थीं?''

''सच है?''

''मुझे अपनी सौगन्ध, सच है।''

''तुमने उनकी बात पर विश्वास कर लिया?''

''मैं चकित रह गयी। दम घुटने-सा लगा।''

वास्तव में एक तरह से उस वक्त सारी सभा में लोगों का दम घुटने का-सा वातावरण था। सबने प्रश्नार्थक दृष्टि से देखा। बिट्टिदेव ने तिरुवरंगदास की ओर चुभती नजर से देखा। तिरुवरंगदास का चेहरा फक होकर सफेद पड़ गया था। रानी लक्ष्मीदेवी के मानो प्राण निकले जा रहे थे।

''इस लालच की कोई तुलना ही नहीं।'' बिट्टिदेव ने कहा। वह क्रोध से भर उठे थे। दाँत पीसने लगे।

शान्तलदेवी ने बिट्टिदेव के कान में कहा, ''हम सत्य को प्रकट कराने की कोशिश कर रहे हैं। ये सब हवा की लहर मात्र है। इस तरह लहर को चलाने वाले कौन हैं, यह जानना चाहिए। इसलिए इस तहकीकात के बीच मौन और संयम बरतना अच्छा है।''

'सारी दुनिया ही तुम पर टूट पड़े तब भी तुम हँसती रहती हो। यह सब षड्यन्त्र तुम्हारे खिलाफ ही चल रहा है' बिट्टिदेव कहना चाहते थे। उन्होंने शान्तला की ओर देखा। उन्होंने मुस्कराकर चुप रहने की सूचना आँखों ही आँखों में दी। वह चुप रहे, एक क्षण भर। फिर कुछ सोचकर बोले, ''इसका उत्तर, शेट्टीजी?''

''अपनी देह के व्यापार से जीनेवाली औरतों की बातों को महत्त्व देते जाएँ तो किस्सा ही खतम।'' बीरशेट्टी तिरस्कार का भाव प्रकट करते हुए बोला।

''किसका किस्सा?''

''किसी का नहीं, न्याय का।''

''तो ये सभी स्त्रियाँ, आपकी राय में, देह का व्यापार करनेवाली हैं?''

''वह तो स्पष्ट ही है।''

''किसके साथ किया ऐसा?''

बीरशेट्टी ने तुरन्त कुछ नहीं कहा।

"कहिए, शेट्टीजी!"

"चंगला ने कहा ही है न?"

"तो आप मानते हैं कि उसने सच-सच कहा है?"

"स्त्रियों की बात!"

"ठीक, तब उन स्त्रियों को ही बुलवाएँगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

"चंगला, तुम जाओ अब।" चट्टलदेवी बोली।

बाद को एक औरत आयी। अधेड़ थी, पर सुन्दर। उसकी भाव-भंगी में चपलता थी।

"तुम्हारा नाम?" चट्टलदेवी ने पूछा।

"रत्ना।"

"स्थान?"

"मंगलुला।"

"कहाँ है यह?"

"चालुक्य राज्य में।"

"ओह! वही, सुना था कि चालुक्यनरेश को मंगलुला की किसी वेश्या से बहुत प्रेम हो गया था। वही मंगलुला?" बीच में शान्तलदेवी ने पूछा।

"हाँ, हम परम्परा से चालुक्य राजाओं के अधीन रही हैं।"

"पोय्सल राज्य में क्यों आयीं?" चट्टलदेवी ने पूछा।

"मेरे मालिक बीरशेट्टी ले आये।"

"एक बार कहा कि हम राजा के अधीन हैं, अब कहती हो कि बीरशेट्टी मालिक हैं। यह क्या?"

"राजमहल की स्वीकृति पर ही मैं मालिक के साथ आयी थी।"

"कब आयी?"

"इन पट्टमहादेवीजी के विवाह के समय। तब मैं सोलह की थी।"

"यहाँ तुम्हारा काम?"

"सभी जगह मेरा एक ही काम है।"

"इसके माने?"

"वेश्यावृत्ति। मालिक की आज्ञा का पालन करना।"

"तो मात्र बीरशेट्टी के लिए सुरक्षित नहीं रहीं?"

"बेचारे, मेरे मालिक बहुत अच्छे हैं। यदि वे चाहते तो इनकार नहीं करती। उन्होंने कभी हमारी तरफ नहीं देखा।"

"चंगला को जानती हो?"

"हाँ, वह मेरे मालिक के पास नौकरानी थी।"

"तुम्हारी जैसी नौकरी?"

"न-न, बेचारी! हमारी जैसी नौकरी के लिए वह बिलकुल अनुपयुक्त है। हमारे मालिक का उस पर अनुराग था। किसी तरह से मनाना चाहते थे।"

"इसके लिए तुमने सहयोग दिया?"

"एक तरह से हाँ, पर हमने मान लेने को नहीं कहा।"

"'हम कहती हो, इसके माने?"

"हम छह जनी हैं। अलग-अलग स्थानों से आयी हैं।"

"अलग-अलग स्थानों से, यानी?"

"कल्याण से, मान्यखेट से, धारानगरी से, देवगिरि और वनवासी से।"

"एक तरह से सहयोग दिया, कहा न? क्या किया करती थी?"

"मालिक के आदेश के अनुसार, जिसे सुख देने को कहते, देती थी। वे जिस धर्म के अनुयायी होते, उसी को हम श्रेष्ठ कहते।"

"ऐसा कहने-करने के लिए तुम्हें आदेश दिया गया था?"

"सुख देने के हमारे कार्य से मालिक के काम में मदद मिल जाती थी। अपने धर्म की प्रशंसा करते तो हमें भी वही धर्मप्रिय है कहती, तो वे खुशी से फूल उठते। उन्हें खुश करने के लिए वह एक नियमित सूत्र था, इसलिए हम ऐसा करती थीं। किस-किस के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसे हमें मालिक ने सिखाया नहीं था।"

"क्या तुम लोगों को ऐसा नहीं लगा कि यह सब करना गलत है?"

"मेरे मालिक का काम। जो कहें उसे कर्तव्य मानकर करना। इसमें हमें कोई खास गलत बात नहीं दिखाई दी।"

"धर्म की बात इस अधर्मगोष्ठी में क्यों?"

"पुरुष को अपने वश में करना हो तो वह कुरूप हो तब भी उसे कामदेव कहना पड़ता है। बढ़ाने-चढ़ाने के लिए जो बात कही जाए, उसका मूल्यांकन नहीं किया जाता।"

"जाने दो। तुम्हारे मालिक का क्या काम है?"

"जवाहरात के व्यापारी हैं।"

"उस व्यापार का इस चण्डाल-चौकड़ी से क्या सम्बन्ध है?"

"मुझे क्या मालूम? जो आते थे वे बहुत धनी होते थे या फिर ऊँचे स्तर के अधिकारी होते थे। उनके खुश होने से शायद मालिक का व्यापार अधिक बढ़ जाता होगा।"

"इस व्यापार के बढ़ने का रानी लक्ष्मीदेवी के पट्टमहादेवी बनने की बात से क्या

सम्बन्ध है?''

''ऐसा किसने कहा?''

''तुमने और बाकी वेश्याओं ने!''

''मैंने तो ऐसा नहीं कहा!''

''झूठ मत बोल। बंगले में बताना है। उसे बुलवाऊँ?''

''उसे उत्साहित करने के लिए ऐसा कह आया होगा। भला रानी लक्ष्मीदेवी पट्टमहादेवी कैसे बन सकती हैं? वह हमारे महाराज की चौथी रानी हैं न!''

''यह जानते हुए भी झूठ बोलने का साहस तुम्हें कैसे हुआ? तुमको एक बात मालूम है? बिना आग के धुआँ नहीं निकलता। सच-सच बताओ!''

''जो जानती हूँ, सो कहा है। आपके मानने लायक बात कहूँगी तो वही सत्य है क्या?''

''ऐसी बात है? तब देख ही लें कि सत्य क्या है।'' कहकर चट्टलदेवी ने चाविमय्या की ओर देखा।

चाविमय्या ने कहा, ''उस चन्दुगी को बुला ला।'' चन्दुगी लाया गया। फिर बोला, ''उस तिलकधारी को पकड़ ला।'' वह तिलकधारी भी लाया गया।

चाविमय्या ने उस तिलकधारी से पूछा, ''तुम्हारा नाम क्या है?''

उस तिलकधारी ने हकलाते हुए कहा, ''मेरा नाम...मेरा नाम...नाम तिलकधारी।''

''किसी का ऐसा नाम नहीं होता। अपना सही नाम क्या है, बता दो।'' चाविमय्या ने कहा।

''मैंने जो कहा वही मेरा सही नाम है। किसी और ने ऐसा नाम नहीं रखा तो क्या मैं भी यह नाम नहीं रख सकता?''

''अच्छा, जाने दो।'' चन्दुगी की ओर निर्देश करके चाविमय्या ने पूछा, ''इसे तुम जानते हो?''

''अच्छी तरह जानता हूँ।'' तिलकधारी ने कहा।

''चन्दुगी! इसे तुम जानते हो?''

''नहीं। मैंने इसे देखा ही नहीं।''

''रे चन्दुगी! यों झूठ मत बोल। उस दिन मैं और तुम, और आठ-दस लोग बोरशेट्टी के यहाँ तलघर में एक साथ मिले थे न?''

चन्दुगी ने अकचकाकर उस तिलकधारी की ओर देखा। उसकी नाक पर पसीने की बूँदें जम आयी थीं।

''तलघर में मैंने किसी तिलकधारी को देखा ही नहीं।'' चन्दुगी बोला।

''तो बात यह हुई कि तुम तलघर में गये हो। इसे तुमने मान ही लिया न? वहाँ क्या काम करते थे?'' चाविमय्या ने पूछा।

"तलघर में...तलघर में...हम मित्र यों ही मिला करते थे।"

"सो तो ठीक है। जब मिलते तब करते क्या थे?"

"शेट्टीजी शराब मँगवाते। मस्त होने तक हम पीते। बाद को...बाद को...शेट्टी हमारे शयन-सुख का भी इन्तज़ाम कर देते।"

"तुम लोगों के लिए शयन-सुख की व्यवस्था करने के लिए क्या शेट्टी व्याकुल रहते थे?"

"ओफ, वह हमारी अपनी बातें हैं। यहाँ, इस राजमहल में इन बातों की चर्चा क्यों?"

"अगर वह सच ही तुम्हारी अपनी बात होती तो हम तुम लोगों को यहाँ बुलवाते ही नहीं। चुपचाप जो बात है सो बता दो।"

"कह दिया न? और क्या कहूँ? शयन-सुख कैसा रहा, किस-किस के साथ सुखानुभव हुआ, आदि-आदि बताना होगा?"

"बेहया ही यह सब कहेगा। और ऐसे ही लोग यह सब पूछेंगे। यहाँ यह बात नहीं करनी है। यहाँ केवल सत्य चाहिए।"

"सत्य ही तो कहा।"

"ऐ तिलकधारी! तुम बताओ, ये लोग क्या करते थे?"

तिलकधारी ने कुछ हीला-हवाला किया।

"तुमने इन लोगों के साथ शराब पीकर शयन-सुख का अनुभव किया?"

बात सुन तिलकधारी जोर से हँस पड़ा।

"क्यों ऐसा हँसते हो?"

"हँसूँ नहीं तो क्या करूँ? वहाँ शराब नहीं थी, शयन-सुख भी नहीं।"

"तो वहाँ क्यों इकट्ठे होते थे?"

"षड्यन्त्र रचने। यह चन्दुगी जैन है। इसके साथ जो लोग रहते थे वे सभी जैन थे। इन सबको संगठित करके इन त्रिनामधारियों पर धावा करवाने का षड्यन्त्र रचा जाता था। यह बताया जा रहा था कि अहिंसा तत्त्व से पुनीत जैनधर्म इन श्रीवैष्णवों के कारण अपमानित होता जा रहा है। वह वैष्णव मत अब इस राज्य में कँटीली बेल की तरह मनमाने ढंग से फैलता जा रहा है। जहाँ देखो, वहीं ये त्रिनामधारी दिख रहे हैं। इन्हें यों बढ़ने दें तो फिर ये हमको ही यहाँ से भगा देंगे। इसलिए इनको जब तक नहीं भगाएँगे, तब तक जैनियों की खैर नहीं। इसलिए इन्हें भगाने के लिए कुछ नया उपाय ढूँढ़ना होगा। एक उपाय किया सो वह सफल नहीं हुआ। उन आचार्य के पास खबर भेजी गयी कि वे यदि तिरुमलाई से लौटे तो उन्हें अपने प्राण खोने पड़ेंगे। फिर भी वे लौटकर यहीं आये। इसलिए अब उन आचार्य और उनके शिष्यों को भगाने के लिए कोई न कोई प्रबल उपाय करना होगा, आदि-आदि बातों पर चर्चा की।" उस

तिलकधारी ने तुतलाहट के स्वर में कहा।

"चन्दुगी, अब क्या बोलते हो?"

"मैं क्या कहूँ? यह झूठ-मूठ बकता है।"

"झूठ कहने के लिए कोई आधार भी होना चाहिए न?"

"वहाँ कोई तिलकधारी रहता ही नहीं था।"

चाविमय्या ने तिलकधारी की तरफ मुड़कर पूछा, "बताओ, तुम अब क्या कहते हो?"

"चन्दुगी का कहना सच है। तिलकधारियों के लिए वहाँ प्रवेश ही नहीं था। इसलिए मैं भी जैन बनकर वहाँ जाता था। इसलिए वह मुझे नहीं पहचान सका। एक दिन बैठक में मैंने सलाह भी दी थी कि श्रीपाल वैद्य गुरुजी को छेड़कर श्रीवैष्णवों का खण्डन करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।"

चन्दुगी ने उस तिलकधारी को सिर से पैर तक गौर से देखा।

"क्यों, पता नहीं चला? मैं मान्यखेट का मादिमय्या हूँ न?"

चन्दुगी जमीन की ओर देखने लगा।

"आगे क्या हुआ?" चाविमय्या ने पूछा।

"तब इस चन्दुगी ने कहा, 'ये गुरु किसी काम के नहीं। अलावा इसके, इन लोगों ने राजमहल का नमक खाया है। गद्दारी करेंगे। इनके सिर पर खतरा है। इसलिए इस कमबख्त श्रीवैष्णव बने महाराज को ही खतम कर दें', यह सलाह इसी ने दी। तब इस बीरशेट्टी ने बड़े उत्साह से कहा, 'सो तो ठीक है। परन्तु यह इतना आसान काम नहीं। इधर अंगरक्षक दल बहुत बढ़ गया है।' दूसरे ने कहा, 'तीनों विश्रान्तिगृहों में पहुँचने के लिए भूगर्भ-मार्ग तैयार करवाएँ तो काम आसान हो जाएगा।' तब एक और ने, 'यह कैसे सम्भव होगा? यह भूगर्भ का कमरा है न?' प्रश्न किया। चन्दुगी ने कहा कि यह खास व्यक्ति का है, शेट्टी का बनवाया हुआ। किसी को मालूम नहीं। तब एक और ने, 'यह भी तो भूगर्भ मार्ग है' कहते हुए उसकी दीवार पर लगे एक दरवाजे को दिखाया और बताया कि यह सुरंग-मार्ग सीधा यादवपुरी के पश्चिम की तरफ के पहाड़ के उस ओर पहुँचाता है। वहाँ के जंगल के बीच में पड़ता है वह स्थान।"

"क्यों बीरशेट्टी? यह सब सत्य है न?"

"मैं क्या पागल हूँ जो इस तरह की सुरंग बनवाऊँगा?"

"पकड़ने आएँ तो छिपकर भागने के लिए। उस रास्ते में एक जगह तुमने जो सोने-चाँदी की ईंटें छिपा रखी थीं, वह सब इस समय हमारे कब्जे में हैं। हमने उस सुरंग मार्ग का पता लगाकर एक जबरदस्त पहरा भी बिठा रखा था, इसलिए कि तुम कहीं छिपकर भाग न जाओ। तुम्हारा भाग्य है कि महाराज से तुम्हें आदरपूर्वक आमन्त्रण

मिला है। हमारी इस बात को मान लेने से स्थिति वहाँ तक नहीं पहुँच पायी। हम भी वही चाहते थे, ताकि राज्य की सामान्य जनता में इसकी जानकारी किसी को न हो। यह तिलकधारी मान्यखेट का मादिमय्या वास्तव में हमारे गुप्तचर जत्थे का सदस्य है। इसी तरह हमारे गुप्तचर दल के सदस्यों को अलग-अलग भेसों में आप के सभी कार्य-कलापों में शामिल करके तुम लोगों के सम्पूर्ण जाल का हमने पता लगा लिया है। किस-किस तरह से तुम धर्म के बहाने परस्पर द्वेष को बढ़ाते रहे, और उसके लिए औरतों का और सोने-चाँदी का किस तरह उपयोग तुमने किया, इस सबका हमें पता लग चुका है। तुम्हारे ही मुँह से तुम्हारी इन गुप्त बैठकों का सारा इतिहास भी सुन लिया है। इसलिए तुम किसी भी तरह से पार न पा सकोगे। राजगृह, गुरुगृह और जनता, इनमें परस्पर विद्वेष की भावना फैलाकर, अपने बड़े भाई की हार का बदला लेने के लिए चालुक्यों की तरफ से गुप्तचर बनकर तुम यहाँ आकर बसे हो। दुख की बात यह है कि यादवपुरी के धर्मदर्शी को और हमारी महारानीजी को भी बड़ी चालाकी से इस धर्मद्वेष को फैलाने के कुकर्म के लिए तुमने इस्तेमाल किया है। पट्टमहादेवीजी को रानी लक्ष्मीदेवी और धर्मदर्शी से द्वेष है, ऐसा प्रचार करके उनके मन को तुमने कलुषित किया। और यह कहकर कि पट्टमहादेवी अधेड़ हो चली हैं। इसलिए महाराज का अब छोटी रानी के साथ ज्यादा लगाव है, तुम लोगों ने मौका देखकर छोटी रानी को पट्टमहादेवी बनने के लिए उकसाया। महाराज अब श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी हैं इसलिए उनकी उसी सन्तान को ही सिंहासन मिले जो जन्म से श्रीवैष्णव हो। यह ख्याल उनके मन में तुमने भर दिया। इसी तरह पट्टमहादेवी के बड़े पुत्र को सिंहासन मिलने की परम्परा के बावजूद उन्हें हटाने के इरादे से तुमने इसका प्रचार करना भी शुरू किया कि उन्हें हटाया जाएगा। तुम चाहते थे कि पोय्सल-राजमहल कौरवों के राजमहल-सा बन जाए। परन्तु यह राजमहल का पुण्य है, यहाँ की जनता का सौभाग्य है कि तुम्हारा सारा षड्यन्त्र खुल गया। चुपचाप अपनी गलती मान लो, क्षमा-याचना करो अन्यथा मृत्युदण्ड से नहीं बचोगे।" चाविमय्या ने कहा।

"रतनव्यास से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मैं चालुक्यों के प्रोत्साहन से यहाँ नहीं आया। यह धर्मदर्शीजी एक दिन मेरे पास आये और बोले, 'इस पोय्सल राज्य में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की वृद्धि होनी चाहिए और इस सम्प्रदाय का विशेष रूप से विस्तार होना चाहिए। इससे श्री आचार्यजी और रानी लक्ष्मीदेवी दोनों को अत्यन्त हर्ष होगा। इससे लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से आपका लाभ भी होगा।' मैंने कहा, 'इस सबसे आपका क्या मतलब सिद्ध होगा? बड़े-बड़े लोग मौजूद हैं। महाराज स्वयं आचार्यजी के शिष्य हैं। यदि वे चाहेंगे तो कल समूचा राज्य वैष्णव हो सकता है। आपकी रानी लक्ष्मीदेवी पट्टमहादेवी भी बन सकती हैं। कल उन्हीं की सन्तान राज कर सकती है। यह सब उन्हीं पर छोड़ दीजिए। इस बात को लेकर आपको दिमाग खराब

करने की जरूरत नहीं। और फिर, हम व्यापारी हैं। हम कभी राजघरानों से विरोध नहीं मोल लेते, क्योंकि व्यापारी का सारा कारोबार राजकाज पर ही निर्भर रहता है।' तब इन धर्मदर्शी ने कहा, 'शेट्टीजी! आपको मालूम नहीं। यहाँ की रीति ही अलग है। हमें चोलनरेश जैसे बलवान् धर्मभीरु चाहिए। यह राजा इस विषय में बहुत नरम हैं। वे पट्टमहादेवी से डरते हैं। पट्टमहादेवी श्रीवैष्णव न बनकर, जैनी ही बनी हुई हैं, यही बाधा है। इसे दूर करना है। ऐसी हालत में हम कैसे चुप रह सकते हैं? आचार्यजी क्या अकेले अपना सब काम कर सकते हैं? यदि वे एक को श्रीवैष्णव बनाएँ तो उस एक को चाहिए कि और दस लोगों का मत परिवर्तन कर, वह उन्हें श्रीवैष्णव बनाए। इसलिए धर्मप्रचार करना कोई गलती नहीं। इसके अलावा, प्रभु भी श्रीवैष्णव मतावलम्बी हैं। इसलिए हमारे इस काम में आप मदद करें।' मैंने भी इसे एक सेवा समझकर मान लिया। इसमें, जैसा चाविमय्या ने कहा, मेरा कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था। यदि मुझे दण्ड दिया जाएगा तो इस धर्मदर्शी को भी दण्ड मिलना चाहिए। उनकी सभी बातें यदि सत्य हैं तो उनकी बेटी रानीजी को भी दण्ड दिया जाना चाहिए।''

''किसे दण्ड देना है, किसे नहीं, यह निर्णय सन्निधान का है। उन्हें तुमसे सलाह लेने की जरूरत नहीं। अभी तुमने जो आरोप लगाया है वह साधारण आरोप नहीं। सन्निधान इसका न्याय करेंगे। परन्तु तुमने जो किया वह केवल श्रीवैष्णव मत का प्रसार नहीं है। इस प्रसार के लिए सुरंग-मार्ग और तलघर आदि की जरूरत ही नहीं थी। तुम रतनव्यास के भाई हीराव्यास हो। इस बात को धारानगर की वेश्या चम्पा प्रमाणित करेगी। कहो तो उसे बुलाऊँ। इसके अलावा, उधर से और चालुक्यों की तरफ से गुप्तचर जो पत्र लाया करते थे, उनमें से कुछ हमारे कब्जे में हैं। तुम्हारे तलघर की खोज से प्राप्त और भी अनेक चीजों से हम प्रमाणित कर सकते हैं कि तुम अपराधी हो। तुम स्वयं मान लो तो अच्छा, नहीं तो और अनेक छोटी-छोटी बातों को प्रकट करना पड़ेगा।'' चाविमय्या इतना कहकर बीरशेट्टी के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

बीरशेट्टी ने तुरन्त कोई उत्तर नहीं दिया। अचकचाकर इधर-उधर देखने लगा।

''हथकड़ी नहीं पहनायी इसलिए भाग जाने की मत सोचो। वह नहीं हो सकेगा। तुम्हारा पूरा दल हमारे कब्जे में है। इतना ही नहीं, उनमें से जो लोग तुम्हारी जैन बैठकों में जैनी बनकर और वैष्णव बैठकों में श्रीवैष्णव बनकर आते थे, ऐसे तुम्हारे अन्तरंग गुप्तचर भी हमारे कब्जे में हैं। उन लोगों ने कहाँ किस झूठ का प्रसार किया है, सो भी हमें मालूम है। तीनों आचार्यों ने जो बातें बतायीं, उनके लिए हमारे पास गवाह मौजूद हैं। चुपचाप मान लो।'' चाविमय्या ने कहा।

सभा में मौन छा गया। बीरशेट्टी सिर झुकाये खड़ा रहा।

''वह अभी आगा-पीछा कर रहा है। चम्पा को बुलाओ। वैसे ही मायण से कहो कि तलघर में मिले उन पत्रों को भी ले आएँ।'' चाविमय्या ने कहा।

चम्पा आयी। मध्य-वयस्का। शरीर कुछ मोटा हो चला था। फिर भी वह आकर्षक थी। आँखें चपल। उसके पीछे मायण भी कुछ पत्रों का पुलिन्दा लेकर आ पहुँचा।

''मायण के पास जो पत्र हैं, वे लगभग दस-पन्द्रह साल से संगृहीत पुराने पत्र हैं। चम्पा के पास अभी हाल का पत्र है। उस पत्र को वह सुरंग-मार्ग से बाहर लाकर शत्रु-राज्य के गुप्तचर के हाथ देने आयी थी। गुप्तचर को पकड़ना उचित न समझकर, उन्होंने इसे पकड़ा। उस गुप्तचर को डरा-धमकाकर भगा दिया था। इस औरत को पकड़कर इसके पास से पत्र ढूँढ़ निकाला और उस पर इसके अँगूठे का निशान ले लिया था। यह जो पत्र हाल का लिखा है, उनके पास है। यह घटना, सन्निधान के आचार्यजी के साथ राजधानी पहुँचने के बाद घटी। हमने इन पत्रों को और चम्पा को गुप्त रीति से राजधानी भेज दिया। क्योंकि इसने उस गुप्तचर के साथ हमारे राज्य से भाग जाने की तैयारी कर रखी थी। यह गुप्तचर भी हमारे हाथों पड़ गया।'' चाविमय्या ने बताया।

''इसके हाथ में जो पत्र था वह कहाँ है?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

मायण ने उसे प्रस्तुत किया। उसे देखकर लौटाते हुए बिट्टिदेव ने कहा, ''मायण, इससे पूछो कि यही वह पत्र है जो इसके पास था?''

''चम्पा, तुम्हारे पास पत्र था न?'' मायण ने पूछा।

उसने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

''तुमको यह पत्र किसने दिया?''

''मेरे मालिक ने।''

''कौन है तुम्हारा मालिक?''

''बीरशेट्टी जी।''

''पत्र में क्या था?''

''मैं नहीं जानती।''

''यही है न वह पत्र?''

''हाँ, यही। मेरे अँगूठे का निशान है।''

''तुम कहाँ जा रही थीं?''

''मालिक की आज्ञा के अनुसार इस पत्र को चोल-प्रतिनिधि के पास पहुँचाना था।''

''गुप्तचर वह काम कर सकता था, तुम क्यों जा रही थीं?''

''मेरे हाथ में जो पत्र था उसके अनुसार काम हो तो तुरन्त आकर मिलने की बात मेरे मालिक ने मुझसे कहकर भेजा था।''

''उस पत्र को पढ़कर सुनाएँ?'' बिट्टिदेव ने कहा।

"महाराज की सेवा में प्रमाणपूर्वक विनम्र विनती है। मेरे जिम्मे जो कार्य सौंपे गये थे उन्हें मैं बहुत होशियारी एवं सतर्कता से कर रहा हूँ। भाग्य और दैवबल, इनके कारण इस बिट्टिदेव को विजय पर विजय प्राप्त हुई है। मैंने कई वर्षों के व्यवहार और विनीत आचरण से यह विश्वास पैदा किया है कि मैं इस राज्य का एक निष्ठावान् व्यक्ति हूँ। इन विजयों के कारण अब राजमहल से अधिक अहंकार राज्य की जनता में है। इन सभी विजयों का कारण है, राजा की मदद करने के लिए जनता का कमर कसकर तैयार रहना। जनता की इस एकता को तोड़ने के लिए वातावरण इतना अनुकूल नहीं था, अतएव मेरे काम में कुछ विलम्ब हुआ। परन्तु अब भाग्य के पलटने में बहुत वक्त नहीं लगेगा, ऐसा मुझे लगता है। महाराज बिट्टिदेव के श्रीवैष्णव मतावलम्बी हो जाने के बाद हमारा काम आसान हो जाएगा, यह हमने समझा था। परन्तु उनका श्रीवैष्णव होना भी यहाँ की एकता को तोड़ने में समर्थ नहीं हुआ। हाल में महाराज ने एक नया विवाह किया है, जिससे परिस्थिति बदल गयी है। यह नयी रानी श्रीवैष्णव है। उसका पोषक पिता बड़ा महत्त्वाकांक्षी है। अब जो उसका स्थान है, उसका महत्त्व वह समझता है। इसलिए वह बहुत बढ़-चढ़कर बोलता है। महाराज के ससुर होने के नाते लोग उसे सह लेते हैं। अन्य धर्मावलम्बियों को वह नीचा समझता है। इससे लोग उससे असन्तुष्ट हैं। वह कहता है कि उसका धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इस आदमी की मानसिकता को पट्टमहादेवी ने बहुत अच्छी तरह पहचान लिया है। धर्म के नाम पर जनता की एकता को तोड़ने की प्रवृत्ति के कारण उसके चाल-चलन पर कड़ी नजर रखी जाती रही है। इस वजह से उसका गुस्सा बहुत बढ़ गया है। एक बार वह मेरे पास आया और अपना दुखड़ा रोया। तब मुझे लगा कि अब हम अपनी गोट चला सकते हैं। उसे मैंने उकसाया। उसने जाकर अपनी बेटी को उकसाकर छेड़ दिया है। राजमहल में सौतेली डाह अवश्य पैदा हो जाएगी। राज्य में जैन और श्रीवैष्णवों में टक्कर होगी, यह निश्चित है। यह व्याधि बढ़ती जाएगी तो महाराज और पट्टमहादेवी, धर्म के कारण, एक होकर नहीं रह सकेंगे। यह काम बड़ी सफलता से चलाया गया है। विजयोत्सव के साथ अपने को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र घोषित कर विरुदावली धारण की धुन में मस्त रहने के कारण, अन्तःकरण से उस पहले का-सा हेलमेल नहीं रहने से एवं दण्डनायकों में से कुछ श्रीवैष्णवों और कुछ जैनियों के होने की वजह से भी, सेना का भी एकनिष्ठ होना सम्भव नहीं। एक दण्डनायक तो महाराज के श्रीवैष्णव ससुर का घनिष्ठ मित्र भी है। वह अभी जवान है। उस पर हमारी एक लड़की का प्रभाव अब पड़ चुका है। इन बातों के अलावा यह बात भी फैला रखी है कि आगे चलकर श्रीवैष्णव सन्तान को ही सिंहासन मिलना चाहिए। सेना अब दो साल से लड़-लड़कर थक चुकी है। तुरन्त दक्षिण की ओर से, और पत्र भेजकर उत्तर की तरफ से भी, एक साथ हमला करवा दें तो इस राज्य का अस्तित्व ही मिट जाएगा। इसी मौके पर छिप

कर भागे आचार्य और उनके शिष्य एक साथ हमारे हाथ में पड़ जाएँगे। हमारी चम्पा मिलनसार है, सबसे निःसंकोच मिल-जुलकर रहेगी। उसका ख्याल रखिए। आप कार्यारम्भ करते ही सूचित कर देंगे तो यहाँ दोनों धर्मावलम्बी टोलियों को भिड़ाकर मैं आपके साथ शामिल हो जाऊँगा—बी. शे.।''

''शेष पत्र ?''

''ये पत्र समय-समय पर इसके पास भेजे गये आदेश हैं।'' मायण ने कहा।

''किसके आदेश ?''

''किसके आदेश, यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उन पर संकेत मुद्राएँ हैं और सभी मुहरें एक-सी नहीं हैं।''

''विषय क्या है ?''

''एकता को तोड़ने के लिए क्या-क्या करना चाहिए और क्या सहायता चाहिए आदि के बारे में, सहायता करने आये व्यक्तियों के द्वारा भेजी गयी छोटी-छोटी बातें इनमें हैं।''

''इस सभा के सामने पेश करने लायक और कोई मुख्य बात ?''

''है। अनुमति हो तो पढ़ूँ ?''

''पढ़ो!''

''लिखा है—'अभी महाराज ने जो शादी की, उस नयी रानी के माता-पिता कौन हैं सो मालूम नहीं, यह बात सुनने में आयी। ऐसी अनाथ लड़की से शादी करनेवाला राजा भला कौन-सी भव्य परम्परा स्थापित करने जा रहा है ? वह भी ऐसी ही है। किसी के भी हाथ आ जाएगी। किसी तरह से उसके मन में यह विष-बीज बो दो। उसे ऐसा पद मिला है जो उस जैसी स्त्री के लिए दुर्लभ है। सुख में मस्त हो, कामलीला में जैसा नचावें नाचनेवाली होगी वह। परन्तु इस विषय में बहुत सतर्क रहना होगा'।''

''यह पत्र किसकी तरफ से है, जान सकते हैं ?''

''इस पर वृषभमुद्रा है।''

''पल्लवों की वृषभमुद्रा है।''

''द्वेष करने के लिए वहाँ अब कौन है ? हमारी रानी बम्मलदेवी पल्लवकुल की ही हैं न ?'' शान्तलदेवी ने सवाल किया।

''रानी राजलदेवी इस दृष्टि से तो चालुक्य-कुल की हैं न ?'' बिट्टिदेव ने प्रश्न किया।

''ये मुद्राएँ ही कृतक हैं। इसका रहस्य केवल यह शेट्टी जानता है। चाहे जो हो, इतना समझ लें तो काफी है कि ये सब पत्र हमारे शत्रुओं की तरफ से आये हैं।'' चाविमय्या बीच में ही बोल उठा।

''एक पत्र और है। इस पत्र में नीचे त्रिनामतिलक का चिह्न है। उसमें जो लिखा

हैं वह महान् विद्रोहकारी है। लिखा है 'विजयोत्सव के दिन पट्टमहादेवी को खतम कर दें। जैनों की कमर तोड़ने के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं। उन्हें खतम न किया गया तो श्रीवैष्णवों के लिए यहाँ कोई काम ही नहीं रह जाएगा।''

''शान्तं पापं, शान्तं पापं!'' आचार्यजी ने कान पर हाथ रख लिये।

''ऐसी हालत में सन्निधान स्वयं समझ सकते हैं कि श्रीवैष्णवों की धूर्तता कहाँ तक पहुँच चुकी है।'' गण्डविमुक्तदेव एकाएक कह उठे।

तब मायण आगे आया। प्रणाम कर बोला, ''श्री गुरुवर्य को इसके दूसरे पहलू की भी जानकारी होनी चाहिए।'' कहकर नौकर को बुलाकर उससे कहा, ''उस वामशक्ति पण्डित को बुलवा लाओ।''

गुरु के पद पर आसीन वामशक्ति पण्डित को दो व्यक्ति पकड़कर लाये। वामशक्ति पण्डित का नाम सुनकर पट्टमहादेवी चकित हो उठीं। अब समक्ष देखकर उनके मन में उसके प्रति एक असह्य घृणा का भाव उभर आया—मैंने एक दिन इनके अपवित्र चरण छुए थे, शायद वह किसी पुराकृत पाप का फल होगा। मायण बिना प्रमाण के गुरु-स्थान में रहनेवालों को यों नहीं पकड़ लाएगा—यह उनका मन कह रहा था।

''ये गुरु भी इस षड्यन्त्र में शामिल हैं?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''यह बीरशेट्टी और यह वामशक्ति पण्डित दोनों एक ही पेड़ की दो शाखाएँ हैं। एक दिन इस शेट्टी के तलघर में जैनों की एक बैठक हुई थी। उस दिन मैं स्वयं भेष बदलकर उस तलघर में गया था। उस दिन उस सभा में यह गुरु कहलाने वाला व्यक्ति जिस तरह की बातें कर रहा था, उसके स्मरण मात्र से असहनीय वेदना होती है। यदि मुझे अधिकार होता तो उसी क्षण इसका पेट चीरकर इसे खतम कर देता।''

''क्या कह रहा था?'' शान्तभाव से बिट्टिदेव ने पूछा।

''उसी से पूछ सकते हैं।''

''वह झूठ भी बोल सकता है।''

''झूठ नहीं बोल सकता। क्योंकि उसको मालूम है कि सत्य को प्रकट करने के लिए हमारे पास प्रबल साक्ष्य मौजूद हैं। यह गुरु शराब पीने में निष्णात है। शराब पीने को सल्लेखन व्रत पालन से भी ज्यादा श्रेष्ठ मानता है। लम्पटता के लिए यह प्रसिद्ध है। इस शेट्टी के उस तलघर में अनेक शयन-गृह हैं। इस गुरु की रातें वहीं बीतती हैं। इसके संग जो स्त्री थी वह इसी से बिगाड़ी गयी स्त्री है। इस गुरु की सारी बातों को इसने विस्तार से बताया है। वह अकेली ही नहीं, इससे संगसुख पाने वाली और भी दो वेश्याएँ हैं। इसलिए समझ सकते हैं कि यह झूठ नहीं बोल सकता।''

''क्यों वामशक्तिजी, मायण की बातों पर आपकी प्रतिक्रिया क्या है?'' बिट्टिदेव ने पूछा।

''साध नहीं सका, तब प्रतिक्रिया ही क्या? तुम एक धर्मद्रोही राजा हो। यह

आचार्य भी परिवार का निर्वहण न कर सकने वाला डरपोक। तुम दोनों का मिलन जैन-धर्म के लिए दुष्टसमास साबित हुआ है। तुम दो हैं जब तक जीवित हो तब तक हमारे धर्म की हानि ही हानि है। जिस दिन तुमने हमें नीचे बिठाकर इसे ऊपर बिठाया और प्रशंसा कर सम्मानित किया, एवं इसके दास बने, उसी दिन से तुम जैन-धर्म-द्वेषी हो गये। यानी हमारे दुश्मन बन गये। यदि तुम एक साधारण प्रजा होते तो तुम्हारी परवाह नहीं करते। आज क्या हुआ है, तुम जानते हो? सारे राज्य भर में ये ही लोग भरे पड़े हैं, ये ही तिलकधारी। तुम्हारी एक लड़की की जान बचायी तो क्या इसे सारा राज्य दे दोगे? वेलापुरी और तलकाडु तथा यादवपुरी के मन्दिर, इन सब पर तुमने जो खर्च किया वह हमारा ही धन है न? अपना रंग बदले तुम्हें छह-सात वर्ष हुए होंगे। कहीं एक जिनालय बनवाया? स्वयं को सर्व-धर्म-सहिष्णुता का प्रतीक कहकर अपने मुँह चिकनी-चुपड़ी बातें करते हो। जिनधर्म के परमभक्त ऐरेयंग प्रभु, महामातृश्री एचलदेवीजी, वहाँ देवलोक में बैठ तुम्हारे इन कर्मों को देखकर आँसू बहा रहे हैं। ऐसे में तुम्हारा जीना-मरना दोनों बराबर है। महासाध्वी पट्टमहादेवी जैसी देवी का पाणिग्रहण कर सकनेवाले तुमने एक भिखारी लड़की से गुप्त रूप से शादी क्यों की? इस बूढ़े आचार्य ने इस विवाह के लिए क्यों आशीर्वाद दिया? इस पोय्सलों की गद्दी को श्रीवैष्णवों को देने के लिए? यह हमें मान्य नहीं। यह जैन-गद्दी है, जैनों के लिए ही सुरक्षित रहनी चाहिए। इसलिए तुमको और इस बूढ़े आचार्य को खत्म करके जैन धर्म की रक्षा करना चाहता था। इसके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं होता। यदि मैं कृत्य होता तो महावीर स्वामी का कृपापात्र होता। इसके लिए किसी गवाह की जरूरत नहीं। मैं स्वयं ही स्वीकार करता हूँ। तुम चाहो तो यहीं मेरा गला काट दो, मुझे इसका भय नहीं। जब धर्मनाश हो ही रहा है तब ये दोनों जैनगुरु मौन होकर जो यहाँ बैठे हैं, इनका जीना भी व्यर्थ है। धर्म के लिए आत्म-समर्पण हेतु मैं तैयार हूँ।" वामशक्ति पण्डित ने बिना हिचकिचाहट के, हिम्मत के साथ कह दिया।

तीनों गुरु आँखें बन्द किये, हाथ जोड़े मूक बनकर चुपचाप बैठे रहे। सारी सभा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो बैठी रही।

"पेश करने के लिए कोई और बात है?" बिट्टिदेव ने पूछा। उनके कण्ठ स्वर से भी उनकी मानसिक पीड़ा व्यक्त हो उठी थी।

"मुख्य विषय समाप्त हुए।" चाविमय्या ने कहा।

"तो आज की इस सभा को अब विसर्जित करेंगे।" कहते हुए बिट्टिदेव उठे। घण्टी बजी। सब लोग जैसे एकदम जाग उठे, और बिखर गये।

राजघराने के लोग, गुरु, आचार्य, अधिकारी आदि के चले जाने के बाद कैदियों को ले जाया गया। इसके बाद दूसरे-तीसरे दिन इन सभी लोगों के न्याय हेतु विचार हुआ। उससे पिछले दिन की बातों के पूरक रूप में कुछ और बातें स्पष्ट हुईं। बीरशेट्टी

के बारे में इतना ही मालूम पड़ा कि वह शत्रु-पक्ष का आदमी है। मगर किस राजा का खुफिया है, यह अभी भी मालूम नहीं हुआ। उसने भी नहीं कहा। पोय्सल राज्य की शक्ति को तोड़ने के उसके सारे प्रयत्न साबित हो गये, उसे लाचार होकर स्वीकार करना पड़ा।

वामशक्ति पण्डित पहले से ही आचार्य से ईर्ष्या करता था। वह ईर्ष्या अब मत-द्वेष में बदल गयी थी। इसका दुरुपयोग बीरशेट्टी ने किया, यह भी स्पष्ट हो गया।

तिरुवरंगदास, रानी लक्ष्मीदेवी और शंकर दण्डनाथ अपने अविवेकी स्वार्थ के कारण इस जाल में फँस गये, यह बात उनके मन में स्पष्ट हो गयी।

बीरशेट्टी ने समझा कि अपना कर्तव्य उसने पूरा किया है। इस तृप्ति में वह दण्ड भोगने के लिए तैयार हो गया।

वामशक्ति पण्डित को गुरु-स्थान से हटाकर देश-निकाले का दण्ड दिया गया। ऐसा नहीं लगता था कि उसे अपने किये पर पश्चात्ताप भी हुआ हो। तिरुवरंगदास ने भी पश्चात्ताप का प्रदर्शन किया।

शंकर दण्डनाथ सचमुच अपनी कमअक्ली पर लज्जित हुआ। उसके काम से यह स्पष्ट था कि उसे पोय्सल राज्य के प्रति गद्दारी सिखायी है, इसलिए उसे सलाह दिया गया कि वह अपने को सुधार ले और सही व्यवहार करे। उसके अधिकारों को कम कर दिया गया।

रानी लक्ष्मीदेवी लगातार दो दिन तक आँसू बहाती रही। वह अपने आप में सोचती रही, 'किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। सभी धोखेबाज हैं। मुँह से कहलवाने की ही कोशिश करते हैं और दोष लगाते हैं। राजमहल के रंग-ढंग ही मेरी समझ में नहीं आते। मैंने कभी पटरानी बनना नहीं चाहा था। यों तो रानी बनने की भी आशा मुझको नहीं थी। यह मेरे पिता का काम है। वह भी वैसे ही आदमी हैं। कभी-कभी अकल बिगाड़ देते हैं। कुछ भी मालूम नहीं पड़ता कि क्या करना चाहिए। इतने लोगों के सामने अपमानित हुई। छिपकर कहीं भाग जाने की इच्छा होती है। यहाँ रानी बनने की अपेक्षा किसी पुजारी की पत्नी होती तो शायद अच्छी रह सकती थी। पूर्व जन्म के पाप के कारण यह सब सुनना पड़ा है, यह अपमान सहना पड़ा है। नौकर-चाकरों को भी मुँह दिखाते शरम लगती है। यह सब क्या हो गया!' यह सब सोचकर रोती-बिलखती रही। धीरे-धीरे इस दुख से छुटकारा पाने की कोशिश करती हुई, यादवपुरी जाने की सोचकर वहाँ जल्दी से जल्दी भेज देने का अनुरोध करने लगी।

श्री आचार्यजी अपने मन में विचार करने लगे, 'हे भगवन्, यह कैसी दुनिया है! यदि तुम्हारी सेवा करना ही पाप माना जाय तो यह कैसे समझें कि तुम हो! जब हमें ही ऐसा लगने लगे तो फिर साधारण लोगों की क्या दशा होती होगी! बाहर से यहाँ आकर हम इन लोगों के साथ मिल-जुलकर रह रहे हैं, इसी से इस तरह की बातों का

मौका मिला। जितनी जल्दी हो सके, अपने जन्मदेश की ओर चल देना ही अच्छा है। भगवन्, यदुगिरि में चेलुवनारायण की प्रतिष्ठा करवा दो, हम लौट जाएँगे। इतनी आत्मीयता से व्यवहार करने वाले महाराज और पट्टमहादेवी के बारे में ऐसी बातें हमें सुननी पड़ीं! धर्म के लिए राजाश्रय पाना अच्छा नहीं। उसे अपने आप में विकसित होना चाहिए। इस वर्तमान स्थिति में हम इस शिवालय की नींव-स्थापना के लिए स्वीकृति दें तो हमारे शिष्य ही हमें बहिष्कृत कर देंगे। भगवन्, कैसी स्थिति पैदा कर दी? हमारी सहायता करें भगवन्, इस नींव-स्थापना के काम से हमें मुक्ति दिलाओ। हमसे यह नहीं हो सकता कि हम इन राजदम्पती का मन दुखाएँ।'

प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के मन में विचार हुआ कि सार्वजनिकों के समक्ष एक बार धर्म-मीमांसा क्यों न हो जाए। लोगों के मन में श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना जब पैदा कर दी गयी है, भोले-भाले जनमानस को प्रभावित कर उसे कुमार्ग पर जाने से पहले ही, क्यों न सबके समक्ष खुलकर एक बार धर्म की मीमांसा हो जाए। फलस्वरूप उन्होंने एक दिन पट्टमहादेवीजी को यह भी सुझाव दिया।

गण्डविमुक्तदेवजी ने विचार किया, ''श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का निर्णय करनेवाले हम कौन होते हैं? धर्म की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता उसके अस्तित्व से ही मालूम पड़ जाती है। कोई परिपूर्ण नहीं। एक की एक छोटी-सी कमी को ठीक करके, दूसरा नाम दे देने से वह श्रेष्ठ नहीं हो जाता। जो श्रेष्ठ होगा उसे परिपूर्ण होना चाहिए। जैन धर्म उस दृष्टि से बेहतर है। वाद-विवाद से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इसलिए जैसा जो है, उसे वैसा ही रहने देना ठीक है।

दूसरे धर्माभिमानी लोगों ने विचार किया कि इस बारे में सार्वजनिक विचार-विमर्श हो जाना ही अच्छा है। परन्तु प्रत्येक ने द्वेष-भाव पैदा करने के विरोध में ही अपने विचार व्यक्त किये। बामशक्ति की धर्म-शठता की रीति और बीरशेट्टी के राजनीतिक आन्दोलन की तान्त्रिक प्रक्रिया का अनुमोदन किसी ने नहीं किया। सभी ने आचार्यजी के प्रति, महाराज और पट्टमहादेवीजी के प्रति और उनके गुरुओं के प्रति अपना आदर व्यक्त किया।

आपस में कई तरह से विचार-विनिमय हुआ। ये सारी बातें राजमहल में भी पहुँच गयीं। राजमहल ने भी यह सोचकर कि विचार-विमर्श समयानुकूल है और एक ही मंच पर सभी धर्म-मतों की तात्त्विक विवेचना हो जाना अच्छा है, वैसा ही निर्णय किया। श्री आचार्यजी, प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव, अर्हत सिद्धान्त के जगदल सोमनाथ पण्डित, इन लोगों ने विचार प्रस्तुत करने की स्वीकृति भी दे दी। यह भी निर्णय किया गया कि मंच सैद्धान्तिक विचारों की उच्चता या हीनता बताने का नहीं, बल्कि परस्पर विचारों के आदान-प्रदान द्वारा एक-दूसरे को समझने के लिए हो। इसके अनुसार दोरसमुद्र के राजमहल में एक विचार-संगोष्ठी का आयोजन हुआ। उसमें राजधानी के प्रमुख पौर,

धर्माधिकारी, पुजारी वर्ग के सभी लोग उपस्थित थे। बेलापुरी से भी अनेक जिज्ञासु आये हुए थे। सभा गण्यमान्य विद्वानों से भर गयी थी। सहृदयता के वातावरण में विचार-गोष्ठी आरम्भ हुई।

श्री आचार्यजी, जगदल सोमनाथ पण्डित, प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव, नयकीर्ति, शुभकीर्ति, तिरुवरंगदास, आचार्यजी के एक और शिष्य पेरुमलै जो हाल में आये थे, हेग्गड़े मारसिंगय्या, बिट्टिदेव और पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, सबने इस सभा में अपने-अपने विचार व्यक्त किये।

सोमनाथ पण्डित ने कहा, "सभी धर्मों का लक्ष्य एक है। मार्ग भिन्न हैं। वैदिक धर्म की नींव अद्वैत है।" आचार्य के शिष्य ने कहा, "नींव वही होने पर भी उसमें अहंकार के प्रवेश का अवकाश रहता है। मानव समझने लगता है कि वह स्वयं ही परात्पर शक्ति है, इस तरह के भ्रम में पड़ जाता है। अद्वैत मार्ग में भी तत्त्व का समन्वय परात्पर शक्ति की स्थिति में अन्वित होना है। लेकिन यह 'अहं' उसे गलत मार्ग पर ले जाता है। इसलिए उस परात्पर शक्ति का दास समझकर, दास्य भावना से विनीत होकर चलने से, उसकी दया प्राप्त करके सायुज्य की प्राप्ति की जा सकती है। यहाँ 'अहंभाव' नहीं रह जाता।" नयकीर्ति शुभकीर्ति—दोनों ने बताया, "जिन धर्म का गठन अहिंसा और त्याग के आधार पर हुआ है। त्याग में उदारता है। उदारता में मन की विशालता है। मैं, मेरा आदि के लिए यहाँ गुंजायश ही नहीं है। अहिंसा, त्याग, उदारता, आत्म-शुद्धि इनमें विनीत भाव निहित है।"

श्री आचार्यजी ने भी अपने धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय दिया। पश्चात् प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने जैनधर्म के सिद्धान्त को बड़ी सूक्ष्मता से विस्तृत रूप से समझाया जो सबको बहुत भाया।

मारसिंगय्या ने अपने विचार प्रकट किये, "धर्मपीठ के समक्ष मेरा निवेदन करना कुछ अजीब-सा लगता है, अद्वैत में शिवाराधन की आद्यता रहती आयी है। उस शिवत्व या ईश्वरत्व को हम स्वरूप देने नहीं गये। ब्रह्माण्ड को ही उस तत्त्व ने आवृत किया है। उसका कोई रूप नहीं; आदि-अन्त नहीं। इस निराकार में मानव अपने मन को न्यस्त करे तो वह किसी भी तरह के भावोद्वेग के वशीभूत नहीं होता। उससे निर्विकल्पता साधित होती है। भारतीय धर्म की वही बुनियाद है। इस तत्त्व पर, तरह-तरह के आवरणों के कल्पित नये-नये रूप-आकारों का निर्माण कर सकते हैं। परन्तु इन भित्तियों का निर्माण उसी नींव पर होना चाहिए। अद्वैत स्थिरता को रूपित करता है। इसलिए पन्थ-परिवर्तन, बाहरी रूप का परिवर्तन अनावश्यक है; वह शाश्वत नहीं है। परिवर्तित न होने वाली यह बुनियाद ही स्थायी है। अपनी इस नींव पर चाहे कोई इमारत बने, डर नहीं। क्योंकि नींव सदा-सर्वदा स्थायी ही रहेगी। अन्य से आक्रान्त होने का डर अद्वैत को कतई नहीं। इसी वजह से मेरे परिवार में विरसता नहीं। यहाँ

राजधानी में यह युगल शिवमन्दिर निर्मित होनेवाला है। वह अद्वैत का साक्षी बनेगा। इतना ही नहीं, सदियों तक लोगों को आकर्षित करता रहेगा। अन्य शक्तियों को भी आकर्षित करे तो आश्चर्य नहीं। अद्वैत की शक्ति उसके स्थायित्व में है। वह कभी परिवर्तित नहीं होगा, इसलिए अद्वैत किसी भी मत का विरोधी नहीं।''

बिट्टिदेव ने कुछ नहीं कहा। मगर शान्तलदेवी ने सम्बोधित कर कहा, ''सन्निधान ने मुझे आज्ञा दी है कि उनकी तरफ से और अपनी तरफ से भी, मैं ही बोलूँ। इसलिए मैं ही निवेदन करूँगी। धर्म के विषय में वाद-विवाद करते जाएँगे तो वह हमें किसी निश्चय की ओर नहीं पहुँचाएगा। धर्म एक वैयक्तिक विश्वास है। आचार की एक विचारधारा है। उसे जीवन का पूरक बनना चाहिए न कि मारक। जीवन के लिए मारक बननेवाली विचारधारा का सृजन करनेवाले धर्मभीरु धर्मद्रोही हैं। वे धर्म के लिए अपने जीवन को उपयुक्त रीति से ढालने वाले नहीं, वे तो केवल धर्म-चिह्न के लिए लड़ने-मरने वाले होते हैं। वे समाज के लिए कण्टकप्राय हैं। इस भूमि पर जब से मानव का अवतार हुआ, तब से जैसे-जैसे उसकी विचार-शक्ति बढ़ती गयी, उसकी कल्पनाएँ बदलती गयीं और जैसे-जैसे उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं, वैसे-वैसे कई परिवर्तन होते आये हैं। यह कि परिवर्तन नये उत्साह को प्रेरित करता है। वह व्यक्ति की रुचि का प्रेरक भी हो सकता है। इस दृष्टि से नवीन विचारधारा का स्वागत होना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि उससे अभिभूत हो जाएँ। न उससे डरना ही है। खुले दिल से उसका परिशीलन करने के लिए अवकाश रहना चाहिए। अब तक धर्म के इन अनेक रूपों पर हमने विचार सुने। हमारे रेविमय्या को बाहुबली स्वामी ने किरीट, कुण्डल, गदा, पद्म धारण कर दर्शन दिये हैं। वह धर्म के बारे में चिन्तन करनेवाला व्यक्ति है ही नहीं। उसकी सारी चिन्तन क्रिया निष्ठापूर्ण सेवा में लगी है। वह न जैन है, न वैष्णव ही। इसलिए यह सब अपने-अपने विश्वास और कल्पना पर आधारित है। सन्निधान की तरफ से राज्य की प्रजा से हमारा यही अनुरोध है कि धर्म के नाम से द्वेष का बीज बोकर समाज की अवनति के कारण न बनें। मुझे व्यक्तिगत रूप से अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव पर जितनी भक्ति और श्रद्धा है, उतना ही आदर-गौरव श्री आचार्यजी के प्रति भी है। इसी तरह सन्निधान आचार्यजी के प्रति जितनी श्रद्धा रखते हैं, उतनी ही मेरे गुरु पर और अन्य गुरुजनों पर भी रखते हैं। इस संगोष्ठी में हम सबने खुले दिल से बातें की हैं। गुरु-स्थान में रहनेवाले महानुभावों ने भिन्न-भिन्न मतानुयायी होते हुए भी, किसी तरह की कटुता के बिना, अपने सिद्धान्तों का विवेचन कर महान् उपकार किया है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता है। वह चाहे किसी भी मत का पालन करे, उसके लिए गुंजायश है। परन्तु किसी भी मत के प्रति द्वेष न करे। द्वेष करनेवालों के लिए इस राज्य में स्थान नहीं। यह बात मुझ पर भी लागू है। हमें एक बात का अनुभव हुआ है। गुरुवर्य के निर्लिप्त होने पर भी, उनके निकटवर्ती शिष्य

श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कहकर लोगों में विष का बीज बोने के कारण बने हैं। शिष्यों की गलती के लिए गुरुओं को दण्ड नहीं भोगना चाहिए। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने व्यवहार में शुद्ध हृदय से आचरण करने की रीति अपनाए। मन शुद्ध होगा तो अपवित्र विचार उत्पन्न ही नहीं होंगे। इसलिए आज के दिन सम्पन्न इस धार्मिक विचार-संगोष्ठी के विषय में किसी तरह की हार-जीत की कल्पना कर उसका प्रचार नहीं करेंगे, यह भी हमारा आप सभी से अनुरोध है।''

बिट्टिदेव ने सभा को विसर्जित करने के लिए आचार्यजी से अनुमति माँगी, तो आचार्यजी ने कहा, ''मुझे भी एक निवेदन करना है।''

अब सभा विसर्जित हो तो कैसे? उन्हें बोलने के लिए मौका दिया गया। उन्होंने कहा, ''हेग्गड़े मारसिंगय्याजी ने इस राजधानी में निर्मित होनेवाले युगल शिवमन्दिर के भविष्य के बारे में प्रास्ताविक रूप से एक सूचना दी है। ऐसी भव्य भावनायुक्त मन्दिर की शंकु-स्थापना हमारे हाथ से हो, यह राजदम्पती का आदेश था। वह हमारा सौभाग्य होता, परन्तु हमें खेद है कि वह हमें प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसके लिए हमें क्षमा-याचना करनी पड़ रही है। हमारी ही इच्छा के अनुसार निर्मित विजयनारायण मन्दिर के बारे में भी प्राप्त अवकाश का उपयोग हमसे नहीं किया जा सका। ऐसी स्थिति में कोई यह न समझे कि हम किसी उद्देश्य से यह टाल रहे हैं। आज यदुगिरि से जो हमारे शिष्य पेरुमलै आये हैं, वे इसका कारण बताएँगे। इसके लिए उन्हें अनुमति दें।''

अनुज्ञा मिली। पेरुमलै उठ खड़े हुए। उन्होंने आचार्यजी और राजदम्पती को प्रणाम किया। फिर बोले, ''मैं आचार्यजी के लिए यदुगिरि से एक बहुत जरूरी सन्देश लाया हूँ। सचिव नागिदेवण्णाजी ने तत्काल यात्रा के लिए व्यवस्था कर दी। इसलिए, मैं तुरन्त यहाँ चला आया। आप सभी लोगों को विदित है कि आचार्यजी को स्वप्न में दिल्ली के बादशाह के यहाँ स्थित चेलुवनारायण मूर्ति को वहाँ से छुड़ाकर ले आने का आदेश भगवान् ने दिया था। तदनुसार इस आदेश का पालन करने दिल्ली गये और चेलुवनारायण की पंचलौह की उस मूर्ति को यदुगिरि ले आये। वहाँ पूजा-विधान आदि कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। परन्तु बादशाह की बेटी को उस मूर्ति से बहुत लगाव रहा है। वह उसके साथ रमी रही, कभी भी उससे अलग नहीं रही। अपनी परम प्रेमपात्र उस मूर्ति के गायब हो जाने के कारण वह राजकुमारी तड़पकर खाना-पीना तक छोड़कर अत्यन्त दुखी हो गयी। अन्त में उसे जब मालूम हुआ कि मूर्ति कहाँ गयी है, तो उसकी खोज में वह दिल्ली से यदुगिरि जा पहुँची है, और उस मूर्ति को माँग रही है। गुरुवर्य की आज्ञा के बिना मैं कुछ कर नहीं कर सकता, यह कहने पर भी वह नहीं मानी। कहती है कि जब तक मूर्ति उसे नहीं मिलेगी तब तक पानी भी नहीं छुएगी। यदि आचार्यजी तुरन्त वहाँ नहीं पहुँचेंगे तो वह राजकुमारी शायद प्राण ही त्याग दे। इस

असाधारण परिस्थिति में श्री आचार्यजी का यथाशीघ्र यदुगिरि पहुँचना आवश्यक है। हम यहाँ आपस में 'मेरा धर्म श्रेष्ठ है, तुम्हारा अश्रेष्ठ' को लेकर वाद-विवाद कर रहे हैं। उधर यह यवन राजकुमारी हमारे भगवान से इतना प्रेम करती है। ऐसी दशा में इस चेलुवनारायण की श्रेष्ठता को किसी दूसरे प्रमाण की क्या जरूरत? आप ही सोचें।" कहकर पेरुमलै ने अपना वक्तव्य पूरा किया।

आचार्यजी ने कहा, "भगवान् की लीला ही विचित्र है।"

शान्तलदेवी ने कहा, "इससे बढ़कर क्या प्रमाण चाहिए? धर्म और भगवान् प्रेम का संचार करने के लिए ही होते हैं, द्वेष का नहीं। यदि प्रेम न होता तो उस यवनकुमारी को यदुगिरि तक यात्रा करने की क्या आवश्यकता होती? भगवान् के उस प्रेमी को अधिक दुखी नहीं करना चाहिए। राजमहल आचार्यजी के प्रस्थान हेतु उचित व्यवस्था करेगा। अब इस सभा का विसर्जन किया जाए।"

सभा विसर्जित हुई। घण्टी बजी। सब चले गये।

दो दिन के भीतर ही आचार्यजी पहुँच सकें, ऐसी व्यवस्था के लिए आदेश हुआ। इसकी जिम्मेदारी मायण पर छोड़ दी गयी। परिणामस्वरूप उचित रक्षकदल के साथ आचार्यजी को यदुगिरि पहुँचाकर, मायण लौट आया।

रानी लक्ष्मीदेवी यादवपुरी जाने की जल्दी कर रही थीं। पट्टमहादेवी ने सलाह दी कि शिवालय की नींव-स्थापना के बाद जाना अच्छा होगा। लक्ष्मीदेवी ने कहा, "शिव, जिन—ये सब मुझे नहीं भाते। सिर्फ दिखावे के लिए मुझे यहाँ रुकने पर जोर न दें। मुझे जाने दीजिए। मैंने मन की बात कह दी, आप अन्यथा न लें।"

"तुम केवल तिरुवरंगदास की पुत्री होतीं तो निर्णय किसी तरह का हो सकता था। तुम सन्निधान की पाणिगृहीता हो। ऐसी हालत में सन्निधान जिस किसी कार्य में रुचि रखते हों, उसमें तुम्हारे लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मैं इस तरह अपमानित होकर इन लोगों को अपना चेहरा कैसे दिखा सकूँगी? इस पचड़े में मेरा भी नाम घसीटकर मेरे साथ अण्ट-सण्ट बातें भी जोड़ दी हैं इन लोगों ने। इन सबका दुःख कम हो, लोग भी भूल जाएँ; इसलिए सन्निधान से कहकर समझाएँ और मुझे जाने की अनुमति दिलवाने का अनुग्रह करें।" लक्ष्मीदेवी की ये बातें व्यंग्य से भरी थीं।

"मानव के जीवन में ऐसे दुख-दर्द आते रहते हैं। इन्हें सहन करने की क्षमता हममें होनी चाहिए।"

"बिना गलती के दुःख क्यों भोगें? यह भी कोई न्याय है?"

"जो सच्चे हैं वे किसी से नहीं डरते।"

"तो क्या मैं सच्ची नहीं?"

"इस प्रश्न का उत्तर दूसरों से जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। अपने अन्तर से पूछकर समझ लेना चाहिए। यदि तुम यहाँ न ठहरकर चली जाओगी तो टीका-टिप्पणी करनेवालों को मौका मिल जाएगा, इसलिए रह जाओ।"

"जिसे करने की इच्छा नहीं, उसे करने की प्रेरणा दे रही हैं? मुझे आश्चर्य होता है! क्या मेरी परीक्षा लेना चाहती हैं?"

"तुम्हारी परीक्षा लेने में मेरा क्या प्रयोजन है?"

"सो तो आपका अन्तर ही जाने।"

"तो इस बारे में मुझे अब कुछ नहीं बोलना है। इसमें किसी का माध्यम बनना सन्निधान पसन्द नहीं करते। तुम स्वयं जाकर उनसे पूछ लो, यही अच्छा होगा।"

"यदि आप न पूछेंगी, तो मुझे ही पूछना होगा। दूसरा चारा ही क्या है?"

"वही एक मार्ग है, साफ-सीधा मार्ग!"

"ठीक है, वही करूँगी।" कहकर लक्ष्मीदेवी चली गयी।

रातभर रामायण की कथा सुनने के बाद भी कोई यह पूछे कि राम का सीता से क्या सम्बन्ध है, यही बात हुई। शान्तलदेवी ने सोचा, ऐसा क्यों? उन्हें यह मालूम नहीं पड़ा कि यह सब तिरुवरंगदास का तन्त्र है। उसने गुप्त रीति से अपनी बेटी को बताया था, "देखो बेटी लक्ष्मी, आचार्य जैसे व्यक्ति ने भी बहाना बना छुटकारा पा लिया। इस शिवालय से हमारा क्या मतलब? दूसरों के देवी-देवताओं की, अन्य धर्म की निन्दा नहीं करनी चाहिए—यह पाठ पढ़ा दिया, हमने भी सुन लिया। वैसा ही करेंगे। मगर दूसरे देव की सेवा करने के लिए हमसे कहनेवाले ये कौन होते हैं? इसलिए हम भी आचार्यजी की ही तरह खिसक जाएँ तो अच्छा! किसी तरह से चल देने का निश्चय कर लो। हम चल देंगे।"

शान्तलदेवी के विश्रामागार से निकलकर लक्ष्मीदेवी सीधे बिट्टिदेव से मिलने गयी। उसका भाग्य अच्छा था। दर्शन हो गये। इतना ही नहीं, वह अपनी इच्छा प्रकट कर ही रही थी कि इतने में किसी विचार-विनिमय के बिना बिट्टिदेव ने कह दिया, "ठीक है, तुम्हारे पिता भी साथ होंगे न? कब रवाना होने की सोची है?"

"यदि दिन अच्छा हो तो कल ही..." लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"ठीक है। अपने पिता से पूछकर निश्चय कर लो। रेविमय्या सारी व्यवस्था कर देगा।" कहकर बात खतम कर दी।

लक्ष्मीदेवी का काम बन तो गया, मगर वह वहाँ से गयी नहीं। वहीं बनी रही।

"और कुछ?" बिट्टिदेव ने पूछा।

''सन्निधान का यादवपुरी को आना...''

बात को बीच में ही रोककर बिट्टिदेव ने कहा, ''वह सब कहा नहीं जा सकता। राजकाज की आवश्यकता आदि देख लेने के बाद, आने के बारे में विचार किया जा सकेगा।''

''पट्टमहादेवीजी की सलाह के बाद ही न?'' लक्ष्मीदेवी को कह आया।

''पोय्सल रानी को मनमाना नहीं बोलना चाहिए।'' कहकर घण्टी बजायी बिट्टिदेव ने।

नौकर अन्दर आया, प्रणाम किया।

''रानीजी कल यादवपुरी जाएँगी। व्यवस्था करने के लिए रविमय्या से कहो। रानीजी अन्तःपुर में जाएँगी, पहुँचा दो।'' बिट्टिदेव ने कहा।

नौकर परदा उठाये एक तरफ खड़ा हो गया। रानी ने एक बार राजा की ओर देखा, फिर जल्दी-जल्दी चल पड़ी।

दूसरे ही दिन रानी लक्ष्मीदेवी, अपने पिता और लक्ष्मीनारायण मन्दिर के धर्मदर्शी के साथ यादवपुरी के लिए रवाना हो गयीं।

रास्ते में तिरुवरंगदास बोला, ''आसानी से अनुमति मिल गयी न? नहीं तो शिव-मन्दिर की नींव-स्थापना तक यहीं सड़ना होता।''

पिता के मुँह को अपने हाथ से बन्द करती हुई लक्ष्मीदेवी ने कहा, ''तुम्हारे मुँह पर कोई रोक-टोक नहीं?''

''यहाँ कौन आएगा सुनने!''

''चारों ओर पट्टमहादेवी के ही गुप्तचर हैं। यादवपुरी पहुँचने तक कुछ मत बोलना।'' उसके कान में कहा।

यह सुनकर वह हतोत्साह हो गया। बातूनियों की यही दुर्दशा होती है।

यात्रा करीब-करीब मौन में ही बीती। यादवपुरी पहुँचने पर लक्ष्मीदेवी को अनुभव होने लगा कि वह किसी अपरिचित स्थान पर पहुँच गयी है। राजमहल के नौकर सब बदल गये थे। एक चंगला मात्र परिचित नौकरानी थी। वह भी तो पट्टमहादेवी की ही पक्ष की है न। इसीलिए अब उसका दण्डनायक के घर से यहाँ स्थानान्तर किया गया है। रानी के आने की खबर पहले ही राजमहल पहुँच चुकी थी। समुचित गौरव के साथ स्वागत आदि हुआ। विश्रामागार खूब अच्छी तरह से सजाकर तैयार रखा गया था।

धर्मदर्शी रानी को राजमहल में छोड़कर अपने निवास की ओर चला गया।

चंगला ने ही आकर बताया, ''रानीजी के वेलापुरी जाने के बाद यहाँ बहुत परिवर्तन करना पड़ा। वहाँ विचारणा-सभा के सामने बहुत-सी बातें प्रकट नहीं की गयीं। उस वामशक्ति पण्डित ने रानीजी को ही खतम कर देने का विचार कर लिया

था। यह बात उस बीरशेट्टी को भी मालूम नहीं थी। इस सम्बन्ध में राजमहल के कुछ नौकर-चाकर उसके साथ मिले हुए थे। इसलिए महासन्निधान की आज्ञा के अनुसार यहाँ रानीजी की सुरक्षा की दृष्टि से, नयी ही व्यवस्था की गयी है। रानीजी निश्चिन्त होकर रह सकती हैं। अब यहाँ के सभी सेवक विश्वासपात्र हैं। मैं रानीजी की परिचिता हूँ, इसलिए मुझे आपकी सेविका बनकर रहने का आदेश दिया गया है।''

''उस वामशक्ति को मुझपर इतना विद्वेष क्यों?''

''सो तो वे ही जानें, मुझे क्या मालूम? कुल मिलाकर, उसे इन तिलकधारियों पर भयंकर क्रोध है।''

''त्रिनामधारियों के बारे में उसकी क्या राय थी, सो तो वहीं मालूम हो गयी। वास्तव में उसे कड़ी सजा देनी चाहिए थी। लेकिन तभी पट्टमहादेवीजी ने कह दिया, 'चाहे वे कैसे भी हों, आखिर गुरुस्थान में रहे हैं, उन्हें देश से निकाल दिया जाए।' सन्निधान ने वही दण्ड दिया। तुम कुछ भी कहो चंगला, तो मेरा तो इस राजमहल के व्यवहार ने दिमाग खराब कर रखा है। जहाँ चाहे जा नहीं सकती, जिससे मिलना चाहूँ मिल नहीं सकती। स्वतन्त्र पक्षी की तरह थी, यह सब मुझे भारी बन्धन-सा लग रहा है।''

''जैसा चाहें रहें। कोई रोक-टोक है? आज्ञा दें तो सब काम बन जाएगा। रनिवास की रीति से थोड़ा अभ्यस्त हो जाएँ तो सब ठीक हो जाएगा।''

''एक तरह से यहाँ हिल-मिल गयी थी। नौकर-चाकर भी मेरी पसन्द के थे। इन नये नौकरों के साथ जब तक हिल-मिलकर रहना न बनेगा तब तक कुछ मुश्किल पड़ेगी।''

''कुछ भी कष्ट न होगा, मैं तो हूँ न?''

''ठीक है। सुना है कि बादशाह की बेटी यदुगिरि आयी है। यह सच है?''

''मैं नहीं जानती।''

''सचिव नागिदेवण्णाजी यहीं हैं या यदुगिरि गये हैं?''

''नहीं, यहीं हैं।''

''उनसे कहो, कल फुरसत पाकर यहाँ आएँ।''

''कह दूँगी।''

''तो क्या बादशाह की बेटी के यदुगिरि आने की खबर यहाँ किसी को मालूम नहीं?''

''यादवपुरी में किसी ने यह बात नहीं कही। राजमहल को तो इसके बारे में कुछ भी मालूम नहीं। यदुगिरि की सारी बातें सचिव जानते हैं। शहजादी को यदुगिरि क्यों आना पड़ा?''

''जमाना अजीब है। सुना कि उसे चेलुवनारायण से लगाव है, इसलिए वहाँ से

यहाँ भाग आयी है।''

''सच!''

''इसी वजह से आचार्यजी जल्दी यदुगिरि आ गये।''

''ऐसा! मैं सोच रही थी कि आचार्यजी अभी राजधानी में ही हैं।''

''या तो वह आयी नहीं है, या आने की बात गुप्त रखी गयी है, ऐसा मालूम होता है।''

''गुप्त रखने का कोई प्रबल कारण होना चाहिए!''

''कल जब सचिव नागिदेवण्णाजी आएँगे तब सब बातें मालूम हो जाएँगी और हाँ, मेरे पिताजी रोज दोपहर एक बार आएँगे। यह खयाल रखो कि उन्हें मेरे विश्रामागार आने-जाने में कोई रोक-रुकावट न हो। बेचारे, भोलेपन के कारण, सबको अच्छा मानकर, बीरशेट्टी के जाल में फँस गये। बहुत पछता रहे हैं। अकेले में परेशान होंगे। अलावा इसके, सन्निधान भी यहाँ नहीं हैं, इससे मुझे भी यह एकान्तवास खटकता है।''

''कल सचिव जब आएँगे तब उनसे बात कर लें तो धर्मदर्शीजी को यहीं रहने को भी कह सकती हैं। उन्हें भी यह चलना-फिरना न रहेगा।''

''चलना-फिरना कैसे न रहेगा? मन्दिर का काम है न?''

''धर्मदर्शीजी विश्रान्ति चाहेंगे तो सचिव दूसरे को नियुक्त कर देंगे।''

''ओह, बेकार बैठे-बैठे खाना उनसे नहीं हो सकेगा। पहले से ही वे किसी-न-किसी काम में लगे रहे हैं।''

''उनका कार्यकलाप तो उनकी आयु के लिए बहुत अधिक है। भोजन तैयार होते ही खबर दूँगी। अब आराम करें। मुझे आज्ञा हो तो जाऊँ! कुछ दूसरे काम भी करने हैं।''

''ठीक है जाओ।'' लक्ष्मीदेवी ने कहा।

चंगाला द्वार बन्द कर चली गयी। बाहर दूसरी नौकरानी पहरे पर रही। सारा दिन आराम करते ही गुजर गया।

दूसरे दिन सचिव नागिदेवण्णा कार्यवश मिल न पाये; क्योंकि उनको आचार्यजी के बुलावे पर जरूरी काम से यदुगिरि जाना पड़ा था। तिरुवरंगदास के जरिये यह खबर उन्होंने भेज दी थी।

बाप-बेटी को एकान्त में बातचीत करने का मौका मिल गया।

नागिदेवण्णा की यदुगिरि यात्रा की बात जानकर रानी लक्ष्मीदेवी ने सहज ही पूछ लिया, ''क्या कारण हो सकता है?''

''उन्होंने कारण नहीं बताया। उनके न आने पर तुम परेशान हो सकती हो यही सोचकर शायद डर गये; इसलिए मुझे बुलाकर खबर पहुँचाने को कह गये।''

''शायद दिल्ली से शहजादी आयी होंगी। उसके लिए विशेष व्यवस्था कराने बुलाया होगा।''

''तुम भ्रम में पड़ी हो। दिल्ली कहाँ? बादशाह की बेटी कहाँ? यादवपुरी कहाँ? हमारे भगवान् से उसका प्रेम? यह सब कभी सम्भव है, बेटी?''

''परन्तु उस दिन पेरुमलैंजी ने भरी सभा में कहा था न? वे झूठ कह सकते हैं?''

''देखो बेटी, यह सब व्यावहारिक विषय है। शिवालय की नींव-स्थापना की बात आचार्यजी को पसन्द नहीं थी। वह नहीं चाहते थे कि नींव-स्थापना उनके हाथ से हो। साहस के साथ वह महाराज से कह सकते थे। ऐसा कहने पर महाराज के क्रोध का भाजन बनना पड़े, इससे बचने के लिए यह एक बहाना था। अच्छा, जाने दो। हम भी उस अवांछित समारम्भ से छूट आये न, वही काफी है।''

''समारम्भ से छूटे तो सही। परन्तु, जब मैंने पट्टमहादेवी से यादवपुरी जाने की अपनी बात कही तब उन्होंने मुझसे रह जाने को कहा। मगर सन्निधान ने इस बारे में कुछ नहीं कहा; कहते ही मान गये। और ऐसा कह दिया मानो मेरा चले जाना उनको अच्छा लग रहा हो। कम-से-कम यह भी नहीं कहा कि नींव-स्थापना के बाद जाओ। किसी ने मेरे प्रति उनका दिल खट्टा कर दिया है।''

''कोई क्या? वही, परमधूर्ता पट्टमहादेवी है न? यह उसी का काम है।''

''न-न, ऐसा नहीं हो सकता। वास्तव में उन्हें मेरे प्रति स्नेह है।''

''तुम मूर्ख हो, इसलिए ऐसा समझती हो। तुमको मालूम नहीं होता। उसे पहले से तुम पर और मुझपर अविश्वास है। मुझ पर, और तुम पर भी, गुप्तचर लगा रखे हैं। मैंने ऐसा कौन-सा घातक काम किया?''

''पर हम पर शंका क्यों?''

''और कुछ नहीं, उन्हें हमारे इस श्रीवैष्णव लांछन से ही द्वेष है। कल तुम एक लड़के की माँ बनोगी, वह भी उसके बच्चों के साथ सिंहासन के लिए स्पर्धा करेगा, यही उसका भय है। इसलिए अभी से इस मत-द्वेष को हवा देकर बढ़ा रही है। देखो बेटी! इस संकर जाति में पैदा होनेवालों की हालत ही ऐसी होती है। उसका बाप शैव, माँ जैन। उसका किस्सा बहुत गहरा है। तुम्हें क्या मालूम? उसकी इच्छा थी कि उसके पति को ही राज्य मिले।''

''सुना है कि महामातृश्री को वह बहुत प्यारी थीं। ऐसी अभिलाषा होती तो बड़े राजकुमार से ही विवाह कर सकती थीं न?''

''परन्तु उन्हें भी तो स्वीकार करना था न? उनका दिल तो लगा था महादण्डनायक की बेटी पर। इसीलिए सहजात बहनों में सौतेली डाह पैदा करके इसने बल्लाल महाराज की जिन्दगी को ही बरबाद कर दिया। महाराज बल्लाल की बरबादी का कारण इसका यही सौतिया डाह है। बहुत ही चिकनी-चुपड़ी बातें करके एक-दूसरे

में चिढ़ पैदा कर दी और इस तरह अपना काम साध लिया। आचार्यजी की करामात के प्रभाव से अब महाराज श्रीवैष्णव बने हैं। इसीलिए तुम्हारे साथ विवाह भी करवाया। अब तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथ में है। पहले तुम लड़के की माँ बन जाओ। यह काम गुस्सा करने से या असन्तोष के प्रदर्शन से नहीं सध सकता। उसके अस्त्र का प्रयोग उसी पर करके हमें अपना काम साध लेना होगा। पहले लड़के की माँ बनो, बाद को सौतियाडाह दिखाना। तब हम अपने अनादर का प्रतिकार कर सकेंगे।''

रानी लक्ष्मीदेवी ने कुछ नहीं कहा, चुपचाप सुनती रही। वह अन्यमनस्क लग रही थी। थोड़ी प्रतीक्षा करने के बाद तिरुवरंगदास ने कहा, ''क्यों बेटी, मेरी बात ठीक नहीं?''

''ऐसा नहीं। उन्होंने ही मुझे सौतियाडाह का सारा किस्सा सुनाया और उससे होनेवाले भयंकर परिणाम भी बताये। महाराज बल्लाल कैसे इसके शिकार बने, आदि सब बातें समझाकर कहा, 'हमें ऐसा नहीं बनना चाहिए। हममें किसी भी तरह का मतभेद हो तो हमें मिलकर आपस में ही निपटा लेना चाहिए और महाराज को खुश रखना चाहिए। यही हमारा कर्तव्य है। हम तीन थीं, तुम भी हमारे साथ शामिल हुई हो। हम सब एक वृक्ष के सहारे फलनेवाली लता-जैसी हैं। बहनों की तरह जीएँ!' आदि सब बातें बतायी थीं। वह अब भी चित्रवत् मेरी आँखों के सामने हैं। अन्य दो रानियों की पट्टमहादेवी पर अपार श्रद्धा है। आपकी बात तो इसके बिल्कुल विरुद्ध है न?''

''कोई भी अपने बारे में ऐसी बातें करेगा जो उसके ही प्रति बुरी भावना उत्पन्न करे? वह सब राजनीतिक चाल है। आचार्यजी की अभिलाषा है कि पोय्सल सिंहासन का उत्तराधिकारी श्रीवैष्णव ही बने। मैं उनका अपना हूँ इसलिए मुझसे उन्होंने कहा है।''

''ऐसी बात है?''

''अच्छा सवाल किया बेटा, ऐसा न होता तो तुम्हें क्यों रानी बनाते। उन्होंने ही एक दिन तुमसे कहा था न—'बिट्टिदेव महाराज बहुत ही उत्तम व्यक्ति हैं, तुम्हें उनके योग्य बनना होगा।' क्या वह पागल थे जो ऐसा कहने गये?''

''सब छोड़कर वे ऐसी अभिलाषा करते हैं कि अमुक ही इस सिंहासन पर बैठे?''

''बेटी, क्यों अनजान की तरह बातें कर रही हो! इस पोय्सल वंश का जन्म किससे हुआ?''

''सुना है कि 'सल' महाराज से।''

''सल महाराज के प्रेरक कौन थे?''

''उनके गुरु।''

"वे गुरु किस धर्म के थे?"

"जैन धर्म के।"

"उन्हें आदेश किस स्थान पर दिया गया?"

"वासन्तिकादेवी के मन्दिर में।"

"सत्य को सिंहासन पर बिठाएँ तो उस राज्य में जैनधर्म अच्छी तरह पनपेगा और बढ़ेगा, यही विचार कर उन्होंने ऐसा किया। वह भी तो मुनि ही थे (सर्वस्व त्यागी ही थे। परन्तु, धर्म का प्रसार करना-कराना हो तो राजाश्रय चाहिए, बेटी! हमारे गुरु के यहाँ आने का कारण तुमको मालूम ही है। यहाँ जो श्रीवैष्णव धर्म का बीज बोया गया है उसे अंकुरित होकर बड़े वृक्ष की तरह बढ़ना-फैलना हो तो उसकी जड़ों को सींचना होगा। यह सब सोच-विचार कर उन्होंने ऐसा किया। हम-तुम आचार्य के शिष्य हैं। हमारा प्रथम कर्तव्य है, आचार्य से उपदिष्ट धर्म की सेवा करना। परन्तु हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचना हो तो बहुत सतर्कता से आगे बढ़ना होगा। उस जिनभक्त पट्टमहादेवी की कोशिश है श्रीवैष्णव को पनपने न देना और उसको जड़ में पानी न देकर उसे वहीं सुखा देना, अंकुरित होने न देना। इसीलिए यह सब राजनीतिक नाटक रचा गया है। न्याय-विचार के बहाने उन सभी लोगों को पहले से पढ़ा-लिखा कर, सबके सामने कहलवाकर हमारे मुँख पर कालिख पोत दी। मुझे इन कुतन्त्रियों की रीति मालूम नहीं। मूर्खों की तरह उनमें मिल-जुलकर उनके कहे अनुसार, इन लोगों ने कहा होगा। हम जिस जगह पर हैं, जिस हैसियत के हैं, इन बातों का भी ख्याल न करके, इतने बड़े-बड़े प्रमुखों की सभा में मुझे और तुम्हें अपमान से सिर झुकाना पड़ा, आचार्यजी को डराकर यहाँ से भगा देने की सारी योजना उसी पट्टमहादेवी के पिट्ठुओं की ही तरफ से बनी है। हमारे आचार्य भी पहुँचे हुए व्यक्ति हैं, इन सभी बातों से डरे नहीं, आ ही गये। इन कुतन्त्रियों का काम न बना तो न्याय-विचार का बहाना करके लीपा-पोती की। बेटी, अब आइन्दा तुम्हारा व्यक्तित्व दो-तरफा होना चाहिए। अन्दर एक और प्रकट में एक।"

"यह सब सुनकर डर लगता है। इसमें क्या तो सच है और क्या झूठ, यह सब मेरी समझ में ही नहीं आता।"

"तुम मेरे कहे अनुसार करो। तब क्या झूठ और क्या सच, यह आगे चलकर अपने आप मालूम हो जाएगा।"

"पिताजी! मैं एक बात पूछूँ? कुपित तो नहीं होंगे?"

"पूछो, बेटी!"

"आप मुझे अपने हाथ की कठपुतली न बनाकर यदि विवेचना करने की शिक्षा देते तो आपका क्या बिगड़ जाता?"

"देता तो अच्छा होता। कौन मना करता? परन्तु तब तुमको रानी बनाने की मेरी

इच्छा नहीं थी न। तुम्हारा पालन केवल करुणा भाव से किया था। उसका लक्ष्य केवल यही था कि कृतज्ञता से तुम मेरी देखभाल करोगी।''

''तो क्या, आपने समझा था कि यदि आपके हाथ की कठपुतली बनी रहती तो ही कृतज्ञ रहती? विवेचनाशक्ति मुझमें उत्पन्न हो जाती तो कृतज्ञ न रहती?''

''देखो बेटी, अब तुम रानी बन गयी हो। यह मेरे लिए बहुत आनन्द की बात है। जो रानी होगी उसमें विवेचना-शक्ति आ ही जाएगी। वह विवेचना-शक्ति बढ़े, इसीलिए मैंने कहा कि तुम ऐसा करो जैसा मैं कहता हूँ। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मैंने तुम्हें अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। इस दुनिया में मेरा कोई नहीं एक तुम ही हो। तुम्हारा हित ही मेरा हित है, इसी विश्वास से मैंने ऐसा कहा। जो मैं कहता हूँ, वह ठीक जँचे तो करो, नहीं तो मत करो। जैसा तुमको लगे वैसा करो, या सन्निधान के कहे अनुसार करो। परन्तु तुम सन्निधान को अपने वश में कर रखो। यह बात एक स्त्री को सिखायी नहीं जाती। पट्टमहादेवी से तुमको कोई बाधा नहीं; क्योंकि सुना है कि जबसे सन्निधान श्रीवैष्णव बने तब से उन्होंने सन्निधान के साथ संयोग सम्पर्क नहीं रखा है। बाकी रानियाँ भी गिड़गिड़ाकर उनके साथ रही हैं। तुम सबसे छोटी रानी हो, यही एक तुम्हारी खूबी है। इसलिए वे तुम्हारे वश में रहें, इसके लिए जो कुछ कर सकती हो, वह करो। तुम्हारा यह पुराकृत पुण्य है, रानी बनी। वैसे ही राजमाता भी बनो।''

लक्ष्मीदेवी ने कुछ कहा नहीं। परन्तु उसका अन्तर कह रहा था, 'हाँ, माँ तो बनना ही चाहिए।'

थोड़ी देर दोनों मौन बैठे रहे। बाद में तिरुवरंगदास बोला, ''अच्छा बेटी, मैं चलता हूँ। तुम्हारा यह मौन मुझ पर क्रोध के कारण से तो नहीं न?'' उसने बात का रुख मोड़ दिया।

''यहीं भोजन करके जा सकते हैं। आप पर क्रोध करूँ तो मेरे लिए दूसरा है कौन? आपकी किसी भी बात पर मैं कोई निश्चय नहीं कर पा रही हूँ। परन्तु मालूम है कि मेरा हृदय क्या कहता है—'हाँ, तुमको माँ बनना चाहिए।' इसलिए इसके बारे में क्या करना होगा, सोचने का समय चाहिए न?''

''सोचो, मैं भी सोचूँगा। मुझे भी नाती देखने की अभिलाषा है, बच्चे के साथ खेलने की अभिलाषा है।''

लक्ष्मीदेवी ने घण्टी बजायी। नौकरानी अन्दर आयी। उससे कहा, ''धर्मदर्शीजी यहीं भोजन करेंगे। रसोई में खबर कर दो। तैयार होते ही आकर खबर दो।''

नौकरानी ने वैसा ही किया। भोजन तैयार होते ही उसने आकर खबर दी। पिता-पुत्री दोनों भोजन के लिए रसोई की तरफ चल दिये।

यादवपुरी में तिरुवरंगदास का कार्यकलाप अधिक न होने पर भी थोड़ा-थोड़ा आरम्भ हो गया था। उधर दोरसमुद्र में शंकुस्थापना का कार्य बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

मूल रेखाचित्र में ओडेयगिरि के स्थपति हरीश ने जकणाचार्य की सलाह के अनुसार काफी परिवर्तन कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने कहा, "मैंने मूलतः आप ही के नमूने का अनुकरण किया है। अन्तर इतना ही कि यह युगल-मन्दिर है और शिव मन्दिर होने के कारण उसके संकेत के रूप में दो वृषभ-मण्डप भी हैं। शायद कोई अशुभ घड़ी थी कि जिससे वेलापुरी मुझे रास नहीं आयी थी। बाद को लगा कि वह एक जल्दबाजी का निर्णय था। परन्तु मेरी धृष्टता को क्षमा कर, मेरे रेखाचित्र को स्वीकार कर मुझे सम्मति दी, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। आपकी शिल्प एवं वास्तु-परम्परा को मैं आगे बढ़ाऊँगा। आपने जिस नमूने का सृजन किया वह कई सदियों तक अनुकरणीय बनकर रहेगा, मेरा ऐसा विश्वास है। शिल्पी होते हुए भी जब मैंने आपके उन रेखाचित्रों को देखा था तब मुझे ऐसा नहीं प्रतीत हुआ कि यह मन्दिर इतना सुन्दर और भव्य बन जाएगा। जकणाचार्य का नाम पोय्सल शिल्प के नाम से चिरस्थायी होगा। मैंने सुना कि आपने अपने गाँव में मन्दिर निर्माण-कार्य का संकल्प किया है, और जब तक वह कार्य पूर्ण न होगा तब तक अन्यत्र कार्य नहीं करेंगे। फिर भी इस मन्दिर का कार्य सम्पूर्ण होने तक यहीं रहकर मार्गदर्शन देते रहें तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा।"

"महासन्निधान और पट्टमहादेवीजी की स्वीकृति लेकर, चलने के लिए मुहूर्त भी निश्चय कर लिया गया है। केवल इस युगल-मन्दिर की नींव-स्थापना के लिए हम रुके हुए हैं। वेलापुरी में जिन शिल्पियों ने काम किया उनमें के बहुत से शिल्पी साथ रहेंगे ही, इसलिए वह मेरे रहने के ही समान है। सबसे अधिक विशेष बात यह है कि पट्टमहादेवीजी रहेंगी तो वे प्रेरणा देती रहेंगी। आपने कहा कि वेलापुरी का मन्दिर सुन्दर है, सच है। परन्तु उसकी सुन्दरता का कारण पट्टमहादेवीजी हैं, मैं नहीं। बहुत से परिवर्तन हुए। उनके दिग्दर्शन में काम करना ही सौभाग्य है। अब निर्मित होनेवाला यह मन्दिर वेलापुरी के मन्दिर से भी उत्तम बने, इस तरह का वे मार्गदर्शन करेंगी। यहाँ का कार्य समाप्त होने के बाद क्रीड़ापुर को अपनी चरणरज से पवित्र करें।"

"हाँ।" हरीश ने स्वीकृति सूचित की।

नींव-स्थापना के दो-तीन दिनों के बाद जकणाचार्य की क्रीड़ापुर की यात्रा निश्चित हुई। उस विदाई का वर्णन नहीं किया जा सकता। उस समारम्भ में आत्मीयता थी, किसी तरह का दिखावा या धूमधाम के बिना सारा समारम्भ बहुत शान्त रीति से सम्पन्न हुआ। कहना होगा कि एक भव्य मन्दिर के निर्माता कलाकार की विदाई गौरवपूर्ण रीति से सम्पन्न हुई। इसके पहले राजमहल में जो भोज दिया गया, वह शायद दोरसमुद्र के लोगों के लिए नवीन था। इस तरह का भोज चालुक्य पिरियरसी चन्दलदेवीजी

की विदाई के अवसर पर भी नहीं हुआ था। परन्तु जकणाचार्य यह सब देख गद्गद हो गये। बोले, "मुझ जैसे एक साधारण से भी साधारण व्यक्ति के लिए इतना बड़ा सम्मान! मैं नतशिर हूँ। मैं इतने गौरव का पात्र नहीं था।"

"यह व्यक्ति का गौरव नहीं। व्यक्ति आज है, कल नहीं। परन्तु आपकी यह सृष्टि, यह कलाकृति सदियों तक कन्नड़ राज्य की इस वास्तु-शिल्प-कला के लिए एक कीर्तिमान की तरह चिरस्थायी रहेगी। अतः राजमहल द्वारा यह उस कला का सम्मान है, उसके प्रति गौरव प्रदर्शन है।" बिट्टिदेव ने कहा।

"सन्निधान की इस उदारता के लिए हम कृतज्ञ हैं। कितनी महान् कला क्यों न हो, उसे अभिव्यक्त होना हो तो प्रोत्साहन देनेवालों की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। मुझे यहाँ जो प्रोत्साहन मिला वह दो तरफ से मेरे सौभाग्य का कारण बना। एक उस अपूर्व कला-सृष्टि के लिए अवसर मिला, और दूसरा यह कि जिसे मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था ऐसा एक अपूर्व पुनर्मिलन हमारा हुआ। हम आजीवन ऋणी हैं।" जकणाचार्य ने कहा।

"ऋण भी तो परस्पर होता है। अच्छा, भगवान् आप लोगों को अनन्त सुख दे, और सम्पन्न बनाए।" कहकर बिट्टिदेव ने जकणाचार्य तथा उनकी पत्नी एवं पुत्र डंकण को बेशकीमती वस्त्रों से पुरस्कृत कर विदा किया।

इधर राजमहल के सामने रथ पर स्थपतिजी का परिवार बैठ चुका था, उधर महाराज एवं रानियों ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें विदा किया। सैकड़ों पुर-प्रमुख इस आत्मीयतापूर्ण विदाई को चित्रलिखित प्रतिमा की तरह खड़े-खड़े देखते रहे।

"रथ चलने ही वाला था कि जकणाचार्य रथ से उतरे और राजदम्पती के पास आये। उनके चरण छुए। आँसुओं से उनके चरण धोये, और गद्गद होकर कहा, "इन पवित्र चरणों से एक बार क्रीड़ापुर पुनीत हो।"

महाराज बिट्टिदेव ने उनके कन्धों पर हाथ रखा और उन्हें उठाया, अपनी स्वीकृति जतायी। अंगवस्त्र से आँसू पोंछते हुए स्थपति पुनः रथ पर जा चढ़े। रथ आगे बढ़ गया।

रथ के उस तरफ मंचण खड़ा था। जाते हुए रथ की ओर देखते वह मूर्तिवत् खड़ा ही रह गया। राजपरिवार महल की ओर अभिमुख हुआ। एकत्रित लोग अपने-अपने घर के लिए चल दिये।

मंचण ज्यों-का-त्यों खड़ा था, उसकी ओर किसी का भी ध्यान न रहा। बहुत देर बाद वह उस भाव-समाधि से जगा, चारों ओर नजर दौड़ायी। कोई नहीं था वहाँ। राजमहल के अहाते का वह खुला मैदान स्तब्ध था। वह धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ अपने निवास की ओर बढ़ गया। उसका मन कह रहा था, 'पवित्रात्मा एक कला-तपस्वी हैं वे। ऐसों की सेवा करना कलादेवी की ही आराधना करना है।'

युगल शिव-मन्दिरों का कार्य चल रहा था। पोय्सलेश्वर मन्दिर की नींव-

स्थापना पट्टमहादेवी शान्तलदेवी और शान्तलेश्वर मन्दिर की नींव-स्थापना बिट्टिदेव के हाथों एक साथ सम्पन्न हुई। उस समय वहाँ उपस्थित किसी के मन में, नींव-स्थापना करनेवाले दोनों शिवभक्त नहीं हैं, ऐसा भाव ही उत्पन्न नहीं हुआ। तेजी के साथ मन्दिर-निर्माण का कार्य एक ही जगह पर होने लगा।

जकणाचार्य के आदेश के अनुसार दोनों मन्दिरों को भव्य एवं सुन्दर बनाने के लिए स्थपति ओडेयगिरि हरीश ने रात-दिन इस निर्माण में अपना तन-मन लगा दिया। उनकी मदद के लिए बल्लण्ण, बोचण, देवोज, चंग, माचण्ण, कालिदास के दारोज, मल्लिबालक, रेवोज आदि अनेक शिल्पी बड़ी श्रद्धा एवं तन्मयता से कार्य करते रहे। पट्टमहादेवी और कुँवर बिट्टियण्णा ने वेलापुरी के मन्दिर-निर्माण के समय जिस उत्साह से कार्य किया था, उसी तरह यहाँ का कार्य सँभालते रहे।

स्थपति के चले जाने के थोड़े ही दिनों के अन्दर, रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनें अपने पिता की जागीर सिन्दगेरे के लिए रवाना हुईं। पट्टमहादेवी ने तो कहा कि हरियलदेवी के विवाह के बाद जाएँ, परन्तु "तब आ जाएँगी। यह विवाह तो मैंने ही निश्चित कराया है न?" कहकर रानी पद्मलदेवी ने यात्रा आरम्भ की थी।

विजयोत्सव के पश्चात् आसन्दी गये हुए, मंचियरस का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, ऐसी खबर आयी। इससे रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी महाराज की सम्मति पाकर आसन्दी की ओर रवाना हुईं। तब तक रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनों को सिन्दगेरे गये पखवाड़ा बीत चला था।

तभी, चार-छह दिनों के अन्दर ही, रानी लक्ष्मीदेवी के अस्वस्थ होने की खबर मिली। बिट्टिदेव ने कहा, "जगदल सोमनाथ पण्डित को भेज दिया जाए।"

शान्तल देवी ने कहा, "पण्डितजी के साथ सन्निधान भी जाएँ तो अच्छा। पण्डितजी से अधिक पतिदेव का सान्निध्य स्वास्थ्य लाभ के लिए अपेक्षित है।"

"रोज-रोज के झगड़े के लिए हमें वहाँ जाना होगा?"

"न-न, रानी की अभी कितनी-सी उम्र है! ना-समझ है। कुछ कह बैठती है तो सन्निधान को क्षमा कर देना चाहिए। बेकार का या विरही स्त्री का मन भूत का डेरा बन जाता है। इसका मौका नहीं देना चाहिए।"

"पट्टमहादेवी भी साथ चल सकती हैं?"

"मैं तैयार हूँ। परन्तु केतमल्लजी का यह युगल मन्दिर है। वे और स्थपतिजी मान जाएँ तो मैं चल सकती हूँ।"

"हमें क्या उनके कहे अनुसार चलना होगा?"

"हमने मदद देने का वचन जो दिया है, उसे यदि वापस लेना हो तो दूसरी बात! सन्निधान ने ही केतमल्ल और उनके माता-पिता को वचन दिया है कि मन्दिर का काम समाप्त होने तक पट्टमहादेवी दोरसमुद्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाएँगी।"

''ठीक, विचार करेंगे।''

विचार करने के बाद बिट्टिदेव की यात्रा निश्चित हुई। परन्तु यह भी निश्चित हुआ कि जगदल सोमनाथ पण्डित, जहाँ पट्टमहादेवी और बच्चे हों, वहीं उनके साथ रहें।

रवाना होने से पहले पट्टमहादेवी ने महाराज के पास आकर एक छोटी-सी सलाह दी, ''जाते हुए तलकाडु में दर्शन लेकर वहाँ के मन्दिर का कार्य कहाँ तक हुआ है, इसे जान लें और... वह जो यवन-कन्या है, उसके विषय में मुझे खबर भिजवाएँ।''

''ऐसी कोई खास बात हो तो स्वयं आचार्यजी ही बता देंगे। मन्दिर के निर्माण के बारे में चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। बेलापुरी के शिल्पी वहाँ गये ही हैं। इस पर नागिदेवण्णाजी जब वहाँ हैं, तो हमें देखने की कोई जरूरत नहीं है।''

''फिर भी सन्निधान हो आएँ तो अच्छा है, यही मुझे लगता है। यवन राजकुमारी को भारतीय देवता पर इतनी श्रद्धा-भक्ति है, तो यह एक असाधारण बात है। इसके लिए उन्हें ऐसी प्रेरणा कहाँ से मिली होगी, किस तरह से मिली, यह जानना अच्छा है। मत-भिन्नता के कारण आपसी मनमुटाव का बढ़ना देखते हुए हमारे लिए उनके अन्तस् को पहचानना-समझना क्या उचित नहीं?''

''यह सब हमसे नहीं हो सकेगा। तुम ही चलो तो ठीक होगा।''

शान्तलदेवी ने क्षणभर सोचकर कहा, ''अच्छी बात है। परन्तु मैं सन्निधान के साथ यादवपुरी नहीं जाऊँगी, सीधी राजधानी लौट आऊँगी।''

''तुम्हारी इच्छा!''

इसी तरह से यात्रा का कार्यक्रम निश्चित हुआ। उदयादित्यरस को राज्य की सीमा की रक्षा के लिए स्थायी रूप से नंगली में रहकर समुचित व्यवस्था करने का आदेश दिया गया था। उसे परिवार के साथ वहाँ जाने की व्यवस्था की गयी थी। परन्तु अब राजदम्पती को इस यात्रा के कारण पट्टमहादेवीजी की वापसी तक दोरसमुद्र में रहने और उनके लौटने के बाद नंगली जाने का निर्णय लिया गया।

कार्यक्रम के अनुसार यात्रा शुरू हुई। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रेविमय्या भी साथ था। पट्टमहादेवी की इच्छा थी, इसलिए राजपरिवार रास्ते में बाहुबली के दर्शन करने रुका। बाहुबली के पुजारीजी देवलोक सिधार चुके थे, इस वजह से पट्टमहादेवीजी को उनके दर्शन नहीं हुए। इतने में रेविमय्या ने एक छोटी-सी सलाह दी : 'कटवप्र पर चढ़कर बाहुबली का दर्शन किया जाए।' राजदम्पती ने अपनी सम्मति सूचित कर दी। कटवप्र पर पहुँचकर तीनों उसी पुरानी जगह पर खड़े हो गये। रेविमय्या सदा की तरह भाव-समाधि में लीन हो गया। उस समय शान्तलदेवी ने उस पुरानी घटना का स्मरण कर कहा, ''जब रानी पद्मलदेवी के साथ यहाँ आयी थीं, तब सौतों के बारे में बात चल पड़ी थी।'' उस बातचीत का सारा ब्यौरा विस्तार से सुनाकर बोलीं,

"उसी समय सौतों की झंझट से मुक्त मुझे एक परम्परागत बिरुद 'सवतिगन्धवारणा' प्राप्त हुआ था। उस दिन उन लोगों के समक्ष जैसा कहा था, शान्ति लाभ के लिए रेविमय्या की अभिलाषा की सिद्धि के प्रतीक इस स्थान पर एक वसति (मन्दिर) निर्माण कराने की मेरी इच्छा है। इसके लिए सन्निधान अपनी स्वीकृति प्रदान करेंगे।"

"जरूर करा सकती हैं। परन्तु इसमें किस भगवान् की मूर्ति प्रतिष्ठित होगी?"

"विश्वशान्ति प्रदान करनेवाले भगवान् शान्तिनाथ की।"

"बहुत अच्छा काम है। आपके गुरु बोकिमय्याजी और गंगाचार्यजी यहीं हैं। उन्हें सारी बात समझाकर मन्दिर की रूपरेखा बनाने के लिए कह दें!"

"अभी नहीं। केवल कल्पना के आधार पर निर्णय करना ठीक नहीं होगा।"

"तुम्हारी मर्जी।"

चर्चा यहीं रुक गयी। रेविमय्या अभी भी भाव-समाधि में स्थित था। "इसके ध्यान-मुक्त होने से पहले हम चन्द्रगुप्त बसदि और चामुण्डराय बसदि हो आएँ।" शान्तलदेवी ने कहा।

थोड़ी दूर पर खड़े अंगरक्षक को संकेत से पास बुलाकर उससे राज-दम्पती ने कहा, "हम उन बसदियों को देखने जाएँगे। रेविमय्या यदि पूछे तो बता देना कि हम उस ओर गये हैं। उसे वहाँ ले आना।"

वे जिस बसदि के पास गये तो वहाँ उसके साथ सटी एक और बसदि थी। बिट्टिदेव ने पूछा, "यह कौन-सी बसदि है, याद नहीं, कभी देखा हो।"

"यह कत्तले (अँधेरी) बसदि है। हमारे प्रधानजी के आदेश के अनुसार, उनकी मातृश्री पोचब्बे के लिए बनवायी गयी थी। यह आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का मन्दिर है।"

"ओफ! अब याद आया। उन्होंने हमसे पूछा था और हमने सम्मति दी थी, यह स्मरण न रहा। इसका ऐसा नाम क्यों?"

"इसकी रचना ही ऐसी है। अन्दर रोशनी का प्रवेश नहीं। इसलिए इस आदिनाथ बसदि का नाम कत्तले (अँधेरी) बसदि पड़ गया है।"

"ठीक।"

वहाँ से चामुण्डराय बसदि में जाकर नेमिनाथ स्वामी के दर्शन कर बाहर आये। यहीं रेविमय्या भी आकर इनके साथ मिल गया।

"क्यों रेविमय्या, आज बाहुबली ने तुम्हें किस रूप में दर्शन दिये?"

"आज दिखाई ही नहीं पड़े। देखते-देखते वैसे ही गलकर ब्रह्माण्ड में विलीन हुए-से दिखे।"

बिट्टिदेव ने कहा, "जो भी हो, तुम्हारा और बाहुबली का बहुत ही अजीब रिश्ता है।"

''मुझे जो वास्तविक लगा वह यदि सन्निधान को अजीब लगे तो यही मानना पड़ेगा कि सन्निधान शंका कर रहे हैं कि मैं सच नहीं कह रहा हूँ।''

''मुझे तुम्हारी बात का विश्वास है। परन्तु जब बात विचार-बुद्धि से परे हो तब तुरन्त मान लेने को मन हिचकिचाता है।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''जो बीमारी किसी से भी अच्छी नहीं हो सकी वह आचार्यजी द्वारा दी गयी बुकनी से अच्छी हो गयी। उस पर यदि सन्निधान ने विश्वास कर लिया था तो इसका भी कर लेना चाहिए।''

बिट्टिदेव ने उसकी ओर तीव्र दृष्टि डाली।

''गलत कहा हो तो सन्निधान क्षमा करें। बात अनायास ही मुँह से निकल गयी।'' रेविमय्या ने विनीत होकर कहा।

''इस पर फिर विचार किया जाएगा। अब चलो, और भी यात्रा शेष है।'' बिट्टिदेव बोले।

कटवप्र से उतरने के बाद राजपरिवार भोजन आदि से निवृत्त होकर, यदुगिरि की ओर रवाना हुआ।

पूर्व-सूचना दे दी गयी थी, इसलिए सचिव नागिदेवण्णा और दण्डनायक डाकरस, दोनों राजदम्पती का स्वागत करने उनकी प्रतीक्षा में थे। रानी लक्ष्मीदेवी भी अपने पिता के साथ यदुगिरि आयी थीं। महाराज के साथ पट्टमहादेवी भी आयी होंगी, इसकी कल्पना भी नहीं की थी। पट्टमहादेवी को देखते ही उसे अन्दर-ही-अन्दर कुछ चुभन-सी हुई, फिर भी उनका हँसते हुए स्वागत किया।

रानी लक्ष्मीदेवी को देखते ही बिट्टिदेव ने आक्षेप किया, ''स्वास्थ्य जब ठीक नहीं था तो यात्रा नहीं करनी चाहिए थी?''

''क्या करें, कहने पर भी नहीं मानती थी, कितना समझाया! अब तो स्वास्थ्य कुछ सुधर गया है। सन्निधान के कहे मुताबिक अभी उसे विश्रान्ति की जरूरत है, यह बात समझायी, फिर भी यात्रा करने की आज्ञा दे दी!'' धर्मदर्शी बोला।

''आपने ही ब्यौरा दे दिया तो बात समझ में आ गयी, छोड़िए। हमने वास्तव में, सोमनाथ पण्डित को साथ लाना चाहा था। पट्टमहादेवीजी भी आरोग्यशास्त्र से परिचित हैं। इन्होंने सलाह दी कि फिलहाल पण्डितजी की जरूरत नहीं, स्वयं देखकर निर्णय करना उचित होगा। अब लगता है कि वैद्य की जरूरत नहीं।''

''सन्निधान के आगमन की बात सुनकर ही बीमारी अपने-आप दूर हो गयी।''

''यह बात पट्टमहादेवी ने वहीं बता दी थी।''

''वे अनुभवी हैं।''

यों कुशल प्रश्न हो ही रहे थे कि आचार्यजी का शिष्य एम्बार आया और उसने विनती की, ''आचार्यजी राजदम्पती की प्रतीक्षा में हैं।''

"अभी तो आये हैं, एक आध घण्टा बाद आएँ तो नहीं चलेगा? यात्रा करके आये हैं, थोड़ा विश्राम करना उचित है।" नागिदेवण्णा ने धीरे से एम्बार से कहा।

"वैसा ही कर सकते हैं। मैं जाकर निवेदन कर दूँगा।" एम्बार बोला।

"जब आचार्यजी ने स्वयं कहला भेजा है तो..." लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"तो क्या हाथ-पैर धोये बिना ऐसे अशुद्ध ही आचार्यजी के दर्शन के लिए चल दें? परिशुद्ध होकर गुरुगृह जाना चाहिए न! यहाँ से निकलने के पहले कहला भेजेंगे। जितनी जल्दी हो सकेगा, सेवा में पहुँचेंगे।" कहकर शान्तलदेवी ने चर्चा को पूर्णविराम लगा दिया।

"जो आज्ञा।" एम्बार चलने को था कि तभी शान्तलदेवी ने कहा, "दिल्ली के बादशाह की पुत्री से भी हमें मिलना है। उन्हें भी वहाँ बुलवा लाने की व्यवस्था करें या मठ के आचार की दृष्टि से यदि वहाँ आना मना हो, तो बाद में उन्हें यहाँ बुलवा लेंगे।"

"आचार्यजी से निवेदन कर दूँगा।" कहकर एम्बार चला गया।

हाथ-पैर धो-धाकर शुभ्र वस्त्र धारण कर महाराज, पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी आचार्यजी के सन्दर्शन के लिए चल दिये। पूर्व सूचना होने के कारण आश्रमवासियों समेत आचार्यजी राजदम्पती की प्रतीक्षा में थे। नमस्कार आशीर्वाद के बाद नियत आसनों पर सब विराज गये।

"शिव-मन्दिर का काम कहाँ तक हुआ?" आचार्यजी ने पूछा।

"आपके आशीर्वाद से काम सुगम रीति से चल रहा है। दोनों शिव-मूर्तियों के (लिंगों के) सामने दो बृहद् वृषभ विग्रह बिठाने पर स्थपतिजी विचार कर रहे हैं। उसके योग्य बृहत् शिला अभी प्राप्त नहीं हुई है।" यह कहकर, "यहाँ के चेलुवनारायण मन्दिर का निर्माण कार्य कहाँ तक पहुँचा है?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"बहुत तीव्र गति से चल रहा है। नागिदेवण्णाजी किसी को बैठने नहीं देते। अचानक इस दर्शनलाभ का कारण?"

"खबर मिली कि रानी लक्ष्मीदेवी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं, तो सन्निधान ने यात्रा का निश्चय किया। मेरी उत्कट इच्छा हुई कि दिल्ली के बादशाह की पुत्री से मिलूँ। साथ चलने की अनुमति भी मिल गयी। इधर आपके दर्शन से मेरी सन्तुष्टि दुगुनी हो गयी।"

रानी लक्ष्मीदेवी के हृदय ने कहा, 'असल में यह तो एक बहाना है, मेरी परीक्षा लेने आयी हैं।'

"कुछ भी हो, जिनसे आत्मीयता हो, उनसे मिलने पर अपूर्व आनन्द होता है। आपके आनन्द के सहभागी हैं हम। एम्बार, राजकुमारी नहीं आयीं?" आचार्यजी ने पूछा।

''आप दिल्ली से जिस रामप्रिय को ले आये, उसकी पूजा हो रही है। वहाँ हैं। मैंने खबर दे दी। उन्होंने सिर्फ 'हाँ' कहला भेजा।''

''तो मतलब हुआ कि वह लड़की जब तक पूजा पूर्ण न हो, तब तक नहीं हिलेगी।'' आचार्यजी ने स्वगत की तरह कहा।

''आचार्यजी, स्वीकृति दें तो मैं वहाँ जाना चाहूँगी।'' शान्तलदेवी ने कहा। और इसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही एम्बार से पूछा, ''एम्बारजी, मुझे वहाँ ले चलेंगे?''

उसने आचार्य की ओर देखा। उन्होंने मुस्कराते हुए सम्मति दे दी।

पट्टमहादेवी एम्बार के पीछे चल दीं, उनके साथ रेविमय्या भी हो गया।

श्री आचार्यजी ने दोरसमुद्र से लौटने के बाद रामप्रिय की पूजा-अर्चा के लिए एक आगमवेत्ता पुजारी को नियुक्त कर रखा था। पूजा-आरती के वक्त से वहाँ उपस्थित रहते। एम्बार तो आगमवेत्ता के साथ ही होता। आज राजदम्पती के आगमन के कारण एम्बार को आचार्यजी के साथ रहने का आदेश दिया गया था।

पट्टमहादेवीजी रामप्रिय मूर्ति के लिए तत्काल निर्मित मण्डप के पास एम्बार के साथ गयीं। मण्डप के द्वार पर परदा लगा हुआ था। एम्बार वहीं खड़ा हो गया।

''अभिषेक हो रहा है। उसके समाप्त होने पर भगवान् को अलंकृत किया जाएगा। तब स्वामी के दर्शन होंगे।'' एम्बार ने कहा।

''हाँ-हाँ, मगर बादशाह की बेटी कहाँ हैं?''

''वह अन्दर हैं।''

''तो हम भी अन्दर जा सकेंगी न?''

''अर्चना करनेवालों के सिवा अन्य किसी का अन्दर प्रवेश निषिद्ध है।''

''तो वह अन्दर कैसे हैं?''

''उन्हें अन्दर न छोड़ेंगे तो अनशन करेंगी। इसलिए आचार्यजी ने उन्हें अन्दर रहने को कह दिया है।''

''यह निषेध क्यों?''

''हम जैसे नहाते वक्त और वस्त्र-धारण करते वक्त एकान्त चाहते हैं, उसी तरह भगवान् के लिए ऐसा एकान्त प्रचलित है।''

''भगवान् तो सदा भक्तों को दिखाई देते रहना चाहिए न? बाहुबली स्वामी को देखा है? उनका अभिषेक करना हो तो ऊपर तक पहुँचने के लिए सीढ़ियों सहित मण्डप बनाना पड़ता है। वह सदा प्रकट हैं। हमारी सारी पूजा अर्चा उनके चरणों में होती है। हमारे लिए उनके श्रीचरण ही उनकी परिपूर्णता का संकेत हैं।''

''हमारे लिए भी वही है। हमारे माथे पर का तिलक श्रीमन्नारायण के चरणों का संकेत है। ऐसी ही कुछ रूढ़ियाँ परम्परा से चली आयी हैं। भक्तों के कल्याण हेतु उन्हें बराबर बनाये रखना होता है।''

"तो आपकी राय में यह एकान्त आवश्यक नहीं, यही कहना चाहते हैं?"

"मैं केवल अनुयायी मात्र हूँ? जिज्ञासु नहीं, इसलिए इस सम्बन्ध में मैंने सोचा-विचारा ही नहीं।"

"जाने दीजिए। मैं भी इस बारे में जिज्ञासा क्यों करूँ?" कहकर शान्तलदेवी परदे के बाहर ही खड़ी रहीं। एम्बार भी खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद पुजारी बाहर आया। उसने एम्बार से पूछा, "आचार्यजी अभी आये नहीं?"

"आने का समय उनके ध्यान में रहता है। आते ही होंगे। अलंकार आदि पूरा हो चुका हो तो परदा हटा सकते हैं? दर्शनाभिलाषा से पट्टमहादेवीजी पधारी हैं।" एम्बार ने कहा।

परदा हटा दिया गया। चेलुवनारायण सर्वालंकार-भूषित होकर एक ऊँची वेदी पर विराज रहे थे। गर्भगृह के द्वार पर आँखें मूँदकर हाथ जोड़े, ध्यानस्थ स्थिति में, एक निराभरण सुन्दरी पालथी मारे बैठी थी। शान्तलदेवी ने सोचा, "शायद यही बादशाह की पुत्री है।"

पट्टमहादेवी के आगमन की खबर पाकर उनको देखने के लिए वहाँ बहुत से लोग एकत्र हो गये। इस भीड़ की वजह से बादशाह की बेटी की एकाग्रता भंग हो गयी। वह कुछ घबराकर चारों ओर चकित दृष्टि से देखने लगी।

वह आचार्य को देखा करती थी। परन्तु आज आचार्य नहीं, उसने अनपेक्षित भीड़ को देखा। उसे मालूम था कि राजदम्पती आये हैं, फिर भी इस बात को लेकर उसे कोई कुतूहल नहीं था। पट्टमहादेवीजी एम्बार के साथ आयी थीं, तो भी उनके साथ सात-आठ रक्षक-दल के जवान थे। तोमरधारी राजभटों को देखकर उसने समझ लिया कि रानीजी का आगमन हुआ है।

शान्तलदेवी बिलकुल उनके सामने थीं। उन्होंने मुसकराकर हाथ जोड़े। शहजादी उठ खड़ी हुई। हँसती हुई, हाथ जोड़ नमस्कार किया।

इतने में महाराज, आचार्यजी, रानी लक्ष्मीदेवी आदि भी वहाँ आ पहुँचे। आगे की पूजा-अर्चना यथाविधि सम्पन्न हुई। चरणामृत, प्रसाद आदि के वितरण के बाद आचार्यजी ने शहजादी का महाराज, पट्टमहादेवी, रानी लक्ष्मीदेवी, सबसे परिचय कराया।

बिट्टिदेव ने पूछा, "आपके लिए यहाँ सभी सुविधाएँ तो हैं?"

"रामप्रिय के साथ रहने से भी अधिक किसी विशेष इन्तजाम की मुझे जरूरत नहीं है। फिर भी सारा इन्तजाम है मैं राजमहल के ऐशो-आराम को छोड़कर भगवान् का साक्षात्कार पाने के लिए आयी हूँ। ऐसी हालत में मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।" शहजादी ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी आपसे बातचीत करना चाहती हैं, भोजन के बाद सुविधा रहेगी न?" आचार्यजी ने प्रश्न किया।

''उनके हुक्म का पालन मेरा कर्तव्य है।''

इस प्रकार शहजादी ने शान्तलदेवी से भेंट की। कुशल प्रश्न के बाद शान्तलदेवी ने कहा, ''वास्तव में इस तरफ आने की बात मैंने सोची ही नहीं थी। लेकिन आपके इतनी दूर दक्षिण में पधारने की बात सुनकर आपसे मिलने की इच्छा हो आयी।''

''पट्टमहादेवीजी की उदारता की बड़ाई आचार्यजी ने मुझसे की है।''

''उनका स्वभाव ही ऐसा है। छोटी बात को भी महान बना देते हैं। आचार्यजी ने रामप्रिय पर आपकी अपार भक्ति के बारे में मुझे बताया है। परन्तु मेरे मन में एक प्रश्न उमड़ रहा है। आपको ही उसका समाधान करना होगा।''

''हर किसी सवाल का जवाब देने की अक्ल मुझमें कहाँ? जो कुछ मैंने जाना-समझा है, वह सब सुनी-सुनायी बातें हैं। मैंने खुद कोई शिक्षा नहीं पायी है, इसलिए आपको निराशा ही होगी।''

''शिक्षा अनुभव से बड़ी नहीं। शिक्षा केवल अनुभव को ओप देती है। आप जन्मतः अल्लाह की अनुयायी हैं। अल्लाह के अनुयायियों के लिए भारतीय धर्मी काफिर हैं। इन काफिरों के इस रामप्रिय पर किस कारण से रीझ गयी हैं और भक्तिन बन गयी हैं, यह मैं समझ नहीं पा रही हूँ।''

''हमारे यहाँ भी यही कहते हैं। पूछते हैं कि अल्लाह की अनुयायिनी होकर काफिरों के देव से क्यों प्रेम करती हो। मैं नहीं जानती हूँ। यह रामप्रिय खिलौना बनकर मेरी गोदी में सोता रहा। लोहे की इस बेजान मूर्ति के प्रति जैसे-जैसे मैं बड़ी हुई, एक तरह की मोहकता का अनुभव करने लगी। उसका संग मुझे अच्छा लगने लगा। अब उसके अभाव में सब सूना-सूना लग रहा था। उस तरह का जीवन मेरे लिए असह्य हो उठा। मेरा अन्तर बार-बार कहने लगा कि मेरा सुख-साक्षात्कार केवल इस रामप्रिय से ही साध्य हो सकता है। इस सुख-साक्षात्कार को पाना किसी और से हो ही नहीं सकता। ऐसी हालत में मेरा रामप्रिय की भक्तिन बन जाना सहज ही है न?''

''तो क्या आपकी यह मान्यता है कि अल्लाह से यह रामप्रिय श्रेष्ठ है?''

''अल्लाह से मैंने कुछ नहीं चाहा। मेरे मन में उसके स्वरूप की कल्पना ही नहीं हुई है। मेरी नस-नस में रामप्रिय ही विराज रहा है। अब तो मेरे लिए वही एक रामप्रिय है। इसका यह मतलब नहीं कि वह दूसरों से बढ़कर है।''

''देखा न? अनुभव ने बड़े तत्त्वज्ञों से अधिक ज्ञानी बना दिया है आपको। तो आपने यह समझकर उसका अनुसरण नहीं किया कि रामप्रिय अन्य सभी से श्रेष्ठ है।''

''मुझे प्रिय लगा, बस हो गयी उसी की। यह दूसरों के लिए समस्या बन सकता है। एक मत या धर्म की अनुयायिनी किसी अन्य मत या धर्म की अनुयायिनी बन सकती है या नहीं, यह बात मेरे दिमाग में आयी ही नहीं। रामप्रिय के सान्निध्य से मेरा मन इतना प्रसन्न क्यों हुआ, यह ऐसा विषय है जो स्वयं मेरी ही समझ में नहीं आता।

इसलिए मैं इसका खुलासा कर ही नहीं सकती। मेरे विचार मेरे अपने हैं।''

''आपके पिताजी बादशाह हैं। आपको दूसरों के देवता से दूर रखने के लिए ही इस रामप्रिय को आचार्य के हाथों भेज दिया, यही सुना। तब भी आप इधर चलीं आयीं? आपके लिए कोई रोक-टोक नहीं थी?''

''कह नहीं सकती कि रोक-टोक नहीं थी। मुझे तो अन्तःपुर से बाहर निकलने का मौका ही नहीं मिलता था। सब तरफ पहरेदार रहा करते थे।''

''तो आयीं कैसे? सबकी आँखों से बचकर चलीं आयीं।''

''नहीं, एक दिन मैं सो रही थी तो रामप्रिय ने आकर मुझे जगाया। सचमुच, मुझे आश्चर्य हुआ। मेरा रामप्रिय निर्जीव प्रतिमा नहीं, वह सजीव सुन्दर व्यक्ति है, ऐसा लगा। जगी तो मैं उसे देख मुग्ध हो उठी। मैंने स्वयं को उसे समर्पित कर दिया। मैंने पूछा, 'मुझे छोड़कर क्यों चले गये?' तो उसने कहा, 'मैं भी जीऊँ और तुमको भी जिलाऊँ इसलिए चला गया।' मैंने कहा, 'यहाँ मेरा जीवन असह्य हो गया है।' उसने कहा, 'जाओगी तो ले जाऊँगा।' तुरन्त उसके लिए चल पड़ी। यहाँ आयी। परन्तु मेरा रामप्रिय अदृश्य हो गया। सब स्वप्न-सा लग रहा है। दिल्ली के अन्तःपुर से कैसे और किस रास्ते से रामप्रिय मुझे ले आया सो याद तक नहीं। चलते-चलते पैर घिस गये। सच, कई रातें इधर-उधर मण्डपों में सोकर बितायी हैं। वह सब याद हो आता है तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। मैं कहाँ और यह यदुगिरि कहाँ! मेरी बात, मेरा अनुभव, इनपर मुझे विश्वास ही नहीं होता तब दूसरे कैसे विश्वास करेंगे? इसलिए मैं कुछ भी नहीं कहती। मेरा रामप्रिय मुझे यहाँ बुला लाया। उसने कहा, 'अभी यहीं रहो, मैं ले चलूँगा।' उसका यह कथन ही मेरा सहारा है।''

''तो आपका यह दृढ़ विश्वास है कि स्वामी रामप्रिय सजीव होकर आपको साथ ले जाएँगे?''

''मुझे विश्वास है, यहाँ तक मुझे ले आनेवाला रामप्रिय मुझे धोखा नहीं देगा।''

''मगर आपके यहाँ आने की बात बादशाह को मालूम हो जाए और बादशाह यहाँ सेना लेकर आपको ले जाने के लिए आ जाएँ, तब?''

''इस राज्य पर हमला हो जाने का डर है?''

''यह राज्य हमले से नहीं डरता। राजा, रानी और जनता सब मिलकर सामना करेंगे। फिर भी एक नैतिक प्रश्न उठता है। आप बादशाह की अविवाहिता बेटी हैं। आपको समझाने के लिए कहें तो हम इनकार नहीं कर सकते, इसलिए कहा।''

''मेरे मन में कोई ऐसी बात उठी ही नहीं। आप ही क्यों व्यर्थ की कल्पना करती हैं? सब-कुछ रामप्रिय की इच्छा के अनुसार होगा।''

''आपका यह अटल विश्वास ही आपका रक्षक है। सभी मत-धर्मों के लिए यही अटल विश्वास मूलाधार है। मैं यहाँ से वेलापुरी लौट जाऊँगी। आचार्यजी की

अभिलाषा के अनुसार हमने वहाँ श्रीमन्नारायण का एक विशाल मन्दिर बनवाया है। आप आकर वहाँ श्रीनारायण के दर्शन कर सकती हैं। यदि आप मानें तो आपको मेरे साथ भेजने के लिए आचार्यजी से निवेदन करूँ?''

''आपके आमन्त्रण के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। मुझे और कोई चाह नहीं। यहाँ जो आनन्द मुझे मिलता है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकेगा। इसलिए मुझे क्षमा करें।''

''मैं आपके आनन्द में बाधा नहीं डालना चाहती। हमारी परम्परा ने हमें वह शक्ति दी है कि हम जहाँ भी हों वहीं अपने आराध्य की उपासना कर सकें। इस प्रकार हम जहाँ भी रहें उस आनन्द को पा सकते हैं। इसलिए यह आशा है कि आप हमारे साथ चल सकेंगी।''

''क्षमा कीजिए। हम मूलतः मूर्तिपूजक नहीं। इसके विपरीत जब मूर्ति विशेष में मेरी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो गयी है तो अब एकमात्र उसी के सान्निध्य में मुझे आनन्द मिल सकता है। जहाँ हूँ वहीं अगर आनन्द प्राप्त हो सकता हो तो मैं अन्यत्र क्यों जाऊँ? इस सन्दर्भ में हम दोनों में बहुत अन्तर है। मेरी तरह आप अन्य सम्प्रदाय में जन्मी होतीं और बाद में इस ओर प्रेम पैदा हुआ होता तो मेरी हालत को आसानी से समझ जातीं। अब तो मेरा सम्पूर्ण जीवन यहीं बीतेगा।''

''आपकी मर्जी। महासन्निधान ने कहा है, आप बादशाह की बेटी हैं, इसलिए आपको जो सम्मान मिलना चाहिए, और जो संरक्षण मिलना चाहिए, इस सबका उत्तरदायित्व राजमहल का है। इसलिए आइन्दा राजमहल जहाँ आपके निवास की व्यवस्था करेगा, वहाँ रहना होगा। आपकी जरूरतों का ध्यान रखने, आपकी सेवा एवं सुरक्षा के लिए हम नौकरों को नियुक्त करेंगे।''

''रामप्रिय के आश्रय में बेरोकटोक चली आनेवाली मुझे उसी की सहायता सदा मिलती रहेगी। और मुझे कुछ नहीं चाहिए। यहाँ किसी भी तरह असुविधा नहीं। आपने और महाराज ने मेरे प्रति जो अनुकम्पा दिखायी, इसके लिए मैं आभारी हूँ। मेहरबानी करके मुझ पर उदारता का और बोझ न लादें। लोग राजानुग्रह प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। वह अनुग्रह मुझे स्वयं ही प्राप्त है। मैंने उसे अस्वीकार किया, इस पर महाराज क्रोधित न हों, इतना भर आप देख लें।''

''तात्पर्य यह कि आप रामप्रिय में ही साक्षात्कार की अभिलाषा करनेवाली संन्यासिनी हैं। अब मैं कुछ और नहीं कहना चाहती। आप हमारे राज्य में आकर बसीं, यही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हमारा यह राज्य धर्म-सहिष्णुता का एक शाश्वत रूप है। हमें इसी का सन्तोष है। आपको यहाँ तक आने का कष्ट हुआ, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। राज-पुत्री होकर आपने सब कुछ त्याग दिया! और इधर मैं...हेग्गड़े की पुत्री बनकर राजकाज के इस झंझट में पड़ी हूँ! यह कैसी विपरीत स्थिति है? अच्छा,

आपको कष्ट दिया, क्षमा करें।''

''वास्तव में यहाँ आने के बाद, मैंने आचार्यजी से कभी-कभी दो-चार क्षण बातें जरूर की हैं। अभी तक आपकी तरह इतनी सहानुभूति और आत्मीयता से किसी ने मुझसे बातचीत नहीं की। वैसे मुझे कोई कमी महसूस नहीं हुई फिर भी आपके साथ जो समय मैंने बिताया उससे मुझे उतना ही आनन्द हुआ जितना बन्धुओं के मिलने से होता है। अनुमति हो तो अब मैं चलूँ?'' कहकर शहजादी ने उठकर प्रणाम किया और विदा ली।

शान्तलदेवी ने बाद में सारी बात महाराज को सुनायी।

''नारायण की लीला है! किसे क्या बना दे, सो वही जाने। अच्छा, यह बात रहने दें। अब रानी लक्ष्मीदेवी का स्वास्थ्य सुधर गया है। इसलिए क्यों न हम दोरसमुद्र लौट चलें?''

''मैं लौट जाऊँगी। सन्निधान कुछ दिन और यादवपुरी में रहें तो ठीक होगा।''

''हम आये थे बीमारी की बात सुनकर।''

''उसकी यह छोटी-सी उमर और उसका मन, दोनों को समझकर आपका यहाँ रहना उचित है। कल यहाँ के मन्दिर-निर्माण का कार्य देख-समझकर यदि कोई सलाह देनी हो तो शिल्पियों को समझाकर, परसों राजधानी लौट जाऊँगी। सन्निधान रानी लक्ष्मीदेवी के साथ यादवपुरी पधारें।'' शान्तलदेवी ने जैसे निर्णय ही दे दिया।

बिट्टिदेव ने कुछ नहीं कहा। शान्तलदेवी के इस निर्णय में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ अवश्य। रानी लक्ष्मीदेवी ने जिद की कि पट्टमहादेवीजी यादवपुरी आएँ और वहाँ से फिर राजधानी जाएँ। इस वजह से उन्हें भी महाराज के साथ यादवपुरी जाना पड़ा।

यादवपुरी में पट्टमहादेवी एक सप्ताह रहीं। उस दौरान उनके प्रति जो आस्था-गौरव रानी लक्ष्मीदेवी ने दिखाया उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। वास्तव में शान्तलदेवी बहुत सन्तुष्ट हुईं। जब तक वे रहीं, लक्ष्मीदेवी को अनेक विषयों की जानकारी हासिल हुई। अपने से और अपने पिता से कितना भयंकर आघात हो जाता, यह बात याद करके आगे से इस तरह का कार्य न हो, इसके लिए किस तरह आचरण करना चाहिए, सब उसकी समझ में आ गया। कभी-कभी बातचीत करके वक्त उसने अपने पिता की ज्यादतियों की टीका भी की। शान्तलदेवी ने शुद्ध मन से अनेक उपयुक्त सलाह भी दीं। उनमें मुख्य बातें यह भी उन्होंने बतायीं, ''यादवपुरी हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मेरे जीवन ने परिपूर्णता इसी जगह पायी। राजलदेवी ने भी यह राय व्यक्त की है। आचार्यजी ने राजमहल के दीप को यहीं उजागर किया था। ऐसे ही तुम्हारा जीवन भी यहाँ परिपूर्णता को प्राप्त करे। सन्निधान की देख-रेख फूल की तरह करना। व्यक्तियों के बारे में, धर्म और कला के बारे में तथा आचार्यजी के विषय में उनकी निश्चित विचारधारा है। ऐसे प्रसंगों में उन्हें छेड़ना नहीं। जिननाथ तुम्हारी

इच्छाएँ पूरी करें।''

लक्ष्मीदेवी ने, जो पलँग पर शान्तलदेवी की बगल में बैठी थी, वहाँ से उतरकर शान्तलदेवी के पैर छुए और कहा, ''मुझे यही आशीर्वाद दें कि मेरे पुत्र हो।''

''वह तो सभी स्त्रियों की अभिलाषा होती है। भगवान् जिननाथ अनुग्रह करेंगे।''

''मैं साधारण पुत्र को जन्म देना नहीं चाहती। इस राजघराने के योग्य मेरा पुत्र हो, ऐसी मेरी अभिलाषा है।''

''किस तरह तुम सन्निधान को सन्तुष्ट करोगी, उस पर यह निर्भर करता है। इसके साथ तुम्हें प्रभु से एक प्रार्थना करनी होगी, यह कि सन्निधान की सन्तानें परस्पर भ्रातृभाव से रहें, प्रतिस्पर्धियों की तरह नहीं। समझी?''

बात को सुनकर लक्ष्मीदेवी हँस पड़ी।

''क्यों? क्या हुआ? इसमें हँसने की कौन-सी बात थी?''

''आप इतनी अनुभवी हैं, फिर भी यह बात आपके मुँह से क्यों निकली? मेरा पुत्र हो तो उसे क्या सिंहासन मिलेगा? प्रतिस्पर्धी क्यों बने? आप पट्टमहादेवी हैं। आपके गर्भ से उत्पन्न बड़े पुत्र के होते हुए, मेरा पुत्र उनके साथ अनुज बनकर ही रहेगा न? मुझमें इतनी लौकिक प्रज्ञा नहीं, ऐसा समझती हैं?''

''मैंने यह नहीं कहा कि तुममें लौकिक प्रज्ञा नहीं। वास्तव में मेरी कोई अभिलाषा ही नहीं है। सन्निधान माध्यम बने कि मेरा पाणिग्रहण किया, परिस्थितिवश उन्हें सिंहासन पर बैठने का यह योग मिला, और मैं पट्टमहादेवी बनी। सन्निधान का और मेरा यह योग हमारी सन्तान का भी हो, ऐसा विचार करना गलत न होगा। फिर भी यह सब उनके जन्म के मुहूर्त के अनुसार ही होगा। भाग्य में जो लिखा है उसे कोई मिटा नहीं सकता। तुम्हें चालुक्यों का किस्सा मालूम है?''

''क्या, विक्रमादित्य की कथा?''

''उनसे पूर्व की। पहले उनकी राजधानी वातापि थी। वातापि के मूल चालुक्यों के घराने में कीर्तिवर्मा एक राजा थे। उनके स्वर्गवास के समय उनका पुत्र छोटी आयु का था। इसलिए राजा कीर्तिवर्मा के बड़े बेटे पुलिकेशी के नाम पर कीर्तिवर्मा के भाई मंगलेश राजकाज सँभालते थे। भाई के प्रति उन्हें अपार श्रद्धा थी। फिर भी अधिकार के मद में उनका मन भी कलुषित हो गया। अधिकारमद ही बुरा है। उन्होंने अपने ही पुत्र को सिंहासन पर बैठाने की योजना बना ली। तब सत्याश्रय सत्यव्रत पुलिकेशी ने अपने समर्थकों को इकट्ठा किया और अपने चाचा से लड़कर राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। इसलिए मैंने यह बात कही। दूसरों के अनुभव से भी हमें पाठ सीखना चाहिए। इतनी दूर क्यों जाएँ? सन्निधान के दादा विनयादित्य महाराज के तो अकेले पुत्र थे प्रभुजी। उनके सिंहासनारूढ़ होने में भी बाधा डालने वाले अनेक रहे। इसलिए कहती हूँ कि राजमहल की एकता पोय्सल राज्य की एकता के लिए अत्यन्त

आवश्यक है। भविष्य सुन्दर बने, वह कलुषित न हो, यही मेरी अभिलाषा है। इसमें हँसने का कोई कारण नहीं। कुछ ऐसी भी बेल होती हैं जो सहारा देनेवाले वृक्षों के लिए ही कण्टक बन जाती हैं। हम सन्निधान की आश्रित बेल हैं। सहारा देने वाले सन्निधान के लिए हमें कण्टक नहीं बनना चाहिए। राजमहल की एकता ही सन्निधान के बल का मूल आधार है।''

''ये सब बहुत दूर की बातें हैं। मेरे दिमाग में ये आतीं ही नहीं। आपने ही कहा न कि भगवान् की इच्छा क्या है, कौन जाने!''

''उसके सामने कोई कुछ नहीं कर सकता। अब देखो न उस दिल्ली के बादशाह की बेटी को! बहुत सुन्दर है वह। किसी शहजादे से शादी करके सुखी रह सकती थी। सबका त्याग करके संन्यासिनी की तरह, सो भी अन्य धर्माश्रयी होकर, आ गयी है। ऐसी हालत में भविष्य बतानेवाले हम होते कौन हैं?''

''सो तो सच है। परन्तु उनका यहाँ आना एक बात का प्रमाण बन गया।''

''किस बात का?''

''श्रीवैष्णव धर्म सबसे श्रेष्ठ है।''

शान्तलदेवी ने तुरन्त कुछ नहीं कहा।

''क्यों मेरा कहना ठीक नहीं?'' लक्ष्मीदेवी ने फिर सवाल किया।

''यह बात हमारी चर्चा के दायरे से बाहर की है। इसलिए उसकी जरूरत नहीं।'' कहकर शान्तलदेवी ने विषय को पूर्ण-विराम दे दिया। फिर, ''हमें एक मन होना चाहिए, एकता चाहिए, इतना साध लें तो काफी है।'' कहकर पूछा, ''कल मैं जा रही हूँ। एक बार पहाड़ पर चढ़कर वहाँ के मण्डप को देख आना चाहती हूँ। तुम भी चलोगी?''

वह भी साथ हो गयी। मौन ही दोनों पहाड़ पर चढ़ीं। रेविमय्या साथ रहा। उस दिन पहाड़ पर कोई विशेष व्यवस्था नहीं की गयी थी। पहाड़ पर चढ़कर मण्डप के सामने, अस्त होनेवाले सूरज को बहुत देर तक देखती हुई, शान्तलदेवी मौन बैठी रहीं। सूर्यास्त के बाद, धीरे से उठीं और मण्डप के अन्दर गयीं। साथ लक्ष्मीदेवी भी थी तो उससे कहा, ''यह स्थान मेरे लिए अत्यन्त पवित्र है। किसी तरह की विघ्न-बाधाओं के बिना व्यतीत किये उन सुखमय दिनों की स्मृति का प्रतीक है यह मण्डप। उत्तर की ओर राज्य का विस्तार हो जाने के कारण यादवपुरी उस पुरानी चहल-पहल को फिर से पा सकेगी या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। मैं फिर यादवपुरी कब आऊँगी, कौन जाने! यह स्थान मेरी सारी खुशियों के लिए मातृस्थान है। तुम्हारे भी सद्भाव इस यादवपुरी में रूप धारण करें।'' कहकर पहाड़ से उतरकर राजमहल में आ गयीं।

दूसरे दिन दोपहर के भोजन के बाद, पट्टमहादेवी के दोरसमुद्र को प्रस्थान करने की बात निश्चित की गयी थी। मंगल-स्नान तथा विशिष्ट भोजन आदि की व्यवस्था

थी। पट्टमहादेवी और महाराज को साथ बिठाकर लक्ष्मीदेवी ने ही आदर के साथ उन्हें प्रेम से खिलाया। उन्होंने कहा, ''जहाँ कहीं भी मैं गयी वहाँ सबसे यही बात सुनी कि आपका दाम्पत्य श्रेष्ठ और आदर्शमय है। मुझे भी ऐसे श्रेष्ठ दाम्पत्य का फल मिले, यही आशीष दें।'' शान्तलदेवी ने सोचा कि वाकई कितनी मुग्धा है यह! और उसे आशीष भी दी।

पट्टमहादेवी को विदा करते हुए लक्ष्मीदेवी की आँखें सचमुच भर आयीं। शान्तलदेवी के हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न हो गयी। 'माँ-बाप विहीन अनाथ है, सुखी रहे।' यों मन में विचार कर उठीं और महाराज को प्रणाम किया। फिर रेविमय्या और रक्षक-दल के साथ शान्तलदेवी ने प्रस्थान किया।

महाराज के आने के दस-बारह दिनों के अन्दर ही रानी लक्ष्मीदेवी का स्वास्थ्य सुधर गया। उसमें एक नयी उमंग भर आयी थी। उसके पिता ने कुछ दूर की आशा भी उसके मन में भर दी थी। फलस्वरूप उसकी देह में कान्ति आ गयी थी। बिट्टिदेव और लक्ष्मीदेवी के दाम्पत्य जीवन में एक नयी चमक आ गयी थी। बिट्टिदेव को वास्तव में कुछ विशेष कार्य भी नहीं था। लगातार अनेक वर्ष युद्ध-क्षेत्र में व्यतीत करने के बाद, यादवपुरी का यह विश्रान्त जीवन उनके लिए एक तरह से अपेक्षित सन्तोष देने में समर्थ हुआ। यों महीनों पर महीने बीतते चले गये। अपने माता-पिता की तृप्ति हेतु निर्मित होनेवाले युगल-मन्दिर के लिए केतमल्ल काफी धन व्यय कर रहे थे। काम जल्दी-जल्दी होने लगा था। वेलापुरी के मन्दिर के निर्माण में जितना समय लगा था, उससे आधे से भी कम समय में ही यह निर्माण पूरा हो जाएगा, ऐसी तीव्र गति से कार्य चल रहा था। शान्तलदेवी की देखरेख जब हो तो वहाँ आलस्य के लिए स्थान ही कहाँ? प्रतिदिन केतमल्लजी कार्य का निरीक्षण करते और दूसरे दिन की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय कर लेते।

एक दिन वह कुछ चिन्ताकुल होकर आये। उनकी मुख-मुद्रा को देखकर शान्तलदेवी ने प्रश्न किया, ''आज कुछ चिन्तित-से लग रहे हैं?''

''रेखाचित्र के अनुसार इस मन्दिर के तैयार होने और उसमें महादेव की प्रतिष्ठा होने तक पता नहीं, मेरी मातृश्री जीवित रहेंगी या नहीं। आज वैद्यजी ने भी कुछ ऐसी ही शंका व्यक्त की है। मेरी माताजी कहती हैं, 'जल्दी प्रतिष्ठा करवा दो, अपनी आँखों से दर्शन कर महादेव के चरणारविन्दों में शरण पा लूँगी।' मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है कि क्या करूँ। माँ से यही कहता आया हूँ कि जल्दी ही कार्य पूरा हो जाएगा। आज वैद्यजी की बात सुनने के बाद मेरे मन में कुछ अधिक आतंक छाया हुआ है।'' केतमल्ल ने कहा।

''बैठिए।'' कहकर शान्तलदेवी ने स्थपति हरीश को बुलवा भेजा। स्थपति के आने पर उनसे विचार-विमर्श किया।

उन्होंने कहा, "दोनों गर्भगृह तैयार हो गये हैं। चाहे जब प्रतिष्ठा की जा सकती है। शेष कार्य धीरे-धीरे होता रहेगा। परन्तु सन्निधान को इसकी सूचना देनी होगी न?"

"सन्निधान के पास खबर भेज दूँगी। निकट के शुभ मुहूर्त में ईश्वर-प्रतिष्ठा की तैयारियाँ हों।" शान्तलदेवी ने आदेश दिया।

जो हरकारा महाराज के पास समाचार ले गया था, उसने तीन दिनों के भीतर ही वापस आकर महाराज का आदेश सुनाया, "शास्त्रोक्त रीति से हमारी अनुपस्थिति में प्रतिष्ठा-कार्य सम्पन्न हो जाए। पूजा-विधि एक तरफ चलती रहे। दूसरी तरफ निर्माण का कार्य भी होता रहे। अभी यह प्रतिष्ठा कार्य सादे रूप से सम्पन्न हो। केतमल्ल की इच्छा होगी तो सारा काम पूरा हो जाने पर, बड़े पैमाने पर उत्सव का आयोजन करेंगे।"

किसी धूम-धाम के बिना केतमल्लजी की माताजी केलेयब्बे की मानसिक शान्ति के लिए दोनों गर्भगृहों में शिव-प्रतिष्ठा कार्य शार्वरि संवत्सर उत्तरायण संक्रमण के दिन सम्पन्न किया गया। शिवार्चनादि के लिए महाराज के नाम पर दान आदि भी दिये गये।

प्रतिष्ठा-समारम्भ के समय केलेयब्बे बहुत मुश्किल से मन्दिर आ सकीं। वैद्यजी ने मना किया था, तो भी इस उत्सव में वे आयी थीं। सम्पूर्ण समारम्भ को उन्होंने देखा। चरणामृत एवं प्रसाद-ग्रहण के बाद ही वे घर गयीं। पालकी में ही आयीं और गयीं तो भी बहुत देर तक बैठे रहने के कारण थकावट हो सकती है, यही सोचकर वैद्यजी ने कुछ पेय तैयार कर रखा था। इस पेय से उन्हें बहुत आराम मिला। दूसरे दिन से उनका स्वास्थ्य सुधरता चला गया।

महादेव की कृपा से उन्हें तृप्ति प्राप्त हुई। इस परिवर्तन को देख दूसरे लोग भी सन्तुष्ट हुए। मन्दिर का निर्माण-कार्य और अधिक उत्साह से आगे बढ़ा।

इतने में मरियाने और भरत का विवाह निकट आ गया। राज्य के सभी प्रमुखों के पास निमन्त्रण-पत्र भेज दिये गये। अभी एक पखवाड़े की अवधि थी। महाराज रानी लक्ष्मीदेवी के साथ वेलापुरी आये। मुहूर्त का निश्चय मण्डूकोदर चेन्नकेशव के ही सान्निध्य में हुआ था, इसलिए विवाह को भी वहीं से सम्पन्न करने का निर्णय लिया गया था। वेलापुरी में उस दिन फिर से जन-समूह उमड़ पड़ा। एक नयी शोभा से वेलापुरी जगमगा उठी थी। शुभ मुहूर्त में डाकरस के बड़े बेटे मरियाने का जक्कणब्बे से तथा छोटे पुत्र भरत का कंचीविजेता विष्णुवर्धन की पुत्री हरियलदेवी से विवाह सम्पन्न हुआ। डाकरस के घराने के गुरु गण्डविमुक्तदेवजी ने उपस्थित रहकर वर-वधू को आशीर्वाद दिया। इसी शुभ वेला में बिट्टिदेव ने यह निर्णय किया कि दोनों भाई दण्डनायक पद पर दोरसमुद्र में प्रधान गंगराज के पास रहकर कार्य करेंगे।

इसी प्रसंग में यह शुभ वार्ता प्रकट हुई कि रानी लक्ष्मीदेवी ने गर्भ धारण किया

है। रानी राजलदेवी और बम्मलदेवी दोनों इस बात से खिन्न हुईं कि यह भाग्य उनका न रहा। संयमी होने के कारण अपनी इस मानसिक खिन्नता को उन्होंने प्रकट नहीं होने दिया। फिर भी इसे शान्तलदेवी ने पहचान लिया। यह बात उन्होंने महाराज के कानों में धीरे से डाल दी।

फलस्वरूप यह निर्णीत हुआ कि रानी लक्ष्मीदेवी पट्टमहादेवी के साथ राजधानी में रहें और रानी बम्मलदेवी तथा राजलदेवी के साथ आसन्दी में महाराज कुछ समय बिताएँ, परन्तु रानी लक्ष्मीदेवी के मनोरथ को पूर्ण करने के विचार से महाराज की यात्रा एक मास तक स्थगित रही आयी। लक्ष्मीदेवी ने आजिजी से कहा, "प्रथम गर्भ का सीमन्त-संस्कार सम्पन्न हो जाने के बाद सन्निधान आसन्दी जा सकेंगे।"

तिरुवरंगदास ने कहा, "यादवपुरी ही में प्रसव हो तो अच्छा। नामकरण समारोह में आचार्यजी भी आ सकेंगे।" वैसे उसके अन्तर में आचार्यजी की उपस्थिति का विचार नहीं था। उसका विचार था कि यदि वहाँ रहेगी तो उसके गर्भस्थ शिशु को किसी से कोई खतरा न रहेगा। मगर वह यह बात कह नहीं सकता था, इसलिए यह बहाना किया था। फिर भी वह सफल नहीं हुआ। रानी लक्ष्मीदेवी को कहाँ रहना चाहिए, यह बात राजमहल से सम्बन्धित है। आचार्य जी को बुलाने के लिए राजमहल सक्षम है, कहकर उसे निराश कर दिया गया। वह मन-ही-मन कहने लगा, "इस राज्य में मेरी सभी इच्छाएँ रोकी जा रही हैं, मेरी बेटी का प्रसव अपनी इच्छा के अनुसार अपने वांछित स्थान में हो, यह भी नहीं हो सकता! इस सबका कारण वही पट्टमहादेवी है। वही सभी बातों में रोड़ा अटकाती रही है।" उसे यह स्पष्ट आभास था कि वह कितना निःसहाय है। इसलिए उसने एक दूसरी ही योजना बनानी शुरू की। उसने कहा, "मुझे अपनी बेटी के साथ रहने की सुविधा प्रदान करें।" बिट्टिदेव ने कहा, "राजमहल की स्वीकृति इसके लिए है ही। आप यादवपुरी के धर्मदर्शी का पद छोड़ सकेंगे?" इस बार तिरुवरंगदास उसके लिए तैयार हो गया। वैसी ही व्यवस्था हुई। धर्मदर्शी का पद त्यागकर वह अपनी बेटी का पिता मात्र रह गया।

परन्तु अपनी इच्छा के अनुसार सभी कार्य सदा नहीं हुआ करते। इस निर्णय के बाद दो-चार दिनों में ही खबर आयी कि उत्तर से कदम्बों ने हमला कर दिया है और हानुंगल को अपने कब्जे में कर लिया है। तुरन्त मन्त्रालोचना के लिए सभा बैठी। विचार-विमर्श के बाद निर्णय यों हुआ, "इस बार इन कदम्बों को जड़ से उखाड़ देना होगा। यह सब उन चालुक्यों के उकसाने का ही परिणाम है। इसलिए अबकी बार केवल विजय मात्र से सन्तुष्ट न होकर उनका पीछा करके उनका नामोनिशान ही मिटा देना होगा। चालुक्यों के प्रान्त में अपने प्रभुत्व को स्थापित करना होगा। इसलिए इस बार आक्रमण के समय महादण्डनायक का कार्यभार हम खुद सँभालेंगे।" यों महाराज ने कहा। "गंगराज काफी वृद्ध हो गये हैं और गत दो युद्धों से काफी थक चुके हैं।

इसके अलावा, उनकी पत्नी लक्कलदेवीजी का स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है, और फिलहाल में मातृ-वियोग भी हुआ है। अतः वे दोरसमुद्र में ही रहेंगे,'' यह भी निर्णय हुआ।

यह भी निर्णय लिया गया कि महाराज के साथ मंचियरस, माचण दण्डनाथ बिट्टियण्णा, चामय दण्डनाथ जाएँगे। रानी बम्मलदेवी तो महाराज के साथ होंगी ही, अबकी बार राजलदेवी को भी साथ ले जाएँगी। करीब दो साल तक युद्ध के इन झंझटों से दूर रहकर राज्य निश्शंक था, अब फिर आपद् आ गयी। मरियाने और भरत भी युद्ध में जाने के लिए उत्सुक थे। मगर वह ठाकुर सिंगिमय्य का लड़का था, इसलिए उन्हें रोक दिया गया। उदयादित्य तो पूर्वी सीमा की निगरानी करते ही रहे और वहाँ के हालात से वह खूब परिचित भी थे, इसलिए निश्चय हुआ कि उन्हें वहीं रहने दिया जाए।

पोय्सलों के लिए युद्ध कोई नयी बात नहीं थी। रानी लक्ष्मीदेवी के लिए भी यह वास्तव में कोई नयी बात नहीं थी। परन्तु उसकी अभिलाषा थी कि अब, जब वह गर्भवती है, महाराज साथ रहें तो ठीक होगा। पहले जब आसन्दी जाने का कार्यक्रम बना था तब कुछ उपाय करने का उसका विचार था। अब यह युद्ध की बात उठी है, यों सब सोचकर उसने विचार किया कि अपने पिता से सलाह कर ली जाए। उसके पिता ने कह दिया, ''मैं इसके लिए क्या करूँ? कर भी क्या सकता हूँ? इस राजमहल की सर्वाधिकारिणी तो वह पट्टमहादेवी हैं। उसी से प्रार्थना कर ले।'' उसके कहने के ढंग से मालूम पड़ता था कि वह भेदभाव डालने के प्रयोजन से उसका दिल चुभो रहा है।

''मैं भी रानी हूँ। महाराज से पूछ लूँगी। किसी दूसरे से क्यों पूछूँ?'' लक्ष्मी देवी ने कहा।

''ठीक बात है। दूसरे किसी से क्यों पूछो? महाराज से ही पूछ लो।'' तिरुवरंगदास ने कहा।

उसने वैसा ही किया। ''अब कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता। जब तुमने रानी बनना चाहा तभी तुमको यह सब जानना चाहिए था और इन सबके लिए तैयार रहना था।'' बिट्टिदेव ने स्पष्ट किया।

''पिछले युद्ध के समय मैंने कोई बात की? चुप रही तो रही न!''

''इस बार भी ऐसा ही क्यों नहीं कर रही हो?''

''आप ही ने मुझे ऐसा रहने नहीं दिया।''

''मैंने?''

''नहीं तो और किसने? क्या आप नहीं जानते कि अब मैं क्या हूँ?''

''मालूम है। तुम मेरी चौथी रानी हो।''

''चौथी पर जोर देकर कह रहे हैं। तो मैं निकृष्ट हूँ?''

''क्यों ऐसी अण्ट-सण्ट बातों से अपने दिमाग को खराब करती हो? अब तुमको हमेशा खुश रहना चाहिए। माँ बननेवाली स्त्री को सदा हँसमुख रहना चाहिए।''

''हँसमुख न रखकर केवल बातों में कहें कि हँसमुख रहो तो कैसे रहा जा सकेगा? सन्निधान को इतनी भी समझ नहीं कि माँ बननेवाली पत्नी के साथ रहकर उसे प्रसन्न रखना चाहिए।''

''राजा इस विषय में स्वतन्त्र नहीं। उसे राज्य का अस्तित्व सबसे प्रधान है।''

''क्या मैं नहीं जानती यह? एक के साथ एक तरह का व्यवहार, दूसरे से दूसरे ढंग का बरताव?''

''इसके माने?''

''मान लीजिए, यदि पट्टमहादेवी गर्भवती होतीं और ऐसा युद्ध छिड़ता, और वे कहतीं मत जाइए, तो सन्निधान जाते? उनकी बात सन्निधान के लिए वेदवाक्य है।'' बात कुछ चुभती-सी थी।

बिट्टिदेव ने कुछ असन्तुष्टि से रानी की ओर देखा। पर कहा कुछ नहीं।

''मैं नहीं जानती? इसीलिए यह मौन है।''

''रानी, बहुत आजादी नहीं लेनी चाहिए। मन्त्रणा-सभा का निर्णय सबके लिए मान्य होता है। इसमें अन्तःपुर का दखल नहीं होना चाहिए।''

''तो मतलब यही हुआ कि सन्निधान की राय में उधर का पलड़ा ही भारी है। मन्त्रालोचन-सभा में पट्टमहादेवी नहीं थीं? रानी बम्मलदेवी नहीं थीं?''

''थीं, वे पहले से ही सलाह देती रही हैं। तुम भी उन जैसी युद्ध-निपुणता प्राप्त करो तो तुम भी सलाह देनेवाली बन सकोगी।''

''कल की बात आज क्यों? मेरी अबकी अभिलाषा...?''

''जो पूरी नहीं की जा सकती, ऐसी अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए।''

''तो मेरी इस निराशा का प्रभाव आपकी इस सन्तान पर पड़े, यह ठीक है?''

''प्रभाव न पड़े, इस ओर ध्यान देना तुम्हारा कर्तव्य है। बेकार इस विषय को लेकर बात बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। इन सभी चिन्ताओं को छोड़ कर, पट्टमहादेवी की प्रेम-पूर्ण देखरेख में रहो। योग्य पुत्र की माँ बनो।''

''तो उसे सिंहासन तो नहीं मिलेगा न?''

''लक्ष्मी, तुम अनावश्यक बातों के फेर में पड़ी हो। वह सब मेरे-तेरे वश में नहीं है। इस बारे में हमें सोचना भी नहीं चाहिए। हमने कभी यह आशा नहीं की थी हम महाराज बनेंगे। देखो, ऐसी बे-सिर-पैर की बातों से अपने दिमाग को खराब मत करो। इस बात को यहीं समाप्त कर दो।'' कहकर उन्होंने घण्टी बजा दी। परदा उठा कर नौकर अन्दर आया। बिट्टिदेव ने उससे कहा, ''माचण दण्डनाथ को अन्दर भेज

दो। रानीजी अन्त:पुर में जाएँगी।''

लक्ष्मीदेवी अन्त:पुर में चली गयी। कोई दूसरा चारा नहीं था। माचण दण्डनाथ कुछ ही क्षणों में वहाँ लौट आये। पट्टमहादेवीजी के पास भी बुलावा गया। वे भी जल्दी ही आ गयीं।

यात्रा सम्बन्धी बातें समाप्त हुईं। दण्डनाथ चले गये। बाद को बिट्टिदेव ने रानी लक्ष्मीदेवी से हुई बातचीत का सारा विवरण पट्टमहादेवी को सुनाया। अन्त में कहा, ''कोई उसके मन को बिगाड़ रहा है। हमने यादवपुरी में ही कुछ परिवर्तन देखा। उसके पिता को यादवपुरी भेज देना ही अच्छा है।''

शान्तलदेवी समझती हुई बोलीं, ''प्रथम गर्भ है। स्त्रियों को कई तरह की अभिलाषाएँ, सन्तोष, भय आदि उत्पन्न होते हैं। यह सब मैं सँभाल लूँगी। सन्निधान निश्चिन्त होकर युद्ध के लिए प्रस्थान करें।''

निश्चय के अनुसार यात्रा हुई। पोय्सल सेना सागर की तरह उमड़ती राजधानी से पूरी तैयारी के साथ कदम्बों पर धावा बोलने के लिए चल पड़ी।

एक तरफ युद्ध चल ही रहा था तो दूसरी तरफ शस्त्रास्त्रों की तैयारी का कार्य भी अबाध गति से चल रहा था। राज्याभिषेक के वक्त अपने अधिकार के अन्तर्गत जितना राज्य रहा और आज वह जितना विस्तृत हो गया है, दोनों में जमीन-आसमान का फर्क था। पड़ोसी राजा केवल डरे ही नहीं, उनके दिलों में असूया भी होने लगी, इतना विस्तृत हो गया था यह पोय्सल साम्राज्य। केवल विस्तृत मात्र नहीं हुआ था, समृद्ध भी बन गया था। ऐसी दशा में कब कौन किस समय हमला कर बैठेगा, यह कहा नहीं जा सकता था। खासकर उत्तर की ओर से हमेशा ही बिट्टिदेव सशंक रहे, इसलिए रसद का संग्रह एवं शस्त्रास्त्र निर्माण आदि तैयारियाँ चल रही थीं। राज्य की आर्थिक स्थिति को ठीक बनाये रखने के लिए वित्तसचिव भादिराज ने पट्टमहादेवी से सलाह-मशविरा करके अनेक तरह के कर लगाये थे। इससे राज्य के खजाने में पर्याप्त धन जमा हो गया था। इसके पहले कुछ अन्य कर भी बढ़ाये जा चुके थे। पुराने और ये नये कर सभी सम्मिलित नये प्रदेशों पर भी लागू थे। इस वजह से राज्य में धन की कमी नहीं रह गयी थी। समयोचित रीति से व्यय करते हुए बड़ी किफायत से काम लिया गया था और भविष्य को भी ध्यान में रखकर शस्त्रास्त्र-निर्माण में बढ़ोतरी की गयी थी।

मंचियरस और अनन्तपाल ने अच्छी नस्ल के कुछ नये घोड़ों को खरीदकर अश्वदल में सम्मिलित किया था।

हानुंगल, जो अपने अधीन हुआ था, फिर कदम्बों के कब्जे में आ गया था और उनकी सेना के अधिकारी मसणय्या की देखरेख में था। पोय्सल सेना ने तुंगभद्रा नदी को पार कर वरदा नदी के परले किनारे पर अपना डेरा जमाया, और वहाँ से हानुंगल

पर हमला करके दुश्मन को मार भगाने की योजना बनायी। अबकी बार मायण-चट्टला नहीं आये थे। पट्टमहादेवीजी के अनुरोध पर महाराज ने उन्हें उनके ही साथ रख छोड़ा था। युद्ध-शिविर में काफी चहल-पहल थी, उत्साह भरा था। हमला करने के लिए महाराज की आज्ञा की प्रतीक्षा में सेना तैयार खड़ी थी।

इधर युगल-शिव-मन्दिरों का निर्माण-कार्य जोरों से चल रहा था। विवाह के लिए पद्मलदेवी, चामलदेवी, बोप्पिदेवी आयी थीं, वे राजधानी में ही रहीं।

और फिर कुछ समय से शान्तलदेवी अधिकतर दोरसमुद्र में ही रहा करती थीं। फलस्वरूप राजमहल की फुलवाड़ियाँ और बाग-बगीचों की शोभा नयी हो गयी थी। उनके बीच का केलिगृह अधिक सुन्दर बनाया गया था। परन्तु उस केलिगृह का उपयोग शान्तलदेवी के लिए अलभ्य ही रहा। लेकिन इस कारण से उसके प्रति उदासीनता भी नहीं रही।

एक दिन इधर-उधर की बातों के सिलसिले में पद्मलदेवी को वे सब पुरानी बातें याद आयीं और इसी क्रम में उस केलिगृह की एक पुरानी घटना भी याद हो आयी। उन्होंने कहा, "उसे याद करती हूँ तो सारे शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इतनी बार आयी, कभी वहाँ जाने की इच्छा ही नहीं होती।"

"अब उसमें बहुत परिवर्तन किया जा चुका है। यह परिवर्तन उद्यान में ही नहीं, केलिगृह में भी हुआ है। आप एक बार देखें। जब परेशान होती हूँ तब मैं वहीं जाती हूँ और उद्यान का चक्कर लगा आती हूँ। ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त निसर्ग में परिशुद्ध हवा का सेवन कर मानसिक शान्ति पा लेती हूँ।" शान्तलदेवी ने कहा।

"आपको भी परेशानी होती है! सुबह जब जागती हैं तबसे सोने तक किसी-न-किसी काम में लगी ही रहती हैं। हैरान-परेशान होने के लिए आपको समय ही कहाँ मिलता है?"

"लोगों के बीच में जीना हो तो इन सबसे दूर नहीं रह सकते। मन में तरह-तरह के आदर्शों को स्थान देकर, उनके विरुद्ध कार्य होते जब देखते हैं, तब परेशानी होती ही है। खासकर जब लोगों की मूर्खता को देखती हूँ तो बहुत परेशान होती हूँ।"

"उन लोगों की मूर्खता से आप परेशान क्यों हों? मूर्खता उनकी बदकिस्मती है। इसके लिए परेशानी क्यों?"

"ऐसा सोचूँ तो मैं भी साधारण स्त्री के समान ही हो जाऊँगी।"

"ऐसा विचार कर दुनिया भर के लोगों के दुष्कार्य से परेशान होते रहें तो इसका

पर्यवसान कहाँ होगा?''

''मैं क्या करूँ, मेरा मन ही तिलमिला उठता है। मानवीय मूल्यों को तिलांजलि देकर पशुवृत्ति को अपना कर, मनुष्य स्वार्थ साधना के लिए सब-कुछ करने को तैयार हो बैठता है न! उसके मन में यह भावना ही नहीं होती कि खुद की तरह दूसरे भी जीएँ। जैसे दूसरे कुत्तों को भगाकर हड्डी कुत्ता रास्ते में अकेले ही चबा लेता है, वैसा ही। मानव मानव कब बनेगा? उसका अज्ञान कब दूर होगा? मैं चाहती हूँ कि हमारे राज्य में कोई अज्ञानी न रहे। यहाँ तो राजमहल ही में अज्ञान भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में मुझे कितनी परेशानी होती होगी!''

''क्षमा करें। राजमहल का अज्ञान एक स्वयंकृत अपराध है। दूसरे विवाहों के लिए सम्मति क्यों देनी चाहिए थी? यदि एक 'नहीं' मुँह से निकल जाती तो महाराज आगे नहीं बढ़ते। यह किसका कसूर है?''

''विचार करने की दृष्टि ही अलग थी। मुझे अपने खुद के सुख से भी प्रधान था राष्ट्रहित। फिर राज्य-रक्षा के लिए हमें मदद की भी आवश्यकता थी। वे भी तो अच्छी हैं। परन्तु...''

''महाराज जब मत-परिवर्तन के झंझट में पड़े, तब उन्हें उससे दूर नहीं रखा जा सकता था?''

''मैं माँ हूँ। कौन ऐसी माँ होगी जो अपनी बेटी के प्राणों को दाँव पर लगा देगी? इसलिए एक सीमित परिवर्तन के लिए स्वीकृति देनी पड़ी।''

''मैंने यह नहीं कहा। उस त्रिनामधारिणी लड़की से शादी के लिए क्यों स्वीकृति दी?''

''हाँ, मैंने यहाँ थोड़ी-सी गलती कर दी। अपने स्वार्थ के लिए मैंने मान लिया। महासन्निधान पर मुझे अपार भक्ति है। मेरे तन-मन में, सर्वांग में वे ही रमे हैं। फिर भी मैंने जो व्रत लिया वह स्वार्थपूर्ण रहा, यह अब लग रहा है। मैं सन्निधान के अत्यन्त निकट रहकर भी दूर रही। उनका मन अन्यत्र मोड़ दिया। तब लगा कि वह ठीक है। अब लगता है कि वह गलत था। इसलिए अब मुझे मानना पड़ेगा कि यहाँ मैं हार गयी।''

''पोय्सल महादेवी को कभी अपनी हार मानने की आवश्यकता नहीं। 'सवतिगन्धवारणा' विरुद पट्टमहादेवी का है। उसे चरितार्थ करना होगा।''

''स्पर्धा समान योग्यता रखनेवालों में हो तो बात ही दूसरी है। अज्ञानियों से जूझना तो हवा में तलवार चलाने जैसा है। हाथ ही दुखेगा, हवा तो कटेगी नहीं।''

''कुछ भी हो, आप मुझसे अधिक बुद्धिमती हैं। इसे स्वीकार करते हुए मुझे कोई संकोच नहीं होता। परन्तु आज प्रमाद के कारण कही गयी बात कल आप के लिए काँटा न बने, इसका खयाल रखना चाहिए न?''

''मुझे अपनी चिन्ता नहीं।''

''आपको अपनी चिन्ता न हो, कम-से-कम अपनी सन्तान की चिन्ता तो होनी ही चाहिए।''

''मुझे समूचे राज्य की चिन्ता है। मेरी सन्तान भी राज्य में ही शामिल है न?''

''ठीक। इस तरह सोचें तो मैं क्या कह सकती हूँ? अबकी बार, युद्ध क्षेत्र से लौटने के बाद, मुझको ही सन्निधान से कहना पड़ेगा।''

''कहिए। इन सबके बारे में उनकी भी निश्चित राय है। यह राजमहल प्रतिस्पर्धियों का अड्डा न बने, यही हम दोनों की अभिलाषा है। हम चाहते हैं कि यहाँ समरसता और त्याग-बुद्धि पनपे।''

''यह तो आदर्श की ज्यादती हुई!''

''आदर्श है, सच। मगर वह ज्यादती नहीं। ज्यादती हो तो वह आदर्श नहीं कहलाता।''

इतने में सेविका अन्दर आयी। प्रणाम किया।

''क्या है?''

''मायण हेग्गड़े आये हैं। कहते हैं कि मिलना जरूरी है। कहते हैं कि युद्ध शिविर से खबर लायी है।''

''ठीक, उन्हें मन्त्रणागार में ठहराओ, मैं आती हूँ।'' शान्तलदेवी ने कहा। सेविका चली गयी।

''मुझे माफ करें। आपको कोई कष्ट न हो तो अभी राजमहल के बगीचे को देख आइए।'' कहकर शान्तलदेवी चली गयीं।

पद्मलदेवी और उनकी बहनें बगीचे की ओर चल दीं। बगीचे के द्वार पर एक दरबान और दो नौकरानियाँ थीं। इन बड़ी रानियों के साथ चट्टलदेवी और दो अंगरक्षक आये थे।

द्वार पर नौकरानियों को देखकर चट्टलदेवी ने कहा, ''लगता है कि छोटी रानीजी आयी हैं।'' इनको देखते ही नौकरानियों में से एक वहाँ से उद्यान के अन्दर गयी। चट्टलदेवी ने साथ आये अंगरक्षकों में से एक के कान में कुछ कहा। उसने जल्दी-जल्दी उस नौकरानी का अनुसरण किया।

इधर द्वार पर के दरबान से पद्मलदेवी ने पूछा, ''कौन आये हैं?''

''छोटी रानीजी और उनके पिता।'' उसने कहा।

पद्मलदेवी ने पूछ ही लिया, ''उद्यान के अन्दर जाने में कोई बाधा तो नहीं है?''

अंगरक्षक ने चट्टलदेवी की ओर देखा। राजमहल में रेविमय्या, मायण, चट्टलदेवी, चाविमय्या—इन लोगों के लिए चाहे जहाँ जाने की अनुमति है, कहीं कोई रोक-थाम नहीं। उसे लगा कि जब वह स्वयं साथ आयी है, तो पट्टमहादेवी जी की अनुमति से

ही आयी होंगी। अलावा इसके जो आयी हैं वे पहले की पट्टमहारानी और रानियाँ ही तो हैं। तुरन्त कुछ उत्तर न देकर उसने इर्दगिर्द देखा। इतने में अंगरक्षक नौकरानी को लिवा लाया।

पद्मलदेवी को बात मालूम हो गयी। "हमारे आते ही इस तरह क्यों चल पड़ी?" उन्होंने पूछा।

उसने गला साफ करते हुए कहा, "कुछ नहीं, आप लोगों के आने की खबर रानीजी को देने के लिए निकली थी, इस अंगरक्षक ने कहा कि आपने बुलाया है सो चली आयी।"

"बेचारी वह एकान्त में बातचीत कर रही होंगी। मातृहीन हैं न? पिता ही बेटी के लिए माँ के स्थान पर हैं। गर्भिणी हैं, कई आशा-आकांक्षाएँ हो सकती हैं। सबसे कहते संकोच हो सकता है। वे हैं कहाँ?"

"केलिगृह में हैं।"

"उनको अपने तईं रहने दीजिए। हम वहाँ नहीं जाएँगी। यों ही बगीचे में सैर करेंगी। तुम यहीं रहो, चट्टला। पट्टमहादेवी ने कहा था कि कुछ नये किस्म के फूलों के पौधे लगाये गये हैं। उन्हें देख आएँ, चलो।" पद्मलदेवी ने कहा।

"अंगरक्षक हमारे साथ क्यों? यहीं रहें न? बगीचे का द्वार जब इनके द्वारा सुरक्षित..."

बीच में ही पद्मलदेवी ने कदम आगे बढ़ाते हुए कहा, "हाँ-हाँ, चलो, हम स्त्रियाँ ही जाएँगी।" दोनों अंगरक्षक वहीं ठहर गये। चट्टला और तीनों रानियाँ केलिगृह की ओर जाने के रास्ते को छोड़कर दूसरी ओर चल दीं।

द्वार से काफी दूर चलने के बाद चट्टला ने कहा, "रानीजी यों ही सैर करने नहीं आयी हैं। नौकरों को आदेश भी दे रखा है कि किसी को अन्दर न आने दें।"

"तो बाप-बेटी का क्या रहस्य हो सकता है?" पद्मलदेवी ने कुछ उत्तेजित होकर कहा।

"शंका करने से बेहतर है सुन लेना। है न?" चट्टला ने सलाह दी।

"छिपकर सुनना उचित होगा?" चामलदेवी ने बीच में कहा।

"देखो चामु, एक बात सुनो। धर्मदर्शित्व का काम छोड़कर यहाँ हैं तो उनके मन में कुछ बात है। हम सब जानते हैं कि उनका दिल अच्छा नहीं। अब उस प्रथम गर्भिणी के मन को कुछ अण्ट-सण्ट बातों से कलुषित कर दें और उससे उसका दिल दिमाग अशान्त हो जाए तो उस होनेवाली सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इसलिए यह जान लें कि क्या बात है। यह आकस्मिक है। हम छिपकर सुनने के लिए तो आयी नहीं। उनकी जानकारी के बिना सुनना सम्भव हो सकता है?"

"यह इस बात पर अवलम्बित है कि वे कहाँ बैठकर बात कर रहे हैं। पीछे

की ओर एक खिड़की है। अगर वह खुली रही तो बहुत कुछ सुनाई पड़ सकता है। दक्षिण पूर्व के कोने में एक छोटा कमरा है। जो सज्जागार है वह उसमें नया बना है। वहाँ रहेंगे तो सुनना असम्भव नहीं।''

''अच्छा, चलो देखेंगे।''

''तुम और चट्टला हो आओ। मैं और बोप्पी यहीं फुलवाड़ी में बैठेंगी।'' चामलदेवी ने कहा।

''यह भी ठीक है।'' कहकर पद्मलदेवी चट्टला के साथ केलिगृह की ओर गयीं। चामलदेवी और बोप्पिदेवी फुलवाड़ी में जाकर बैठ गयीं और आपस में बातें करने लगीं। ''इतनी उम्र होने पर भी इस पद्मी को अकल ही नहीं आयी। यह सब तहकीकात क्यों? इससे क्या होगा? हमने तो जीवन में कुछ नहीं पाया!'' चामलदेवी ने कहा।

''उसे यही तो दुःख है। उसकी अब यही अभिलाषा है कि पट्टमहादेवी की दशा हमारी जैसी न हो। कम-से-कम उन्हें आनन्द से रहते हम देख सकें। हमारी माता के स्वार्थ से हमारी जिन्दगी बरबाद हुई। कम-से-कम अब भी कुछ भलाई करें तो अगला जन्म सुधर सकता है। यह उसकी इच्छा है। काश! पट्टमहादेवी पर अब जो उसका प्रेम है, वह तब होता तो बात ही और होती।'' बोप्पिदेवी ने अपनी समझ से विवरण दिया। छोटी उम्र में उसने बहुत-सी बातों में चामलदेवी से मदद पायी थी। परन्तु जब बोप्पिदेवी इन दोनों से पहले गर्भवती हुई, तो बात उठी थी कि किसके गर्भ-सम्भूत को सिंहासन मिले। तब पद्मला बोप्पिदेवी पर आग-बबूला हो उठी थी। वही पद्मलदेवी अब बोप्पिदेवी से ही अधिक परामर्श लिया करती थी। पिता की मृत्यु के बाद चामला एक तरह से निर्लिप्त जीवन व्यतीत करती थी, कमल के पत्ते पर बूँद की तरह। इसलिए बोप्पिदेवी ने जो बात कही, वह उसे नयी मालूम हुई। साथ ही एक तरह से समाधान भी मिला। यह जानकर कि उसे पट्टमहादेवी पर सचमुच आत्मीयतापूर्ण प्रेमभाव है, उसे अन्दर ही अन्दर सन्तोष भी हुआ, क्योंकि अब तक इन दस-बारह वर्षों में कभी अपनी दीदी से पट्टमहादेवी के बारे में एक भी बात नहीं की थी। उसने पिछली घटनाओं की पृष्ठभूमि में यही निर्णय कर लिया था कि सोये कुत्ते को जगाकर उसे भौंकने देने से बेहतर है कि उसे वैसा ही पड़े रहने दें। अब बोप्पिदेवी ने अपनी दीदी के विषय में कुछ दूसरा ही चित्र सँजो रखा था। इतनी निकट होते हुए भी कितनी दूर हूँ अपनी दीदी से, यही उसे लग रहा था। फिर भी यह छिपकर सुनने का काम न करती तो अच्छा था, यह उसका हृदय कह रहा था।

इसके बाद वे दोनों अपनी दीदी के आगमन की प्रतीक्षा में बैठी रहीं।

उधर, चट्टलदेवी के साथ पद्मलदेवी केलिगृह के पिछले भाग में पहुँचीं। अन्दर हो रही बातचीत सुनने के लिए उन्हें बहुत कष्ट उठाना नहीं पड़ा, क्योंकि वे धीमे स्वर में नहीं बोल रहे थे।

''मैंने तुम जैसी मूर्ख स्त्री कहीं नहीं देखी। सामने इतना सब हो रहा है, फिर भी तुम पट्टमहादेवी का ही पक्ष ले रही हो। क्या उसने तुम्हारे लिए कोई विशेष व्यवस्था कर रखी है?''

''वह सब कुछ नहीं। मैं भी उनसे डरती नहीं। मैंने सन्निधान से जैसी बातचीत की, उसे सुनते तो आप यों न कहते।''

''क्या बातचीत की?''

उसने विस्तार से सुना दी।

''तो, अब तुम सच ही जाग्रत हो गयी हो, बेटी! सुनकर खुशी हुई। तुम्हारी और तुम्हारे गर्भस्थ शिशु की अभिवृद्धि पर मैं अवलम्बित हूँ। वही मेरा सहारा है। तुम्हें और तुम्हारी सन्तान को छोड़ मेरे लिए और कौन है? इसीलिए मैंने अपने धर्मदर्शित्व को भी त्याग दिया।''

''मेरे पिता होकर धर्मदर्शी का काम सँभालें, यह मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। परन्तु आप ने ही चाहा था। कहा था कि अधिकार हो तो उसका प्रभाव ही और होता है। अनुभवहीन मैंने समझा था कि शायद ऐसा हो। परन्तु अब मैं सचमुच सन्तुष्ट हूँ; क्योंकि मेरे पिता अब दूसरों के अधीन नहीं हैं।''

''इतना ही नहीं बेटी, कल नारायण की कृपा से तुम्हारे लड़का हो जाए, तब बताऊँगा कि इस तिरुवरंगदास की क्या ताकत है।''

''यह कैसे कह सकते हैं कि लड़का ही होगा।''

''सच है। वह तो भगवान् की इच्छा है। परन्तु एक बात में तुम्हें बहुत सचेत रहना होगा!''

''किस बात में?''

''तुम्हारे गर्भस्थ शिशु के बारे में।''

''क्यों? उसे क्या हो सकता है?''

''देखो बेटी! तुम वास्तव में भोली लड़की हो। मैं एक प्रश्न पूछूँ, उसका उत्तर दोगी?''

''जानती हूँगी तो जरूर दूँगी।''

''महाराज की कितनी रानियाँ हैं?''

''चार।''

''उनमें कितनों के बच्चे हुए?''

''एक के।''

''बाकी रानियों के बच्चे क्यों नहीं हुए?''

''शायद उनका भाग्य ही ऐसा होगा।''

''यही सब कौशल है। पट्टमहादेवी नहीं चाहती कि अपने बच्चों के साथ हिस्सा

बाँटने वाले हों। इसलिए गर्भ-निरोध करवाया है। ऊपर से मीठी-चुपड़ी बातें करती हैं। अन्दर ही अन्दर भ्रूण-हत्या भी की जा सकती है। इसलिए ऐसा मत समझो कि तुम्हारी सन्तान सुरक्षित है। बहुत होशियार रहना होगा। यादवपुरी जाना चाहा तो तुमको रोककर यहीं क्यों रखा? मैं केवल कट्टर वैदिक हो सकता हूँ, मगर बेवकूफ नहीं। मुझे इस तरह की सभी बातों का पता है। मैंने कई घाटों का पानी पिया है। यों सभी पर विश्वास करके धोखे में मत पड़ो, समझ गयी न?"

"यह सच है? क्या पट्टमहादेवी नहीं चाहतीं कि मेरा लड़का हो? शेष दोनों रानियों की आँखों में धूल झोंककर उनका गर्भ-निरोध कराया गया है? पिताजी, आप कुछ भी कहें, विश्वास करना कठिन है।"

"तुम जैसी मूर्ख को यह सब कैसे मालूम हो!"

"तो ऐसा कुछ करना हो तो उनको वैद्यजी की मदद लेनी पड़ेगी न?"

"मालूम न हो तो मदद लेनी होगी। पट्टमहादेवी वैद्यक भी जानती है। खासकर गर्भ-निरोध, गर्भपात, भ्रूणहत्या, विष-प्रयोग आदि का पता न लग सके, ऐसे धीरे-धीरे मारनेवाले जहर का प्रयोग करने में वह सिद्ध-हस्त है। ऐसा न होता तो महाराज बल्लाल मरते ही क्यों?"

"यह क्या पिताजी, आपकी बातें सुनते हैं तो सारा शरीर ही काँप उठता है! क्या महाराज बल्लाल को जहर देकर मार डाला गया?"

"मुझे क्या मालूम? प्रजा के मुँह से सुनी बात मैंने कही। पहले ही मुझे यह ज्ञात होता तो यह विवाह ही नहीं करवाता। अब विवाह के बाद तुम्हारी और तुम्हारी सन्तान की रक्षा का मुझे ध्यान रखना है या नहीं, तुम ही बताओ? यों ही उस धर्मदर्शित्व को त्याग देता?"

"तो अब मैं क्या करूँ?"

"पट्टमहादेवी की तरफ से कुछ भी आए, उसे तुम मत खाओ। मगर याद रखो कि किसी को इसकी जानकारी न हो। बुद्धिमानी से काम लेना होगा।"

"तो क्या इस तरह डरते-डरते ही मुझे दिन गुजारने होंगे?"

"अब दूसरा चारा नहीं। सन्निधान की वापसी तक तुम्हें मुँह बन्द करके बुद्धिमानी से दिन गुजारने होंगे।"

"ठीक है। आप भी क्या कर सकेंगे, पिताजी? मेरा कर्म-फल ही ऐसा है। माँ-बाप से अपरिचित मुझे पता नहीं और क्या-क्या भुगतना पड़ेगा। मैं चाहे कुछ भी होऊँ, पहले स्त्री हूँ। अपनी सन्तान की रक्षा करने के लिए मुझे जो भी करना होगा, करूँगी। यदि सारी दुनिया का वैर मोल लेना पड़े तो भी तैयार हूँ।"

"इस तरह का दृढ़ संकल्प अच्छा है परन्तु दुनिया से वैर नहीं रखना है। हमें अपना काम बुद्धिमानी से करना होगा। मैं तो रहूँगा ही। जैसा मैं कहूँ, करती जाओ।

बाक़ी सब मैं देख लूँगा। चलो, चलेंगे। बहुत देर हो गयी। अच्छा हुआ कोई आया नहीं।''

इतना सुनने के बाद पद्मलदेवी ने कहा, ''चट्टला, अब हम दोनों उनके सामने प्रकट हो जाएँ। उनमें यह शंका उत्पन्न हो जाए कि हमने उनकी बातें सुन ली हैं। इससे सम्भव है कि उनके ऐसे बुरे विचारों पर कुछ रोक लग जाए। यह कैसा दोषारोपण है! ऐसे ही घातक व्यक्तियों से दुनिया बरबाद होती है।''

''हाँ, यह तो उन्हें मालूम होगा ही कि हम अन्दर आ गयी हैं।'' चट्टला ने कहा।

जैसे उद्यान की सैर करने आयी हों, दोनों घूमते-घूमते पिता-पुत्री के सामने हो गयीं।

पद्मलदेवी ने कहा, ''द्वार पर नौकरानी ने कहा—रानीजी हैं। अब इस शुद्ध हवा का सेवन आपके लिए अच्छा है। पट्टमहादेवीजी कहती हैं कि सूर्योदय से पहले ऐसी हवा में टहलना गर्भिणियों के लिए लाभदायक है। यह उद्यान अब हमारे समय से भी अधिक सुन्दर बन गया है।''

अचानक और अनपेक्षित के आगमन से उन दोनों के मन के भाव चेहरे पर व्यक्त हो गये। भावों को छिपाने की कोशिश करने पर भी वे चट्टला और पद्मलदेवी की दृष्टि को धोखा नहीं दे सके।

लक्ष्मीदेवी जल्दी ही चेत गयी और बोली, ''हाँ, पहले कैसा था सो तो मुझे मालूम नहीं। इस समय तो बहुत सुन्दर है। जैसा आपने कहा, मुझ जैसों के लिए यह केवल स्वास्थ्यवर्धक ही नहीं, मन को प्रसन्न करने वाला भी है। इसे देखने के बाद मेरे मन में विचार हो रहा है कि यादवपुरी में ऐसा उद्यान पट्टमहादेवी ने क्यों नहीं बनवाया?''

''यादवपुरी दोरसमुद्र जैसी प्रमुख नगरी नहीं है। वास्तव में सोसेऊर को छोड़ने के बाद दोरसमुद्र ही प्रधान राजधानी बना। वेलापुरी भी सीमित अर्थ में राजधानी है। अब चेन्नकेशव मन्दिर के निर्माण के बाद उसे भी महत्त्व मिल गया है। परन्तु यहाँ युगल-शिवालय बन जाएगा तो इसका आकर्षण और भी बढ़ जाएगा, लगता है।''

''हाँ, सिवा सन्निधान के कोई और विष्णुभक्त है नहीं। वैष्णवों को चिढ़ाने के ही लिए इस शिव-मन्दिर का निर्माण किया जा रहा है।''

''वैष्णव शिव-मन्दिर के बारे में ऐसी भावना क्यों रखते हैं? हम जैन हैं। हमें तो आपके इस वैष्णव-मन्दिर पर कोई क्रोध नहीं!''

''वह केवल ऊपरी बात है, दिखावा है। उस असन्तोष का ही फल है यह शिवालय, क्या मैं इतना भी नहीं समझती?''

''रानीजी को इस विषय में अपनी राय बदलनी पड़ेगी।''

"क्यों? मुझे किसी का डर नहीं। मेरे पतिदेव जिस देव की पूजा नहीं करते, उसकी पूजा मैं नहीं करती। इसलिए मेरी राय ठीक है। चाहें तो सन्निधान ही इस बारे में अपना निर्णय सुना सकते हैं।"

"सन्निधान ही शिवालय के सहायक और पोषक हुए हैं।"

"वे क्या करें? आगे खाई पीछे खड्ड, यों दुविधा में पड़कर मान लिया।"

"हाँ कहलाने के लिए उसके पीछे किसी का स्वार्थ भी तो होना चाहिए न?"

"जिन्होंने 'हाँ' करा लिया उनका और कोई स्वार्थ नहीं, केवल वैष्णव-द्वेष ही है इसके पीछे।"

"यह सब बिना सोचे-विचारे उठा आवेश मात्र है। कुछ संयम से विचार करें तो सत्य का पता लग सकेगा।"

"तो मतलब हुआ, मैं असत्य बोल रही हूँ। यही न?"

"कहाँ से कहाँ की बात? यह सरासर मूर्खता है।"

"मूर्ख, मैं मूर्ख हूँ? ऐसा कहने वाली स्त्री कौन होती है? मेरी मर्जी है। राजमहल का अन्न खाकर चुपचाप नहीं पड़ी रह सकतीं?"

"हम तुम्हारा अन्न नहीं खा रही हैं। हमारे अन्न के लिए हाथ पसारे आयी हो, और अब तेरे ही मुँह से ऐसी बात?"

"क्या हम अन्न के लिए हाथ पसारे आयीं?"

"इन तुम्हारे पालक पिता कहलानेवाले के हृदय से पूछ देखो। वहाँ स्वार्थ को छोड़ और कुछ भी नहीं। वास्तव में तुम्हें कुमार्ग पर चलानेवाले वे पिता हो ही नहीं सकते। वह तो तुमको गोट बनाकर चला रहे हैं और अपना काम साधने की ताक में हैं। उनकी सलाह से चलोगी तो सर्वनाश निश्चित है।"

"क्या सलाह?"

"वही-केलिगृह में जो गुप्त सलाह दी!"

"छिपकर सुनने आयी थीं?"

"हम छिपकर सुनने नहीं आयीं। सुनाई पड़ गया। तुम्हारे पिता को स्वार्थसिद्धि के लिए यहाँ स्थान नहीं मिला, इससे तुम्हारा मन मैला कर तुम्हारे माध्यम से अपना स्वार्थ साध लेने की सोच रहे हैं।"

"हाय भगवन्! देखा बेटी? यह सब हमारा दुर्भाग्य है। सारी बुराई हमारे मत्थे! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया? अपनी लड़की को मैंने क्या समझाया? यही तो कहा कि अपनी सन्तान की रक्षा स्वयं करे, किसी पर भरोसा न करे। इसमें क्या गलती है? आप लोग चार दिन रहकर चली जाएँगी। आपको तो सब बातें सुनी-अनसुनी कर देनी चाहिए। क्या इतना भी नहीं जानतीं कि दूसरों की बातों में नहीं पड़ना चाहिए? ऐसे लोगों से क्या कहें?"

"देखिए, आप वृद्ध हो गये हैं। फिर यह भी कहा करते हैं कि आप आचार्यजी के श्रेष्ठ शिष्य हैं। आपको मेरी और मेरी बहनों की बात से क्या सरोकार है? मुझसे पाणिग्रहण करनेवाले महाराज की मृत्यु का कारण पट्टमहादेवी शान्तलदेवी नहीं, मेरे अविवेक के कारण वह मृत्यु का ग्रास बने। करनेवाले का पाप कहनेवाले पर लगता है, यह कहावत सुनी है? वह पाप आपको भी लगेगा। अपने स्थान-मान के अनुरूप आचरण कर आदर का पात्र बनने की कोशिश न कर, रानी के मन में विद्वेष के विष-बीज बोकर, भला आप क्या साध लेना चाहते हैं? आपकी सारी बदसलाह मुझे मालूम हो गयी है। अपनी लड़की की भलाई चाहते हैं, तो यह सब छोड़कर चुपचाप बने रहें। अगर हम यह कहें कि आचार्यजी व्यभिचार करते हैं तो आपको कैसा लगेगा?"

"हाय, भगवन्! आचार्यजी परम सात्त्विक हैं। उनके बारे में इस तरह सोचना भी पाप है। आपकी जीभ में कोड़े पड़ेंगे। सावधान!"

"तो आपकी जीभ में क्या पड़ेंगे। हमारी पट्टमहादेवीजी सात्त्विक शिरोमणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके बारे में अण्ट-सण्ट बकेंगे तो बोलनेवाली की जीभ कटवा दी जाएगी। सावधान!"

"यह कहनेवाली आप कौन होती हैं? राजमहल का खाना खाकर मस्ती आ गयी!" तुरन्त लक्ष्मीदेवी के मुँह से निकला।

"मस्ती तुम्हें आयी है, हमें नहीं, यह राजमहल तुमसे पहले हमारा है। यह हमारे अधिकार का अन्न है जो हमारे लिए अमृत है। जैसा तुम कहती हो वैसा नहीं होगा। तुमको मालूम नहीं कि हम किसी की मेहरबानी का अन्न नहीं खा रही हैं। हम अपने मायके का अन्न खा रही हैं। कुत्ते को हौदे पर बिठाएँ तो भी वह जूठी पत्तल देखने ही उछल पड़ेगा। ऐसे स्वभाव के लोगों को ऊपर बिठाएँ तो ऐसा ही होता है। चलो चट्टला! इनसे क्या प्रयोजन? सभी बातों की साक्षी हो तुम।" कहकर पद्मलदेवी वहाँ से मुड़ गयीं।

"है न गिरगिट का गलाह बाड़? आपके लिए यह बदलचन औरत ही साक्षी मिली! बहुत ठीक! मेरे पिता ने मुझसे कुछ नहीं कहा। आप कुछ कहानी गढ़कर मेरे और पट्टमहादेवी के बीच वैर पैदा करना चाहती हैं? जो भी हो, आप लोगों की जिन्दगी तो बरबाद हो ही गयी है। शायद आपकी यही इच्छा है कि हमारा भी वही हाल हो। मगर यह सब चलेगा नहीं। मैं भी देख लूँगी क्या होता है।" लक्ष्मीदेवी बड़बड़ायी।

पद्मलदेवी गुस्से से तमतमा उठी। तत्काल वहाँ से लौट पड़ी।

तिरुवंगदास को लगा कि उसमें एक नयी चेतना आ गयी।

"बेटी, कीचड़ पर पत्थर फेंकने से मुँह पर छींटे पड़ेंगे। हमारा यहाँ रहना किसी को भी नहीं भाता। कल ही यहाँ से चल देंगे। आचार्यजी से निवेदन करेंगे। फिर वे जहाँ रहने को कहेंगे, वहाँ रहेंगे। राजमहल के ही भरोसे पर तुम्हारा पालन- पोषण नहीं

किया न? उस रानी से कहो कि मेरा भी मायका है। उसने समझा होगा कि उस अकेली का ही है। चलो, इनसे हमें क्या सरोकार?'' कहकर उद्यान के दरवाजे की ओर चल दिया। लक्ष्मीदेवी ने उसका अनुसरण किया।

''चट्टला, हमने सोचा कुछ था और हुआ कुछ और।'' पद्मलदेवी ने कहा।

''कुछ भी करें, कुत्ते की पूँछ तो टेढ़ी की टेढ़ी रहेगी। आप शान्त रहें। आप कोई बात न छेड़ें। अपनी बहनों से भी कुछ न कहें।''

''तुझ बेचारी को भी गालियाँ पड़ीं!''

''गालियाँ तो मेरे लिए नयी नहीं। बहुत सुन चुकी हूँ। गालियाँ मुझे लगतीं ही नहीं। सुन-सुनकर यह चमड़ी मोटी हो गयी है। चलिए, बेचारी वे प्रतीक्षा करती हुई परेशान हो गयी होंगी।'' चट्टल ने कहा।

दोनों पुष्पवाटिका की तरफ जाने लगीं। केलिगृह के मोड़ पर रेविमय्या, पट्टमहादेवी, चामलदेवी तथा बोप्पिदेवी सामने आये।

पद्मलदेवी ने चकित होकर देखा।

''चकित होने की जरूरत नहीं, आशंकित होने की भी आवश्यकता नहीं। मैं आदि से अन्त तक सभी बातें जानती हूँ। यदि बाप-बेटी जाना चाहें तो मैं रोकूँगी नहीं। उनकी ऐसी मानसिक स्थिति में मेरा निःश्वास भी उन्हें जहर-सा लगेगा। आप बड़ी हैं। जो सद्भावना मेरे लिए आपके मन में है, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।''

''हमारी सद्भावना रहने दें, अब क्या कहती हैं? उसी दिन मैंने कहा था—हम बहनें सौतों की तरह व्यवहार करने लगी थीं। लेकिन बाद को अकल आयी तो फिर बहनें बन गयीं। परन्तु इस तरह की ऊल-जलूल कार्रवाई के पीछे यह सौतिया डाह बढ़ती ही जाएगी, इसलिए इसकी दवा करनी ही होगी।''

''मैंने पहले ही वचन दिया है। सन्निधान को भी मैंने सूचित कर दिया है। कोई भी मुझसे द्वेष करे तो उन सबको मानसिक शान्ति प्रदान करने के लिए कटवप्र पर, जहाँ रेविमय्या को बाहुबली का साक्षात्कार हुआ था, शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिर का निर्माण कराऊँगी। मैं अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवजी से प्रार्थना करूँगी कि वे उसका शिलान्यास करें।''

पद्मलदेवी ने कहा, ''यही शान्तिनाथ स्वामी का मन्दिर, 'सवतिगन्धवारण वसदि' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करेगा।''

''तो शंकुस्थापना कब है?'' चामलदेवी ने पूछा।

''पहले प्रतीक्षा करेंगे कि वे क्या करती हैं। बाद को निश्चय करेंगी।''

"तब तक तो हम नहीं रह सकेंगी!" चामलदेवी ने कहा।

"क्यों? शंकुस्थापना के बाद ही होगी आपकी यात्रा।" शान्तलदेवी ने कहा।

"छोटी रानी की बात सुनने के बाद भी यहाँ रहना?" पद्मलदेवी ने कहा।

"आप ही ने उसे जवाब दिया है न? यह राजमहल पहले आपका था। बाद में हमारे अधीन आया। जब तक यह हमारे अधीन है, तब तक यह आपका ही है न?" शान्तलदेवी ने कहा।

"इसे अपने अधीन स्थायी रूप से रखना हो तो आपकी सन्तान के मार्ग में कोई किसी तरह का रोड़ा न बने, इस ओर ध्यान देना होगा। मेरी इस बात को किसी भी कारण से उपेक्षा योग्य न समझें। छोटी रानी का मन अच्छा है। उसके पिता का मन अच्छा नहीं, यही भावना अब तक थी। परन्तु अब रानी का मन भी पूरी तरह से कलुषित हो गया है, इसलिए सब तरह से सतर्क रहना होगा।"

"मुझे अपनी सन्तान के विषय में कोई चिन्ता नहीं। रेविमय्या, छोटे बोलकेनायक, उनके बेटे नीणबेनायक, माचेयनायक जैसे विश्वासपात्र व्यक्ति जब हैं उन्हें किसी भी बात की कमी न होगी। इसके साथ यह भी है कि इस पोय्सल वंश की रक्षा का दायित्व अपने घराने के हाथ में है। हमने अपनी बेटी को भी आपकी अभिलाषा के अनुसार, आप ही के घराने में ब्याह दिया है। वह अब सुरक्षित है। चिन्ता न करें।"

रेविमय्या इन लोगों की ओर पीठ करके खड़ा आँखें पोंछता रहा।

"क्या हुआ, रेविमय्या?" चामलदेवी ने पूछा।

वह ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा, इनकी ओर नहीं मुड़ा। बोला, "इस तरह दूध में खटाई देने वाले लोगों की सृष्टि नहीं करता तो उस भगवान् का क्या बिगड़ जाता? मैं केवल नौकर होकर पैदा हुआ। मालिक होकर जनमता तो ऐसे लोगों के अस्तित्व को मिटा देता।"

पद्मलदेवी को आश्चर्य हुआ। रेविमय्या के मुँह से कभी ऐसी बात उन्होंने सुनी ही नहीं थी। वह बोलता कम था। ऐसा व्यक्ति यदि इस तरह बोले तो उसका हृदय कितना विचलित हो गया होगा, उन्होंने सोचा।

"अपने मन को शान्त कर लो, रेविमय्या। कल यदि वे रवाना होंगे तो तुमको ही उन्हें पहुँचाने को लिए जाना होगा। इतना ही नहीं, वे जहाँ भी रहें, उन्हें सभी सुविधाएँ देनी होंगी और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी कर देनी होगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

"अब तक तो मैंने किसी आदेश को टाला नहीं।" इधर मुड़कर रेविमय्या बोला। उसके कहने के ढंग से मालूम होता था कि उसके दिल में दर्द है, और यह भी लगा कि मन में कोई निश्चय है।

"तो मतलब यह कि अब आदेश का उल्लंघन करोगे?"

"अब तक शुद्ध हृदय वालों की सेवा ही मेरे भाग्य में रही है।"

"अब ऐसे भी लोगों के लिए तुम्हें यह काम करना पड़ेगा। मैंने भी तो सन्निधान की इच्छा को पूरा करने के खयाल से गलत काम किया न?"

"उस ऊँचाई तक मैं कैसे पहुँच सकूँगा?"

"तुम में जो संयम है उसके बल पर तुम ऊँचे से ऊँचे स्तर तक पहुँच सकोगे। तुम्हारी इच्छा न भी हो, तो भी तुम्हें यह काम करना ही पड़ेगा, रेविमय्या। सन्निधान की अनुपस्थिति में जो कुछ गुजरा है उसे ज्यों-का-त्यों, उनके लिए विश्वसनीय ढंग से कह सकनेवाला दूसरा कोई नहीं। सन्निधान को तुम्हारी बातों पर कितना विश्वास है सो तुम जानते ही हो। कहते हैं कि तुमने उन्हें कई बार संयम सिखाया है। वास्तव में सन्निधान तुम पर उतना ही गौरव रखते हैं जितना मुझ पर।"

"इस बारे में मुझसे अधिक भाग्यवान् कोई नहीं। आपकी मर्जी।"

बात समाप्त हुई। शान्तलदेवी ने कहा, "आपने उद्यान देखा ही नहीं। जब से आयीं तब से यहीं बैठी हैं। और अब खड़ी-खड़ी थक गयी हैं। थकावट न हो तो एक चक्कर लगा आएँ?"

"नहीं, किसी और दिन आएँगी। प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति के लिए प्रफुल्ल मनःस्थिति होनी चाहिए। अभी राजमहल चलें।" पद्मलदेवी ने कहा।

वे सब राजमहल की ओर चल दीं।

समय-समय पर युद्ध-क्षेत्र से समाचार मिलता रहता था। मसणय्या के कब्जे से हानुंगल को छुड़ाना आसान नहीं था। उसे रसद, धन और जन काफी परिमाण में मिला करता था, इसलिए उसकी शक्ति को तोड़ना बिट्टिदेव के लिए दुस्साध्य हो गया था। युद्ध लगातार चलता ही रहा। पोय्सल सेना के लिए भी किसी बात की कमी न थी। सब आवश्यकताएँ व्यवस्थित ढंग से पूर्ण होती रहीं। दोनों तरफ के सैनिक हताहत हो रहे थे, फिर भी ऐसा लगता था कि किसी की शक्ति कम नहीं हुई।

बिट्टिदेव को ऐसा प्रतीत होने लगा था कि पिछली बार के दस सामन्त राजाओं की सम्मिलित सेना का सामना करते समय भी ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। परिणामस्वरूप बिट्टिदेव के मन में अचानक विचार उत्पन्न हुआ कि जब तक शत्रु की रसद का रास्ता न रोका जाए, तब तक उसकी शक्ति कम नहीं की जा सकती। इस विचार के आते ही उन्होंने रसद के पहुँचने का रास्ता ढूँढ़ने के लिए गुप्तचरों को भेजा।

एक तरफ वनवासी और दूसरी ओर किसुवोल्लु के रास्ते से रसद आदि प्राप्त होने का पता लगा। इन दोनों मार्गों से रसद के आमद को रोकने के लिए पोय्सल सेना की कुछ टुकड़ियों को अलग कर, दोनों जगह भेज दिया गया। इस काम के लिए प्रधान तथा अश्वसेना का ही इस्तेमाल किया गया। अश्वसेना का अधिकांश भाग दो जगह विभक्त करने के कारण और सैनिकों की भरती करना पड़ा। यह खबर दोरसमुद्र पहुँचायी गयी। राजधानी की सुरक्षा के लिए नियुक्त आरक्षित सेना को तुरन्त बोप्पदेव के नेतृत्व में भेज दिया गया। बदले में यादवपुरी से थोड़ी सेना राजधानी बुलवा ली गयी।

युद्ध की गतिविधियाँ यथावत् चल रही थीं। इधर कार्य भी हो रहे थे। शिव मन्दिर का निर्माण-कार्य तेजी से चल रहा था। इस बीच में वृषभ-निर्माण के लिए बड़े पत्थरों की प्राप्ति की समस्या उठ खड़ी हुई। पत्थर भी मिल गये थे, लेकिन शिल्प के लिए उपयुक्त बृहत् शिलाखण्डों को कोनेहल्ली से, जो ऐसे शिलाखण्डों का आगार था, मँगवाया गया था। अपनी कई चिन्ताओं, कई अड़चनों के होते हुए भी, शान्तलदेवी ने मन्दिर-निर्माण के कार्य की निगरानी में किसी तरह की ढील नहीं दी।

केलिगृह की टक्कर के बाद तिरुवरंगदास ने लक्ष्मीदेवी को एक सलाह दी थी। कहा था कि "जो हुआ, सो हो गया। अब तुम स्वयं कोई बात न छेड़ो। देखें, रानी पद्मलदेवी शिकायत करके पट्टमहादेवी को उकसाती हैं या नहीं।"

एक सप्ताह गुजर गया, फिर भी किसी ने उस बारे में चूँ तक न की। वास्तव में उस दिन जब पद्मलदेवी और चट्टला से सामना हुआ तो तिरुवरंगदास भयभीत अवश्य हुआ। अपनी और रानी लक्ष्मीदेवी की आज्ञा का पालन न करने पर पहरेदारों पर गुस्सा भी आया था। तहकीकात करने पर मालूम पड़ा कि वे कैसी दुविधा में पड़ गये थे, तब कहीं उन पर का गुस्सा शान्त हुआ था। पर मन में भय बना ही रहा। फिर भी उसकी बेटी ने जो झूठ कहा था उससे धीरज बँधा रहा। वह धीरज एक तरह की सन्दिग्ध स्थिति का था। यह उसे मालूम था कि पट्टमहादेवीजी किसकी बात पर विश्वास करेंगी। फिर भी उसकी बेटी की झूठी बात ने इस प्रसंग में उसके आगे के कार्य के लिए प्रोत्साहन दिया था। अब उसे यह बात जम गयी थी कि उसकी बेटी उसकी पकड़ में है, इसलिए उसने उसको ऐसी सलाह दी थी। परन्तु राजमहल में किसी ने भी इस बात को छेड़ा न था।

तिरुवरंगदास को लगा कि उसका वह निर्णय गलत है। उसने कहा, "देखो बेटी! कितना अहंकार है! उन लोगों की इस लापरवाही का कोई उद्देश्य है। सभी बातों का तुरन्त निर्णय करने वाली पट्टमहादेवी, इस विषय में मौन क्यों है? इस बात को छेड़ें तो हम यहाँ से चले जाएँगे। तब भी उसका वह दुष्ट इरादा पूरा न होगा। तुम्हारी सन्तान बच जाएगी, उसको यही डर है। यदि जाने दें तो शायद सन्निधान गुस्सा भी करें, यह भी उसको शक है। शायद इसीलिए वह मौन है।"

''हो सकता है, पिताजी। इधर कुछ समय से पट्टमहादेवी को बातचीत में पहले जैसा आत्मीयता का भाव नहीं दिखता। व्यावहारिक दृष्टि से जितना आवश्यक है उतना ही बोलती हैं, किसी तरह का असन्तोष नहीं दिखता। इसलिए अब हमें क्या करना होगा ?'' कुछ आतंकित-सी लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

''मैं भी यही सोच रहा हूँ, बेटी। मेरे लिए सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि तुम्हारा गर्भस्थ शिशु बिना किसी तकलीफ के, सुख से, आराम से बढ़े। यहाँ जब तक रहेंगे तब तक बुराई मोल लेने की सम्भावना ही अधिक है, इसलिए तुम एक काम करो। पट्टमहादेवी से कहो, आचार्यश्री के दर्शन करने की अभिलाषा है। इसके लिए यदुगिरि जाने की व्यवस्था करवाएँ।''

''अगर वे मान जाएँ तो ठीक। नहीं तो ?''

''यह बाद की बात है। पहले पूछ तो लो!''

लक्ष्मीदेवी ने कहा, ''ठीक है।'' [illegible] चली। वह वहाँ से निकला तो लक्ष्मीदेवी अकेली रह गयी।

अचानक उसका दिल धड़क उठा, 'पिता के कहे अनुसार मैं बोलने लग जाऊँ तो आगे चलकर मेरी क्या हालत होगी ? राजमहल के होशियार व्यक्तियों के सामने मेरे पिता की बराबरी भी क्या ? पिता ने जो कहा—क्या वह सच है ? जब खुद पद्मलदेवीजी इनकार कर ही हैं तो इस बात को मानें कैसे कि उन्होंने पट्टमहादेवी बनने की आकांक्षा से बल्लाल महाराज को मरवाया। इस बात को विश्वास भी कैसे करें ? विश्वास न भी करूँ तब भी मेरे कोख का पुत्र उनके पुत्रों का हिस्सेदार बनेगा, यह उनको डर हो सकता है। इसके लिए शायद कुछ कारण हो सकता है। पिताजी के विचार करने की रीति में कुछ तर्क है। सन्निधान का सिंहासन उसे ही मिलना चाहिए जो समानधर्मी हो। सन्निधान श्रीवैष्णव हैं तो श्रीवैष्णव सन्तान को ही वह मिलना चाहिए। बड़ी रानी की सन्तान जैन धर्मानुयायी है। अपनी बेटी को भी जैन-धर्मावलम्बी से ब्याह दिया है। कुल रीति-नीति के विचार से सिंहासन के उपयुक्त मानने पर भी वह धर्म से परे हो जाता है। पिता की यह बात सही लगती है।...परन्तु क्या भरोसा कि मेरे पुत्र ही जनमेगा ? पुत्र ही जनमे तब इन सब पर विचार करना होगा। परन्तु भविष्य की कौन जानता है ? उसकी जानकारी वर्तमान स्थिति में हो भी कैसे ? आगे क्या होने वाला है, इसकी कल्पना कर अभी से इस मानसिक संघर्ष में क्यों फँसा जाए ? अभी भी चुप रह जाना बेहतर है। किसी ने अब तक इस बात को छेड़ा नहीं। परन्तु...परन्तु पिता के कहे अनुसार मेरी सन्तान को तकलीफ पहुँचे तो ? उसकी रक्षा तो करनी ही होगी। चाहे कुछ और मिले या न मिले, सन्तान को तो बचाना ही होगा।' सोच-विचार कर इस निर्णय पर पहुँची।

उसने घण्टी बजायी। उसकी चहेती दासी मुद्दला अन्दर आयी। उससे कहा,

''मुझे पट्टमहादेवी से मिलना है। जाकर पता लगा आओ कि अभी समय है या नहीं।'' मुद्दला गयी और जल्दी ही लौट आयी।

''क्या बताया?'' लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

''वे खुद ही यहाँ आ रही हैं।'' उसने कहा।

उसका कहना अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि इतने में बाहर से घण्टी की आवाज सुनाई पड़ी। साथ ही शान्तलदेवी अन्दर आ पहुँचीं।

लक्ष्मीदेवी उठनेवाली थी कि शान्तलदेवी बोलीं, ''नहीं, उठो मत। बैठी रहो। माँ बननेवाली को ज्यादा तकलीफ नहीं उठानी चाहिए, इसीलिए मैं खुद चली आयी। क्या बात है, कहो।'' कहकर मुद्दला से कहा, ''तुम बाहर ही रहो। जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक किसी को यहाँ प्रवेश न करने दो।''

मुद्दला बाहर चली गयी।

''क्या बात है?''

''मुझे कहते संकोच हो रहा है। पता नहीं आप क्या कहेंगी।''

''तुम ही शंका भी करो और निर्णय भी कर लो तो क्या किया जाए?''

''सन्निधान जब यहाँ न हों तब..."

''सन्निधान रहते ही कब हैं लक्ष्मी? मेरे विवाह के बीस वर्ष होने को आये, इस अवधि का उनका तीन-चौथाई हिस्सा युद्धक्षेत्र ही में बीत गया।''

''परन्तु आप युद्धक्षेत्र में साथ तो जाया करती थीं।''

''कोई...दो बार।''

''परन्तु मुझे कौन ले जाएगा?''

''वहाँ कोई ऐसा काम नहीं जो तुम कर सकती हो, इसलिए नहीं ले जाते। वहाँ उन कट-मरनेवालों के दुःख-दर्द का भयंकर दृश्य नहीं देखा जा सकता। खासकर पूजा-पाठ, मठ-मन्दिरों के वातावरण में तुम पली हो। वह दृश्य तुम सह न सकोगी। अच्छा, यह विषय क्यों?''

''नहीं, सन्निधान की अनुपस्थिति में अपनी इच्छा-आकांक्षाएँ किसके सामने व्यक्त करूँ? अब आप ही हैं न मेरे लिए सब कुछ?''

''मैं भी तुम्हारी तरह सन्निधान की रानियों में से एक हूँ। इतना ही।''

''ऐसा न कहें। आप पट्टमहादेवी हैं।''

''छोड़ो वह सब। अब बताओ, बात क्या है?''

''पता नहीं क्यों, मेरे मन में एक तीव्र इच्छा हो रही है।''

''इस समय ऐसी इच्छाओं का होना स्वाभाविक है लक्ष्मी! क्या मैं नहीं जानती? कहने में संकोच क्यों?''

''कुछ नहीं, आचार्यजी के दर्शन करने की बलवती इच्छा हो रही है।''

"इसमें क्या? बहुत ही उत्तम इच्छा है। मैंने सोचा था कि नमक-मिर्च खटाई आदि की इच्छा होगी। ठीक है, उसकी व्यवस्था की जाएगी। पर जो भी हो सीमान्तोन्नयन संस्कार के बाद ही।"

"तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी?"

"कब तक की कल्पना करती रही हो?"

"यह मुझे मालूम नहीं।"

"देखो, तुम्हारे पिताजी ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण कन्या जब प्रथम गर्भधारण करती है तो चौथे या छठे महीने में सीमन्त-संस्कार करने का विधान है। अब यह चौथा महीना है न? अपने पिता से पूछो। एक अच्छा मुहूर्त निकाल दें। इस राजमहल की प्रतिष्ठा के अनुसार, रानी पद की योग्य रीति से मनाएँगे। बाद को यदुगिरि हो आने की व्यवस्था कर देंगे।" शान्तलदेवी ने अपना निर्णय सुना दिया।

लक्ष्मीदेवी को कुछ कहने के लिए सूझा नहीं। अपनी मौन सम्मति जता दी। शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी।

मुद्दला अन्दर आयी। शान्तलदेवी जाने को तैयार हो उससे बोलीं, "जाकर रानीजी के पिताजी को यहाँ बुला ला!" कहकर चली गयीं।

तिरुवरंगदास राजमहल के ही किसी कोने में रहता था। उसके आने में विलम्ब नहीं हुआ। लक्ष्मीदेवी ने सब बात कह सुनायी। कहा, "अब सीमन्त के लिए मुहूर्त निश्चित कर बताने की जिम्मेदारी हम पर है।"

"यह कोई बड़ा काम नहीं। पर...उसके समाप्त होने पर जाने की बात पट्टमहादेवी ने जो कही वही कुछ चिन्ताजनक है।" तिरुवरंगदास ने कहा।

"हो आना—कह देना तो पुरानी रीति है। इसके माने यह नहीं कि फिर लौटना नहीं होगा।" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"ये सब बातें तुम्हारी समझ में नहीं आएँगी। तुम वहाँ कितने दिन रहोगी? यदुगिरि में ही रहोगी या यादवपुरी में? इस सम्बन्ध में कुछ पूछा नहीं? इस स्वीकृति में जो बात होनी चाहिए उससे भिन्न कुछ और है, ऐसा मुझे लगता है। हमारे साथ ऐसे लोगों को भेज सकते हैं जिनसे हमारी अनबन हो।"

"चाहे कोई जाएँ। हमें उनके कहे अनुसार तो करना नहीं है। यहाँ से निकलने के बाद हम पूरी तौर से आजाद हैं।" उसके कहने में एक स्पष्ट मनोभाव था।

तिरुवरंगदास भी यही चाहता था कि अपनी बेटी का ऐसा ही निर्णय हो। इसके तीन-चार दिन बाद एक अच्छा मुहूर्त निश्चित किया गया। बड़ी धूमधाम के साथ सीमन्तोन्नयन संस्कार मनाया गया। राजधानी की वयोवृद्ध सुमंगलियों ने रानी लक्ष्मीदेवी को असीसा और कहा कि पुत्र ही जन्मे। जितनी श्रद्धा और लगन के साथ अपनी बेटी के लिए कर सकती थीं, उतनी ही लगन से शान्तलदेवी ने सीमन्त-संस्कार सम्पन्न कराया।

यह सब देखने के बाद, लक्ष्मीदेवी के मन में यह विचार आया कि पट्टमहादेवी पहले जैसी ही सद्भावना रखती हैं, कोई भाव-परिवर्तन नहीं है। इधर ये जो राजमहल के अन्न के लिए तरस रही हैं, मुझसे भयभीत हो चुप हैं। इसलिए आगे मैं अपने पिता के कहे अनुसार ही कर सकूँगी। यहाँ जैसे लोग मेरी गतिविधियों पर नजर रखते हैं, वहाँ ऐसा नहीं होगा।

सीमन्त-संस्कार सम्पन्न होने के बाद कुछ ही दिनों में एक अच्छे मुहूर्त में लक्ष्मीदेवी की यात्रा निश्चित हुई। यात्रा में देखरेख के लिए रेविमय्या साथ रहा।

चलते समय शान्तलदेवी ने लक्ष्मीदेवी से कहा, "देखो लक्ष्मी, तुम्हें मालूम नहीं कि माँ के आश्रय का कितना महत्त्व होता है। प्रसव के समय आत्मीयता से देखभाल करनेवाली स्त्रियों में माँ का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी माता के अभाव में आत्मीयता से देखभाल करनेवाली स्त्री का साथ रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए हम सबकी राय है कि तुम्हारा यहीं रहना उचित है। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि सन्निधान ने स्वयं आदेश दिया है कि तुम्हारी देखरेख भली-भाँति हो। अतः तुम जितनी जल्दी हो सके, लौट आओ। वास्तव में यह सीमन्त-संस्कार छठे महीने में कराने का मेरा विचार था। तब तक युद्ध में विजयी होकर सन्निधान के लौट आने की भी सम्भावना थी। परन्तु तुमने श्री आचार्यजी के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त की। इसलिए जल्दी-जल्दी में यह कार्य करना पड़ा। मैंने रेविमय्या से कहा है कि यात्रा में कहीं कोई तकलीफ न हो और ज्यादा हिलना-डुलना न पड़े, इसका खयाल रखकर सावधानी से ले जाना।"

"आपकी इस उदारता के लिए मैं कृतज्ञ हूँ।" लक्ष्मीदेवी ने कहा, मगर उसके स्वर में कुछ व्यंग्य था।

"यह सब मेरा कर्तव्य है। जल्दी लौटना।" शान्तलदेवी ने सहज भाव से कहा। मगर लक्ष्मीदेवी का व्यंग्य उनसे छिपा न रहा।

"यदि आपकी इच्छा होती कि मैं लौट आऊँ तो सन्निधान के लौटने के बाद ही यह सीमन्तोन्नयन की व्यवस्था की जा सकती थी न?" लक्ष्मीदेवी ने कह दिया। वह अपनी दिल की बात छिपा न सकी। दूसरों पर दोष मढ़नेवाले की प्रवृत्ति ही ऐसी होती है।

"किसे लौटने की अभिलाषा है, किसे नहीं, यह बात तुम्हारे दिल से ज्यादा अन्य किसी को मालूम नहीं हो सकती। अपने ही दिल से पूछ लो। तुम्हारी कुछ भी राय हो, सन्निधान के साथ विवाहित होने के बाद तुम हमारी आत्मीया हो। तुम्हारी क्या भावना है यह तुम्हीं जानो। भगवान् बाहुबली तुम्हारा कल्याण करें। यात्रा सुखमय हो। हो आओ।" कहकर शान्तलदेवी ने बात समाप्त कर दी।

रानी लक्ष्मीदेवी की यात्रा शुरू हुई।

वास्तव में रानी या उसके पिता को यदुगिरि में कोई काम नहीं था। रेविमय्या साथ था, इसलिए यदुगिरि जाना ही पड़ा। और वहाँ चार दिन रहना भी पड़ा।

पट्टमहादेवी ने सारी बातें रेविमय्या को समझा दी थीं। इसलिए उसे गूँगे बैल की तरह आदेशानुसार चुपचाप काम करना मात्र था, कुछ कहना-सुनना नहीं था। फिर भी वह हमेशा सतर्क रहता था।

यदुगिरि पहुँचने पर आचार्यजी से भेंट हुई। कुशल-प्रश्न के बाद आचार्यजी ने कहा, "गर्भवती स्त्रियों की कई तरह की लौकिक वांछाएँ हुआ करती हैं। तुमको एक संन्यासी से मिलने की अभिलाषा हुई, यह तो आश्चर्य की बात है!"

रानी कुछ नहीं बोली। तिरुवरंगदास ने ही उसकी तरफ से जवाब दिया, "उसका सारा जीवन आचार्यजी के कृपापूर्ण आशीर्वाद से ही फला-फूला है।" उसकी इच्छा है कि वह ऐसे राजकुमार की माँ बने जो आचार्यजी के धर्म का पोषक हो। इसलिए अनुग्रह पाने आयी है।"

"दास! तुम्हारी बात सुनकर अभिलाषा तुम्हारी है या उसकी, यह मालूम नहीं हो रहा है।" आचार्यजी बोले।

"उसी की अभिलाषा है।"

"देखो दास! हमारे धर्म का पोषण करना हो तो उसका अध्ययन करना और उसके लिए सर्वस्व त्याग करना होता है। ऐसा व्यक्ति राजकुमार होगा कैसे? लक्ष्मी अब रानी है। वह जिसे जन्म देगी, वह राजवंश की सन्तान होगी। फिर लड़की हो या लड़का, यह कौन कह सकता है? यह सब भगवान् की इच्छा है।"

"श्री आचार्यजी का अनुग्रह होगा तो भगवान् भी अनुग्रह करेंगे।" बीच में लक्ष्मीदेवी ने धीरे से कहा।

श्री आचार्यजी ने कहा, "देखो लक्ष्मी, तुमने अब अपने व्यक्तित्व को एक रूप में ढाल लिया है। जिस घर में तुम प्रविष्ट हुई हो वह बहुत ही श्रेष्ठ घराना है। वहाँ का वातावरण भी बहुत परिशुद्ध है। उसे आत्मसात् कर अपने जीवन को ढालो। दूसरों की बातों में आकर उनके कहे अनुसार नहीं करना चाहिए। भगवान् जो देगा उसी से सन्तुष्ट होना चाहिए। ऐसी माँग नहीं करनी चाहिए कि अमुक फल ही दे।"

कुछ धीरज के साथ लक्ष्मीदेवी ने पूछा, "आचार्यजी मुझपर पहले से ही अनुग्रह करते आये हैं। माँ बननेवाली प्रत्येक स्त्री की यही अभिलाषा होती है कि प्रथम सन्तान पुत्र हो। ऐसा अनुग्रह करेंगे तो क्या गलती होगी?"

आचार्यजी ने कहा, "प्रत्येक मानव, पता नहीं, अपनी क्या-क्या इच्छाएँ सफल बनाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है। भगवान् प्रार्थना करने की मनाही नहीं करता। परन्तु यह कहा नहीं जा सकता कि सबकी सभी इच्छाओं को वह पूर्ण करता है। उसका पूर्व निर्णय जो होगा उसी के अनुसार सब होता है। इच्छा के अनुसार हो

जाता है तो हम समझते हैं भगवान् ने हमारी इच्छा पूरी कर दी।''

''अगर ऐसा है तो हमें उसकी आराधना क्यों करनी चाहिए?'' लक्ष्मीदेवी ने मौलिक सवाल किया।

''स्वार्थ-साधना के लिए नहीं, मनःशान्ति और सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।'' आचार्यजी ने कुछ जोर देकर कहा।

''तो क्या मेरा यह चाहना कि मेरी सन्तान आचार्यजी की सेवा के लिए ही सुरक्षित रहे, यह गलत है?''

''हमारी कहने-जैसी कोई सेवा नहीं। सब कुछ भगवान् की ही सेवा है। भगवान् की सेवा करने के लिए सबको समान अवकाश है। उसके लिए जोर-जबरदस्ती, उकसाना, अधिकार चलाना, आदि की जरूरत नहीं। हम जिस मत का प्रतिपादन करते हैं उसकी प्रेरक-शक्ति हमारी अन्तर्वाणी में होती है। वह यदि सशक्त हो तो स्वयं वृद्धि पाती है। अटल श्रद्धा-युक्त, निष्ठावान्, विश्वास रखने वाले व्यक्तियों के अनुष्ठान करने से ही तत्त्व-प्रसार सत्त्वपूर्ण होता है। केवल प्रतीक बनाकर अपनी प्रतिष्ठा के लिए उपयोग करें तो धर्म का दुष्प्रचार होता है। धर्म के अनुष्ठान के लिए पूरी तरह से मन को उसी में तल्लीन कर देना चाहिए। वह वैयक्तिक है, सामूहिक नहीं। धर्म प्रसार सैनिक-आदेश जैसा नहीं। सेना में आज्ञा सामूहिक होती है। वहाँ विरोध करने या तटस्थ होने का मौका ही नहीं। यहाँ यह स्वयंप्रेरित है। इसलिए तुम्हारे पिता ने तुम्हारे दिमाग में जिन विचारों को भरा है वह न तुम्हारे लिए अच्छा है, न तुम्हारी सन्तान के लिए।''

''मेरे पिता ने मुझे कुछ भी उपदेश नहीं दिया है। मेरी राय गलत हो तो मैं खुद ही सुधार लेती हूँ। इसके लिए उन पर आक्षेप करने की जरूरत नहीं। मुझे पहले से श्रीवैष्णवत्व में श्रद्धा और विश्वास है। मेरा जीवन आपके ही अनुग्रह से श्रेष्ठ बना है। मेरे पिता का अटल विश्वास, आपके द्वारा निरूपित मत पर है और वे उसी को श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी यह उत्कट आकांक्षा है कि वह सारी दुनिया में फैले। वही उनकी निष्ठा का प्रतीक है। उनमें जैसी श्रद्धा और निष्ठा है, वही मुझमें है।''

''परन्तु वह अज्ञान से भरी है। तुम्हारी भावनाओं के लिए धर्म विशेष ही साधना का मार्ग नहीं। वह एक अन्ध-विश्वास होगा। ऐसे विश्वास और ऐसी श्रद्धा से, उपकार से अधिक अपकार ही होता है। इसलिए रानी बनकर तुम्हें सार्वजनिक हित के विचार को ही बढ़ावा देना चाहिए। तुम्हें धर्म-प्रचारक नहीं बनना है।''

''तो आचार्यजी का मत है कि अब जैसे सन्निधान आपके अनुयायी हैं, वैसे आगे आपके अनुयायी ही सिंहासनासीन हों, इसकी आवश्यकता नहीं?''

''तुम्हारे सोचने-विचारने का मार्ग ही गलत है। हम इधर आये केवल इसी इच्छा से कि अपने साक्षात्कृत सत्य की जानकारी लोगों को दें। हमारे धर्म को मानने

वाले ही राजा बनें, यह कभी हमारी इच्छा नहीं रही। वह उचित भी नहीं।''

''तो चोल राज्य में ही आप यह काम करते रह सकते थे न?''

''तुम्हारे मुँह से यह बात निकली तो इसका कारण क्या है, जानती हो? तुम्हारी जानकारी गलत है।''

''गलत या सही, यह मैं नहीं जानती। सुना है कि चोलनरेश शिवजी के बड़े भक्त हैं। उन्होंने आपको कष्ट ही नहीं दिया, बल्कि आपकी आँखें निकलवाने का भी निर्णय किया था। आप अपने प्राण और आँखें बचाने के लिए उधर से भागकर आये।''

''ऐसा किसने कहा?''

''जिन्होंने आपको वहाँ से भागने में सहायता दी, उन्होंने।''

''उनका क्या नाम है?''

''नहीं, बेटी! यों आगा-पीछा सोचे-समझे बिना आचार्यजी से ऐसा सवाल कर रही है? मूर्ख लोग कुछ कह सकते हैं, लेकिन तुम रानी हो। रानी बनने पर भी तुममें विवेचना-बुद्धि नहीं आयी?'' बीच में ही तिरुवरंगदास बोल उठा। इस इरादे से कि अपने ऊपर आनेवाले आरोप से छूट जाए।

''जो भी हो, हमें बात मालूम हो तो अच्छा!'' आचार्यजी ने फिर पूछा।

''कोई था एक पागल। राजमहल में जब तहकीकात हुई थी तब वहाँ आकर व्यक्तिगत रूप से उसने कहा था, उसके नाम-धाम वगैरह की याद रानी को कहाँ होगी? मुझे ही याद नहीं।'' कहकर तिरुवरंगदास ने बात को टालने की कोशिश की।

''मालूम हो तो बताएँ, नहीं तो नहीं। यों तो ऐसी बातें सुनते-सुनते हम उसके आदी हो गये हैं। देखो लक्ष्मी, एक बात याद रखो। पहले भी हम एक बार कह चुके हैं, अब भी कहेंगे। तुमने अपने जीवन में जो सौभाग्य प्राप्त किया है उसे वैसे ही बनाये रखना चाहो तो तुम यहाँ की रीति-नीतियों के अनुसार अपने को ढालो और पट्टमहादेवी पर पूर्ण विश्वास रखकर जीना सीखो। धर्म-तत्त्व आदि सभी बातें समझना तुम्हारे लिए कठिन कार्य है। इन बातों में पड़ना तुम्हारे लिए श्रेयष्कर नहीं है। पोय्सल सिंहासन न्याय-रीति से जिसे मिलना चाहिए, उसी को मिलेगा। वह मेरी या तुम्हारी इच्छा के अनुसार नहीं होगा। धर्म के नाम पर अण्ट-सण्ट बातें सोचकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। अच्छा यह बताओ, राजधानी कब जा रही हो?'' आचार्यजी ने पूछा।

''अभी निश्चय नहीं किया। यादवपुरी जाना है। कावेरी में स्नान आदि करने की अभिलाषा है। अभी सन्निधान भी राजधानी में नहीं हैं। इसलिए देर से गयी तो भी कोई हर्ज नहीं।''

''तिरुवरंगदास! तुमको वह्निपुष्करिणी का अच्छा परिचय है ही। रानी को वहाँ ले जाओ। पता नहीं, किसी ने रानी के मन में असूया पैदा कर दी है। रानी को इस असूया से छुटकारा मिलना ही चाहिए। नहीं तो उसी धुन में रहने पर उसकी होनेवाली

सन्तान पर इसका प्रभाव पड़ेगा। ऐसा नहीं होने देना चाहिए। उसे मानसिक शान्ति मिलनी चाहिए। हमारा विश्वास है कि वह्निपुष्करिणी में वह शान्ति उसे मिल सकेगी। यदि रानी चाहे तो विजयी होकर महाराज के लौटने तक वहीं रह सकती है। शान्ति और मानसिक स्वास्थ्य दोनों वहाँ मिलेंगे।'' आचार्य ने कहा।

''जैसी आपकी आज्ञा।'' तिरुवरंगदास ने कहा।

''मेरे लड़का हो, यही आशीर्वाद।'' रानी लक्ष्मीदेवी ने फिर से प्रार्थना की।

''तुम्हारा सुख-प्रसव हो, इतना ही आशीर्वाद दूँगा। शेष सब भगवान् की इच्छा। यादवपुरी में हमें सर्वप्रथम आश्रय मिला नरसिंह भगवान् के मन्दिर में, जिसकी हम नित्य पूजा किया करते हैं। महाराज का प्रेम पुरस्कार भी उसी भगवान् की कृपा से मिला। रानी, तुम भी अपनी आशा-आकांक्षाओं को उस भगवान् से निवेदन करो। हम चाहे कहीं भी रहें, हमें सुख-प्रसव का समाचार भेज देना।'' आचार्य ने कहा।

''तो क्या आप यदुगिरि छोड़कर जा रहे हैं?''

''हाँ, हमें फिर से अपनी जन्म-भूमि की ओर जाने की इच्छा हो रही है। यहाँ चेलुवनारायण की प्रतिष्ठा के बाद चल देने का निश्चय है।''

''परन्तु वे चोलनरेश?''

''अभी कुलोत्तुंग प्रथम का बेटा विक्रम चोलनरेश है। तलकाडु अर्थात् गंगवाड़ी को खोने के बाद कुलोत्तुंग बहुत समय तक जीवित नहीं रहा। वहाँ से जो भक्त लोग आये, वे बताते हैं कि बेटा बाप से ज्यादा उदार है।''

''तो मतलब यही हुआ कि वहाँ भी श्रीवैष्णव को यहाँ जैसी ही मान्यता मिल जाएगी।''

''जैसा हम सदा कहते आये हैं, जब तक धर्म में शक्ति है तब तक उसे दबा नहीं सकते। हमारे इस रेविमय्या को, जो श्रीवैष्णव नहीं है, बाहुबली ने किरीट-कुण्डल, गदा पद्म-शंख-चक्र युक्त होकर दर्शन दिया। वह जैन भी नहीं, फिर भी उसे बाहुबली पर अटल विश्वास है।'' पास में खड़े रेविमय्या की ओर देखकर आचार्यजी ने कहा।

''जितना विश्वास बाहुबली पर है उतना ही विश्वास मुझे आचार्य-पाद पर भी है।'' विनीत होकर रेविमय्या ने कहा।

''तो कल से तुम तिलक क्यों नहीं लगा लेते?'' तिरुवरंगदास ने पूछा।

''तिलक से स्वप्रतिष्ठा मात्र गोचर होती है, यह पट्टमहादेवीजी कहती हैं। मुझे भी वह सही लगता है।'' रेविमय्या बोला।

''तो क्या उन्होंने तिलक लगाना छोड़ दिया है?'' तिरुवरंगदास ने पूछा।

''ये सब बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। धर्मदर्शी के दिमाग और एक नौकर के दिमाग में बहुत अन्तर होता है।''

"तुम पट्टमहादेवी के प्रधान शिष्य हो न? इसीलिए इस तर-तम भाव को जानकारी रखते हो।" तिरुवरंगदास ने व्यंग्य किया। रेविमय्या चुप रहा।

"क्यों रेविमय्या, चुप हो गये? तुमको मालूम नहीं कि अब मैं धर्मदर्शी नहीं?"

"इस बात को यहीं खतम कर दीजिए न? नौकर से इसकी चर्चा क्यों?" लक्ष्मीदेवी बीच में बोली।

"नौकर-चाकर भी तो मनुष्य ही हैं, लक्ष्मी। अब तुम अपने बारे में क्या समझ रही हो? स्वयं को सीधे स्वर्ग से उतरी देवी मान रही हो?" आचार्यजी ने जो बात कही उसमें उनकी खिन्नता और असन्तोष का भाव लक्षित हुआ।

'इनकी नजर में शायद पट्टमहादेवी सीधे स्वर्ग से उतरी होंगी।' लक्ष्मीदेवी मन ही-मन चाह रही थी कि कह दें। पता नहीं, क्यों बात को रोक रखने की कोशिश कर रही थी। इतने में, "इन लोगों के लिए पट्टमहादेवी...।" इतना मुँह से निकल चुका था।

"क्यों लक्ष्मी, क्यों रुक गयी? आधा बोलना अच्छा नहीं।" आचार्यजी ने कहा।

"कुछ कहना चाहती थी, मगर इतने में भूल ही गयी!" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

जिस बात को कहना नहीं चाहती, उसे क्यों कहलवाएँ, यह सोचकर आचार्यजी ने कहा, "अच्छी बात है। भगवान् की कृपा आप लोगों पर रहे।" फिर एम्बार से बोले, "रानी लक्ष्मीदेवी को प्रसाद ला दो।"

एम्बार ने बेंत की थाली में केले के पत्ते के दोने में प्रसाद ला दिया। प्रसाद लेकर प्रणाम कर लक्ष्मीदेवी ने कहा, "कल यादवपुरी जाएँगे, फिर वहाँ से बहिपुष्करिणी जाएँगे। वहाँ हमारे ठहरने के लिए कुछ व्यवस्था करा लेनी होगी न?"

"हाँ, अब पहले जैसे साधारण स्त्री तुम नहीं हो न? रेविमय्या यह सारी व्यवस्था अच्छी तरह कर देगा।" आचार्यजी ने कहा।

रानी अपने पिता के साथ अपने मुकाम की ओर चल दी। उसके चले जाने के बाद आचार्यजी ने पूछा, "एम्बार, इस दास ने उस रानी के मन को पूरा बिगाड़ दिया है। इससे भलाई नहीं होने वाली, मुझे तो ऐसा ही बोध होता है। तुम्हारी क्या राय है?"

"दरिद्र एकदम धनी हो जाए तो क्या होगा? राजमहल के जीवन में कटुआपन पैदा हो जाए तो बहुत बुरा होगा।"

"एक बात सोचो, एम्बार। तुम पट्टमहादेवी को अच्छी तरह समझते हो। जब महाराज अनुपस्थित हैं, तब इस गर्भिणी को यों यात्रा करने के पीछे का कुछ मतलब होगा, हमें तो ऐसा ही लगता है। तुम्हें?"

"चाहे कुछ भी हो, पट्टमहादेवी विचलित होनेवाली नहीं। यदि दूसरा कोई होता तो उस समय की परिस्थितियों में इस दास को देश-निकाले का दण्ड मिलता और इस रानी को गृहबन्धन का दण्ड मिलना चाहिए था, यों आप आचार्यश्री ने ही तो कहा था।

मुझे अब याद आ रहा है।''

''वे स्वभावतः आसानी से विचलित होनेवाली नहीं, यह सच है। फिर भी यदि एक रानी कष्ट देने लगे तो वे भी विचलित हो सकती हैं। यह शादी न हुई होती तो अच्छा था! अब तो ऐसा ही प्रतीत होता है।''

''आगे कदम बढ़ा दिया तो अब पीछे हटा नहीं सकते। चाहे समस्या कितनी ही उलझी हो, महाराज बड़ी धीरता से उसे सुलझा देंगे।''

''सुलझा तो सकते हैं। परन्तु पट्टमहादेवी की पवित्र आत्मा को दुख पहुँचाने वाली बातें ये मूर्ख लोग कहने लगेंगे, इसका भय है।''

''वह जानती हैं कि ये अज्ञानी हैं। इससे वह विचलित नहीं होंगी। फिर भी यही कहना पड़ता है कि तुमने रानी एवं दास की बातचीत के ढंग पर ध्यान नहीं दिया। रानी चाहती है कि वह पुत्र को ही जन्म दे और पोय्सल सिंहासन पर श्रीवैष्णव ही बैठे। इसका तात्पर्य क्या है? दास चाहता है कि वह राजा का नाना कहलाए। इस राज्य की स्थापना में, इसे विस्तार देने में, एक मानवीय और सांस्कृतिक और वास्तविक धर्म के मूल्यों को रूपित करने में पट्टमहादेवी की भूमिका कितनी महान् है, इसे दुनिया जानती है। इसके अलावा, पट्टमहादेवी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को ही सिंहासन का उत्तराधिकार मिलना चाहिए, किसी और को नहीं। ऐसी स्थिति में इस दास ने रानी के मन में, सो भी जब वह गर्भवती है, असंगत और न्याय-विरुद्ध महत्त्वाकांक्षाओं को भर दिया है। इसका परिणाम क्या होगा, समझते हो?...ऐसा नहीं होना चाहिए। ऐसा नहीं होने देना चाहिए।''

''आचार्यजी साफ़-साफ़ यही बात कह देते तो अच्छा होता न?''

''इस तरह के स्वभाव वाले लोग बातों का दूसरा ही अर्थ लगाते हैं। कहने पर भी कोई असर नहीं होता। जिसे ठीक करना होगा उसे ठीक समझा देना है। इसलिए राजधानी लौटने से पहले एक बार यहाँ आने के लिए रेविमय्या से कह दो।''

समय पाकर एम्बार ने रेविमय्या को श्री आचार्यजी का सन्देश सुनाया। रेविमय्या ने कहा, ''मैं कब लौटूँगा, सो मैं स्वयं ही नहीं जानता। अगर मैं अकेला ही लौटूँगा तो अवश्य ही आचार्यजी के दर्शन करके जाऊँगा।''

यह समाचार सुनकर आचार्यजी को कुछ सान्त्वना मिली। वस्तुस्थिति की पूरी-पूरी जानकारी पट्टमहादेवी को है, इसीलिए रानी के साथ रेविमय्या को भेजा है। फिर भी क्या सब हुआ होगा यह जानने की इच्छा हुई, इसलिए आचार्यजी ने एम्बार से फिर कहा, ''रेविमय्या को चलने के पूर्व एक बार यहाँ आने के लिए कह आओ।''

रेविमय्या आया। परन्तु उससे आचार्यजी को कोई समाचार मालूम नहीं हो सका। उसने सिर्फ इतना ही कहा, ''सदा रानी के साथ रहना, उनकी सभी सुविधाओं का ख़याल रखना, उनकी सुख-शान्ति की सब तरह से व्यवस्था कर देनी होगी—यही

आदेश दिया है। इससे अधिक और कुछ मैं भी नहीं जानता।''

आचार्यजी के मन में जो शंकाएँ उत्पन्न हुई थीं उन्हें स्वयं उन्होंने बताया और यह कहा कि ''उनकी तरफ के लोगों से यदि पट्टमहादेवी और महाराज को किसी तरह का मानसिक दुःख पहुँचा हो तो वह स्वयं से ही हुआ मानकर उसके लिए प्रायश्चित्त करेंगे। उन्हें आश्रय देनेवाले राजदम्पती के वे हितचिन्तक हैं। इसलिए वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाए तो पता चलेगा कि क्या करना चाहिए। इसलिए किसी बात को संकोचवश मन में न रखें।''

रेविमय्या ने फिर भी कुछ नहीं कहा, मात्र इतना कि ''आचार्यजी के मन में जो भी शंका उत्पन्न हुई है, उसका निवारण केवल पट्टमहादेवीजी द्वारा ही हो सकता है,'' कहकर रेविमय्या किसी तरह फँसे बिना खिसक गया।

व्यवस्था के अनुसार रानी लक्ष्मीदेवी की यात्रा आरम्भ हुई। यादवपुरी में वह जितने दिन रही, उसी बीच बहिपुष्करिणी पर जो व्यवस्था करनी थी, उसे सम्पन्न कर रेविमय्या रानी को वहाँ ले गया।

इधर शान्तलदेवी रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनों को साथ लेकर बेलुगोल की ओर चल पड़ीं। पहले ही वहाँ खबर पहुँचा दी गयी थी। खासकर पट्टमहादेवी द्वारा कटवप्र पर शान्तिनाथ भगवान् के मन्दिर की शंकुस्थापना करने की बात भी लोगों को मालूम हो चुकी थी, इसलिए इर्दगिर्द के प्रदेशों से सभी जैन बन्धु बेलुगोल में इकट्ठे हो गये थे। इसी समय बाहुबली स्वामी के महामस्तकाभिषेक की व्यवस्था करने की सूचना धर्मगुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव श्रीपाल वैद्य, शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव, भानुकीर्ति पण्डित और गुणचन्द्र सिद्धान्तदेव, इन सभी ने विचार-विमर्श करके दी थी। वह व्यवस्था भी उसी प्रकार हुई थी।

जिन भक्ताग्रेसर गंगराज, उनके बेटे दण्डनायक एचम ने इस सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली थी। शान्तलदेवी के माता-पिता भी बेटी के साथ बेलुगोल आये थे। रेविमय्या, जिसका रहना अत्यन्त आवश्यक था, नहीं आ सका था। चट्टलदेवी और मायण तो साथ थे ही।

बेलुगोल में इधर अनेक वर्षों से इतनी भीड़-भाड़ नहीं हुई थी। अगर महामस्तकाभिषेक की बात फैल भी जाती तो देशभर के लोगों से बेलुगोल भर जाता और व्यवस्था सँभालना कठिन हो जाता।

नव विवाहित दण्डनायक मरियाने और भरत और उनकी पत्नियों का इन कार्यों में विशेष उत्साह था। पट्टमहादेवी के बच्चे, बिट्टियण्णा, उसकी पत्नी आदि सब आत्मीय जन भी वहाँ एकत्र हुए थे। कुछ लोगों के मन में यह प्रश्न भी उठे बिना न रहा कि जब सन्निधान युद्ध क्षेत्र में हैं तब मन्दिर की शंकुस्थापना की क्या जल्दी थी।

इस तरह के प्रश्न का ठीक उत्तर दे कौन? शान्तलदेवी ने ही उत्तर दिया,

''सन्निधान की विजय-प्राप्ति के लिए, भगवान् सन्निधान को यह विजय निर्बाध रूप से दें इस प्रार्थना के लिए, इस महामस्तकाभिषेक का आयोजन है। शान्तिनाथ मन्दिर की स्थापना का दूसरा कोई उद्देश्य नहीं, सभी की अभिलाषाएँ एक-सी नहीं होतीं। स्वार्थ का होना सहज है। ऐसे कुछ लोगों का स्वार्थ राजमहल की एकता को भंग कर सकता है। ऐसों को मानसिक समाधान मिले, शान्ति मिले, इसके लिए शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा की जा रही है।''

वर्धमानाचार्य और शान्तलदेवी के नाट्यगुरु गंगाचार्य, दोनों ने निर्मित होने वाले मन्दिर के वास्तुचित्र की रूपरेखा तैयार करने में कवि बोकिमय्या की भी सलाह ले ली थी। शान्ति-लाभ के ही उद्देश्य से निर्मित होने वाले मन्दिर के निर्माण-कार्य में उनके बाल्यकाल के गुरुओं का भी सहयोग मिल रहा था, इससे शान्तलदेवी को विशेष सन्तोष हुआ। मन्दिर के निर्माण-कार्य के लिए बाहर से शिल्पियों को बुलवाने की आवश्यकता नहीं थी। इन दिनों वहाँ अनेक मन्दिरों का निर्माण हो रहा था इसलिए बाहर से भी अनेक शिल्पी आये हुए थे। अलावा इसके, बेलुगोल में ही कई प्रसिद्ध शिल्पियों के घराने थे। उनमें पल्लवाचार्य, धनपालाचार्य के घराने दो-तीन सदियों से काफी प्रसिद्ध थे। इन घरानों के शिल्पियों ने मन्दिर-निर्माण के कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

पंच गुरुओं के समक्ष विधिवत् नींव-स्थापना का कार्य सम्पन्न हुआ। इसके तुरन्त बाद मन्दिर-निर्माण का भी कार्य शुरू हो गया। नींव-स्थापना एवं महामस्तकाभिषेक समारोह, इन दोनों में समय का अन्तर कम था। दही, दूध, चन्दन आदि से बाहुबली स्वामी का मस्तकाभिषेक हुआ। हजारों भक्त कलशों को ऊपर ले गये। बाहुबली स्वामी के मस्तक तक पहुँचने के लिए मजबूत सीढ़ियों का निर्माण करवाकर, उन पर तख्ते बिछवा दिये गये थे। इस तरह एक सुभद्र मंच का निर्माण करवाया गया था। निष्काम प्रेम-भावना से ऊपर पहुँचाए कलशों से पुजारियों ने अभिषेक करना आरम्भ किया। स्वामी के चरण-कमलों के पास खड़े होकर पट्टमहादेवी आदि ने मस्तकाभिषेक के इस भव्य दृश्य को देखा, तो देखते ही रह गये। क्षण भर में दही, दूध से अभिषिक्त वह विराट मूर्ति संगमरमर की तरह चमकने लगी। स्वामी के चरणों पर से बहने वाले अभिषिक्त दही-दूध आदि पंचामृत को भक्तगण अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ लेने लग गये।

पंचामृत-अभिषेक के बाद फलोदक, गन्धोदक से अभिषेचन हुआ। फिर बाहुबली अपने सहज रूप में एक नवीन शोभा से युक्त दिखाई पड़ने लगे। एक अनिर्वचनीय नवीन तेज उस मूर्ति में उत्पन्न हो गया हो, ऐसा लग रहा था।

बाहुबली का मस्तक फूलों से सज गया। उस दिन भक्तों द्वारा दी हुई किसी वस्तु को भगवान बाहुबली ने अस्वीकार नहीं किया। उन्हें किस अलंकार की अभिलाषा है ?

फूल चढ़ाओ तो वह आपकी खुशी, वह तो आपको अपनी करुणा भरी दृष्टि से देखेंगे, बस इतना ही। वहाँ एकत्र लोगों को ऐसा भान हो रहा था कि वे इन्द्रलोक में हैं, जन्म सार्थक हुआ। ऐसे मस्तकाभिषेक को देखने का पुण्य कितने लोगों को मिला होगा?

"इस भव्य दर्शन का सौभाग्य हमारी पट्टमहादेवी जी की कृपा से हमें प्राप्त हुआ, जीवन पवित्र हुआ।" कहते हुए लोगों ने अपनी सन्तुष्टि के साथ उनके प्रति कृतज्ञता दर्शायी।

माचिकब्बे ने कहा, "मेरे जीवन का यह परम पवित्र दिन है। यह महामस्तकाभिषेक अत्यन्त मनोहर और बहुत स्फूर्तिदायक है। मेरा स्वास्थ्य वैसे तो बहुत अच्छा नहीं है। इसके अलावा मेरी उम्र भी हो गयी है; परन्तु आज मुझे जो स्फूर्ति मिली है, उसने मेरी आयु को दस वर्ष और बढ़ा दिया है।"

मारसिंगय्या ने कहा, "मैं शिव-भक्त हूँ। जैन भक्तों को दर्शन करने की सुविधा मिले, इसलिए मैं दूर से देखता रहा। उस अभिषेक के समय ऐसा लगा मानो हिमवत्पर्वत पर ध्यानमग्न शिवजी ही खड़े हों। यह विन्ध्यगिरि ही कैलाश-सा और यह बेलुगोल तीर्थ ही मानससरोवर-सा लगा। इस अभूतपूर्व दृश्य को मैं कभी नहीं भूल सकता, बेटी!"

"आप दोनों के पवित्र प्रेम का फल हूँ मैं। मेरी इस सेवा ने आप दोनों को मनचाहा सन्तोष दिया, बाहुबली की यही कृपा मेरे लिए पर्याप्त है। यदि रेविमय्या यहाँ होता तो उसे क्षीरसागरशायी महाविष्णु ही शायद दिखाई पड़ते। निर्गुण ईश्वर को सगुण रूप में जब हम देखना चाहें, तब हमारी इच्छा के अनुरूप ही धारण कर वह प्रकट होता है। इसीलिए हम उसे अनन्तरूप कहते हैं। मैं आज अपने को धन्य समझती हूँ। इस शान्तिनाथ मन्दिर की नींव-स्थापना और यह महामस्तकाभिषेक, इन दोनों ने अब मेरे मन में एक कल्पना को जगा दिया है। अप्पाजी, शायद आपको याद होगा, हम पहली बार बलिपुर से राजधानी जाकर वहाँ से लौटते हुए शिवगंगा गये थे और वहाँ वृषभ के उन सींगों के बीच से जो देखा तो मुझे एक ज्योतिर्वलय दिखाई दिया था। आज यहाँ जब महामस्तकाभिषेक देख रही थी तो मुझे बाहुबली दिखे ही नहीं। वह तेजोवलय मात्र दिखाई पड़ा। मेरा मन वास्तव में यहाँ से उड़कर शिवगंगा के वृषभ के सींगों के बीच तल्लीन हो गया था। एक बार फिर वहाँ जाना चाहिए, पिताजी!" शान्तलदेवी ने कहा।

"सन्निधान के युद्ध भूमि से लौटने के बाद, दोनों साथ ही हो आइए, अम्माजी!" मारसिंगय्या ने कहा।

"रेविमय्या को भी साथ ले लेंगे, पिताजी। यहाँ उसका अभाव मुझे बहुत खटक रहा है। वास्तव में उसे जाने की इच्छा नहीं थी। पहले तो उसने इनकार ही कर दिया था, बाद में हमारी भलाई को ध्यान में रखकर इच्छा न होते हुए भी, वह जाने को तैयार

हुआ। रानी लक्ष्मीदेवी के साथ गया है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''तेजो वर्तुल का दर्शन तुम्हारे गुरु बोकिमय्या को भी हुआ था न?''

''उन्हें और मुझे दोनों को ही।''

''तुमने बताया ही नहीं।''

''मुझसे किसी ने पूछा नहीं, मैंने कहा भी नहीं।''

''जैसे गुरु वैसी शिष्या। यदि वे भी जाएँ तो उन्हें भी साथ लेती जाओ।'' मारसिंगय्या ने कहा।

शान्तलदेवी का मन बाल्यकाल के उन दिनों की ओर उड़ चला। एक-एक कर सभी घटनाएँ याद आती गयीं।' अर्हन्! सब ठीक हो गया। परन्तु धर्म के कारण परिवार में दरारें नहीं पड़नी चाहिए थीं। किस पुराने पाप के कारण यह सन्दिग्ध परिस्थिति पैदा हो गयी? मैंने कभी किसी की भी बुराई नहीं चाही। मन में भी ऐसी बात कभी नहीं सोची। अब मुझ पर यह मिथ्यारोप क्यों? पट्टमहादेवी बनने की आकांक्षा से मैंने बल्लाल महाराज को थोड़ा-थोड़ा जहर खिलाकर मार डाला, कहते हैं। अब अन्य रानियों का गर्भ-निरोध करवाया, कहते हैं। अन्यधर्मी रानी के गर्भस्थ शिशु की हत्या कराने में लगी हूँ, कहते हैं। जीवन का मूल्य ही श्रेष्ठ जीवन बिताना है, यही मानकर उसके अनुरूप अपने जीवन को मैंने ढाला। जब मुझ पर ही इस तरह के आरोप लगें तब साधारण लोगों की क्या दशा होगी? ऐसे लोगों से उनकी रक्षा कैसे हो? अन्नमद, अर्थमद, वैभवमद—ये मनुष्य को नीच बना देते हैं। इतना अनुभव पाने के बाद भी जो बात मुझे नहीं सूझी वह पद्मलदेवी को बहुत पहले सूझ गयी, तो यही समझना चाहिए कि मानव को समझने की शक्ति मुझमें कम है। इस तरह के मिथ्यारोप करने से यह बेहतर होता कि वे अपनी अभिलाषा ही बताते और कहते कि हमारी अमुक इच्छा को पूरा कर दें, तब उनकी उस इच्छा को पूरा कर दिया जाता। अर्हन्! मेरे अन्तर का परिचय चाहे किसी को हो न हो, तुम तो जानते हो। इसलिए मेरी तुमसे यही विनती है कि गलत सोचनेवाले चित्त को ठीक कर, उन्हें शान्ति प्रदान करो। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं चाहती।' शान्तलदेवी यही सोचती रहीं, और प्रार्थना करती रहीं।

अपने मुकाम पर पहुँचने के बाद उन्हें उस वृद्ध पुजारीजी की याद आयी। पिछली बार जब आयी थीं तभी मालूम हुआ था कि वह स्वर्गवासी हो चुके हैं। अगर वे होते तो पट्टमहादेवी से जिनस्तुति का गान कराये बिना न रहते? आज गाया नहीं गया। कर्म के प्रति उनकी श्रद्धा, उनका वह स्पष्ट एवं खुला जीवन, वह पवित्र और निर्मल मनोभाव, इन सबने उन्हें निष्काम बनाकर परमधाम के सायुज्य में विलीन कर दिया था। अपने सन्तुष्ट, बाहुबली की पूजा में निरत, बाहुबली की भाँति ही निर्मल जीवन-यापन करनेवाले पवित्रात्मा थे वे। उनके पुत्र में भी उसी तरह का स्वभाव बाहुबली रूपित करें। अनेक प्रसंगों में पूजा करनेवाले के दोष के कारण पवित्र भगवान्

पर भी क्रोध पैदा हो जाता है, मानो पुजारी का सब दोष भगवान् ही का है। वह भगवान् तो सदा निर्विकल्प हो एक-सा ही रहता है। हम ही उस पर न जाने क्या-क्या गुण-दोष लगाते रहते हैं। 'अर्हन्, इस शंकुस्थापना की प्रेरणा द्वेष या असूया के कारण नहीं; अनुकम्पा, दया ही इसकी प्रेरक शक्ति है। सबको सद्बुद्धि और शान्ति प्राप्त हो—इतना यदि हो तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी।' यह सब मन-ही-मन सोचती रहीं।

अगले दिन गंगाचार्य, बोकिमय्या—इन लोगों को बुलवा भेजा और मन्दिर का काम जल्दी समाप्त करवाने का आदेश देकर अपने परिवार के साथ दोरसमुद्र लौट गयीं।

रानी पद्मलदेवी को जो अपूर्व सन्तोष और समाधान मिला था। उसने कहा, "अब मैं निश्चिन्त हूँ। उदार मन से तुमने इस सवतिगन्धवारण मन्दिर का शिलान्यास किया न? दुनिया कहीं भी जाए, मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं । यदि तुम्हें कोई कष्ट हो तो मैं इसे सह नहीं सकती। उस दिन अगर तुम केलिगृह नहीं आतीं तो उस रानी के चपत लग ही जाती शायद। उस नामधारी बुड्ढे को गर्दनी देकर शायद निकाल दिया होता, मुझे इतना गुस्सा आया था। यों झूठा आरोप! ऐसे ही लोगों के कारण जीवन का सारा सुख मिट्टी में मिल जाता है। रामायण के उस प्राचीन काल ही से हमारे ये लोग इस तरह के मिथ्या आरोप लगाने में मशहूर हैं। यह छोटी रानी उस धोबी के वंश में पैदा हुई होगी।"

"सबकी रक्षा करने या दण्ड देने के लिए जब भगवान् मौजूद हैं, तब हम ही क्यों अपने दिमाग को खराब करें। जो करेंगे सो भुगतेंगे।"

"वे ही कहाँ भुगतेंगे। उस धोबी ने कुछ बक दिया, बेचारी सीताजी को वनवास भुगतना पड़ा।"

"वह धोबी की गलती नहीं। वनवास के लिए भेजनेवाले की गलती थी।"

"तो क्या राम ने गलती की थी?"

"और नहीं तो गर्भिणी सीताजी के सुख के लिए ही उसे वन में छोड़ आने को कहा था?" उन्होंने व्यंग्य में कहा।

"उन्होंने राजधर्म का पालन किया।"

"मानव-धर्म उससे भी बड़ा है। यह राजधर्म समय-समय पर बदलता रहता है। और फिर श्रीराम के युग के मूल्य अब कहाँ हैं? वह मूल्य होते तो इन युद्धों की झंझट ही क्यों होती! मानव केवल स्वार्थ से लबालब भरा है। स्वार्थ की बदहजमी का वमन जब तक न हो, तब तक ऐसा ही रहेगा। जाने दीजिए, दूसरों की बातों से हमें क्या मतलब?"

कम-से-कम आपका समाधान हुआ न? सो भी मेरे लिए सन्तोष है।"

"अच्छा, तो अब हमें घर जाने दो। इतने लम्बे समय तक हम अपना घर छोड़कर कभी नहीं रहीं।" पद्मलदेवी ने कहा।

''आप चाहे जहाँ रहें, काम होता रहेगा। जल्दी क्या है?''

''काम हो जाने के बाद बहुत समय तक नहीं रहना चाहिए। इस नींव-स्थापना के ही लिए मैं रुकी रही। फिर तो प्रतिष्ठा-समारम्भ के लिए आऊँगी ही न? शुभ दिन देखकर हमें भेज दो।''

''आपकी इच्छा। उसकी व्यवस्था करेंगे। आप लोग चली जाएँगी तो मुझ अकेली को सूना-सूना लगेगा।''

''तुम्हें फुरसत मिले तब न सूनापन का अनुभव होगा? सोते में कम-से-कम तुम्हारा मन तटस्थ रहता है या नहीं, कहा नहीं जा सकता।''

''निद्रा शरीर के लिए है। हमारा अन्तर्मन सदा जाग्रत रहता है।''

''ये सब बातें हमारी समझ में आतीं ही नहीं। चलो, जाने की अनुमति तो मिल गयी, यही काफी है।''

रानी लक्ष्मीदेवी बह्निपुष्करिणी में बहुत दिन न रहीं। राजमहल-सी सुविधाएँ वहाँ कहाँ? फिर भी रेविमय्या ने जितना बना, उतना इन्तजाम अवश्य किया था।

तिरुवरंगदास ने बेटी को सलाह दी, ''यादवपुरी में ही रहकर, यहीं तुम्हारा पुत्रोत्सव हो तो अच्छा। यह भी तो राजधानियों में से एक है। यहाँ का राजमहल भी भव्य है। साथ ही, सहयोगी जन भी हैं। और फिर, स्वयं आचार्यजी निकट ही रहते हैं।''

''आचार्यजी पास या दूर जहाँ भी रहें, इससे क्या? उन्हें तो इस दुनिया में एकमात्र पट्टमहादेवी ही दिखती हैं।'' लक्ष्मीदेवी ने कहा।

''बेटी! तुम्हें उनके बारे में मालूम नहीं। वास्तव में तुम्हें उनसे बातचीत करने का तरीका मालूम नहीं। उनका स्थान-मान क्या है, कैसी परिस्थिति है, कैसे बुद्धिमानी से काम बना लेना चाहिए—यह सब तुमको मालूम नहीं। सभी बातों को वे सबके सामने कह नहीं सकते। इतना ही नहीं, सार्वजनिकों के सामने पट्टमहादेवी के बारे में व्यावहारिक दृष्टि से उसी तरह बोलना चाहिए, क्योंकि राज्य की सारी जनता में यह विश्वास है कि पट्टमहादेवी देवलोक से उतरी साक्षात् देवी ही हैं। उनके विरुद्ध कुछ कहकर जी नहीं सकते। लोगों को अपना विरोधी बनाकर अपने मत का प्रसार आचार्यजी कर भी कैसे सकते हैं? इसलिए धर्म के संरक्षण के लिए, संन्यासी होते हुए भी, उन्हें बाहर से ऐसा कहना पड़ता है। लाचारी है। यों झूठ बोलने के प्रायश्चित्त के रूप में वे जिस नरसिंह की पूजा करते हैं, उन्हें दो फूल ज्यादा चढ़ा देते हैं। उनसे मेरा अन्तरंग परिचय

हैं। तुम उनकी बातों पर विशेष ध्यान मत दो। जब मैं मौजूद हूँ तब तुम्हें किस बात का डर है?''

''लोग पट्टमहादेवी के लिए तरसते रहते हैं न! इसका क्या कारण है? सन्निधान तक का नाम इतना नहीं लेते!''

''वह सब प्रचार का परिणाम है। यहाँ की राजनीति से जब से उसका सम्पर्क हुआ, तब से अपने व्यक्तित्व के बड़प्पन को प्रमाणित करने के लिए वह बड़ी-बड़ी योजनाएँ संचालित करती आयी है। मुँह से कहती है एकता की बात। लोगों में यह भावना पैदा करती आयी है कि जो भी होता है वह सब उसी की कृपा से। हँसते-हँसते ही बलवानों का बल कम करके उन्हें अपने प्रभाव में लेकर अपने व्यक्तित्व की धाक जमा लेती है।''

''मैं भी ऐसा नहीं कर सकती?''

''क्यों नहीं? परन्तु जल्दबाजी में यह सब नहीं हो सकेगा। जैसा मैं कहूँ वैसा करती जाओ तो सब कुछ साधा जा सकता है।''

''ठीक है पिताजी, ये सब बातें मेरी समझ में कहाँ आती हैं? परन्तु सतर्क रहें। आप थोड़ी जल्दबाजी कर बैठते हैं। आपके कामों के कारण मैं बदनाम न हो जाऊँ। साथ ही सन्निधान को भी मुझसे असन्तोष न हो। फिलहाल उनकी मेरे विषय में अच्छी राय है।''

''क्या यह सब मैं नहीं जानता, बेटी? वास्तव में तुम बड़ी भाग्यवती हो। तुम रानी बनीं, यही इसका प्रमाण है। तो बताओ, अब यादवपुरी जाने की व्यवस्था की जाए?''

रानी ने सम्मति दे दी। उसने रेविमय्या को बुलाकर तत्काल इस निश्चय से सूचित भी कर दिया। रेविमय्या ने वैसी ही व्यवस्था कर दी। लक्ष्मीदेवी यादवपुरी जाकर बस गयी। उसके गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा के लिए प्रतिदिन सुबह शाम नरसिंह भगवान् और लक्ष्मीनारायण मन्दिरों में विशेष पूजा-पाठ आदि की व्यवस्था की गयी। अनन्तर रानी लक्ष्मीदेवी की अनुमति पाकर रेविमय्या दोरसमुद्र के लिए रवाना हो गया। जाने से पहले यादवपुरी के आगे के सभी कार्यकलापों के बारे में समाचार तुरन्त दोरसमुद्र पहुँचाते रहने की व्यवस्था भी उसने कर रखी थी।

दोरसमुद्र जाते हुए रास्ते में यदुगिरि रुककर आचार्यजी के दर्शन किये, उनका आदेश जानकर फिर वहाँ से बेलुगोल पहुँचकर बाहुबली स्वामी के दर्शन किये और शान्तिनाथ मन्दिर के कार्य की प्रगति देखी। बाद में कवि बोकिमय्या शिल्पी गंगाचारी आदि परिचितों से मिलकर वहाँ की नींवस्थापना समारम्भ एवं महामस्तकाभिषेक का वृत्तान्त आदि सब सुना। उस समय कवि बोकिमय्या से जब सुना कि 'पट्टमहादेवीजी ने पता नहीं कितनी बार तुम्हारी याद की, रेविमय्या!' तो उसका दिल भावविह्वल हो उठा, आँखें सजल हो आयीं। उसने अपने मन में सोचा, 'मैं कितना भाग्यवान् हूँ!'

दोरसमुद्र पहुँचने पर रेविमय्या ने सारी बातें पट्टमहादेवी को बतायीं। आचार्यजी के सन्दर्शन और उस वक्त जो बातें हुईं वह सब सुनकर शान्तलदेवी को कुछ सन्तोष हुआ।

कितनी ही सतर्कता बरती जाए तो भी तिरुवरंगदास अपनी बेटी को जो बातें बताता वह दूसरों को जान पाना सम्भव नहीं था। रानी लक्ष्मीदेवी की चहेती नौकरानी मुद्दला पर विश्वास नहीं किया जा सकता था—यह बात रेविमय्या जान गया था। इसलिए अन्य नौकरानियों को पट्टमहादेवीजी का आदेश सुनाकर स्पष्ट बता दिया गया था कि हमेशा सतर्क रहें। उसने कहा था, "रानी लक्ष्मीदेवी के स्वभावतः अच्छी होने पर भी उनके कान भरनेवाले चुगलखोर मौजूद हैं। इसलिए बहुत सतर्क होकर उनकी बातों पर गौर करना और राजधानी को समाचार पहुँचाती रहना। उसने समाचार पहुँचाने के तौर-तरीकों के बारे में भी बता दिया था। इस सारी व्यवस्था का ब्यौरा रेविमय्या ने पट्टमहादेवीजी को दिया और शान्तिनाथ के मन्दिर-निर्माण के कार्य की स्थिति एवं प्रगति का भी विवरण दिया। पट्टमहादेवी ने यह सब सुनकर विचार किया कि सात-आठ महीनों बाद शान्तिनाथ प्रतिष्ठा-महोत्सव का आयोजन किया जा सकता है।

दोरसमुद्र का जीवन किसी तरह की विशेषता के बिना सामान्य ढंग से चल रहा था। हाँ, युगल शिव-मन्दिर का कार्य तेजी पर था।

उधर मसणय्या के साथ युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। जब रसद की आमद रुक गयी तो उसके बिना सेना तथा प्रजाजन के प्राण गँवाने से सीधा हमला करना बेहतर समझकर मसणय्या की सेना पोय्सल-सेना पर टूट पड़ी। नदी के उस पार हमला कर देने से पोय्सल सेना पीठ दिखाकर भाग खड़ी होगी, यही मसणय्या ने सोचा था; किन्तु उसका यह सोचना गलत साबित हुआ। उल्टे नदी पार करने में उसी को काफी कष्ट उठाना पड़ा। फलस्वरूप उसने यह समझकर कि हानुंगल की रक्षा मुख्य है, अपनी सेना को पीछे हटा लिया। पोय्सलों ने वरदा नदी पार कर आलूर में अपना पड़ाव डाला। हानुंगल पर कब्जा करने के लिए उनकी सेना आगे बढ़ गयी। भयंकर युद्ध हुआ। हानुंगल के किले का पतन हो गया। परन्तु मसणय्या ने दूरदृष्टि से काम लिया। पोय्सलों को पहुँचनेवाली सामग्री रोक रखने के इरादे से वह, बंकापुर के मार्ग में जो पोय्सल सेना थी, उसको लगभग समाप्त करके बंकापुर जा पहुँचा।"

हानुंगल के किले की रक्षा हेतु कुछ सेना को नियुक्त करके, बिट्टिदेव ने मसणय्या की सेना का पीछा किया। मसणय्या पहले ही बंकापुर पहुँच चुका था, फिर भी पोय्सल सेना का सामना करके बंकापुर को बचा लेने के लिए आवश्यक तैयारी समयाभाव के कारण नहीं कर सका था। कहा जा सकता है कि यह स्थिति पोय्सलों की विजय के लिए सहायक सिद्ध हुई। बिट्टिदेव ने सोचा था कि अपनी सेना की सभी टुकड़ियों को एक साथ बंकापुर के पास जुटाकर उस पर हमला किया जाए, वही हुआ। बंकापुर

पर हमले की सम्भावना नहीं थी, इसलिए वहाँ का भण्डार जल्दी ही समाप्त हो गया। मसणय्या की सेना काफी बड़ी मानी जाती थी, फिर भी वह पोय्सलों का सामना नहीं कर सकी। यद्यपि उन्होंने साहस के साथ युद्ध कर स्वामिनिष्ठा दिखायी, तो भी भाग्य पोय्सलों के पक्ष में रहा। यह देख मसणय्या छिप गया। इससे विक्रमादित्य की तरफ से उसकी मदद के लिए जो आये थे वह सब हार गये और पोय्सलों की जीत हुई।

बिट्टिदेव तुरन्त राजधानी की तरफ चलना नहीं चाहते थे। वहीं विक्रमादित्य के प्रधान निवास में रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी के साथ कुछ समय तक विश्राम करने का निर्णय किया और विजय का समाचार हरकारों द्वारा राजधानी दोरसमुद्र को भिजवा दिया। इधर पट्टमहादेवी के पास अलग से एक पत्र भेजा। उसमें शान्तिनाथ मन्दिर की नींवस्थापना के बाद प्रेषित समाचार के विषय में अपना सन्तोष व्यक्त किया था और प्रतिष्ठा-समारोह के अवसर पर उपस्थित होने की सूचना दी थी। साथ ही, तब तक बंकापुर ही में रहने से मन को आवश्यक शान्ति प्राप्त होने की बात भी कही थी। और यह भी बताया था कि वहीं रहने से चालुक्य पुनः हमला नहीं कर सकेंगे। शान्तलदेवी को लगा कि सब अच्छा ही हुआ।

उधर युद्धस्थल से और इधर महाराज से विजय-वार्ता के मिलने के दूसरे ही दिन, पनसोगे के द्रोहघरट्ट शिवालय से महाप्रसाद लेकर इन्द्रजी आदि ये पट्टमहादेवीजी से मिले। प्रसाद देते हुए उन्होंने निवेदन किया कि रानी लक्ष्मीदेवी का दर्शन कर प्रसाद देने यादवपुरी होते हुए यहाँ आने की सोचकर, पहले वहाँ गये थे। उधर जाने पर शुभ समाचार मिला कि दो दिन पूर्व ही रानी लक्ष्मीदेवी ने पुत्र को जन्म दिया है। पट्टमहादेवीजी ने यह शुभ समाचार सुनते ही विशेष गौरव के साथ राजमहल की तरफ से इन्द्रजी को पुरस्कृत किया। फिर इधर-उधर की बातें होने लगीं।

"इस शुभ समाचार को महासन्निधान के पास पहुँचा देने का आदेश रानीजी ने दिया है। उन्हें मालूम नहीं कि सन्निधान कहाँ हैं। यहाँ पता लगाकर आगे बढ़ने का विचार है। हम महासन्निधान का सन्दर्शन कहाँ कर सकेंगे?" इन्द्रजी ने पूछा।

"वैसे तो यहीं उनका सन्दर्शन किया जा सकता था, लेकिन हमेशा की तरह महासन्निधान युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद राजधानी नहीं लौट रहे हैं। अभी बंकापुर ही में रहने की जरूरत बताकर, सन्देशवाहक के द्वारा खबर भेजी है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"किस दिन विजय प्राप्त हुई, जान सकते हैं?" इन्द्रजी ने पूछा।

"जरूर। आज पूर्णिमा है न?...तीज के दिन विजय पायी थी।"

"तो उसी दिन सन्निधान का पुत्र जन्मा है। तीज के ही दिन पुत्र-जन्म हुआ। उसी दिन जीत भी मिली। जैसा हमने कहा, यह शुभ-सूचना ही है। आज्ञा हो तो हम..."

''अच्छा पुजारीजी, कहाँ पनसोगे, कहाँ यह दोरसमुद्र और अब कहाँ यह बंकापुर! आपकी राजभक्ति कितनी बड़ी है! स्वयं आप ही को प्रसाद लाना पड़ा, किसी के जरिये भिजवा देते?''

''ऐसा नहीं, पट्टमहादेवीजी। इसका एक कारण है। हमारी तरफ अभी एक जोरदार समाचार फैला है। अब पोय्सल राज्य वैष्णव राज्य हो गया है, जैन दूसरे दर्जे की प्रजा होंगे। अब तक का उनका प्रभाव आगे चलकर मिट्टी में मिल जाना है, इसलिए प्रसाद देने के बहाने हम महासन्निधान के सामने अपने इस दुख-दर्द का निवेदन करेंगे। उनसे हमें आश्वासन मिलना चाहिए। जब तक आप हैं, हमें कोई डर नहीं। लेकिन उसके बाद?''

''महावीर स्वामी के जन्म को कितने वर्ष बीत गये, आपको मालूम है?''

''हजारों वर्ष हो गये होंगे।''

''ऐसा नहीं, निश्चित रूप से ज्ञात कीजिए। एक हजार छह सौ पचास वर्ष हुए हैं। इतनी दीर्घ अवधि में भी जैन धर्म मिट्टी में नहीं मिल सका है, तब फिर आपको डर किस बात का?''

''तो सन्निधान का सन्दर्शन जरूरी नहीं?''

''मैंने यह नहीं कहा। आपको जरूर हो आना चाहिए, सारी बातों का निवेदन भी कर देना चाहिए। यहाँ हमारी आपस की बातचीत के बारे में बताना, शुभ समाचार भी देना। मैं आपकी यात्रा की व्यवस्था करवा रही हूँ। राजमहल की शुभवार्ता ले जाने वाले आपको पैदल जाने की जरूरत नहीं।''

''हम भाग्यवान् हैं।'' इन्द्रजी ने कहा।

व्यवस्था हुई। वे आराम से बंकापुर जा पहुँचे। महाराज बिट्टिदेव को पुत्र-जन्म का शुभ समाचार सुनाया। कहा, ''भाग्य के प्रतीक के रूप में पुत्र का जन्म हुआ है। महासन्निधान की विजय ने राष्ट्र की जनता को खुशी दी है। ऐसे अवसर पर पनसोगे में नवप्रतिष्ठित पार्श्वनाथ भगवान् का महाप्रसाद सन्निधान को समर्पित करते हुए हमें आज अपार हर्ष हो रहा है। पट्टमहादेवीजी ने यह शुभ-समाचार सन्निधान से निवेदन करने के लिए विशेष व्यवस्था कर हम पर अनुग्रह किया है।''

''नामकरण के विषय में कोई समाचार आपको मालूम है?'' बिट्टिदेव ने इन्द्र जी से पूछा।

''रानीजी के पिताजी ने जाकर श्री आचार्यजी को समाचार सुनाया तो उन्होंने इस पर सन्तोष प्रकट किया और कहा, 'यह सब हमारे इष्टदेव नरसिंह भगवान् की कृपा है।' इस कारण से राजकुमार का नाम नरसिंह रखने का आदेश भी दिया है।'' इन्द्रजी ने कहा।

''अच्छा हुआ। हमारी विजय, पुत्र-जन्म और पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिष्ठा, इन

तीनों में कोई एकसूत्रता है, ऐसा लगता है। इसलिए भविष्य में यह जिनालय विजय-पार्श्वनाथ जिनालय के नाम से अभिहित हो। उसी तरह से हमारे पुत्र का भी नाम विजय नरसिंह ही होना चाहिए। लौटते हुए आप यादवपुरी जाकर यह आदेश रानीजी को सुनाकर जाएँ।'' बिट्टिदेव बोले।

''सन्निधान ही पधारकर नामकरणोत्सव को सम्पन्न करें तो उचित होगा।'' इन्द्रजी ने कुछ अपनी सीमा लाँघकर कहा।

''आचार्यजी के आशीर्वाद से बढ़कर कुछ और नहीं। अलावा इसके राजकीय कारणों से हमें यहाँ कुछ समय और रहना है, जिससे राज्य की सुरक्षा हो सके।'' बिट्टिदेव बोले।

पश्चात् महाराज की तरफ से भी इन्द्रजी को पुरस्कृत किया गया।

''एक विशेष बात है। इसे सन्निधान से एकान्त में निवेदन करना चाहूँगा।'' कहकर उन्होंने चारों ओर दृष्टि डाली।

''यहाँ जो लोग हैं वे सब बहरे हैं, यह बात उन्हें मालूम है। बताइए!'' बिट्टिदेव बोले।

इसके बाद मत-मतान्तर सम्बन्धी जो बातें सुनी थीं और पट्टमहादेवी से इस सम्बन्ध में जो बातचीत हुई थी, वह सारा वृत्तान्त इन्द्र ने कह सुनाया।

''ठीक। पट्टमहादेवीजी ने बहुत ठीक जवाब दिया है। आप निश्चिन्त रहें। हमारे राज्य में सब मत-धर्मों के लिए समान स्थान है। कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। आप जिस वाहन में आये, उसी में लौट सकते हैं। सारी व्यवस्था के लिए आदेश भेज दिया जाएगा।'' कहकर महाराज ने उन्हें विदा किया। वे लौट गये। लौटते समय वे दोरसमुद्र की ओर नहीं गये। बेलुगोल से होकर यादवपुरी पहुँचे और महाराज का सन्देश रानीजी को सुनाकर पनसोगे चले गये।

तिरुवरंगदास ने कहा, ''और क्या बेटी, देखा अपने बेटे के प्रभाव को! उसके जन्म के दिन ही महाराज को विजय प्राप्त हुई। फिर उन्होंने खुश होकर बेटे का विजयनरसिंह नाम रखा है। ऐसे में मेरी योजना के अनुसार ही सब हो रहा है, यह प्रमाणित होता जा रहा है न बेटी? यह बात शिलालेख में अमर बना देनी चाहिए। तुम मान जाओ तो उसे उत्कीरित करवा देता हूँ।''

लक्ष्मीदेवी ने पूछा, ''महाराज की स्वीकृति चाहिए न?''

''राज्य में स्थापित सभी शिलालेखों के लिए महाराज की पूर्व-स्वीकृति नहीं रही। कई शिलालेखों का अस्तित्व भी महाराज को मालूम नहीं। इसलिए तुम चिन्ता मत करो। इसके अलावा, तुम्हें यह बात बतानेवाले भी जिन-भक्त हैं, इसलिए भी इसका विशेष महत्त्व है।''

''कुछ भी हो, हमारी किसी भी क्रिया से दूसरों को असन्तोष हो, यह मैं नहीं

चाहती। इसलिए अभी शिलालेख की आवश्यकता नहीं। हाँ, उसमें क्या लिखना होगा सो तैयार कर रखें। बाद में सुविधानुसार उसे उत्कीरित करवाकर कहीं लगवा देंगे।''

''सो भी ठीक है। जैसा तुमने कहा, एक प्रारूप तैयार कर रखूँगा। और बच्चे का नामकरण आचार्यजी के ही द्वारा सम्पन्न हो, इसलिए यदुगिरि जाना होगा।''

''वही कीजिए।''

रानी के अनुसार एक शुभ मुहूर्त में शिल्पिरंगदास, रानी लक्ष्मीदेवी और नवजात शिशु यदुगिरि के लिए रवाना हुए।

खबर पाकर आचार्यजी खुश हुए और बोले, ''एक-एक मन्दिर महाराज की एक-एक विजय की गवाही दे रहा है। तलकाडु में कीर्तिनारायण, तो वेलापुरी में विजयनारायण। विजय के दिन ही पुत्रोत्सव होने के कारण उस राजकुमार का नाम भी विजयनरसिंह ही रखा जाएगा, यह सुनकर हमें बहुत खुशी हुई। नरसिंह हमारे इष्टदेव हैं जिनकी हम प्रतिदिन पूजा करते हैं। इसलिए यह नाम हमें प्रिय है। श्रीवैष्णव होकर महाराज के विजय के ही दिन जन्म लेनेवाला यह राजपुत्र अपने नाम को सार्थक करे। इस नामकरण से हमारी आत्मा बहुत सन्तुष्ट हुई है। शुभ मुहूर्त में यहीं नामकरण कर देंगे।''

तुरन्त नागिदेवण्णा के पास सन्देश भेजा गया। नामकरण के लिए तैयारियाँ होने लगीं। आचार्यजी ने सूचित किया कि पट्टमहादेवीजी के पास निमन्त्रण भेजा जाए तो लक्ष्मीदेवी ने कहा, ''सन्निधान ही नहीं आ सकेंगे। कहला भेजा है कि यथोचित रीति से नामकरण संस्कार करवा दें। जब वे स्वयं उपस्थित नहीं होंगे तो बाकी लोग न भी हों, क्या हर्ज है। पट्टमहादेवी को खबर भेज दें कि कुछ समय इसके लिए निकाल सकेंगी या नहीं। फुरसत पाकर आ जाएँ तो ठीक, नहीं तो अनावश्यक विलम्ब ही होगा।''

''अब तक इस राजमहल में नामकरण उत्सव केवल पारिवारिक संस्कार के ही रूप में मनाया जाता है, इसलिए रानीजी का कहना ठीक है। पास में दण्डनायिका एचियक्का जी तो हैं ही। वे सन्निधान की समधिन भी हैं। उन्हीं को बुलवा लेंगे।'' नागिदेवण्णा बोले।

व्यवस्था के अनुसार राजकुमार का नामकरण शुभकृत संवत्सर में ही सम्पन्न हुआ। आचार्यजी का आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। नामकरण समारम्भ का मांगलिक कार्य बुजुर्ग की हैसियत से एचियक्का ने किया।

रानी लक्ष्मीदेवी सचमुच खुश थी। शिशु यदि हाथ-पैर हिलाये तो समझती कि पिता ही की तरह महावीर बनेगा, इसीलिए तो हाथ-पैर फुर्ती से हिला रहा है। सच है, माताओं की सारी अभिलाषाएँ सन्तान के भविष्य पर ही अवलम्बित रहती हैं।

नामकरण के एक-दो दिन बाद, एक दिन आराम से बैठे इधर-उधर की बातें जब हो रही थीं तो आचार्यजी मन्दिर-निर्माण के कार्य का निरीक्षण करते हुए उस

शहजादी के साथ उधर पहुँचे और नागिदेवण्णा से बोले, "शिल्पी कहते हैं कि मन्दिर का कार्य एक महीने में पूरा कर देंगे। चेलुवनारायण की प्राण-प्रतिष्ठा का निमन्त्रण महाराज के पास जाना चाहिए न?"

"जैसी आपकी आज्ञा।" नागिदेवण्णा ने कहा।

शहजादी ने, जो साथ ही थी, पूछा, "पट्टमहादेवीजी को भी निमन्त्रण जाएगा न?"

"उनकी अनुपस्थिति में यह प्रतिष्ठा-समारम्भ कैसे हो सकेगा, राजकुमारी जी?" आचार्यजी तुरन्त बोले।

"सन्निधान की उपस्थिति ही सबकी उपस्थिति नहीं मानी जा सकेगी?" रानी लक्ष्मीदेवी ने अपनी तरफ से जोड़ा।

"महाराज की उपस्थिति में जो काम होगा वह और है; पट्टमहादेवीजी के रहते जो काम होगा सो और है।" आचार्यजी ने कहा।

"मैं रानी हूँ। वह काम मैं नहीं कर सकूँगी?" लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

"कोई किसी कार्य के लिए उपयुक्त होता है और कोई किसी कार्य के लिए। इसके यह माने नहीं कि तुमसे नहीं होगा। हम जब तक इस राज्य में हैं तब तक हमारे सभी कार्यों में उन दोनों जनों की उपस्थिति रहनी ही चाहिए, ऐसी हमारी इच्छा है।" आचार्यजी बोले।

'बात वहीं रुक गयी। कुछ क्षणों तक वहाँ मौन छाया रहा। बाद में आचार्यजी ने कहा, "नागिदेवण्णाजी, यहाँ इस मूर्ति-प्रतिष्ठा का समारम्भ समाप्त होते ही हम अपनी जन्मभूमि की तरफ रवाना हो जाना चाहते हैं। शायद इस प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर राज-दम्पतियों के जो दर्शन होंगे वही अन्तिम दर्शन हो सकते हैं, इसलिए किसी भी तरह से उन दोनों के यहाँ पधारने की व्यवस्था कराएँ।"

"शहजादी तब आचार्यजी के साथ ही जाएँगी?" लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

"मैं आयी थी रामप्रिय के पीछे, आचार्यजी के पीछे नहीं। इसलिए मैं कहीं नहीं जाऊँगी। यही मेरी स्थायी जगह है।" शहजादी ने कहा।

"आचार्यजी के साथ होतीं तो किसी बात की कमी नहीं रहती। साथ ही उनकी संरक्षकता भी बनी रहती। यहाँ अन्य धर्मियों के बीच आपका अकेली रहना..."

"उचित नहीं? शायद आप सोचती होंगी कि अकेली रहने पर कई समस्याएँ मेरे लिए हो सकती हैं। यही न?" शहजादी ने सवाल किया।

"स्वाभाविक ही है। आप इस्लाम-धर्मी हैं। इस धर्म का यहाँ कोई नहीं। इसलिए..."

"क्यों लक्ष्मी,, तुम्हें इस तरह का डर क्यों? उनके यहाँ रहने से व्यक्तिगत रूप से तुम्हें कोई बाधा है?" आचार्यजी ने पूछा।

तिरुवरंगदास को, जो मौन बैठा था, बात कुछ चुभ गयी। वह बोला, ''न-न, उसे क्या तकलीफ? वास्तव में शहजादी को कोई तकलीफ हो तो रानी ही उसे दूर करेंगी न?''

''देखिए, मेरी सुख-सुविधा का ध्यान मेरा रामप्रिय रखेगा। वह तो मेरे साथ है। मैं जन्म से शहजादी हूँ। माँगना मैं नहीं जानती, केवल देना ही जानती हूँ। इसलिए किसी को मेरे बारे में चिन्ता करने की जरूरत नहीं। आचार्य से भी मैंने यही कहा है। आपका जन्म राजघराने में नहीं हुआ। राजा से विवाह कर यह पद पाया है। पद का ऐसा मोह अच्छा नहीं। वैसे इससे मेरा कोई सरोकार नहीं। यों ही कह दिया। इसके लिए रानीजी और आचार्यजी दोनों मुझे माफ करें।'' शहजादी ने कहा।

'इस यवनी का अहंकार देखा? अच्छा, आचार्यजी के जाने के बाद दिखा दूँगी कि यह रानी क्या कर सकती है।' रानी लक्ष्मीदेवी ने क्रुद्ध होकर मन-ही-मन सोचा, मगर कुछ कहा नहीं। चुप रहना अच्छा नहीं समझकर इतना ही बोली, ''मुझे भी कोई मोह नहीं। आचार्यजी ने मेरे पिता से कहा कि तुम्हारी बेटी रानी क्यों न बने! बुजुर्गों की इच्छा को पूरा करने के इरादे से मैं रानी बनी। मैंने कभी मन में या स्वप्न में भी नहीं सोचा था।''

रानी की बात सुनकर आचार्यजी को कुछ आश्चर्य तो हुआ। फिर भी कुछ बोले नहीं। तिरुवरंगदास की ओर एक तरह की दृष्टि डाली। आचार्यजी की इस दृष्टि का भाव वह समझ गया। उसका सिर झुक गया।

''यह सब दैवेच्छा । वह परमात्मा किस-किस के मन में कैसी-कैसी प्रेरणा देता है, पता नहीं। सब-कुछ उसी के अनुसार होता है। मैंने तो शहजादी को बुलाया नहीं। भगवान् की प्रेरणा से वह यहाँ आयीं। पर उनके माता-पिता और बन्धु-बान्धव इसका कारण मुझको ही मानकर मेरे ऊपर आरोप लगा भी सकते हैं। मैं किसी भी तरह के किसी के आक्षेप से परेशान नहीं होता। हमारे सब काम भगवान् की प्रेरणा से होते हैं—इसे मानने पर उनकी आत्मा ही उनके कर्मों की साक्षी होगी। आगे की बात पर यों ही कभी कुछ सोचना नहीं चाहिए। सब पहले से नियोजित है। केवल हमें भगवान् पर विश्वास रखना चाहिए। बात कुछ विषयान्तर-सी हो गयी। अच्छा नागिदेवण्णा जी, हमारी इस इच्छा को महाराज और पट्टमहादेवी तक पहुँचाकर उनसे अवश्य पधारने का अनुरोध करें। रानीजी राजधानी जाएँगी या यादवपुरी में ही रहेंगी?'' आचार्यजी ने सवाल किया।

''सन्निधान राजधानी नहीं आ रहे हैं। फिर वहाँ मेरा क्या काम? मैं यहीं यादवपुरी में रहूँगी।'' रानी ने कहा।

''अच्छा, यादवपुरी कब जाएँगी?'' आचार्यजी ने फिर सवाल किया।

''यहाँ जिस काम से आये थे वह आचार्यजी के आशीर्वाद से पूरा हो गया।

राजकुमार के भविष्य के सम्बन्ध में अब कोई चिन्ता नहीं। अच्छा मुहूर्त देखकर चल देंगे।'' तिरुवरंगदास ने कहा।

रानी लक्ष्मीदेवी यादवपुरी चली गयी। उसके जाने के पहले तिरुवरंगदास आचार्यजी का सन्दर्शन करने अकेला गया। उसने स्वयं ही कहा, ''आचार्यजी, मुझे क्षमा करें। लक्ष्मी ने आचार्यजी के समक्ष जिस तरह बात की उसका मैं ही कारण हूँ। मैंने उससे कहा था कि यह विवाह आचार्यजी की अभिलाषा का फल है।'' और हाथ जोड़कर उसने आचार्यजी को साष्टांग प्रणाम किया।

''दास! हम संन्यासी हैं। हमारे मन में ऐसी अभिलाषा उत्पन्न होती ही नहीं, कम-से-कम तुमको इतना तो समझना चाहिए था। जो लोग यह सुनेंगे वे हमारे प्रति किस तरह की राय बनाएँगे? लक्ष्मी एक भोली-भाली नारी है। उसे अपने पद के अनुरूप अभी व्यवहार करना भी नहीं आता। तुम वृद्ध हो, कम-से-कम उसे समझा-बुझाकर राजमहल की शान्ति भंग होने न दोगे, यही हमारा विश्वास था। अपने इन कामों से तुम हमारे शिष्य कहलाने के योग्य नहीं हो। स्नेह, प्रेम आदि में जहर घोलकर फूट डालना भर जानते हो! तुम्हारे ये काम हमारे लिए बहुत दुःख का कारण बने हैं। तुम्हें शिष्य कहने में अब हमको लज्जा आती है। मुझसे तुम झूठ बोल सकते हो, दुनिया की आँखों में भी धूल झोंक सकते हो, पर कल परमात्मा के सामने क्या जवाब दोगे? अब तुम्हारी सारी गलतियों के लिए हमें जिम्मेदार होना होगा, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। हम पर अपार प्रेम रखने वाले महाराज और पट्टमहादेवीजी को तुम्हारी इन कार्रवाइयों से जो दुःख होगा, वह सब हम पर उतरेगा। हमें लग रहा है कि इस विवाह की स्वीकृति देकर हमने बहुत ही भयंकर गलती की। कम-से-कम अब आगे विवेक से काम लेना सीख लो तो अच्छा। तुम्हारी प्रवृत्ति कुत्ते की पूँछ की-सी ही बनी रही तो परिणाम क्या होगा, सो कहा नहीं जा सकता। हमने अभी तक महाराज से या पट्टमहादेवीजी से तुम्हारे आचरणों के बारे में गम्भीर चर्चा नहीं की है। अब जब आएँगे तब सब बातें साफ-साफ बता देने का हमने निश्चय किया है। कोई भी मुझे रोक नहीं सकेगा। तुम न भी आते तो तुमको बुलवाकर यह सब-कुछ बता देना चाहता था। अब हम इससे ज्यादा कुछ नहीं कहेंगे। भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि दे। तुम जा सकते हो।''

तिरुवरंगदास चुपचाप चला गया। उसका चेहरा उतर गया था। आश्रम से बाहर आते ही चेहरे का वह भाव बदल गया।

आचार्यजी के आदेश के अनुसार सचिव सुरिगेय नागिदेवण्णा ने पट्टमहादेवीजी के नाम विस्तार से एक पत्र लिखा। उसमें लिखा, ''महासन्निधान से यह निवेदन करें कि वे इस प्रतिष्ठा-समारम्भ में अवश्य पधारें। इस आशय का पत्र सन्निधान के पास भिजवाएँ। उन्हें यह भी बताएँ कि इस प्रतिष्ठा-समारम्भ के समाप्त होते ही श्री आचार्यजी

अपने जन्मस्थान की तरफ रवाना होने की तैयारी में हैं। निवेदन करें कि महासन्निधान एवं पट्टमहादेवीजी, दोनों को एक साथ देखने के लिए वह आतुर हैं। शुभकृत संवत्सर में इस कार्य को सम्पन्न कर देने की आचार्यजी की इच्छा है। यदि कोई असुविधा न हो तो शुभकृत चैत्र सुदी में यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है, आचार्यजी की ऐसी सलाह है।''

नागिदेवण्णा से आचार्यजी का यह सन्देश मिलने पर पट्टमहादेवीजी के मन में एक विचार आया। महाराज के यदुगिरि जाने से पहले कटवप्र पर निर्मित हो रहे जिनालय में शान्तिदूत स्वामी की प्रतिष्ठा क्यों न करा ली जाए? मन्दिर निर्माण का कार्य पूरा होने को था, इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवजी के पास जाकर शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा के लिए मुहूर्त निश्चित करवा लें। विचार-विनिमय के बाद शुभकृत संवत्सर, प्रतिपदा, बृहस्पतिवार के दिन प्रतिष्ठा के लिए अच्छा है, यह निर्णय हुआ। उसके अनुसार तत्सम्बन्धी तैयारियाँ करने की योजना बनायी गयी। इसी निर्णय के अनुसार महाराज के पास समाचार भी भेज दिया गया। अब की बार स्वयं रेविमय्या ही सन्निधान के पास समाचार देकर आये, यह भी निश्चय किया गया; क्योंकि उसे राजमहल की सारी बातों की जानकारी थी। विषय के निरूपण में उचित-अनुचित का विचार करने में भी वह सक्षम है।

प्रतिष्ठा-महोत्सव के लिए रानियाँ—पद्मलदेवी, चामलदेवी और बोप्पिदेवी—के पास आमन्त्रण भेजा गया। आमन्त्रण मिलते ही वे सब आ गयीं। पद्मलदेवी के उत्साह की सीमा नहीं थी। मन्दिर का निर्माण-कार्य शीघ्र ही सम्पूर्ण हो गया था। उसकी भावना थी कि पट्टमहादेवी की सुख-शान्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है अतः उसी की सलाह पर इसका मन्दिर निर्माण किया गया था। यह भी एक बात थी कि अपने जीवन में उसका यह एक तरह से प्रायश्चित्त भी हो गया। इससे भी उसे सन्तोष था। उसकी बहनें सदा की तरह उसकी अनुवर्तिनी बनी रहीं।

इस प्रतिष्ठा के उत्सव में उपस्थित होने की सूचना पट्टमहादेवी ने रानी लक्ष्मीदेवी के पास भी भेजी थी। सूचना ले जाने वाला, सीधा कोई जवाब न मिलने के कारण लौट आया। नागिदेवण्णाजी के पास भी सूचना भेजी गयी थी। उन्होंने पत्रवाहकों के साथ यदुगिरि जाकर स्वयं ही पट्टमहादेवीजी के सन्देश को आचार्यजी के समक्ष प्रस्तुत कर, उनसे बेलुगोल पधारने के बारे में निवेदन किया।

आचार्यजी ने कहा, ''इस प्रतिष्ठा के चार ही दिन बाद यहाँ मुहूर्त ठहराया है। इतने में वहाँ हो आना कैसे सम्भव हो सकेगा, यह उन्हें सूचित करें और आप भी इस समय वहाँ न जाकर, यहाँ की व्यवस्था पर ध्यान दें तो हमारे लिए अधिक सुविधा रहेगी।''

''सो तो ठीक है। फिर भी मैं इस तरह का निर्णय करने में असमर्थ हूँ।

पट्टमहादेवीजी के आदेश का पालन करना मेरा सेवा-धर्म है। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं कर सकता। फिर भी मैं आचार्यजी का आदेश पट्टमहादेवी के समक्ष निवेदन करूँगा। यदि वे ऐसा करने की स्वीकृति दे दें तो खुशी से यहाँ के काम में लग जाऊँगा।" नागिदेवण्णा ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी।

"सो भी ठीक है। वही कीजिए।" आचार्यजी ने कहा। फिर दो-चार क्षण मौन रहकर पूछा, "रानी लक्ष्मीदेवी जाएँगी न?"

नागिदेवण्णा ने कहा, "मेरे पास कोई आदेश नहीं आया यादवपुरी के राजमहल से। आजकल वे मुझसे किसी भी बारे में पूछती-कहती नहीं। राज-काज के सिलसिले में उनसे मिलने का कोई अवसर भी नहीं आया। समाचार लाने वाले से शायद कुछ कहा हो। वह मेरे साथ यहाँ आया है, बुलवाऊँ?"

"कोई जरूरत नहीं। वह उनसे सम्बद्ध बात है। यों ही प्रसंगवश पूछ लिया।" आचार्यजी ने बात वहीं समाप्त कर दी।

आचार्यजी की अनुमति पाकर नागिदेवण्णा ने दोरसमुद्र जाकर लौटने की खबर यादवपुरी भेज दी और स्वयं राजधानी की ओर पत्रवाहकों के साथ रवाना हुए।

पट्टमहादेवीजी से मिले। यादवपुरी की सारी बातें भी बतायीं। उन्होंने कोई आक्षेप नहीं किया। उनकी बातचीत से इतना स्पष्ट हो गया कि राजकार्य से सम्बन्धित लोगों के साथ रानी लक्ष्मीदेवी किसी तरह का सम्पर्क नहीं रखती हैं। बाकी खबरें शान्तलदेवी को बराबर मिल ही रही थीं, इसलिए उन्होंने पूछताछ नहीं की।

अन्त में पट्टमहादेवी ने आदेश दिया, "आचार्यजी का कहना गलत नहीं है। बेलुगोल आने में जो असुविधा की बात कही, वह भी ठीक है। इसलिए आप वहीं रहें और वहाँ के सभी कार्यों में अपना पूरा सहयोग दें। यदुगिरि एक छोटा गाँव है। इस प्रतिष्ठा के समारम्भ में हजारों लोगों के आने की सम्भावना भी है। जब यह समाचार लोगों तक पहुँच जाएगा कि महाराज पधार रहे हैं, तब इर्द-गिर्द के चारों ओर से लोग वहाँ जमा हो जाएँगे। इसलिए आपका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। यदि आवश्यकता हो तो यहाँ से और दो-चार अधिकारियों को तथा और अन्य लोगों को भी साथ लेते जाइए। आचार्यजी के लोक-सेवा के कार्य में राजमहल की पूरी सहायता होनी चाहिए, यह हमारा धर्म है।"

उधर यदुगिरि में, इधर चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध कटवप्र, बेलुगोल में प्रतिष्ठा के समारम्भ की तैयारियाँ जोरों से होने लगीं। पट्टमहादेवी ने महाराज को सूचना दी थी कि वह स्वयं एक पखवाड़े तक बेलुगोल में रहेंगी। इसलिए महाराज रानियों—बम्मलदेवी और राजलदेवी—के साथ सीधे बेलुगोल ही पधारे। वहीं उनका वीरोचित स्वागत भी किया गया।

शालि शक संवत् 1045 शुभकृत संवत्सर आरम्भ के गुरुवार के दिन शुभ-मुहूर्त

में शान्तिनाथ स्वामी की नूतन मूर्ति की स्थापना सम्पन्न हुई। पट्टमहादेवी जी के गुरुवर्यों ने, और कुँवर बिट्टियण्णा के गुरुवर्यों ने उपस्थित रहकर प्रतिष्ठा समारम्भ सम्पन्न किया। मन्दिर के वास्तुशिल्प में जकणाचार्य का अनुकरण नहीं था। वह एक स्वतन्त्र कल्पनापूर्ण प्राचीन वास्तु-सम्प्रदाय की शैली में बना था। पट्टमहादेवीजी की इच्छा स्थायी रूप से पूर्ण होती रहे, इसके लिए उस मन्दिर की आय भी शाश्वत रहनी चाहिए, इस वजह से पट्टमहादेवी के गुरुवर्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के पादों का प्रक्षालन एवं पूजा समाप्त कर महाराज बिट्टिदेव ने उन्हें इस गन्धवारण बसदि (मन्दिर) के लिए आधारभूत कल्कणि-प्रदेश के मोट्टेनहिले नामक गाँव को सर्वमान्य के रूप में दान कर दिया। गन्धवारण बसदि की नित्य सेवा के निमित्त महाराज की अनुमति प्राप्त कर गंगसमुद्र के पास की पचास एकड़ उपजाऊ जमीन दान के रूप में पट्टमहादेवी ने गुरुपद पखार कर दे दी।

प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवजी के शिष्य महेन्द्रकीर्ति ने, इसी अवसर पर, तीन सौ तेरह भाँसे की भेंटराशि अपनी सेवा के रूप में शान्तलदेवी द्वारा निर्मित इस मन्दिर के लिए दान में दीं।

सारे कार्यकलाप समाप्त होने पर, प्रसाद स्वीकार करने के बाद, प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने कहा, "पोय्सल प्रभु! प्रिय शिष्या पट्टमहादेवी! इस सेवा में उपस्थित रहकर इस शुभ कार्य में आशीर्वचन कहने के उद्देश्य से हमने इसमें भाग लेने का वचन दिया था, आये भी। अब महाराज और पट्टमहादेवीजी दोनों ने हमें विशेष दायित्व के भार से लाद दिया है। प्रभु का आदेश है, हम इनकार कर नहीं सकते। प्रिय शिष्या का स्नेह है, जिसे टाल नहीं सकते, इसलिए हम स्वीकार करते हैं। दोनों में से कोई पहले हमें बता देते तो अच्छा होता। हम संन्यासी हैं। रानी पद्मलदेवीजी से हमने सुना कि इस बसदि का नाम 'सर्वतिगन्धवारण बसदि' होगा। यह परिवार से सम्बन्धित लौकिक व्यवहार की बात है। इसमें हमारा सम्मिलित होना या इसमें योग देना सम्भव नहीं। इसलिए यह दान बसदि के नाम पर हमें दिये जाने पर भी, यह सब इस बसदि के ही स्वत्व हैं, हमें यह कहना पड़ेगा। मन्दिर के कार्य को सदा चलाते रहना होगा। इसके लिए आय का भी कुछ-न-कुछ मार्ग होना चाहिए। हमें जो दान दिया है उससे जो भी अर्जन होगा, वह सब इस शान्तिनाथ मन्दिर के कार्य-कलापों पर खर्च किया जाए, यही हमारा आग्रह है। हमारे इस आग्रह के अनुसार स्वयं महेन्द्रकीर्तिजी इसका निर्वहण करते रहेंगे। अपने नाम को सार्थक करनेवाली हमारी पट्टमहादेवीजी ने इस शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिर को यहाँ प्रतिष्ठित कराया, यह बहुत शुभकारक है। महावीर स्वामी उन्हें और सारे राजपरिवार को आयु-आरोग्य और सुख-सम्पदा दें, यही हमारी उनसे प्रार्थना है। हमारी इस प्रार्थना को हमारे बाहुबली स्वामी अभयहस्त प्रदान कर स्वीकार करेंगे।"

पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने कहा, "परम पूज्य गुरुवर्य के चरणारविन्दों में मेरी एक विनती है। मेरी ज्येष्ठा और मातृसमान रानी पद्मलदेवीजी का मुझ पर अपार प्रेम है। निजी अनुभवों के फलस्वरूप उन्हें अपने मन में एक तरह की शंका उत्पन्न हो गयी है। उन्हें भीतर-ही-भीतर यह डर बैठ गया है कि मुझे भी उन्हीं की तरह न भुगतना पड़े, उन्होंने मुझे सतर्क भी किया। उनके मन में उस तरह की शंका और भय के उत्पन्न होने का कारण भी है। धर्म की बात को लेकर लोगों को गलत रास्ते पर ले जाने की जो कुछ कोशिशें हुईं सो गुरु जी की स्मृति में होंगी ही। ये सब निम्नस्तरीय व्यवहार मानव से प्रमादवश हो जाते हैं। अनेक अवसरों पर मनुष्य अज्ञान के कारण गलत मार्ग पर चलने लगता है। ऐसे लोगों को सही रास्ते पर लाना ज्ञानियों का काम है। इस मन्दिर के निर्माण का संकल्प जब किया था तब से अब तक शान्तिनाथ स्वामी से मेरी यही प्रार्थना रही है कि सबको सुबुद्धि दें और शान्ति प्रदान करें। हमारा जैनधर्म कहता है कि शान्ति से विश्व को जीत सकते हैं। इस धर्म का मूल सिद्धान्त ही अहिंसा है। उसमें कहीं भी प्रतिकार की भावना नहीं है। प्रेम से सौहार्द बढ़ाना ही हमारा मार्ग है। पोय्सल पट्टमहादेवी के लिए यह 'सवतिगन्धवारण' उपाधि परम्परा से आयी है। परम्परागत होने के कारण मेरे नाम के पीछे भी यह लगी हुई है। शान्तिनाथ भगवान् की इस प्रतिष्ठा में मेरी कोई लौकिक दृष्टि ही नहीं रही। एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि ही रही है; क्योंकि इस 'सवतिगन्धवारण' शब्द में ही अहंकार की ध्वनि है। अहंकार-रहित सर्वसमतात्मक शान्ति ही मेरा लक्ष्य है। इस वजह से, मन-वचन-काय से परम पावन, आपके ही द्वारा यहाँ शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिष्ठा हो, यही चाहती थी। इसलिए मेरी इतनी ही प्रार्थना है। आपके पद-गौरव पर आक्षेप हो, ऐसा कोई कार्य यह राजमहल आपसे करवाना नहीं चाहता है। बाहुबली स्वामी त्याग की साकार भव्यमूर्ति हैं। उन्हीं की तरह, आपने सम्पूर्ण दान शान्तिनाथ स्वामी को समर्पित करने का संकल्प किया है। पाद पखारकर यह आपके चरणों में समर्पित किया गया है। उसका विनियोग जैसा चाहें करने के लिए आप स्वतन्त्र हैं। राजमहल आपकी स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण नहीं लगाता। इस अवसर पर आपके प्रधान शिष्य एवं हम सबके गुरुवर्य महेन्द्रकीर्तिजी ने तीन सौ तेरह काँसे की पताकाओं का दान किया है। ये सांकेतिक शान्तिपताकाएँ सर्वदा फहराती रहें, यही उनका उद्देश्य है, ऐसा मैं मानती हूँ। मेरे इस संकल्प पर उनके आशीर्वाद की ये प्रतीक हैं। यह राजमहल उनकी इस उदारता के लिए अत्यन्त कृतज्ञ है।" यह कह शान्तलदेवी ने उन गुरु शिष्यों को प्रणाम किया।

"पट्टमहादेवी के मनोभाव से हम पहले से ही परिचित हैं। इसीलिए उनके कहते ही किसी तरह की चर्चा के बिना हमने स्वीकार कर लिया। छोटी रानीजी अपने पुत्र के साथ यहाँ उपस्थित होतीं तो सारा राजपरिवार इस समारम्भ में सम्मिलित हुआ-सा होता। वे कुशल तो हैं?" प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवजी ने पूछा।

'कौन-सा मुँह लेकर वह यहाँ आएँगी?' पद्मलदेवी ने मन-ही-मन कहा।

पट्टमहादेवी ने कहा, ''यादवपुरी से सचिव नागिदवेण्णाजी स्वयं इस अन्तिम घड़ी में यहाँ आये हैं। वास्तव में उन्हें चार दिन बाद ही यदुगिरि में सम्पन्न होनेवाले एक और प्रतिष्ठा-समारम्भ के कार्य में आचार्यजी की सहायता करने के लिए वहीं रहना चाहिए था। सुना कि रानीजी आने की तैयारी में थीं। आकस्मिक अस्वस्थता के कारण वे यात्रा करने की स्थिति में नहीं रहीं। हम अन्यथा न समझें, इसलिए सचिव के द्वारा ही समाचार भेजा है। हम स्वयं ही अब दो दिन बाद वहाँ जा रहे हैं न? हमारे साथ वैद्यजी जगदल सोमनाथ पण्डित भी होंगे।''

''ऐसी दशा में और किया ही क्या जा सकता है?'' प्रभाचन्द्रजी ने कहा।

यदुगिरि जाने की तैयारियाँ की जाने लगीं। राजपरिवार वहाँ से तीज के दिन ही रवाना हुआ और उसी दिन रात को पहुँच गया। यदुगिरि में विशेष रूप से श्रीवैष्णवों की भीड़ भर गयी थी। ऐसा नहीं कि अन्य मत के नहीं थे। वे भी आये थे, पर श्रीवैष्णवों की संख्या से बहुत कम। पनसोगे के इन्द्रजी भी उपस्थित थे। यह कहने की जरूरत नहीं कि लक्ष्मीदेवी गोद में बच्चे को लेकर उपस्थित रही। तिरुवरंगदास तो था ही। उसकी शान-शौकत का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता। जहाँ देखो वहाँ वही दिखता था। वह समझ रहा था कि सन्निधि में होने इस सारे आयोजन का सूत्रधार वही है; यों ऐंठकर चल रहा था वह।

लक्ष्मीदेवी भी चुपचाप बैठी न रही। राजकुमार को गोद में लेकर इधर-उधर फुदकती फिरती रही। वह अपने विश्वस्त लोगों से कहती भी रही कि, ''यही भावी पोय्सल महाराज हैं।'' इस तरह की बात हवा में फैलती जाएगी, इस बात का भी खयाल रानी लक्ष्मीदेवी को नहीं रहा। हवा का काम ही वार्तावहन है, यह ज्ञान भी उसे नहीं था। ऐसी कानाफूसी महाराज और पट्टमहादेवी के कानों तक भी पहुँच जाएगी, इस बात की जानकारी भी उसे नहीं थी। तिरुवरंगदास की सीख से उस पर मस्ती चढ़ गयी थी। साथ ही, उसे यह भ्रान्त अभिमान भी हो गया था कि अपने इस पुत्र के ही कारण महाराज को विजय प्राप्त हुई है।

फिर भी महाराज ने या पट्टमहादेवी ने इस अफवाह को कोई महत्त्व नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन दोनों ने रानी लक्ष्मीदेवी के प्रति सहज प्रेम भाव ही दिखाया।

चेलुवनारायण की प्रतिष्ठा शास्त्रीय विधि से श्रीआचार्य जी के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुई। एम्बार की मदद से पहले दिन की षोडशोपचार पूजा आचार्यजी ने स्वयं सम्पन्न की। महाराज बिट्टिदेव और पट्टमहादेवी गर्भगृह के द्वार के पास उत्तर की ओर मुँह करके बैठे हुए थे। उनके सामने दक्षिण की ओर मुँह करके शहजादी बैठी हुई थी। उसकी पंचलौह की अत्यन्त प्यारी रामप्रिय की मूर्ति गर्भगृह में उपयुक्त स्थान पर विराज रही थी।

रानियाँ बम्मलदेवी, राजलदेवी, लक्ष्मीदेवी तथा पट्टमहादेवी के माता-पिता रानी पद्मलदेवी, चामलदेवी, बोप्पिदेवी, इन सबके लिए सामने थोड़ी दूर पर बैठने की व्यवस्था की गयी थी। गर्भगृह के अन्दर वैदिक सोच्चारण मन्त्रपाठ कर रहे थे।

सभी पूजा-विधियाँ समाप्त हुईं और आरती उतारने का समय आया। स्वयं आचार्यजी आरती उतारने के लिए उठ खड़े हुए। उनके उठते ही अन्य सभी लोग भी उठ खड़े हुए। एम्बार ने आरती के लिए बाती और कर्पूर जलाकर उसे आचार्यजी के हाथ में दिया। घण्टे, नगाड़े, मंगलवाद्य आदि बज उठे। इस नाद से सारा प्रदेश गूँज गया। नाद के स्पन्दन से उपस्थित सभी भक्त पुलकित हो उठे। वह एक स्वर्गीय दृश्य था।

श्री आचार्यजी के ही करकमलों से प्रतिष्ठित चेलुवनारायण का हँसता चेहरा आरती के प्रकाश में प्रभावलय से युक्त हो चमक उठा। इन सबके बीच कहीं से आवाज आयी—"बीबी!" आचार्यजी ने वह आवाज सुनी।

शहजादी ने गर्भगृह की ओर हाथ बढ़ाया। उसकी आँखों की ज्योति अपने 'रामप्रिय' में तल्लीन हो गयी थी। उसने एक बार कहा, "ओफ! मेरा रामप्रिय कितना सुन्दर!" उसने हाथ जोड़ लिये।

सभी ने एक बार शहजादी की ओर देखा, फिर चेलुवनारायण की ओर दृष्टि डाली। उस नाद से तरंगित वातावरण में आरती की ज्योति एकबारगी विशेष प्रकाशमय हो गयी। यह प्रकाश आँखों को चकाचौंध कर गया था। सबकी आँखें एक बार एक क्षण के लिए मुँद गयी थीं। प्रकाश फिर सामान्य स्थिति पर आ गया था।

एम्बार ने वैदिक मण्डली को आरती दिखाकर, राजदम्पती को देकर, शहजादी की ओर देखा। उसके मुँह से एक बार निकला, "हाय!"

"क्या हुआ एम्बार?" आचार्यजी ने पूछा।

"शहजादी! यहीं खड़ी थीं, नहीं रहीं।" एम्बार ने कहा।

"उनकी आत्मा रामप्रिय में एकाकार हो गयी। उनका पार्थिव शरीर जहाँ पड़ा है वहीं उनकी समाधि बनेगी। तुम चिन्ता मत करो। काम यथावत् चलता रहे।" आचार्यजी ने कहा। आरती, चरणामृत और प्रसाद-वितरण आदि सब यथाविधि समाप्त हो गये। इसके बाद आचार्यजी ने कहा, "महाराज और पट्टमहादेवी जी, आप लोग आइए," कहते हुए गर्भगृह से बाहर आये। राजदम्पती ने उनका अनुसरण किया। लोगों की भीड़ उनके साथ घुस न जाए, इसलिए नागिदेवण्णा ने रक्षक-दल द्वारा भीड़ को रोकने की व्यवस्था की। भीड़ पर नियन्त्रण हो गया। आचार्य द्वारा बुलाये गये लोगों को ही वहाँ जाने दिया गया। बाकी सबको वहीं रोक दिया गया।

शहजादी का पार्थिव शरीर वहीं पास में एक औदुम्बर (गूलर) वृक्ष के नीचे ऊर्ध्वमुख और छाती पर दोनों हाथ जोड़े पड़ा था। आचार्यजी की इच्छा के अनुसार

उस शरीर का विधिवत् संस्कार किया गया। जिस श्रद्धा से चेलुवनारायण की प्रतिष्ठा में शामिल हुए थे, उसी श्रद्धा से लोगों ने इस संस्कार में भी भाग लिया। समाधि पर लोगों ने फूल चढ़ाये।

आचार्यजी ने कहा, "आज हमारे भगवान् ने मुझे एक महान साक्षात्कार का अनुभव करवा दिया। यह यवनकुमारी हमारे धर्म पर विश्वास करने लगी थी, यह एक महान् आश्चर्य का विषय है। इस राजकुमारी की सराहना किये बिना हम रह नहीं सकते। इस कुमारी की जितनी श्रद्धा रही, उससे आधी श्रद्धा भी हम लोगों में होती तो यह संसार कितना सुन्दर हो सकता था! अन्य धर्मावलम्बी को अपनी ओर आकर्षित कर, भीतर पैठने जैसी श्रद्धा उनमें पैदा कर सकते हो तो हमारे इस धर्म में महान् सत्य निहित है और वह अन्य सभी से श्रेष्ठ है—इस तरह की भावना भी हमारे मन में कभी-कभी अंकुरित हुई। परन्तु आज 'बीबी' कहकर प्रेम पूर्ण आह्वान जो किया वह कितने लोग सुन पाये, सो हमें मालूम नहीं। इस आह्वान के तुरन्त बाद एक प्रखर प्रभा से सारा मन्दिर भर गया! आँखों को चकाचौंध पैदा करनेवाली लगी यह प्रभा! यह कितने लोगों को अनुभूत हुई, विदित नहीं। इससे यह प्रमाणित हो चुका है कि यहाँ का यह चेलुवनारायण सगुण हो विराज रहा है। स्वामी के इस सगुण स्वरूप का ज्ञान इस यवनकुमारी ने पाया। उसी सगुण स्वामी में वह तल्लीन हो गयी, यह एक अद्भुत बात है। यहाँ हम इतने लोग एकत्र हुए हैं। परन्तु साक्षात्कार केवल इस यवनकुमारी को ही प्राप्त हुआ। उसका विश्वास और उसकी श्रद्धा हम सभी से बढ़कर है, असीम है। भगवान् भेद-रहित हैं। जाति, मत, पन्थ—इनका भगवान् से कोई सम्बन्ध नहीं। सभी मानव समान हैं। अपने विश्वास के अनुसार सायुज्य प्राप्त होता है। यही पट्टमहादेवीजी कहा करती हैं। उस कथन का यह प्रत्यक्ष प्रमाण मिला है। आज यहाँ जो घटना घटी वह विश्व के लिए एक महान् सन्देश के रूप में विश्व मानव की एकता की घोषणा है। हम अपना जन्मस्थान छोड़कर भगवान् की प्रेरणा से यहाँ आये। यहाँ से दिल्ली गये, बंग और उत्कल गये। उन्हीं की प्रेरणा से लौटे। गंगा और कावेरी को एक साथ मिलानेवाली अनेक घटनाएँ घटीं। अब हम यहाँ नहीं रह सकते। महाराज और पट्टमहादेवीजी इस बात पर जोर दे रहे हैं कि दोरसमुद्र के युगल शिवमन्दिरों के पूरा होने तक यहीं रहें। उनके अनुरोध के अनुसार रहने की इच्छा हमारी भी थी। परन्तु इस संस्कार के बाद यहाँ हमारे रहने के लिए अब कोई गुंजायश नहीं। तुरन्त जन्मभूमि की तरफ चल देने की अन्तःप्रेरणा हुई है। हम सदा इस अन्तःप्रेरणा के ही अनुसार चलनेवाले हैं। इस राजघराने ने हम पर अपार गौरव और प्रेम रखा है। यहाँ की जनता ने हम पर अत्यन्त प्रेम बरसाया है। हम अपने जीवन में इस कन्नड़ जनता को, इस यवनकन्या को, इन महाराज और पट्टमहादेवी को कभी भी नहीं भूल सकेंगे। यह राज्य, यह राजघराना, यह जनता सदा सुखी और सम्पन्न रहे, यही चेलुवनारायण

से हमारी प्रार्थना है। हम महाराज और पट्टमहादेवी से जाने की अनुमति माँग रहे हैं। एक और बात बता देना इस समय जरूरी है। हमारे यहाँ से चले जाने के बाद जो कोई श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की बात छेड़कर, समाज की शान्ति को भंग करेगा वह मानव-द्रोही और देव-द्रोही होगा—इसे न भूलें।'' आचार्यजी के कहने में एक सन्तोषपूर्ण आवेश था।

बिट्टिदेव ने कहा, ''पूज्य चरणों में हमारी एक विनम्र प्रार्थना है। आपको नियन्त्रित करने की शक्ति हममें नहीं है। सभी बन्धनों से मुक्त होकर संन्यास स्वीकार करनेवाले आपके स्वातन्त्र्य को कोई छीन नहीं सकता। अन्तःप्रेरणा के अनुसार आप चलते हैं, इसके अनेक प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं। जैसा आपने बताया, इस पोय्सल राज्य में मानव-मानव में भेद है, इसे हम नहीं मानते। मत, धर्म—यह सब वैयक्तिक विषय हैं। इस सम्बन्ध में कोई जोर-जबरदस्ती नहीं। आपके चले जाने पर यहाँ आपके शिष्य रहेंगे, ऐसा हम समझते हैं। उन्हें भी यह राजमहल जितना हो सके, अपनी तरफ से मदद देता रहेगा। आपकी पादधूलि से हमारा यह राज्य पुनीत हुआ है। सदा हम पर आपका आशीर्वाद रहे। कब यात्रा होगी, यह बताएँ तो उसके लिए उचित व्यवस्था कर दी जाएगी। फिर भी लगता है कि विदा करना कठिन है।''

''भगवान् की इच्छा के अनुसार हम सबको चलना होगा न? हम जल्दी ही यात्रा करेंगे। जब तक सचिव नागिदेवण्णाजी हैं तब तक किसी बात की चिन्ता नहीं। पोय्सल जनता को हमारा यह अन्तिम प्रणाम है।'' आचार्यजी ने हाथ जोड़कर सिर झुकाया। इसके बाद लोगों को जाने का आदेश दिया गया। धीरे-धीरे भान होने लगा कि वे किसी और लोक में हैं, यदुगिरि में नहीं। सभी जन बहुत भारी दिल लेकर वहाँ से निकले। वहाँ के मौन को कोई भेद नहीं सका था।

आचार्यजी चार-पाँच दिनों के बाद प्रस्थान कर गये।

इधर रानी लक्ष्मीदेवी की इच्छा के अनुसार महाराज, पट्टमहादेवी तथा राज-परिवार के अन्य सारे बन्धुबान्धव यादवपुरी के लिए रवाना हुए।

महाराज को वहाँ छोड़कर पट्टमहादेवी और उनके बच्चे तथा उनके माता-पिता, शेष रानियाँ, रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनें, सब दोरसमुद्र की ओर लौट चले। वहाँ से रवाना होने से पहले, शान्तलदेवी ने महाराज से विनती की कि वहाँ के मन्दिरों का कार्य समाप्त होने पर तुरन्त खबर भेजेंगे। सन्निधान रानी और राजकुमार के साथ अवश्य पधारें। बिट्टिदेव ने वास्तव में यादवपुरी में रहने की बात सोची नहीं थी। यह शान्तलदेवी की व्यवस्था थी जिसे उन्हें मानना पड़ा था।

रानी लक्ष्मीदेवी या राजकुमार को किसी तरह की अस्वस्थता नहीं थी—यह बात मालूम होने पर भी महाराज ने या पट्टमहादेवी ने इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं छेड़ी।

रानी बम्मलदेवी ने या रानी राजलदेवी ने अभी गर्भ धारण नहीं किया था, यह जानकर रानी लक्ष्मीदेवी खुश थी।

यादवपुरी लक्ष्मीदेवी को स्वर्ग-सी लगने लगी। बहुत समय से अप्राप्त पतिदेव का संग-सुख पाकर अब उसमें एक नयी उमंग भर गयी थी। वह अपने में एक नवीनता का अनुभव करने लगी। दो ऋतुओं अर्थात् चार महीने का समय किसी तरह अन्य बाधाओं के बिना, सुख-सन्तोष में निमग्न हो बीतने लगा। बिट्टिदेव ने भी किसी विशेष कार्य में न लगकर अपना सारा ध्यान अध्ययन पर केन्द्रित किया। जगदल सोमनाथ पण्डित तो साथ थे ही। वे केवल चिकित्सक वैद्य ही नहीं, बल्कि वेद, शास्त्राध्ययन आदि में भी निष्णात थे। इसलिए अध्ययन में किसी कठिनाई के बिना और किसी तरह की मानसिक अस्वस्थता के बिना दिन गुजरने लगे। यहाँ रहने की सलाह जब पट्टमहादेवी ने दी, तब सचमुच एक विचित्र भाव उनके मन में उत्पन्न हो गया था। तब उनके मन में रानी लक्ष्मीदेवी या उसके पिता तिरुवरंगदास के बारे में अधिक सद्भाव नहीं था। रानी चुप रहेगी तो भी यह तिरुवरंगदास उसे चुप रहने नहीं देगा, यही बिट्टिदेव का खयाल था। इसलिए कुछ अवांछित परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने की सम्भावनाएँ हो सकती हैं, महाराज को ऐसी आशंका रही थी। उन्होंने पट्टमहादेवीजी से यह बात कभी कही भी थी। उत्तर में उन्होंने एक बात कही थी, "पति के द्वारा अनादृत पत्नी डायन भी बन सकती है, इसलिए ऐसा व्यवहार हो जिससे पत्नी को आभास तक न हो कि पति उसका अनादर कर रहा है।" यह भी कहा था कि, "छोटी रानी को दूसरों की बातों के सुनने से जो गलतफहमियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, उन्हें दूर करने की कोशिश करनी होगी।" उनकी दृष्टि में यह कार्य करना बहुत ही आवश्यक था।

अपने भाई के राजत्वकाल से दो दशकों से अधिक समय, केवल युद्धक्षेत्र में ही बीत गया था। इस कारण सभी पिताओं की तरह बच्चों के प्रति प्रेम-वात्सल्य होते हुए भी, बिट्टिदेव को अपने बच्चों के प्रति प्यार करने का बहुत ही कम समय मिलता था। अब यह एक नया काम उन पर हावी हो गया था। नरसिंह जब उठता-गिरता, कदम बढ़ाता हुआ आकर उनकी गोदी में चढ़ने की कोशिश करता तब वह एक तरह से पुलकित हो उठते। रानी तो वहीं रहा करती थी। ऐसे मौके पर वह कहती, "विजय दिलानेवाला यह आँखों का तारा पोय्सल राज्य के भावी का भव्य संकेत है न? देखिए तो, सिंहासन पर बैठनेवाले प्रभु की तरह वह सन्निधान की गोद में चढ़कर कैसी गम्भीरता से बैठा है!"

"सिंहासन पर बैठने की सम्भावना के न होते हुए भी मैं सिंहासन पर बैठा न? मेरी जन्मपत्री ही ऐसी रही।" इसकी जानकारी होते हुए भी, बिट्टिदेव को रानी की यह बात अच्छी नहीं लगी। मगर यह कहकर मन को दुखाना नहीं चाहते थे इसलिए बोले, "यह सब जन्मग्रहों पर निर्भर करता है। हमारे चार पुत्र हैं। चारों दिशाओं में राज्य करने के लिए चार। ठीक है न? हम भाई भी पूर्व और पश्चिम की ओर के राज्यों की देखभाल करते रहे हैं न? ऐसे ही हमारे बच्चे भी परस्पर सहयोग से चारों ओर

राज्य की देखभाल कर सकें, ऐसा भाग्य हमें प्राप्त हो—यही प्रार्थना करो।''

'कम-से-कम इतना तो प्राप्त होगा ही।' लक्ष्मीदेवी यों मन-ही-मन कह रही थी।

इस प्रकार की कोई बात किसी रूप में छिड़ती, तो बिट्टिदेव यों कुछ कहते हुए उसका निवारण कर देते। इस बीच में राजा और रानी चार बार यदुगिरि हो आये थे। दो बार बल्लिपुष्करिणी भी हो आये थे। दोनों बार संक्रमण के अवसर पर वहाँ स्नान आदि कर आये थे। यों एक तरह से दिन गुजरते गये।

तिरुवरंगदास को बात करने के लिए कहीं कोई मौका ही नहीं मिल रहा था। राजमहल में उसके रहन-सहन के लिए अलग व्यवस्था थी। नौकर-चाकर भी उसके लिए अलग तैनात थे। पहले वह अपनी जरूरतों के अनुसार, जब चाहे अपनी बेटी से मिल लिया करता था। पर अब महाराज की उपस्थिति के कारण इसके लिए मौका नहीं मिल रहा था। रानी की भी यही हालत थी। पिता की उपस्थिति से भी बढ़कर पति का सान्निध्य प्रिय लगने में आश्चर्य ही क्या? इस वजह से पिता-पुत्री का मिलन पहले की तरह नहीं हो पाता था। राजदम्पती जब यदुगिरि या बल्लिपुष्करिणी, जहाँ भी गये, तिरुवरंगदास को साथ नहीं ले गये। बल्लिपुष्करिणी जाने की बात जब निश्चित हुई तब स्वयं रानी ने सलाह भी दी कि पिता को साथ लेते चलें। तब बिट्टिदेव ने कहा था कि, ''हम दोनों के अकेले रहने में जो सुख-सन्तोष मिलेगा वह उनके रहते कैसे मिल सकता है?'' यों तिरुवरंगदास का साथ रहना नहीं हुआ था।

उनके वहाँ रहते हुए ही खबर मिली कि उदयादित्य की बेटी परलोक सिधार गयी। थोड़े ही दिनों में एक और दुखद समाचार मिला कि उदयादित्यरस भी बीमार होकर स्वर्गवासी हो गये।

बिट्टिदेव इन दोनों की मृत्यु के आघात से अत्यन्त दुखी होकर यादवपुरी लौटे थे। इस दुःखमय स्थिति में तिरुवरंगदास को निकट रहने का मौका मिल गया। उसने बहुत आत्मीयता से अपनी सहानुभूति दिखाते हुए कहा, ''सन्निधान को भ्रातृवियोग के कारण जो दुःख हुआ वह स्वाभाविक है। वह बहुत भारी नुकसान है जो कभी भरा नहीं जा सकता। सन्निधान और अरसजी का भ्रातृप्रेम अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। राम-लक्ष्मण जैसे आप दोनों रहे। उदयादित्यरस की आत्मा की शान्ति के लिए, आने वाले संक्रमण के अवसर पर उत्तरायण पुण्यकाल में कावेरी में तर्पण देना उचित जान पड़ता है। यह सब मैं स्वयं साथ रहकर विधिवत् करवा दूँगा।

उसी के अनुसार महाराज ने यात्रा का इन्तजाम करवा दिया और उत्तरायण पुण्यकाल के अवसर पर मृतक की आत्मा की शान्ति हेतु कावेरी में तर्पण देकर उनके नाम पर अनेक दान दिये। खासकर निर्गुट प्रदेश के केल्लंबत्ति में उनकी मृत्यु होने के कारण, वहाँ के ब्राह्मण वर्ग को, जो पोय्सल राज्य की अभिवृद्धि में सहायक रहे थे,

भूमिदान आदि दिया। इस आशय के शिलालेख भी बनवाकर लगवा दिये गये। इसी सन्दर्भ में बिट्टिदेव ने कहा, "महाकवि रन्न के 'साहस भीमविजय' काव्य के दुर्योधन की स्थिति हमें स्मरण हो आती है। उसकी अपने भाई दुश्शासन की मृत्यु के बाद जो दशा हुई वही आज हमारी है।"

तुरन्त तिरुवरंगदास ने कहा, "यह उपमा ठीक नहीं। सन्निधान दुर्योधन नहीं, और अरस दुश्शासन भी नहीं।"

"यहाँ दुर्योधन और दुश्शासन प्रधान नहीं। दोनों के बीच का भ्रातृभाव प्रधान है। रन्न का वह पद्य-भाग कितने सुन्दर भाव की अभिव्यक्ति करता है 'माँ के दूध से लेकर [illegible] मरते हुए तिलाती रही, भाई को तुम्हें। परन्तु इस मरण में वह क्रम उलट गया! मुझसे छोटे का मरण मुझे देखना पड़ा!' कहते हुए दुर्योधन दुःखी होता है। व्यक्ति को भूलकर यहाँ मानवीय मूल्यों को देखना चाहिए।"

तिरुवरंगदास ने यह कहकर कि, "सन्निधान का कहना भी एक तरह से ठीक ही है।" बात को खतम कर दिया।

तर्पण आदि के बाद बिट्टिदेव यादवपुरी लौटे। उन्हें किसी भी कार्य में दिलचस्पी नहीं हो रही थी। उदासीन हो रहा करते। इस हालत में तिरुवरंगदास को रानी से मिलने का भरपूर मौका मिल जाया करता। मौके का अच्छा उपयोग किया उसने। इस समय रानी के खूब कान भरे। रानी लक्ष्मीदेवी स्वभाव से किसी भी विषय में कोई निश्चित राय नहीं रखती थी। भाग्यवश वह रानी बन गयी थी। मगर उसने किसी भी तरह से अपने व्यक्तित्व का विकास करने की कोशिश नहीं की थी। भाग्यवश जो मिल गया, वही उसके लिए बहुत था। इसलिए पिता जो भी कहते उससे सहमत हो जाती। दूसरे भी यदि कुछ कहते, उस पर भी 'हाँ' कह देती। इसी तरह उसके दिन गुजरते रहे।

एक दिन तिरुवरंगदास ने उसे छेड़ते हुए कहा, "देखो बेटी, तुमको अन्दर की बातें मालूम नहीं। आगे चलकर पट्टमहादेवी के जाल में फँसे रहना पड़ेगा। पास रहने पर भाई के सहायक बने रहेंगे यही सोचकर उदयादित्यरस को नंगली किसने भेजा, यह तुम्हें मालूम है? अब तो एक तरह से निश्चिन्तता हो गयी। वह तो दिवंगत हो चुके। एक लड़की दण्डनायक के बेटे से ब्याह दी। प्रधान जी, उनके दामाद, दो दण्डनायक, उनके बेटे, राजमहल ही में पला वह धूर्त बिट्टियण्णा, ये सब एक ही गुट के हैं। सब पट्टमहादेवी के साथ हैं। जानती हो क्यों? सभी वही भगनधर्मी हैं। इन भगनधर्मियों की नीति क्या हो सकती है, तुम ही सोचो। इन लोगों को छोड़कर बाकी सब लोग परेशान हैं; जो भी काम-करना कराना हो तो इन्हीं से कराना होगा। बाकी लोग उनके लिए किसी काम के नहीं। अब रहा वह बेवकूफ मंचियरस। उन लड़कियों को आश्रय दिया पट्टमहादेवी ही ने। यों भ्रम में पड़कर वह जैसा नचाएँ, नाचता है। शंकर दण्डनाथ वगैरह इन लोगों की लापरवाही के कारण असन्तुष्ट हैं। पुनीसमय्या, मादिराज, चामय

दण्डनाथ, ये ही क्यों, डाकरस का भाई माचण दण्डनाथ, ये सब असन्तुष्ट हैं, इसलिए कि आजकल उनकी राय का कोई मूल्य नहीं। इन सभी को अपनी तरफ कर लेने के लिए अब यह बहुत अच्छा मौका है। तुम परिस्थिति को जानकर सन्निधान को संक्षेप में बता दो। वैसे वे तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं करेंगे, फिर भी मौका मिलने पर एक बार कह रखो। उनसे पूछो, "पट्टमहादेवी हम जैसी ही मनुष्य हैं न? सन्निधान को उन्होंने दूर क्यों कर रखा है?" तब वे स्वयं उनके इस तरह के संन्यास की सत्यता का पता लगाएँगे। बेटी, तुमने उस पट्टमहादेवी की क्या बुराई की?"

"मैंने क्या किया?"

"तुमने कुछ नहीं किया। फिर भी तुम पर यह मात्सर्य क्यों? 'सवतिगन्धवारण' बसदि (मन्दिर) का निर्माण क्यों करवाया? अब जो तुम्हारे पुत्र हुआ, उसके जन्म के शुभ मुहूर्त के कारण महाराज ने विजय पायी। यह राजकुमार बहुत भाग्यवान् है। तुम पर की यह असूया ही न इस निर्माण का कारण है? तिस पर उस मनहूस बसदि के निर्माण का सारा खर्च राज्य का। बेटी, ऊपर-ऊपर मीठी बातें करके अन्दर-ही-अन्दर द्वेष करना उस पट्टमहादेवी का स्वभाव ही बन गया है। तुमको हठ करना चाहिए कि आगे इस सिंहासन पर जैन धर्मावलम्बियों का उत्तराधिकार न हो।"

"सन्निधान ने पहले कह ही दिया कि चारों बेटे, एक-एक दिशा में राज्य सँभालेंगे। तब यह बात कैसे कहें?"

"चारों में तुम्हारे बेटे को दोरसमुद्र का स्थान मिले। फिर देखा जाएगा।"

"तो पट्टमहादेवी का..."

"तुम्हें अक्ल नहीं। हमें अपना काम साधना हो तो भेद पैदा करना ही चाहिए। तुमको मालूम नहीं, पट्टमहादेवी अपना सुख-भोग किस तरह भोग रही हैं? यह देखकर भी दुनिया आँखें बन्द किये बैठी है। क्या करे? अब आचार्यजी के यहाँ से चले जाने के बाद श्रीवैष्णवों के लिए यहाँ जीना तक मुश्किल हो रहा है। यही खबर मिल रही है। चाहो तो तुम स्वयं नागिदेवण्णाजी से पूछ लो। बेटी, विधर्मी मुसलमानिन को भी परमपद पहुँचाने वाला है यह श्रीवैष्णव धर्म। ऐसे धर्म का अपमान इस नग्नधर्म से हो और वह आगे बढ़े? तब तो तुम्हारे रानी होने का क्या प्रयोजन? तुम्हें पाल-पोसकर मैंने कौन-सी बड़ी सिद्धि पायी? अब तुम कुछ न कर सको तो पीछे पछताना ही पड़ेगा।"

"पिताजी, मुझे यह सब मालूम नहीं होता। आप जब कहते हैं तो लगता है कि आपकी बात ठीक है। जोश में आगे बढ़ जाऊँ तो दम घुटने का-सा होता है, और पीछे हटना पड़ता है।"

"उसके लिए तुम्हारा डर ही कारण है। तुमको कुछ साहस से काम लेना पड़ेगा। आचार्यजी के धर्म का प्रसार केवल पूजा-पाठ, प्रवचन और पेटभर खाने मात्र

से तो नहीं होगा। मैं आचार्यजी के प्रस्थान के पहले उनसे गुप्त रूप से मिला था। उनके लिए धर्म का प्रसार सबसे मुख्य विषय है। इसीलिए उन्होंने पट्टमहादेवी से विरोध मोल नहीं लिया। करीब एक दशक से उन्होंने मुझ जैसे निष्ठावान धर्म-प्रचारकों को पोय्सल राज्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र इस काम के लिए भेज रखा है। उन सभी धर्म-प्रचारकों का सहयोग मुझे प्राप्त है। मैं जैसा कहूँ, वैसा तुम करो। बाद में सब स्वतः ठीक हो जाएगा। तुम्हें धीरज से काम लेना होगा। धीरज खो बैठोगी तो कल के दिन महाराज भी हाथ से निकल जाएँगे। फिर तुम्हारे बेटे को भिखारी बनकर भटकना पड़ेगा।''

''ऐसा तो नहीं होना चाहिए। मेरे बेटे को तो ऐसे ही राजा होकर रहना है।''

''तो उसे उस तरह ढालना तुम्हारे हाथ में है। तुम स्वयं कहो तो आक्षेप हो सकता है। बच्चे के मुँह से कहलाओ तो उसका परिणाम ही कुछ और होगा। तुम स्थिति को समझकर व्यवहार करो, बेटी। बच्चे के बड़ने तक प्रतीक्षा में बैठी मत रहो। दूध को खराब करना हो तो उसमें खटाई डालनी ही पड़ेगी न? अधिक खटाई की भी आवश्यकता नहीं। एक बूँद पर्याप्त है। यह सब तुम्हारे बेटे नरसिंह के लिए है। मैं भी नहीं सोचता कि तुम्हारा काम आसान है। फिर भी तुम्हें साधना ही पड़ेगा। तुम्हारे बेटे के लिए आचार्यजी का हृदय से आशीष है ही। तुम्हें राजमाता बनना है। तभी महाराज की प्रमुख पत्नी कहला सकोगी। पट्टमहादेवी ने जो सब किया है सो एक-एक कर तुम्हें समय पर मैं बताता रहूँगा, उनमें से कुछ संकेत तो आचार्यजी ही मुझे दे गये हैं। मैंने पूछा था, 'ऐसी दशा में आप पट्टमहादेवी को इतना क्यों मानते हैं?' तो उन्होंने कहा, 'यही तो लोक-व्यवहार है। महाराज के साथ पट्टमहादेवी भी मतान्तरित हो जातीं तो बात कुछ और ही होती। नये स्थान पर आकर यदि हम यहाँ विद्वेष मोल लें तो हमारा काम बने कैसे? इसलिए हँसते-हँसते सब सह लेना पड़ा। हम इस राज्य को छोड़कर जा रहे हैं, इसलिए हमारे शिष्य होकर आप लोगों को, हमारा नाम लिये बिना, लक्ष्य को साधना होगा। देश-भर में विष्णु-मन्दिरों का निर्माण कराना होगा। लोगों को विष्णु-भक्त बनाना होगा। उनको छोड़ अन्य देव नहीं। सब का वही कारण-कर्ता है।' यह सब उन्होंने मुझे बताया है, इसलिए तुम्हें डरने की कोई बात नहीं। युक्ति से काम साध लो। प्रकट में हमें व्यावहारिक रीति से चलना होगा, आचार्यजी की तरह। हमें अन्दर ही अन्दर अपना काम करते रहना है।''

''पिताजी, आपकी बातों से मुझे भय ही अधिक लगता है। अभी मुझे किस बात की कमी है? मेरे बेटे के लिए किस बात की कमी है? ऐसे ही हँसते-खेलते दिन गुजार सकते हैं।'' लक्ष्मीदेवी ने कहा।

''देखो, जो कुछ भी कहना-करना है, वह सब तुम्हारी ही भलाई के लिए। जब-तब मुझे प्रतीत होगा, उसे बताता रहूँगा। मेरा यह कहना कर्तव्य है कि अमुक काम करो और अमुक मत करो। कल मुझे पछताना न पड़े। पहले ही बता देता तो

अच्छा होता, तब यों न होता—इस तरह पछताने की स्थिति पैदा न हो, इसलिए कह रहा हूँ। आगे भी कहता रहूँगा। यदि तुम्हें मेरी बात सही लगे तो करना। मैंने जो कहा उससे डरकर गलत कदम रखकर मेरी निन्दा करना भी उचित नहीं। अगला कदम क्या है सो तुम ही सोचकर निर्णय कर लो। अभी तो सन्निधान गहरे दुख में हैं। जो भी कहोगी उसे उनका दुःखी मन स्वीकार कर लेगा।'' इतना कहकर तिरुवरंगदास ने अपनी बेटी की ओर देखा।

लग रहा था कि वह गम्भीर चिन्ता में डूबी हुई है। इसलिए आगे कुछ नहीं बोला। उसने सोचा, 'पासा ठीक पड़ा है। अब तो गोट चला ही देनी होगी।' यों थोड़ी देर बैठे रहकर उठ खड़ा हुआ। रानी वैसी ही चिन्तामग्न बैठी रही तो उसने कहा, ''बेटी, मुझे कुछ और भी काम है।''

''जा रहे हैं! अच्छा।'' कहती हुई वह भी हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। कन्धे पर से फिसलने वाले अपने अंगवस्त्र को सँभालता हुआ तिरुवरंगदास चला गया।

तिरुवरंगदास की सारी बातें रानी लक्ष्मीदेवी के दिमाग में भर चुकी थीं। उन्हें रोकने और उन पर विचार करने या दिमाग से निकाल देने की उसमें ताकत नहीं थी। आगे क्या करे सो उसे सूझ नहीं रहा था, इसलिए वह चुपचाप बैठी रही। पिता चाहे कुछ भी कहें, कितना भी कहें, पट्टमहादेवी के विषय में वह उस तरह से सोच ही नहीं पा रही थी। 'परन्तु वह भी तो मेरी ही जैसी एक स्त्री है। मेरी तरह उसके भी मन में आकांक्षाएँ होती हों तो यह कोई असहज बात तो नहीं!' साथ ही उसके लिए यह भी नहीं लगता था कि वह अपने पिता की आत्मीयता में शंका करे। पिता, जिन्होंने ऐसी उन्नत स्थिति में लाकर बिठाया, ...उनके विषय में शंका कहीं हो सकती है? उसका विश्वास था कि पिता ऐसी सलाह देंगे भी कैसे कि जिससे हानि हो। उधर, 'पाणिग्रहण करनेवाले महान् व्यक्ति हैं। मेरे समस्त सौभाग्य के लिए तो वे ही कारण हैं। वे तो सभी आश्रितों के प्रति समान प्रेम रखते हैं। बड़े उदार हैं। ऐसे व्यक्ति का मन खट्टा कर वहाँ भेद-भाव पैदा करना कभी सम्भव हो सकेगा? अब तक तो सब प्रकार से सुखी हूँ। सबके प्रेमपात्र बने रहनेवाले और सबका मन जीत सकनेवाले ऐसे व्यक्ति के मन में भेद-भाव पैदा करने पर, वही पीछे चलकर मेरे प्रति अनादर का भाव पैदा होने का हेतु बने तो मेरे बेटे का भविष्य क्या होगा? मैं जो भी करूँ, उससे किसी तरह की परेशानी मेरे बेटे के लिए पैदा न हो, मुझे वैसा चलना होगा। आचार्यजी ने पिताजी से जो भी कहा या न कहा हो, उससे मेरा कोई सरोकार नहीं। धर्म का मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म का प्रसार तो पुरुषों का कार्य है। पाणिग्रहण करनेवाले अपने स्वामी का अनुसरण करना मात्र हमारा धर्म है। फिलहाल चुप रहना ही अच्छा है। अगर कुछ छेड़ें और सन्निधान असन्तुष्ट होकर दोरसमुद्र की ओर चल पड़ें तो मुझ अकेली का जीवन कैसे कटेगा? उनके सान्निध्य में रहने से बढ़कर और किसी तरह का सुख मुझे

नहीं चाहिए। उनके सान्निध्य में रहने के लिए जो भी उचित होगा उसे करना ही मेरा कर्तव्य होना चाहिए।' ऐसा सब विचार कर वह एक निश्चय पर पहुँच गयी। अपने मानसिक संघर्ष को उसने यों विश्राम दिया।

फिर महाराज का दुःख दूर करने की इच्छा से, तथा अपनी व्यक्तिगत अभिलाषाओं को पूरा कर लेने के लिए जैसा आचरण करना चाहिए था, वैसा ही उसने व्यवहार किया। उसने अपने पिता से जो बातें सुनी थीं उन्हें सुनाकर भ्रातृ वियोग से दुखी महाराज को और दुखी बनाना नहीं चाहा।

दिन पर दिन गुजरते गये। धीरे-धीरे बिट्टिदेव का दुःख कम हुआ। ऐसे दुःखों को दूर करने के लिए समय ही अच्छा वैद्य है। कुमार नरसिंह की बाल-लीलाएँ उनके मानसिक दुःख को कुछ कम करने में सहायक बनीं।

महीनों पर महीने बीत चले। तिरुवरंगदास परिस्थितियों में परिवर्तन की प्रतीक्षा करते बैठा था। जब उसे कुछ भी परिवर्तन न दिखा तो कुछ उद्विग्न भी हुआ। एक दिन मौका पाकर वह अपनी बेटी से फिर उन्हीं पुरानी बातों को छेड़ बैठा।

लक्ष्मीदेवी ने कहा, "पिताजी, आपको जो कुछ कहना था सो कह चुके हैं न? पहले मुझे अपने सुख-सन्तोष का ध्यान रखना है। फिर देखेंगे। जल्दबाजी करने से हानि भी हो सकती है।"

उसने कहा, "बेटी, मैं जानता हूँ कि तुम इतनी होशियार हो, मगर भाई के वियोग का दुःख शान्त हो जाने के बाद, उस मृत्यु के बारे में शंका उत्पन्न करना कठिन होगा।"

लक्ष्मीदेवी ने कड़ककर कहा, "पिताजी, आपकी जल्दबाजी मुझे अच्छी नहीं लगती। अपने सुख के लिए और अपने कार्य की सफलता के लिए क्या करना होगा, यह मैं जानती हूँ। आप चुप रहें। बार-बार इस बात को सुनाते रहेंगे तो मैं सन्निधान से कहकर वेलापुरी या दोरसमुद्र चली जाऊँगी।"

"ठीक है, तुम्हारी जैसी इच्छा। तुम सजग रहो, इतना काफी है।" कहकर तिरुवरंगदास वहाँ से चल पड़ा। बेटी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह चल पड़ा था। मन-ही-मन सोच रहा था कि वह शायद भयभीत हो, इसीलिए उसकी यह स्थिति है। वह कुछ और उपाय सोचने लगा। इसी धुन में वह अपने मुकाम पर आ गया।

कुछ समय बाद एक दिन बिट्टिदेव बोले, "दोरसमुद्र से खबर आयी है, इसलिए वहाँ जाना पड़ेगा। अगर रानीजी साथ चलना चाहें तो लेते जाएँगे।"

"शिवालय का काम ही है न?" लक्ष्मीदेवी ने एक तरह की अनासक्ति का भाव दिखाया।

"नहीं।"

"उसके पूरा होने तक यहीं रहने की बात सन्निधान ने कही थी न?"

''अन्य किसी तरह की विघ्न-बाधा न होने पर वह कथन ठीक हो सकता है। जरूरी राजकाज के होने पर उस कथन से बँधे नहीं रह सकते। आवश्यक कार्य के लिए जाना पड़े तो जाना ही होगा।''

''बात क्या है, जान सकूँगी?''

''छोटे राजकुमार विनयादित्य का स्वास्थ्य अभी एक सप्ताह से अच्छा नहीं है। वैद्यों का कहना है कि उन्हें विषम शीत ज्वर हो गया है। इसलिए कल ही जाने का निश्चय किया है।''

''छोटे बच्चे को लेकर इतने कम समय में जाने की तैयारी कैसे कर सकूँगी?''

''कोई जबरदस्ती नहीं। हमें तो जाना ही होगा।''

''मुझ अकेली को यहाँ रहना पड़ेगा?''

''यह बचपना है। वस्तुस्थिति बताने पर जल्दी निर्णय कर लेना होता है।''

''सुनते हैं कि यह बुखार संक्रामक है। छोटे बच्चे को साथ ले जाना ठीक होगा?''

''हमने कहा न कि कोई जोर-जबरदस्ती नहीं!''

''सन्निधान अगर न भी गये तो क्या हो जाएगा?''

''वह हमसे सम्बन्धित बात है।''

''हो सकता है, सन्निधान को वहाँ बुलवाने का यह एक बहाना ही हो?''

''पट्टमहादेवी रानी लक्ष्मीदेवी जैसी नहीं।'' कहते हुए बिट्टिदेव की आवाज कुछ सख्त हो गयी।

''रानी लक्ष्मी ने क्या किया?'' उसे भी गुस्सा चढ़ आया था। वह आग-बबूला हो उठी।

''बच्चे की बीमारी का बहाना किया, झूठ बोली, इसलिए कि जिससे बेलुगोल न जाना पड़े।''

''जो काम मेरी पसन्द का नहीं, उसे करने को कहें तो मैं क्या करूँ?''

''कहने का साहस होना चाहिए था कि नहीं जाऊँगी। उस बेचारे बच्चे की बीमारी का बहाना क्यों किया?''

''मैं साहस करूँ तो वह सह्य होगा?''

''सत्य के लिए किया जाने वाला साहस हमारे लिए सदा सह्य है।''

''ऐसा है? तो बताइए कि उदयादित्यरस की मृत्यु का क्या कारण है? कभी सोचा है?'' उसने तीर छोड़ा।

''इसके माने?'' आवाज कुछ ऊँची थी।

''मुझे क्या मालूम? मैं तो एक स्त्री ही हूँ, राजमहल का अन्न खाती पड़ी रहनेवाली। अधिकार-सूत्र अपने हाथ में ले, सभी को कठपुतलियों की तरह नचानेवाली

पट्टमहादेवी हैं न, उनसे ही पूछ लें।'' लक्ष्मीदेवी बोल गयीं।

''लक्ष्मी!'' बिट्टिदेव गुस्से से गरजे।

लक्ष्मी क्षणभर के लिए काँप उठी। बोली, ''मैं एक गरीब ब्राह्मण की बेटी हूँ। झाड़-बुहार, लीपना-पोतना, खाना बनाना, बरतन-बासन धोना, यह छोड़कर दूसरा क्या काम कर सकती हूँ। गाना-बजाना नहीं जानती, नाचना नहीं मालूम, शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, शस्त्रास्त्र क्या चीज है सो नहीं जानती। यह सब मैं कुछ नहीं जानती। अब तो मुझे केवल एक बात मालूम है कि मैं माँ हूँ। अपने बच्चे की रक्षा माँ की हैसियत से मुझे करनी है।'' वह जल्दी में कह बैठी। कहने के ढंग से ऐसा लग रहा था कि इन बातों को कोई जबरदस्ती उसके मुँह से निकलवा रहा है।

''तुम्हें यह मालूम है कि तुम क्या कह रही हो?''

''सन्निधान भ्रम में पड़कर अन्धे हो सकते हैं। मैं न अन्धी हूँ, न बहरी। देख सकती हूँ, सुन सकती हूँ।''

''देखी-सुनी बातों के अर्थ का अनर्थ करनेवाले कुमतियों की प्रेरणा से वस्तुस्थिति की जानकारी नहीं होती। अब तुम मुँह बन्द करो। शायद सोचती होगी कि हम कुछ नहीं जानते! गुप्त रीति से बातचीत कर लेने और अण्ट-सण्ट कल्पना कर सकने की प्रवृत्ति तुम्हारी हो गयी है। हम सब कुछ जानते हैं। तुम्हें और तुम्हारे उस मूर्ख पिता को अकारण ही कष्ट न देने के इरादे से और लोगों के सामने तुम्हारी पोल खुल न जाए, इस वजह से हम सब सहते आये हैं। अब तक जो उदारता हमारी ओर से पायी सो आगे भी मिलती रहेगी, अब ऐसा विश्वास नहीं रखना। अपने किसी लक्ष्य को साधने के उद्देश्य से कुछ न जाननेवाले बेचारे आचार्यजी के बारे में भी कुछ अजीब राय पैदा करने की कोशिश की जा रही है। यह भी हमें मालूम है कि उनके अनुयायी यह कहते फिर रहे हैं कि धर्म-प्रचार के लिए आन्दोलन चलाने का आदेश आचार्यजी ने दिया है। यह भी कहते फिर रहे हैं कि उनकी अनुपस्थिति में यह काम हो तो उन्हें इसका कलंक भी नहीं लगेगा। और भी जो खबरें हमें मिली हैं वह सब सुनानी होंगी?''—बिट्टिदेव ने बड़े कड़े होकर कहा।

लक्ष्मीदेवी की नाक पर पसीने की बूँदें आ गयीं। वह कुछ भी नहीं बोल सकी।

''हमारा यही निर्णय है। रानी को हमारे साथ चलना होगा। यदि रानी इसके लिए तैयार न हों तो रानी के पिता को देश से निकाल दिया जाएगा। इन दो बातों में रानी चाहे जिसे चुन लें। अभी एक-आध प्रहर में ही हमें बता दें।'' इतना कहकर बिट्टिदेव मुड़कर देखे बिना वहाँ से चल दिये।

रानी लक्ष्मीदेवी ने मुद्दला से अपने पिता को बुलवा भेजा।

उसने आकर बतलाया कि वे यदुगिरि गये हैं।

अब वह किससे सलाह ले? यों सोचती बैठी रही। बिट्टिदेव की एक-एक बात

को तौलकर विचारने लगी, ''सारी बातें उन्हें मालूम हो गयी हैं! मगर मालूम हुईं तो कैसे? मैंने तो कही नहीं! तो फिर? यहाँ मेरे विश्रामगृह में पिताजी से जो बातें हुईं वे सब उन तक पहुँचीं कैसे? सारी बातें बनाकर कह नहीं सकते। तो यही कहना होगा कि पिताजी ने कहीं किसी से कहा होगा। सुनकर किसी ने सन्निधान से कह दिया होगा। सन्निधान वास्तव में मुझे प्यार करते हैं। परन्तु आज की उनकी बातें सुनकर दिल काँप जाता है।

'मुझको पिता चाहिए या पति—इसका निर्णय करने को कहा है। एक बार पिता को बता दें कि सतर्क रहें और तब सन्निधान के साथ चल दें, यों सोचा था। सो भी अब होने का नहीं। मतलब यह कि पूरी तौर से पिता का त्याग। यह सब राजमहलवालों को मालूम हो जाएगा। सबकी आँखों की किरकिरी बनकर वहाँ मुझे रहना पड़ेगा। तरह-तरह की आशाएँ बाँधकर, आकर्षक कल्पनाओं के चित्र सजाकर ऐसी अपमानजनक सन्दिग्ध अवस्था में पिताजी ने मुझे फँसाया? ऐसी हालत में मुझे इस राजमहल में क्या गौरव मिलेगा? मेरी ही हालत यह हो जाए तो मेरे बेटे का क्या भविष्य होगा? एक समय था कि मेरे पिता एक वरदान बनकर आये। अब क्यों अभिशाप बने हुए हैं? यह सब मेरी समझ में ही नहीं आता। अब मेरे लिए दूसरा चारा क्या है? सन्निधान के साथ जाना ही न? आगे देखा जाएगा।' वह इस निश्चय पर जा पहुँची।

उसी के अनुसार यात्रा शुरू हुई। लक्ष्मीदेवी के दिमाग में यह विचार आया कि जाते-जाते रास्ते में पिताजी से क्यों न मिल लें।..पर यह पूछें कैसे? लाचार हो चुप हो रही।

राजपरिवार ने जगदल सोमनाथ पण्डित के साथ यदुगिरि में रात को मुकाम किया। तिरुवरंगदास प्रतीक्षा कर रहा था। उसे पहले ही यात्रा की सूचना मिल चुकी थी। लक्ष्मीदेवी से भेंट सन्निधान के समक्ष ही हुई। उसका चेहरा देखते ही मालूम हो गया कि वह दुखी है। उसने मन में सोचा कि जरूर कुछ बात है। तात्कालिक रूप से निराश होने पर भी बेटी ने महाराज के मन में गुस्सा पैदा कर दिया है न? यह पहला और अच्छा कदम है।

बाप-बेटी को मौन देख महाराज बिट्टिदेव ने कहा, ''हम दोरसमुद्र जा रहे हैं। फिलहाल यादवपुरी लौटने की सम्भावना नहीं। इसलिए यादवपुरी के राजमहल के एक हिस्से को अपने लिए सुरक्षित रख, शेष भाग में डाकरस दण्डनायक सपरिवार रहें, ऐसी व्यवस्था की गयी है। आपके लिए भी यादवपुरी में अलग निवास की व्यवस्था है। राजमहल में पहले जो स्थान आपके ठहरने के लिए तैयार किया गया था, उसे भण्डार-घर के लिए सुरक्षित किया गया है। यदि वहाँ ठहरने की आपकी इच्छा न हो तो यहाँ भी व्यवस्था की जा सकती है। अथवा आपकी इच्छा के अनुसार अन्यत्र चाहे जहाँ रह सकेंगे। स्थान बता दें तो वहीं की उचित व्यवस्था हो जाएगी। सब बातें

नागिदेवण्णाजी को समझा दी हैं।''

''ठीक।'' तिरुवरंगदास ने इतना ही कहा।

फिर भगवान् के दर्शन कर, शहजादी की समाधि को देखकर बिट्टिदेव और लक्ष्मीदेवी लौट गये। दूसरे दिन तड़के ही राज-परिवार दोरसमुद्र की ओर रवाना हुआ। बिट्टिदेव ने अपनी इस यात्रा में दो दिन बेलुगोल में ठहरने का कार्यक्रम बनाया था। वह जहाँ भी रुके वहाँ रानी लक्ष्मीदेवी चुपचाप उनके पीछे जाती रही। यों उसे उस भव्य बाहुबली की मूर्ति को देखना पड़ा जिसे उसने अब तक नहीं देखा था। वहाँ से दोपहर के बाद कटवप्र पहाड़ी पर चढ़कर वहाँ की चामुण्डराय बसदि, चन्द्रगुप्त बसदि, कत्तले (अँधेरी) बसदि आदि देखकर अन्त में सवतिगन्धवारण बसदि पर बिट्टिदेव पहुँचे। वहाँ शान्तिनाथ स्वामी की पूजा-अर्चना हुई। इसके बाद आरती उतारी गयी। लक्ष्मीदेवी को वहाँ भी उपस्थित रहना पड़ा। वह वहाँ ऐसी रही मानो काँटों पर खड़ी हो। पुजारीजी के आग्रह से मुखमण्डप में राजदम्पती बैठ गये।

महाराज के पधारने की खबर पहले ही मिल चुकी थी, इसलिए प्रसाद की विशेष व्यवस्था की गयी थी। उनके बैठने के थोड़ी देर बाद चाँदी की थाली में प्रसाद लाया गया।

प्रसाद लेते हुए बिट्टिदेव ने कहा, ''यही वह शान्तिनाथ स्वामी की बसदि है जिसे हमारी पट्टमहादेवी ने इतने शौक से बनवाया है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय तुम नहीं आयीं। बच्चे की अस्वस्थता का बहाना किया था। परन्तु अब तुम्हें अपने कुमार के साथ यहाँ आना ही पड़ा, देखो।''

लक्ष्मीदेवी ने चारों ओर आँखें दौड़ायीं।

''डरो मत, यहाँ आड़ में रहकर सुननेवाला कोई नहीं है। सब बसदि से बाहर चले गये हैं।''

लक्ष्मीदेवी थाली की ओर देख प्रसाद का एक-एक टुकड़ा लेकर मुँह में डालती रही।

''कुछ नहीं होगा। सहज रीति से खाओ न जैसे हम खा रहे हैं! शान्तिनाथ स्वामी के इस प्रसाद के खाने से चंचल मन को शान्ति मिलेगी।''

लक्ष्मीदेवी को हिचकी आ गयी। मुँह के अन्दर से प्रसाद नीचे गिर गया। आँखों से आँसू निकल आये।

बिट्टिदेव ने सिर्फ देखा, कहा कुछ नहीं। पानी का लोटा आगे सरका दिया।

लक्ष्मी देवी ने दो घूँट पानी पिया।

''एक कहावत सुनी है?''

लक्ष्मीदेवी ने प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

''कहावत है—अनिच्छुक पति को दही में भी कंकड़ मिल जाते हैं।''

''तो मैं आपके लिए अनचाही हूँ?'' फुसफुसायी। उसकी आँखों से आँसू झरने लगे।

''देखा, बात को समझने के पहले ही तुम निर्णय कर बैठती हो, इसीलिए ऐसा होता है। तुम्हारे लिए बेलुगोल अवांछित स्थान है न?''

''दोबारा कहना पड़ेगा?''

''आखिर ऐसा क्यों?''

''अवांछित स्थान कहने के बदले यों कह सकते हैं कि यहाँ वांछित कोई चीज नहीं।'' कुछ भी हो, लक्ष्मीदेवी प्रकृतिस्थ होने लगी थी।

''लाखों लोगों के वांछित इस स्थान में तुम्हारे लिए क्या कुछ नहीं?''

''मैं कह नहीं सकती। पहले तो यह नंगे बाहुबली मुझे पसन्द नहीं।''

''तुम्हारा अपना लड़का नरसिंह जब नंगा खड़ा होता है तो उसे प्यार करती हो?''

''वह तो भोला-भाला बच्चा है।''

''ये, बाहुबली भी भोले-भाले ही हैं। उनके इस निर्मल चेहरे को देखो तो तुम्हें मालूम पड़ेगा। तुम सिर उठाकर देखो तब न?''

''कुछ भी हो अन्य देवता के प्रति मेरे मन में कोई भावना जगती ही नहीं। यहाँ मैं यों ही साथ हूँ। यह स्थान एक तीर्थ है, यह भावना ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हो पा रही है। मुझे ये सब मन्दिर देवमन्दिर भी नहीं लगते।''

''शायद यह प्रसाद प्रसाद नहीं लगता, इसीलिए गले में अटक रहा है?''

''नहीं, यह मन्दिर मेरा सर्वनाश करने के लिए निर्मित है। यहाँ की कोई चीज गले में उतरेगी भी कैसे? आप एक स्त्री के चौथे पति बनते तो बात समझ में आ जाती।''

''यह कैसी बुरी विचारधारा है!''

''बुरी विचारधारा क्यों; द्रौपदी के भी पाँच पति थे न? पुरुष के लिए जब चार-छह स्त्रियाँ हो सकती हैं तो...?''

''स्त्रियों के लिए बहु-पति क्यों न हों? यही न तुम्हारा प्रश्न? चाहती हो तो बताओ।''

''बातों-बातों में कह भी दें तो कोई कर सकती है? मेरे पिता ने मुझे सीता, सावित्री और अरुन्धती आदि पतिव्रता नारियों की रीति की शिक्षा दी है।''

''वे सब एक पति की अकेली-अकेली पत्नियाँ हैं। तुम्हें ऐसी पत्नी न बनाकर चौथी पत्नी क्यों बनने दिया? साध्वियों की बात भी उन्होंने अपने ही ढंग से बतायी होगी?''

''इसके माने?''

"सीताजी की कहानी बताते हुए इसी बहाने कैकेई की कथा सुनायी होगी। मन्थरा की भी कहानी कही होगी?"

"हाँ, सो भी बताया था। कौन अच्छे, कौन बुरे—यह तो मालूम होना ही चाहिए न?"

"दोनों को जान सकते हैं। परन्तु क्या करना, क्या नहीं करना, यह मुख्य बात है न?"

"ऐसा होने की सम्भावना के ही कारण यह अनचाहा प्रसाद गले नहीं उतरा। मुझे मालूम है कि यह शान्तिनाथ नाम केवल आँखों में धूल झोंकने के लिए है। यह सौतों के दमन के लिए प्रतिष्ठित एक भूत है। मैं इस भूत से हार नहीं मानूँगी। मैं कोई छोटी बच्ची नहीं, मैं सब समझती हूँ।"

"किसने तुमसे कहा कि यह सौतों का दमन करने के लिए बना है?"

"ऐसा न होता तो पट्टमहादेवी जी को 'उद्वृत्त सवतिगन्धवारण' के नये नाम से विभूषित होने की क्या जरूरत थी?"

"किसने बताया कि इस नाम को नये तौर से धारण किया?"

"जिसे यह मालूम हुआ उसी ने बताया।"

"देखो, बिना समझे-बूझे अज्ञान के कारण यों चलोगी तो राजमहल में अब तक जो शान्ति रही वह नहीं रहेगी। उस अशान्ति का कारण तुम ही बनोगी। दो बातें जान रखो। पट्टमहादेवी के लिए तुम पहली सौत नहीं हो। तुमसे बड़ी दो और हैं। इसके अलावा, यह परम्परा से पोय्सल पट्टरानी को प्राप्त विरुद है। नये सिरे से नाम धारण करने की बात ही नहीं।"

"सन्निधान का कथन सत्य हो सकता है। फिर भी मेरी ऐसी धारणा भी निराधार नहीं। पहले ही से एक-न-एक रीति से मुझ पर और मेरे पिता पर पट्टमहादेवीजी असूया का भाव रखती आयी हैं। हमें बुरा बताने के लिए कोई-न-कोई मौका तलाश कर सन्निधान के मन में, अन्य अधिकारियों के भी मन में तथा प्रमुख पौरों में, इतना ही क्यों, स्वयं आचार्यजी के भी मन में गलत विचार पैदा करने का प्रयास किया गया है। सन्निधान न्याय-रीति से स्वस्थ-चित्त होकर विचार करें और तब निर्णय करें। सदा युद्धक्षेत्र में मृत्यु से लड़ने वालों को ये सारे कुतन्त्र जानने-समझने का अवकाश ही कहाँ मिलता है?"

"ऐसा! तो मतलब यही हुआ कि बेकार बैठे आलसियों के दिमाग को अण्ट-सण्ट बातें, कुयुक्तियाँ, कुतन्त्र—यही सब सूझते रहते हैं। चोट लगे बिना अकल ठिकाने पर नहीं आती। हम क्यों अपना गला फाड़ें! यदि यह प्रसाद गले उतरता नहीं तो छोड़ दो। कोई जोर-जबरदस्ती नहीं।" कहकर किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये बगैर निकल आये और सामने विन्ध्यगिरि की ओर देखते खड़े हो गये। रानी लक्ष्मीदेवी भी

उठकर बाहर आ गयी। उसे कुछ सूझ नहीं रहा था, वह उसी सवतिगन्धवारण बसदि की दीवार से सटकर खड़ी हो गयी।

थोड़ी देर तक उसी एकाग्र भावना में डूबे बिट्टिदेव खड़े रहे, फिर संसार को जीतने वाले उस बाहुबली स्वामी को दण्डवत् कर मौन हो, छोटी पहाड़ी से उतरकर अपने निवास पर आ गये। लक्ष्मीदेवी उनका अनुसरण करती हुई चली आयी। फिर नियोजित रीति से यात्रा शुरू हुई और इस प्रकार महाराज रानी के साथ दोरसमुद्र जा पहुँचे।

रानी लक्ष्मीदेवी हिचकिचाती हुई पहले दोरसमुद्र के राजमहल में पहुँची। परन्तु द्वार पर उसके बेटे का जो वैभवपूर्ण स्वागत हुआ उसे देख वह आश्चर्यचकित हो गयी। स्वयं पट्टमहादेवी ने आगे बढ़कर राजकुमार के उस सुन्दर मुखड़े को मंगलद्रव्य से सजाकर आरती उतारी, नजर उतारी, और आशीर्वाद दिया, "बेटा सुखी रहो, सौ बरस जीओ और पोय्सल वंश की कीर्ति उजागर करो। जन्म के दिन ही राज्य को विजय प्राप्त कराने वाले भाग्यवान् हो तुम। श्री आचार्यजी से आशीर्वाद पानेवाली अपनी माँ की ही तरह तुम भी भाग्यवान् हो।" कहकर बालक नरसिंह का माथा चूमा और कहा, "चलो लक्ष्मी, यात्रा से थकी होगी, चलकर आराम करो। चन्दला! रानीजी और राजकुमार को उस विश्रामगृह में ले जाओ जो उनके लिए व्यवस्थित है।" उनका स्वर आत्मीयता से ओत-प्रोत था। मायके आनेवाली बेटी को जैसा आत्मीयतापूर्ण स्वागत माँ से मिलता है, वैसा ही स्वागत लक्ष्मीदेवी और कुँवर नरसिंह को मिला।

बिट्टिदेव मौन हो यह सब देख रहे थे। रानी लक्ष्मीदेवी और राजकुमार के अन्दर चले जाने पर उन्होंने पूछा, "विनयादित्य का स्वास्थ्य कैसा है?"

"अभी बुखार उतरा नहीं। नियमानुसार औषधोपचार चल रहा है।"

"फिर भी उसे छोड़कर यहाँ आकर यह स्वागत करना चाहिए था? जब कोई अपने घर आए, तब स्वागत करने का यह शिष्टाचार क्यों? दूसरे कोई करते तो भी चल जाता।"

"पोय्सलवंश का एक और अंकुर पहली बार राजमहल में आए तो यह स्वागत आवश्यक है। इतना ही नहीं, यह मांगलिक आचरण है।"

"अभी यह सब क्यों? पहले कुमार को देखना चाहिए।" कहते हुए उन्होंने कदम आगे बढ़ाया।

शान्तलदेवी उनसे भी आगे कदम बढ़ाती हुई चलने लगीं तो बिट्टिदेव ने उनका अनुगमन किया।

बच्चे के पास वैद्यजी थे। महाराज और पट्टमहादेवीजी को आते देख वह उठ खड़े हुए।

विनयादित्य सो रहा था।

''अभी थोड़ी देर हुई, राजकुमार को नींद आ गयी है। सन्निधान के आने के समय पर यह शुभ लक्षण है।'' वैद्यजी ने कहा।

''साथ में दो और पुण्यात्मा भी पधारे हैं। राजकुमार नरसिंह ठीक महाराज का ही प्रतिरूप है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''ओह! मुझे यह मालूम नहीं था कि वे आएँगे। क्षमा करें। यह विषमशीत ज्वर है। संक्रामक है। सो भी छोटी उम्र के बच्चों को बहुत ही जल्दी लग सकता है। इसलिए छोटे राजकुमार को दूर ही रखना अच्छा है।'' वैद्यजी ने कहा।

''पट्टमहादेवीजी को यह सब मालूम ही है न?''

''हाँ-हाँ, फिर भी जब से राजकुमार बीमार हुए तब से जो कष्ट अनुभव किया और जैसे दिन काटे उस सारे वृत्तान्त को जानते हुए, मैं सोच रहा था कि यह सब विचार करने की मानसिक स्थिति नहीं रही होगी, इसलिए कहा।''

''अच्छा वैद्यजी, अब तो जगदल सोमनाथ पण्डितजी भी आ गये हैं। इससे कोई विशेष चिन्ता नहीं।'' शान्तलदेवी ने कहा। वैद्यजी ज्यों-के-त्यों खड़े रहे।

''हम पट्टमहादेवी के साथ रहेंगे। सोमनाथ पण्डितजी भी स्नान और जप-तप के बाद आएँगे। आप भी हो आइए।'' बिट्टिदेव बोले।

प्रणाम कर पण्डितजी चले गये।

राजदम्पती पलँग के पास रखे आसनों पर बैठ गये। कुछ क्षणों के बाद शान्तलदेवी उठीं, दरवाजे तक गयीं और नौकरानी से कुछ कहकर आ गयीं। फिर बिट्टिदेव से बोलीं, ''जलपान की व्यवस्था करने के लिए कह आयी हूँ। सन्निधान हाथ-पैर धो लें और उपाहार स्वीकार करें। कुमार भी अभी सोया हुआ है।''

''हमें भूख ही नहीं।''

''जितना खा सकें। यात्रा की थकावट और परेशानी के कारण ऐसा लग रहा है। भूखे तो रह नहीं सकेंगे न? अलावा इसके, यहाँ के रसोइया सन्निधान की रुचि से परिचित हैं और आज आपके पधारने की उन्हें जानकारी भी है।''

''पता नहीं क्यों, ऐसा लग रहा है कि कुछ नहीं चाहिए।''

''बीमारी आती भी है तो मनुष्यों को ही न? पत्थर को नहीं। इसके लिए परेशान क्यों होते हैं?''

''जल्दी में हमें बुलवा लेने की क्या जरूरत पड़ी थी?''

''यह सब बाद में बताऊँगी। अभी भोजनालय जाने के लिए सन्निधान तैयार हों।''

''पता नहीं, हमें ऐसा लगने लगा कि समय बदल गया है। अब तक जो सन्तोष और उत्साह था वह कम होने लगा है।''

''ऐसा होने का कारण भी तो होगा न?''

''क्यों, तुम्हें मालूम नहीं? उदय की लड़की की मृत्यु और फिर स्वयं उसका मरण, इन घटनाओं के साथ अब कुमार विनय की अस्वस्थता—इस पर...'' बिट्टिदेव रुक गये।

इतने में नौकरानी आ गयी।

''देखिए, रुद्रव्वे के आने का मतलब है, सब तैयार है। विलम्ब करने से नाश्ता ठण्डा हो जाएगा।'' शान्तलदेवी बोलीं।

''यहाँ नौकरानी रहेगी, तुम भी साथ चल सकोगी न?''

''बच्चे के पास किसी को रहना चाहिए नौकरानी के साथ। वैद्यजी या मैं सदा बच्चे के पास रहते आये हैं।''

''फिर भी अकेले बैठकर खाना...''

''कुमार बल्लाल साथ रहेगा। छोटे अप्पाजी रहेगा। रानियाँ रहेंगी।''

''ठीक, तब तो कोई चारा नहीं।'' कहते हुए एक लम्बी साँस छोड़ बिट्टिदेव वहाँ से उठे और अन्दर चले गये।

'राजघराने में दो दुखद घटनाएँ घटीं। राजकुमार बीमार पड़े। यह सब महाराज के निरासक्त बन जाने में कारण तो हैं ही, इनके अलावा कोई और जबरदस्त कारण भी रहा होगा। ऐसा न होता तो बीच ही में बात को क्यों रोक देते?' शान्तलदेवी ने सोचा, 'इन सबसे भी कोई बड़ी बात अवश्य घटी है। युक्ति से उस बात को जान लेना चाहिए और उनकी परेशानी एवं निरासक्ति का निवारण करना चाहिए। इस वक्त जल्दी में किसी बात को छेड़ना ठीक नहीं। पहले राजकुमार स्वस्थ हो जाएँ, बाद में देखेंगे।' यों शान्तलदेवी विचार करने लगीं।

शान्तलदेवी की इस कष्टपूर्ण स्थिति में यादवपुरी की और सवतिगन्धवारण बसदि की सारी बातें सुनाकर उन्हें और ज्यादा कष्ट न देने के इरादे से वहाँ की सारी बातों को न कहने का निर्णय इधर बिट्टिदेव ने भी कर लिया था। जल्दी ही विनयादित्य के स्वास्थ्य में सुधार आ गया। शान्तलदेवी युगल शिव मन्दिरों की ओर विशेष ध्यान देने लगीं। बिट्टिदेव अपना अधिक समय मन्त्रणालय में बिताते रहे।

वास्तव में रानी लक्ष्मीदेवी को महाराज का सन्दर्शन उपाहार के या भोजन के समय अचानक मिल जाता। मुद्दला से वह कुछ बातें जान सकी थी। महाराज मन्त्रणालय से निकलते तो मन्दिर की तरफ चले जाते, और रानी बम्मलदेवी, राजलदेवी के साथ कुछ समय व्यतीत किया करते। यह बात उसे मुद्दला से ज्ञात हो गयी थी। परन्तु महाराज को अकेला पाकर पट्टमहादेवी उनके विश्रामागार में आयी-गयी हों, ऐसी कोई बात उसे मालूम नहीं हुई। उसके विश्रामागार में भी महाराज नहीं आये। ऐसा क्यों? उसके दिमाग को यही बात साल रही थी। कुछ समय प्रतीक्षा करने के बाद मौका पाकर वह एक बार पट्टमहादेवी से उनके विश्रामगृह में मिली।

उसका वहाँ हार्दिक स्वागत हुआ। परन्तु उसे सूझा नहीं कि क्या कहना चाहिए। चुपचाप बैठी रही। शान्तलदेवी तब कुछ पढ़ने में तल्लीन थीं। लक्ष्मीदेवी को मौन बैठी देखकर उन्होंने पूछा, "कुँवरजी कहाँ हैं? अकेली आयी हो न?"

"वह सो रहा है। मुद्दला वहीं है। यों ही चली आयी। अकेली बैठी-बैठी परेशान-सी हो रही थी।"

"क्यों, ऐसी क्या बात है? यहाँ व्यस्त रहना चाहो तो बहुत अवकाश है, तब परेशानी का कोई कारण नहीं रहेगा।"

"मैं क्या कर सकूँगी? मैं तो कुछ नहीं जानती। मैं कुछ भी जानती हूँ वह केवल खाना बनाने का काम मात्र है। रानी बन जाने से अब उसके लिए भी मौका नहीं।"

"यह बताओ कि तुम्हें किस विषय में दिलचस्पी है, उसके लिए आवश्यक व्यवस्था की जा सकती है। साहित्य पढ़ना चाहो तो यहाँ काफी बड़ा ग्रन्थागार है। तुम्हारे लिए योग्य गुरु की नियुक्ति की व्यवस्था की भी जा सकती है। संगीत सीखना चाहो तो उसके लिए भी व्यवस्था हो जाएगी।"

"इन सब विद्याओं में निपुणता आपने पायी है, आपके समक्ष अब मैं पढ़ने लगूँ तो लोग हँसेंगे।"

"लोगों का इससे क्या सम्बन्ध है? विद्या सीखकर जिस आनन्द का अनुभव करोगी वह अपना निजी होगा। इसलिए यदि तुम्हारी इच्छा मालूम हो जाए तो उसके अनुसार व्यवस्था करवा दूँगी।"

"इस उम्र में वह सब सीखना मेरे लिए सम्भव होगा?"

"सरस्वती कोई भेदभाव नहीं रखती, लक्ष्मी! यदि हार्दिक अभिलाषा हो तो वह प्रसन्न होगी।"

"उसके प्रसन्न होने से क्या होगा?"

"अच्छी बात कही! सवाल करती हो कि उसके प्रसन्न होने से क्या होगा? हमारी संस्कृति के विकास के लिए सरस्वती ही मूल-प्रेरणादात्री है। चौंसठ विद्याओं का वरदान भी उन्हीं से प्राप्त होता है।"

"सुना है कि उन चौंसठ विद्याओं में चोरी भी एक है।"

"किसने कहा?"

"कभी एक बार मेरे पिताजी ने कहा था।"

"प्रसंग?"

"सो तो याद नहीं।"

"अच्छा जाने दो। उनके कथनानुसार वह भी एक विद्या है, सही। परन्तु विद्या को सीखने वाले उसका उपयोग किस तरह से करते हैं, और फिर उस विद्या को सीखने का उद्देश्य क्या है, सो जाना जा सकता है।"

''चोरी करने की विद्या सीखने का उद्देश्य दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करना ही है न! उसका और क्या उद्देश्य हो सकता है?''

''हम जिस विद्या को सीखते हैं, उसका उपयोग ऐसे करना चाहिए जिससे दूसरों की हानि न हो।''

''चोरी का फल बुराई ही है न? उससे किसी का क्या भला हो सकता है?''

''पेट भरने के लिए चोरी करें तो बुराई होगी, जैसा अभी तुमने ही बताया। परन्तु राष्ट्र पर जब शत्रु हमला करे, तब शत्रु के बल को कम करने के लिए इस विद्या के अनुसार अपहरण करना बुरा नहीं होता। युद्ध में शत्रु को मारना एक सहज न्याय-व्यापार है न? ऐसे ही तब यह भी न्याय-व्यवहार है।''

''सदा युद्ध चलता रहे तो इस विद्या का सदुपयोग होता है। जब युद्ध न हो तो चोर बेकार चुप बैठा रह सकता है? सीखी हुई विद्या के प्रयोग करते रहने की अभिलाषा होना सहज ही है न?''

''ठीक है। अविवेकियों के लिए किसी भी विद्या का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि वे जो सीखते हैं, उसका स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करते हैं।''

''सो तो सत्य है। अपने को विवेचना सामर्थ्ययुक्त और विवेकी समझने वाले भी प्रायः अपने स्वार्थ के लिए उस सीखी विद्या का उपयोग करते देखे गये हैं।'' लक्ष्मीदेवी ने एक तरह से व्यंग्य करते हुए कहा।

''ऐसा भी होता है, लक्ष्मी। इसलिए हमें, जो राजमहल में रहती हैं, ऐसे स्वार्थियों से सदा सतर्क रहना चाहिए। क्योंकि ऐसे स्वार्थी एकता को तोड़कर सुख और शान्ति का नाश ही करेंगे।''

''हो सकता है। परन्तु यहाँ, इस राजमहल में, पट्टमहादेवीजी की वाणी ही वेदवाक्य है। ऐसी दशा में ऐसे स्वार्थी भी हार मानेंगे न?''

''पट्टमहादेवी भी आखिर एक स्त्री है। लोग उसे आत्मीयता से देखते हैं तो वह उनकी उदारता है। उनकी उदारता पर जोर डालें तो वे भी दूर हट जाएँगे। इसलिए हमें अधिकार के बल का प्रयोग नहीं, बल्कि उनसे स्नेह-प्यार पाने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए।''

''जो भी सामने पड़े, वही अनादर करे तो कोई प्रेम पाए भी कैसे?''

''वह स्त्री की सहज शक्ति है। अब तुम सन्निधान का प्रेम पाकर पुत्रवती बनी न?''

''परन्तु वही दूसरों की आँखों में किरकिरी बने तो उसकी जिम्मेदार मैं हूँ?''

''ऐसे विचार आने का क्या कारण है?''

''सो मैं क्या जानती हूँ? मैंने सन्निधान से जो प्रेम पाया, लगता है उसे अब खो बैठी हूँ।''

''सन्निधान ऐसे नहीं हैं।''

''मेरे साथ तो ऐसा ही हुआ है।''

''मैं विश्वास ही नहीं कर सकती।''

''हमें यहाँ आये कितने महीने गुजर गये?''

''चार-पाँच महीने हुए होंगे।''

''एक बार भी सन्निधान की दृष्टि मेरी ओर नहीं पड़ी। जाने दें, कम-से-कम बच्चे की ओर तो होनी चाहिए थी न?''

''पुरुषों और बच्चों के बीच सदा ऐसा ही व्यवहार हुआ करता है। देखो, मैं चार बच्चों की माँ हूँ। इन बच्चों के प्रति भी उनका ऐसा ही व्यवहार है। ज्यादा लगाव नहीं रखते। इसके यह माने नहीं कि बच्चों के प्रति प्रेम और वात्सल्य नहीं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। मगर इन बच्चों को कुछ सर्दी-जुकाम हो जाए तो समझते हैं पहाड़ ही सिर पर आ गिरा। हम स्त्रियों को चाहिए कि पुरुष को समझें।''

''परन्तु बम्मलदेवी और राजलदेवी के साथ जो समय बिताते हैं, उसमें से थोड़ा मेरे लिए और थोड़ा आपके लिए सुरक्षित क्यों नहीं रखते?''

''लक्ष्मी, हम सब एक ही आश्रय में रहती हैं। ऐसा जब कभी होता है तो वैसी स्थिति सहज ही पैदा हो जाती है। अब तो तुम्हारी तरह मैं आतंकित होती ही नहीं।''

''वह तो सहज है। सबसे पहले आप ही उनकी परिणीता हैं। और काफी समय तक आपका एकाधिकार उन पर रहा है, सुख-भोग भोग चुकी हैं।''

''सदा-सर्वदा मेरे हृदय में वे रहते हैं, इसलिए जुदाई का भाव ही नहीं आता। यहाँ तो अधिकार की बात ही नहीं उठती।''

''मैं इसमें विश्वास नहीं करती।''

''क्यों?''

''पास में रहकर भी दूसरों को सुख देते रहें तो हमको सुख कैसे प्राप्त होगा?''

''हमें नहीं मिल रहा, दूसरों को मिल रहा है—इस तरह का मनोभाव बन जाए तो वहाँ अतृप्ति होती है और आगे चलकर वही असूया और मात्सर्य का कारण बनती है। स्त्री अपने मन में इनके लिए स्थान देगी तो परिवार में हलाहल ही भरेगा।''

''आप संन्यासियों की तरह बात कर रही हैं। इस पर विश्वास कैसे किया जाए? सन्निधान पास में न रहें, फिर भी उनके पास में रहने की कल्पना कर लेना...न-न, यह सब मुझसे नहीं हो सकेगा। यदि कोई कहे कि ऐसी कल्पना की जा सकती है तो वह झूठ है।''

''मतलब?''

''बिना भोजन किये कभी भूख मिट सकेगी?''

''अक्षय पात्र का एक दाना कितनों के पेट भर सका, यह कथा तुमको मालूम है?''

"वह कौन-सी कथा है?"

"महाभारत में दुर्वासा-आतिथ्य की कथा।"

"मुझे तो मालूम नहीं।"

"श्री आचार्यजी के आराध्यदेव श्रीमन्महाविष्णु के अवतार श्रीकृष्ण भगवान् थे न? उसी कृष्णावतार के समय की वह घटना है। थोड़े में बहुतों को तृप्त करा देने की यह कथा श्रीवैष्णव होकर भी तुम नहीं जानतीं, यह तो आश्चर्य की बात है! हम जिसकी आराधना करते हैं, उसी के जीवन को यदि हम नहीं समझ सकें तो फिर उस आराधना का कोई अर्थ ही नहीं।"

"मेरे पिताजी ने कहा है कि निश्छल मन से आराधना की जाए तो फल जरूर मिलता है।"

"जब कभी वह अन्धविश्वास के लिए आधार भी बन जाता है। अन्धविश्वास भगवान् की निजी शक्ति का बोध नहीं करा सकता।"

"तो क्या मेरे पिता विवेकहीन हैं?"

"मैंने तुम्हारे पिता की बात कहाँ कही?"

"ऊपर से तो ऐसा ही लगता है। मुझे आपकी बातों से यही ध्वनित होता है कि मेरे पिता ही के विषय में आप कह रही हैं। आपका मन्तव्य तो यही है न कि उनकी भक्ति अन्ध-विश्वास मात्र है!"

"तुम्हारे मुँह से जो बात निकली वह तुम्हारे कथनानुसार यदि तुम्हारे पिताजी की है, तो उसका कोई दूसरा अर्थ सम्भव ही नहीं।"

"श्रीमदाचार्यजी से आगमशास्त्र में पारंगत होने की मान्यता जिन्हें मिली है, उन मेरे पिताजी के विषय में यदि आपके मन में यह धारणा है कि वे अन्धविश्वासी हैं तो उनके गुरु के बारे में कैसी भावना होगी, यह स्वयं स्पष्ट है।"

"इसे लेकर वाद-विवाद करने की मेरी इच्छा नहीं है। हर कोई आत्म-विश्लेषण करके अपने को समझे, तो स्पष्ट हो जाएगा।"

"आप भी अपवाद नहीं हैं न? मैं इतनी प्रभावशाली नहीं कि आपसे लोहा ले सकूँ। मुझे बहन की तरह न मानकर अब सौत की तरह आप क्यों देखती हैं? अपने इस व्यवहार का आपने आत्म-विश्लेषण किया है?" बात की दिशा बदल गयी।

"क्या मैं सौत की तरह देखती हूँ?"

"मुझसे क्यों पूछती हैं? वेलुगोल की कटवप्र पहाड़ी पर आपने जो बसदि बनवायी और शिलालेख लगवाये हैं, वे ही साक्षी हैं।"

"सौत की तरह देखने के लिए मुझे तुमसे कुछ तो असन्तोष होना चाहिए न?"

"सो मुझे क्या मालूम? आपने हम दोनों (पिता-पुत्री) को तिरस्कृत कर रखा है। हम पर विश्वास ही नहीं!"

"विश्वास अपने व्यवहार से प्राप्त होने वाली एक प्रशस्ति है। मात्र इच्छा करने से मिलने वाली चीज नहीं। वह मन्त्र-शक्ति से प्राप्त नहीं होती, या बाजार में बिकनेवाली चीज भी नहीं।"

"मैं आपके समान ज्ञानी नहीं हूँ। फिर भी मुझमें अकल है। मुझे भी चार-पाँच साल हो गये राजमहल की हवा खाये। मैं समझ सकती हूँ। मेरे भी आँख और कान हैं। सूँघ सकती हूँ, रुचि को पहचान भी सकती हूँ।"

"तुम्हारे मन में क्या है, उसे स्पष्ट कह दो। पहेली मत बुझाओ।"

"पहेली नहीं। मेरे और मेरे पिताजी के प्रति सन्निधान के मन में सन्देह पैदा करनेवाली की मति ही समस्या बन गयी है। चाहें तो उन्हीं से पूछ लें।"

"क्या! सन्निधान के मन में शंका पैदा कर दी गयी है! किसने की और क्यों?"

"आप-जैसे आत्म-विश्लेषण करनेवालों को इस तरह अनजान बनकर तो नहीं बोलना चाहिए! मेरे पिताजी को देश-निकाले का दण्ड देने की बात सन्निधान ने जो कही, उसका क्या कारण है?"

"सन्निधान ने किससे कहा?"

"मुझसे ही। इतने दिन मैं मौन रही। अन्दर-ही-अन्दर अँतड़ियाँ जल रही हैं तब से। यदि सन्निधान कहें कि आपके पिताजी को देश से निकाल देंगे तो आपके मन पर क्या बीतेगी?"

"किस सन्दर्भ में? सन्निधान ऐसी जल्दबाजी में कह देनेवाले तो हैं नहीं?"

"मेरी अकल मोटी है। यह सब मुझे मालूम नहीं। उन्हीं से पूछ लीजिए।"

"कम-से-कम यह तो बताओ कि कारण क्या है?"

"कितनी बार कहूँ? अभी बताया न! सवतिगन्धवारण विरुद और वह शिलालेख।"

"तो तुम मुझ पर सौतिया-डाह का आरोप लगा रही हो? वह डाह केवल तुम ही पर या..."

शान्तलदेवी की बात पूरी होने से पहले ही लक्ष्मीदेवी बोल उठी, "अगर उनके बच्चे हुए होते तो उन पर भी यह सौतिया-डाह होती। मेरे पुत्र हुआ, यही इस जलन का कारण है, यह तो स्पष्ट है।" बात कहते-कहते उसका मुँह लाल हो उठा।

"लक्ष्मी! किसी ने तुम्हारे मन को बिगाड़ रखा है। तुम्हें यदि पुत्र हुआ तो मुझे जलन क्यों हो, बताओ तो? तुमने क्या यही समझा कि मैं अपने सिवा किसी और को माँ बनते नहीं देखना चाहती?"

"सभी माँओं के बच्चे पोय्सल राजवंश के नहीं होते।"

"पोय्सल वंश के सभी बच्चे आगे चलकर राजा नहीं बनते।"

"क्यों नहीं बन सकते?"

"राजा बनने के लिए नियम होते हैं, परम्पराएँ होती हैं।"

"हो सकती हैं। उन नियमों और परम्पराओं को चलने न देने की चतुराई जब हो तो उनका क्या प्रयोजन?"

"इसमें चतुराई की क्या बात?"

"उसके लिए जवाब चाहेंगी तो इसका जवाब दीजिए। सन्निधान के बड़े भैया बल्लाल राजा की मृत्यु और उनके पुत्र नरसिंह की मृत्यु आपके विवाह के बाद ही हुई न?"

"तुम्हारी इस बात का मतलब?"

"अपने ही अन्तःकरण से पूछ लें। आपको मेरे और मेरे पिताजी के प्रति द्वेष है। केवल हम दोनों पर ही नहीं, आचार्यजी के सभी भक्तों पर द्वेष है। आचार्यजी के सामने आपने अच्छा नाटक रचकर उनका मन जीत लिया है, ऐसा आप समझती होंगी किन्तु उन्हें सब मालूम है। आप अन्दर से कुछ और हैं, बाहर से कुछ और, यह भी वे जानते हैं। वे अपने सभी भक्तों को बता गये हैं। भगवान् के सामने हम क्षुद्र मानवों की शक्ति कुछ काम नहीं आती।"

"लक्ष्मी, इस तरह की अविवेकपूर्ण बातों के लिए कोई उत्तर मुझसे नहीं मिलेगा।"

"न मिले तो न सही। मैं अविवेकी भी हो सकती हूँ; मगर मैं भी बदला ले सकती हूँ। बहुत जिद्दी हूँ, याद रहे। अपनी अभिलाषा पूरी होने तक मैं भी चुप बैठनेवाली नहीं।"

"देखो लक्ष्मी, मैं किसी के लिए अड़चन बनकर नहीं आयी। तुम्हारे लिए भी मैं अड़चन नहीं बनी। ऐसा होता तो तुम्हारे विवाह को ही रोक देती। अकेली तुम्हारा ही क्यों, किसी दूसरे से विवाह करने से सन्निधान को रोक देती। तब सौत की बात ही नहीं उठती। मेरी आकांक्षा है कि सौत भी बहनों की तरह जिएँ। अपनी इस धारणा के कारण ही मैंने स्वीकृति दी। लगता है, मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। अब इस बात को सोचने का कोई प्रयोजन नहीं। रही बसदि की बात सो तुमने बात उठायी, इसलिए बताती हूँ। जहाँ उसे बनवाया है, उस जगह पर मेरी और सन्निधान की पहली इच्छा रूपित हुई थी। वहाँ सदा मन को शान्ति-प्रदान करनेवाले शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिष्ठा करायी। केवल इतनी बात है। यह शान्ति केवल मेरे लिए ही नहीं, सबको मिले यही मेरी इच्छा रही है। इसी तरह मैं सन्निधान को आचार्यजी के शिष्य बनने से भी रोक सकती थी। सो भी मैंने नहीं किया। दूसरों को संयम का उपदेश देने से यही उत्तम है कि स्वयं अपने को संयम में रखे, यही मेरी रीति रही है। इसी तरह मैंने कभी यह नहीं चाहा कि सन्निधान का सान्निध्य मुझे ही सदा मिले और दैहिक सुख प्राप्त होता रहे। इसे मैंने अपनी अन्य बहनों के लिए छोड़ रखा है।" कहते हुए शान्तलदेवी का अन्तर्मन दुःख से भर उठा।

"आप यों कारण बता सकती हैं। परन्तु दुनिया अन्धी नहीं। उसकी भी आँखें

हैं। दुनिया अकल से शून्य केवल मांस का एक लोंदा नहीं। उसके दिमाग में बातों को समझने की शक्ति है। वह जानती है कि आपके इस संयम के पर्दे के पीछे क्या-क्या छिपा है। आप पट्टमहादेवी हैं इस डर से कोई कहता नहीं। इस राजमहल में आपके अलावा किसी दूसरे का नाम कोई नहीं लेता, आपने सबको ऐसा बना रखा है। यदि लोग किसी का अच्छा भी सोचें तो कोई-न-कोई बहाना बनाकर ऐसों को दूर कर देती हैं।''

शान्तलदेवी की सहनशक्ति टूट गयी। उन्होंने घण्टी बजायी। नौकरानी अन्दर आयी। उससे कहा, ''रानीजी अपने विश्रामगृह में जाएँगी।''

नौकरानी ने परदा उठाया। रानी को मार्ग दिखाया।

लक्ष्मीदेवी ने इसकी अपेक्षा नहीं की थी। वह एक बार पट्टरानी की ओर, फिर परदे की तरफ देखकर उठकर चली गयी।

शान्तलदेवी बहुत देर तक चिन्तामग्न हो बैठी रहीं। लक्ष्मीदेवी की बातें ऐसी लग रही थीं कि मानो धारदार तलवार चल रही हो, जिधर चले उधर ही काटे। लक्ष्मीदेवी की आज की बातें शायद यादवपुरी की बातों से प्रेरित हैं। सन्निधान और रानी के बीच क्या बातचीत हुई थी, उसे तो वह जानती न थीं। सन्निधान ने भी इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं था। वे जानते थे कि यह सुनकर वृथा ही पवित्र हृदयवाली शान्तलदेवी का दिल दुखेगा। अब रानी लक्ष्मीदेवी की बातों को सुनने के बाद शान्तलदेवी के मन में कुतूहल जगा कि जानना चाहिए कि वहाँ क्या बातें हुईं। यों मन-ही-मन घुलते रहने से तो यही ठीक होगा कि वस्तुस्थिति समझकर, यह विचार किया जाए कि आगे क्या करना है। उन्होंने घण्टी बजायी।

नौकरानी आयी।

उससे कहा, ''चट्टला को या मायण को बुला लाओ।''

नौकरानी चली गयी। कुछ ही देर में चट्टला आ गयी।

काफी देर तक एकान्त में शान्तलदेवी चट्टला से बातें करती रहीं। अचानक सन्निधान के आगमन का सूचक घण्टा-नाद हुआ। पट्टमहादेवी के विश्रामागार का द्वार खुला। बिट्टिदेव ने अन्दर प्रवेश किया।

चट्टला, आदरसूचक ढंग से सिर झुकाकर जाने को तैयार हुई।

''चट्टला, तुम यहीं रहो।'' कहते हुए बिट्टिदेव पलँग पर बैठ गये। शान्तलदेवी, जो खड़ी हो गयी थीं, अब बगल के आसन पर बैठ गयीं।

''देवी, एक नयी खबर मिली है।'' कहकर रुके बिट्टिदेव।

''क्या? कोई धार्मिक क्रान्ति...?''

''तुमको ऐसी खबर मिली है?''

''खबर तो नहीं आयी है। परन्तु अन्दर-ही-अन्दर यह राज्य भर में फैली हुई-

सी मुझे लग रही है. सन्निधान ने जिस धर्म को स्वीकारा, उसे मैंने स्वीकार नहीं किया, इसलिए मैं उस धर्म की द्वेषी मानी गयी हूँ, ऐसा लग रहा है। मैं तो अपने धर्म को छोड़ नहीं सकती। मैं पट्टमहादेवी के पद को त्याग सकती हूँ। यह घोषित कर सकती हूँ कि मेरी सन्तान को यह सिंहासन नहीं चाहिए। मैं अपना शेष जीवन संन्यासिनी बनकर बिता सकती हूँ। मैं अन्य धर्म-द्वेषी भी नहीं हो सकती। मुझ पर यह आरोप न हो।'' शान्तलदेवी का स्वर उद्वेगपूर्ण था।

बिट्टिदेव चकित हो शान्तलदेवी की ओर देखने लगे और बोले, ''कैसे-कैसे मौके आये-गये, कभी तुमने संयम नहीं खोया। आज ऐसा क्यों? हम कुछ कहने आये तो तुम हमें कहीं और घसीटे ले जा रही हो!''

शान्तलदेवी ने आतंकित होकर पूछा, ''सन्निधान ने तिरुवरंगदासजी को देश निकाले का दण्ड देने की बात कही थी?''

बिट्टिदेव कुछ गम्भीर हो गये। क्षण-भर मौन रहे। फिर बोले, ''देवी, अब हम सारी बात समझ गये। इस सम्बन्ध में हम स्वयं ब्यौरेवार बता देंगे। फिलहाल एक शुभ समाचार है।''

''क्या?''

''जयकेशी जो हमारी ही तरह स्वतन्त्र होना चाहता था, वह अब चालुक्य विक्रमादित्य का दामाद बन गया है।''

''सच?''

''सच। इसलिए हमने शुभ समाचार कहा। हमारे भी भुज बेकार रहकर हमें निढाल कर रहे थे। अब उनके लिए योग्य काम मिल गया।''

''तो क्या यह जयकेशी चालुक्यों की तरफ से हम पर हमला करेगा?''

''न। उसमें इतना साहस ही कहाँ? चालुक्य दण्डनायक अचुगी ने उसकी भुजाओं को तोड़ रखा है। उनके हमला करने से पहले ही हम हमला न करें तो आगे चलकर तकलीफ उठानी पड़ेगी। इसलिए इस सम्बन्ध में विचार करने के उद्देश्य से कल एक गुप्त मन्त्रणा-सभा को बुलाया है।''

''अच्छा, इस मन्त्रणा-सभा में कौन-कौन उपस्थित होंगे, इसका भी निर्णय किया होगा?''

''यह कैसा नया सवाल है! पट्टमहादेवी नहीं जानतीं?''

''बात जानने के लिए ही तो पूछा।''

''केवल इतना ही नहीं, जिन्हें सूचना देने से हम चूक गये हों, उन्हें भी इस सभा में बुलवाने की सलाह पट्टमहादेवी से मिल सकेगी।''

''पहले सन्निधान बताएँ तो!''

''प्रधानजी, दण्डनायक, मन्त्रिगण और पट्टमहादेवी।''

"अकेला पट्टमहादेवी ही पर्याप्त नहीं। सभी रानियों को बुलवाना चाहिए, बिट्टियण्णा तो दण्डनायक की हैसियत से रहेगा ही। उसके साथ कुमार बल्लाल, और छोटे बिट्टिदेव भी रहें। वे दोनों अब इस लायक हैं। उन्हें भी राज्य-कार्यों में लगाना चाहिए।"

"रानी बम्मलदेवी का सभा में आने का कुछ माने भी है। परन्तु राजलदेवी और लक्ष्मीदेवी क्या करने के लिए वहाँ उपस्थित होंगी?"

"उनके रहने से बाधा क्या है?"

"राजलदेवी रहेगी तो कोई बाधा नहीं। परन्तु लक्ष्मीदेवी का रहना अनुचित है।"

"सो क्यों?"

"उसकी बुद्धि अभी इतनी परिपक्व नहीं। एक स्तर तक आकर रुक गयी है। स्वार्थ से भरी। वहाँ केवल विवेक-शून्य तेज जीभ मात्र है, इसलिए उसका दूर रहना ही अच्छा।"

"उचित स्थान न मिलने से अतृप्ति का भाव होगा ही, तब वह अतृप्ति स्वार्थ को अनुचित बढ़ावा भी देगी न? इसलिए सन्निधान कम-से-कम मेरे लिए रानी लक्ष्मीदेवी को भी बुलाएँ।"

"किसी भी तरह की उपयुक्त सलाह न दे सकनेवालों को बुलाने से क्या लाभ? उस रानी के लिए ये बातें चुरन्तीं ही नहीं।"

"कुछ भी हो, वह पोय्सल रानी तो है न?"

"ठीक, स्वीकार है।"

"अब तिरुवरंगदास को देश-निकाले के दण्ड के बारे में सन्निधान ने जो बात कही सो स्पष्ट करें।"

"हाँ।" कहकर बिट्टिदेव ने यादवपुरी तथा बेलुगोल में, खासकर कटवप्र पर, उनके और लक्ष्मीदेवी के बीच जो बातचीत हुई थी, वह सब कह सुनायी।

नियोजित मन्त्रणा-सभा बैठी। बहुत समय के बाद इस तरह की सभा बुलायी गयी थी। इससे लोगों में कुतूहल बढ़ा था। महाराज बिट्टिदेव, पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, रानी बम्मलदेवी, राजलदेवी, लक्ष्मीदेवी, प्रधान गंगराज और उनके बेटे एचिराज, बोप्पिदेव, सचिव मादिराज, दण्डनायक मरियाने, भरत और बिट्टियण्णा, सचिव पुनीसमय्या, रायण दण्डनाथ, कोनेय शंकर दण्डनाथ, केलदहत्ति नायक, मारसिंगय्या, चोकिमय्या आदि सभी प्रमुख उस सभा में उपस्थित थे। राजकुमार बल्लालदेव, छोटे बिट्टिदेव भी उपस्थित थे।

प्रधान मंच पर बीच में कुछ ऊँचे आसनों पर महाराज और पट्टमहादेवी विराज रहे थे। उसी पर थोड़ा नीचे रानियाँ और राजकुमार भी उचित आसनों पर बैठे थे। बाकी लोग प्रधानजी, मन्त्रिगण, दण्डनाथ सब अर्ध-वर्तुल-वेदिका के नीचे महासन्निधान के सामने सजे आसनों पर, विराज रहे थे।

सन्निधान के विश्वासपात्र कुछ लोग मन्त्रणागार की दीवार से सटकर बैठे हुए थे।

बिट्टिदेव ने सूचित किया, "प्रधानजी, पहले इस सभा को बुलाने का उद्देश्य बताएँ, बाद को सभी की राय लेंगे।"

प्रधान गंगराज उठ खड़े हुए, झुककर प्रणाम किया और कहा, "जैसी आपकी आज्ञा।"

बिट्टिदेव ने कहा, "आप बैठकर ही बताइए।"

"कोई हर्ज नहीं। जब शारीरिक स्थिति इस लायक नहीं रहेगी और मैं खड़ा होकर इस सिंहासन के प्रति गौरव न दे सकूँगा तब मुक्त कर देने की प्रार्थना करूँगा, मगर सन्निधान के सामने बैठकर बोलने जैसी धृष्टता मैं नहीं करूँगा। पट्टमहादेवीजी, रानियाँ, मन्त्रिगण और दण्डनायको! इस सभा ने आप लोगों में कुतूहल का भाव पैदा किया होगा, क्योंकि ऐसा समावेश इधर कुछ समय से हुआ ही नहीं। लेकिन शत्रुओं के हमले की खबर मिलती है तब इस तरह की सभा बुलायी जाती है। अभी तो इस तरह के हमले की कोई खबर किसी तरफ से नहीं आयी है। परन्तु राज्य के पश्चिमोत्तर की तरफ जो घटनाएँ घटी हैं, उनकी वजह से हमें शंका हुई है कि उनसे हमारे अस्तित्व को ही धक्का लग सकता है। आप सभी लोगों को मालूम ही है कि कदम्बवंशीय जयकेशी हमारी ही तरह चालुक्यों से अलग हो, स्वतन्त्र बन जाने की इच्छा प्रकट कर उसके लिए तैयारी भी करता रहा। वह चालुक्यों की मदद करने के लिए तैयार भी नहीं था। किन्तु सिन्द घराने के अचुगी को उकसाकर, उसकी सहायता करके, चालुक्य विक्रमादित्य ने जयकेशी को हरा दिया था। वही जयकेशी अब उनका दामाद बनने जा रहा है। पहले पोय्सलों पर हमला करवाकर हार खाने वाले चक्रवर्ती अब इस तरह अपना बल बढ़ाकर फिर से हम पर हमला करने की तैयारी कर रहे हैं। इससे पहले क्यों न हम ही हमला कर दें और हेद्दोरे तक अपना अधिकार जमा लें! यही सन्निधान की राय है। इसलिए फिलहाल क्या करने पर पोय्सल राज्य की भलाई हो सकती है, इस बारे में विचार के लिए यह सभा बुलायी गयी है। यहाँ उपस्थित हर महानुभाव अपनी सलाह दे सकते हैं।" इतना सूचित कर गंगराज महाराज को प्रणाम कर बैठ गये।

वित्त-सचिव भरतिराज उठे, प्रणाम किया, और बोले, "सन्निधान का विचार तो

सही है। परन्तु हमें अपनी आर्थिक क्षमता को आँक लेना होगा। यह सच है कि अभी कुछ समय से युद्ध न होने से राज्य के खजाने में धन जमा हुआ है। और, कर-वसूली भी अधिक हुई है। निस्पृह अधिकारियों ने नियमानुसार कर उगाहा भी है और अब आर्थिक स्थिति अच्छी है। ऐसे ही आहार-सामग्री की भी कमी नहीं। ग्रामीण क्षेत्रों में अनाज का संग्रह भी पर्याप्त है। रसद की चिन्ता नहीं, परन्तु सन्निधान के कहे अनुसार, पहले हम ही आक्रमण करें और यदि ऐसा ही निर्णय होता है तो हमारे पास जो भण्डार है वह पूरा नहीं पड़ेगा। इस हमले की बात फैल जाएगी तो राज्य के चारों ओर के और राज्य चौंकन्ने हो जाएँगे। चालुक्यों के साथ युद्ध करने के माने चेंगाल्व-कोंगाल्वों पर हमला करना नहीं। यह हम सब जानते हैं। अपने को अजेय समझनेवाले चोल, जो हमसे हार गये हैं, इस मौके पर दक्षिण की तरफ से हमें परेशान करेंगे ही, यह बात असम्भव नहीं। इसलिए राज्य की अन्य सीमाओं पर, प्रबल रक्षक दल को तैनात रखना होगा। राज्य का विस्तार हो जाने से अब इसकी सुरक्षा पहले से कहीं अधिक खर्चीली होगी। इतनी सब व्यवस्था करने के लिए हमारे खजाने में धन नहीं है। इसलिए आर्थिक सन्तुलन का रास्ता ढूँढ़े बिना, इस काम में लगना कहाँ तक ठीक होगा, यह विचारणीय है।''

बिट्टियण्णा ने बड़े उत्साह से कहा, ''पहले हमें स्वयं को मजबूत बनाना होगा। इसके लिए आवश्यक व्यवस्था का मार्ग तो ढूँढ़ना ही होगा। मगर इसके लिए हम समय को व्यर्थ गँवाते बैठे रहें और शत्रु हमला कर बैठे तो? आर्थिक स्थिति की बात लेकर हम चूड़ियाँ पहने बैठे रह सकेंगे? आत्मरक्षा के लिए शत्रु का सामना जितना आवश्यक है, राज्य के गौरव की रक्षा के लिए किया जानेवाला हमला भी उतना ही जरूरी हो जाता है। इसके लिए हमें आगे बढ़ना ही होगा। ऐसा ही निर्णय उचित लग रहा है। अपर्याप्त धन के लिए संग्रह करने की बात भी मान्य है।''

पुनीसमय्या बोले, ''राज्य का आत्मगौरव बनाये रखना प्रमुख कार्य है। इस बारे में बिट्टियण्णा की बात मेरे लिए मान्य है। परन्तु परिस्थिति का पूर्ण रूप से मूल्यांकन कर विमर्श करने के बाद ही निर्णय लें तो ठीक होगा। मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि चालुक्य फिर हम पर हमला करने की सोचेंगे।''

दण्डनाथ एचिराज ने कहा, ''मेरी माँ-दादी और घराने के गुरुवर्य शुभचन्द्र जी के सात्त्विक जीवन की मधुस्मृति में, हमारे घराने के लोगों द्वारा अपने ही धन से बनवाये गये मन्दिरों के बारे में राज्य में सुनाई देनेवाली बातों की याद जब आती है तो लगता है कि अपने ही राज्य में हमारे शत्रु हैं। पहले इन शत्रुओं का निर्मूलन हो, बाद को दूर के हमलों की या राज्य-विस्तार की बात पर सोचना-विचारना युक्तिसंगत होगा।''

दण्डनाथ एचिराज के कहने के ढंग से ऐसा लगता था कि उनके दिल में भारी पीड़ा है।

पट्टमहादेवी ने कहा, "एचिराजजी ऐसी गूढ़ता से यदि कहेंगे तो बात स्पष्ट नहीं होगी। साफ-साफ कहें तो अच्छा होगा!"

"क्षमा करें। मेरे बेटे एचिराज की बात पर सन्निधान ध्यान न दें। वह प्रस्तुत सन्दर्भ में अनावश्यक है। एचि! चुप बैठो।" गंगराज ने कहा।

वहाँ मौन छा गया। वहाँ जो भी उपस्थित थे, सब एचिराज और गंगराज की ओर देखने लगे।

बिट्टिदेव ने शान्तलदेवी की ओर देखा।

शान्तलदेवी ने कहा, "प्रधानजी का कहना ठीक है। प्रस्तुत विषय के साथ इस बात का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। हम आत्म-गौरव की रक्षा करने के लिए प्रस्तावित हमले के विषय में विचार कर रहे हैं। परन्तु एचिराज ने अत्यन्त दुखी मन से जो बात कही, उसके दो माने हैं। या तो वह धर्म से सम्बन्धित है या फिर राजमहल के धन के व्यय से। उनकी बात को यों ही टाल देना ठीक नहीं। इसलिए उचित होगा यदि एचिराज अपनी बात स्पष्ट कर दें। यह प्रधानजी का अपना निजी विषय है, ऐसा नहीं लगता। यह अधिक व्यापक है। धर्म के सम्बन्ध में इस तरह की टीका-टिप्पणी का सार्वजनिकों की ओर से होना हमारे राज्य के हित में ठीक नहीं। इसलिए प्रधानजी स्पष्ट करने के लिए उन्हें अनुमति दें।"

एचिराज ने पिता की ओर देखा।

गंगराज ने कहा, "इस विषय पर बाद में सोचा जा सकता है। अभी तो सन्निधान की सलाह के बारे में राय प्रकट करें।"

"ठीक, वैसा ही करें।" बिट्टिदेव ने कहा।

मरियाने बोले, "इस अवसर पर मंचियरस और सिंगिमय्या जी होते तो बहुत अच्छा होता! वे दोनों चालुक्यों की गतिविधियों से अपेक्षाकृत अधिक परिचित हैं। हो सके तो रानी बम्मलदेवीजी इस सम्बन्ध में कुछ कह सकेंगी, मुझे लगता है। हमारी बुद्धि केवल आज्ञा का पालन करना ही जानती है, राजनीतिक विषयों पर बहस कर सकें, इतनी योग्यता हमने अभी नहीं पायी। अब मेरे पिताजी की और बात थी। पिताजी के बड़े भाई भी उतने ही अनुभवी हैं पर वे भी इस वक्त यहाँ उपस्थित नहीं हैं। हमारे सन्निधान के पिताजी ने चालुक्यों का उपकार जो किया उसके बदले उन्हीं से इस राज्य का जो अपकार हुआ है, उसकी याद आती है तो मेरा सारा अंग जल उठता है। इसलिए क्षणभर भी सोचे बिना तुरन्त हमला कर देना उचित है।"

"चालुक्य और पोय्सलों की मैत्री एक प्राण और दो शरीर जैसी रही, यह सच है। उसका टूटना भी सच है। फिर भी हम यह बात सब जानते हैं कि वह पुरानी मैत्री

पुनःस्थापित हो, ऐसी सन्निधान की इच्छा रही है। उन्होंने और पट्टमहादेवी ने इस दिशा में प्रयत्न करने के उद्देश्य से चालुक्य पिरियरसीजी को माध्यम बनाकर मैत्री-साधन के लिए आस्थान कवि नागचन्द्रजी को वहाँ भेजा भी था। कवि का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। ऐसी हालत में अब हमारे सोचने को कुछ नहीं रहा। एकमात्र सन्निधान की सलाह को शिरोधार्य कर लेना ठीक लग रहा है।'' रायण दण्डनाथ ने कहा।

बोप्पदेव, केलदहल्लि नायक और भरत ने भी करीब-करीब यही राय दी।

''पट्टमहादेवी ने अपनी राय नहीं दी। और उसी तरह बुजुर्ग मारसिंगय्याजी ने भी कुछ नहीं कहा। वे दोनों भी अपनी-अपनी सलाह दें तो अच्छा।'' सचिव मादिराज बोले।

मारसिंगय्या ने कहा, ''हमारे समय से अब आप सब एक पीढ़ी आगे बढ़ आये हैं। इसलिए ऐसे मौके पर हमारा मौन रहना अच्छा है। क्योंकि हमेशा से यह क्रम चलता आया है कि नयी पीढ़ी के सामने पुरानी पीढ़ी का सोच अधिक कारगर नहीं होता। लगता है, आज की युवा पीढ़ी की गति हमारी गति-सीमा से कहीं अधिक है। इसलिए हम मौन रहें, यही अच्छा है। फिर भी लगता है कि एक बात का निवेदन कर दूँ। मेरी इस बात के लिए एचिराजजी की बातें ही प्रेरक हैं। हमारी पीढ़ी के लोगों में धर्म के मामले में सहिष्णुता की भावना रही आयी। सभी धर्म मानवीय मूल्यों को स्थापित करने पर बल देते हैं। इसे समझे बिना हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है कहकर, अपने को सर्वाधिकारी मानकर, अपनी बात को मनवाने की कोशिश शायद आज की पीढ़ी की अभिलाषा हो। इसीलिए प्रधानजी और उनके घराने वालों के मतधर्मों की सेवाएँ टीका-टिप्पणी का विषय बनी हुई हैं। इस तरह की धर्म सम्बन्धी टीका-टिप्पणी अन्दर-ही-अन्दर चलनेवाला आन्तरिक युद्ध है। एचिराज ने ठीक ही बताया। ऐसी भावना लोगों में फैलने लग जाए तो पन्थ बन जाएँगे। इससे राज्य में दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ने का मौका हो, उससे पहले ही ऐसी गुटबन्दियों को खतम करने के लिए विचार किया जाना चाहिए।''

बम्मलदेवी ने कहा, ''बुजुर्ग हेग्गड़ेजी की बात राज्य के आन्तरिक कल्याण की दृष्टि से सर्वथा मान्य है। यह सोचकर प्रस्तावित विषय को स्थगित करने की जरूरत नहीं। जब समूचे राष्ट्र की बात सामने उपस्थित होती है तब वैयक्तिक मत-वैभिन्न्य नहीं रह जाता। इसलिए अब यदि हमला करने की तैयारी करनी है, तो उत्पन्न हुए भेद भाव स्वतः खत्म हो जाएँगे। इसलिए हमला करने की राय उचित है। और फिर, ये चालुक्य स्वार्थी हो गये हैं। मैं और बहन राजलदेवी भी इसकी साक्षी हैं। पट्टमहादेवीजी की उदारता ने हमें एक व्यक्तित्व दिया है। हमारा कण्टकमय जीवन निष्कण्टक हुआ। पोय्सल राज्य को भी निष्कण्टक बनना हो तो चालुक्यों के आगे बढ़ने से पहले ही हमें उनकी शक्ति को तोड़ देना चाहिए।''

कुमार बल्लाल और छोटे बिट्टिदेव ध्यान से सारी बातें सुन रहे थे। राजकुमार होने की वजह से बहुत-सी बातों की जानकारी उन्हें भी हुआ करती थी। उन्हें अपनी शक्ति-सामर्थ्य का प्रदर्शन करने का उत्साह भी बहुत था। उनकी भी इच्छा हो रही थी कि कुछ बोलें। परन्तु बड़ों के आगे बोलना उचित न समझकर और स्वयं को अभी अनुभवहीन जानकर अपनी इस इच्छा को दबाये रहे।

पट्टमहादेवी ने राजलदेवी की ओर देखा। यदि कुछ कहना चाहें तो वह भी कुछ कहे, यही उनका मन्तव्य था। उसने कभी कुछ बोलने की बात सोची ही नहीं। आज भी उसकी यही स्थिति रही। इसलिए उसने नकारात्मक भावना से सिर हिला दिया।

अब निर्णय एक तरह से हो चुका, इसका ऐलान कर देना चाहिए।

वित्तसचिव मादिराज ने कहा, "तो आर्थिक क्षमता बढ़ाने के लिए क्या-क्या करना होगा, इस पर भी विचार कर लेना अच्छा होगा।"

बिट्टिदेव ने कहा, "अभी हम छठा हिस्सा कर के रूप में ले रहे हैं। उसे प्रस्तुत सन्दर्भ में पाँचवाँ हिस्सा कर दें। यही एक रास्ता है।"

पट्टमहादेवी ने सलाह दी, "लेकिन यह वृद्धि स्थायी न रहे। फिलहाल दो साल के लिए इसे लागू किया जाए। इसकी सूचना भी प्रसारित कर देना संगत होगा।"

मादिराज बोले, "एक बार देने लगे तो वही आदत पड़ जाएगी। इसलिए उसे कम करने का कोई कारण नहीं। इस कर को स्थायी बना देने से ऐसे अनिरीक्षित समयों में आवश्यकतापूर्ति करने के लिए पर्याप्त धन-संग्रह किया जा सकता है।"

पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने कहा, "वित्त-सचिव को सदा ही धन की चिन्ता रहती है। कर का बोझ कम करने की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। धनियों के लिए यह कर-भार बोझ न लगेगा, परन्तु राज्य में सभी धनी नहीं हैं, इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। फिलहाल दो साल के लिए यह वृद्धि बनी रहे। मैं यह नहीं कहती कि राज्य की मूल सम्पदा को बढ़ाना नहीं चाहिए। इसलिए आप अब जिन करों का विधान कर रहे हैं और आगे कौन कर लगाए जा सकेंगे, इन पर विचार कीजिए।"

मादिराज ने कहा, "मेरी एक छोटी-सी सलाह है। राज्य में रहनेवाले सभी मन्दिरों के लिए अनेक तरह के दान-धर्म और सेवा-कार्यों से धन-संग्रह हो रहा है। प्रत्येक मन्दिर की आय उस मन्दिर के लिए पूरी खर्च नहीं की जाती। यों हर वर्ष वह बचत बढ़ती जा रही है। स्थायी निधि के रूप में उसकी वृद्धि हो रही है। उस निधि का पूर्ण उपयोग न करने पर भी; आंशिक रूप में आवश्यकता पूर्ति के लिए उसे काम में लाया जा सकता है, ऐसा मेरा विचार है।"

रानी लक्ष्मीदेवी अचानक बोली उठी, "मन्दिर के धन का इस्तेमाल करना ठीक नहीं। वह केवल धर्म-प्रसार के लिए ही खर्च किया जाए, यही श्री आचार्य जी कहा करते थे।"

केलदहत्ति नायक बोले, "रानीजी का कहना ठीक है।"

बिट्टिदेव ने पूछा, "गंगराजजी, आपके गुरु क्या कहते थे?"

"पट्टमहादेवीजी से ही पूछ सकते हैं। मेरे गुरु अब इन्द्रलोक सिधार गये हैं। मगर पट्टमहादेवीजी के गुरुवर्य हमारे साथ हैं।" गंगराज ने कहा।

"भगवान् मानव-हित के लिए है। इस धन का विनियोग पोय्सल राज्य के हित के लिए करना उचित है। हमारे गुरु लोक-कल्याण ही चाहते हैं। मुझे लगता है श्री आचार्यजी भी इसका विरोध नहीं करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो क्या मैं झूठ बोल रही हूँ?" लक्ष्मीदेवी ने तुरन्त कहा।

शान्तलदेवी ने कहा, "मेरा मतलब यह नहीं। कोई जानबूझ कर झूठ क्यों कहेगा? परन्तु महात्माओं की बातें और उनका निर्धार ठीक मालूम न होने पर, बात सत्य से परे होने पर भी सत्य-सी लगती है।"

"शिवालय, जिनालय के स्वत्वों का जो चाहे विनियोग कर लें। परन्तु केशव मन्दिरों के स्वत्वों का इस्तेमाल न करें तो ठीक है।" लक्ष्मीदेवी ने एक निर्णयात्मक स्वर में अपना विचार प्रस्तुत किया।

मादिराज ने कहा, "राज्य में जब एक नियम अस्तित्व में आकर चालू हो जाता है तो किसी तरह के भेदभाव का विचार नहीं किया जा सकता, रानीजी को शायद इसका खयाल नहीं रहा होगा।"

रानी लक्ष्मीदेवी बोली, "इस बहाने शायद केशवालयों के अस्तित्व को मिटा देने का विचार है। आचार्यजी जब से इस राज्य को छोड़कर गये तब से एक-न-एक तरह से उनके भक्त सताये जा रहे हैं।"

बिट्टिदेव ने कुछ तेज होकर कहा, "रानीजी जानती हों तो बता दें कौन-कौन, कब, किसके द्वारा सताया गया है। कानों सुनी बात को प्रमाण मानकर, उस आधार पर यों नहीं कह बैठना चाहिए।"

साहस बाँधकर आखिर में लक्ष्मीदेवी ने पूछ ही लिया, "स्वयं सन्निधान ने ही मेरे पिताजी को देश-निकाले का दण्ड देने के बारे में नहीं कहा?"

बिट्टिदेव बोले, "हाँ, कहा। पर ऐसा किया नहीं। हमें अब लग रहा है कि वैसा न करके हमने गलत किया। इस राज्य में किसी भी धर्म के प्रति कोई अपचार कभी नहीं हुआ है। परन्तु, व्यक्ति किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, राष्ट्रद्रोह के कार्य में लगे तो उसे दण्ड देना ही होगा। एचिराज, बाद को जो कहना चाह रहे थे वह अब कह सकते हो।"

एचिराज उठ खड़े हुए और अनुमति माँगने की-सी दृष्टि से पिता की ओर देखा।

गंगराज धीरे से उठ खड़े हुए। बोले, "मेरी एक विनम्र प्रार्थना है। इस समय

धर्म के कारण उत्पन्न गुटबन्दी गौण विषय है। इसके बारे में बाद में भी विचार किया जा सकता है। अभी तो निर्णीत विषय पर ही चर्चा करना उचित होगा। हो सकता है, मन्दिर के धन के उपयोग की आवश्यकता न पड़े इसलिए आगे के कार्यक्रम पर विचार करना अच्छा होगा।''

''वही करेंगे। एचिराज, बैठ जाइए। हम शीघ्र ही हानुंगल जाएँगे। आवश्यक सैन्य दल वहाँ पहुँचे, इसकी व्यवस्था हो। हमारे साथ कुमार बल्लाल चलेंगे। कोवलालपुर की तरफ थोड़ी सेना के साथ छोटे बिट्टिदेव जाएँ, और वहाँ की राजकीय व्यवस्था का, चोकिमय्या की मदद से, निरीक्षण करें। चोकिमय्या ध्यान रखे कि पोय्सल हमारी भूमि पर कदम न रख सकें। उदयादित्य ने इस काम का निर्वाह बड़ी दक्षता से किया। हम उसे खोकर अभागे हो गये। अब कुमार बल्लाल को साथ ले जाकर उसे बलिपुर के आसपास कहीं नियुक्त कर देंगे। सिंगिमय्या और छोटे चलिकेनायक को और उनके बच्चों को उसके साथ छोड़ रखने का विचार भी हमने किया है। उत्तर और दक्षिण में हमारे दो बेटे रहेंगे। यहाँ राजधानी में पट्टमहादेवीजी के साथ विनयादित्य रहेगा। राजधानी अब प्रधानजी की सीधी देख-रेख में रहेगी। डाकरसजी का यादवपुरी हो में रहना अच्छा है। माचण दण्डनाथ बाद को हमारे साथ आ मिलें। पुनीसमय्याजी, बिट्टियण्णा और मरियाने भरत हमारे साथ चलेंगे। रायण दण्डनाथ पर वेलापुरी और सोसेऊर की देखभाल का दायित्व होगा। अब दो-तीन दिन के भीतर ही हम यात्रा पर निकल पड़ेंगे। मादिराजजी राजमहल के नये नियमों की जानकारी तुरन्त गाँव-गाँव भेज देंगे और कर-संग्रह करेंगे। एचिराज और बोप्पदेव यहीं रहकर योद्धाओं को शिक्षण देंगे। केलदहत्तिनायक रानी लक्ष्मीदेवी और कुमार नरसिंह की रक्षा के लिए यादवपुरी में उनके साथ रहेंगे।''

केलदहत्तिनायक बोले, ''वहाँ दण्डनायक डाकरसजी स्वयं होंगे, इसलिए मैं सन्निधान के साथ रहूँ तो...''

''छोटी रानी दूसरों पर विश्वास नहीं करतीं, इसलिए आप ही रहें। यदि वे यहीं रहना चाहें तो हमें कोई एतराज नहीं। यदि वे यादवपुरी जाना चाहें तो वहाँ रह सकेंगी, और उनके और कुमार नरसिंह के स्वास्थ्य की देखरेख के लिए जिस वैद्य को वे चाहें उन्हें नियुक्त कर लें।'' इतना कहकर बिट्टिदेव उठ खड़े हुए।

सभा समाप्त हुई। सब उठकर चले गये। राजमहल वाले भी अपने-अपने निवास की ओर चल दिये। सभी को मालूम हो गया था कि महाराज ने स्वयं अपना निर्णय विस्तार के साथ सुना दिया है। शान्तलदेवी को आश्चर्य हुआ कि महाराज ने इन सब बातों को उनसे भी नहीं पूछा। वह कुछ परेशान भी हुईं। उन्होंने उनके दर्शन करने चाहे। दोपहर बाद वे महाराज के पास गयीं। इसके पूर्व उन्होंने बम्मलदेवी से बातचीत कर ली थी।

पट्टमहादेवी जब महाराज के दर्शन करने आयीं तो चेहरा देखते ही महाराज को ऐसा लगा कि आज वह हमेशा की तरह प्रसन्न नहीं हैं। बिट्टिदेव ने कहा, "बैठो देवि, इस तरह हमारे द्वारा एकाएक निर्णय ले लेने के कारण यदि परेशान हुई हो तो हमें क्षमा करो। सच देवि, हमने तुम्हारी उदारता का बहुत दुरुपयोग किया है। अब हमें ही इस पीड़ा को भोगना होगा। वह कष्ट तुम्हें अथवा तुम्हारी सन्तान को न हो, इसलिए हमने तुमसे सलाह किये बिना ही तुम्हारे दो प्रबुद्ध बेटों को यहाँ के वातावरण से दूर रखने का निर्णय लिया है। भविष्य में क्या होगा, कौन जाने। फिर भी अब जो अपस्वर निकला है वह पीछे चलकर जोर पकड़ सकता है। इसलिए अभी से तुम्हारी सन्तान को स्वतन्त्र रूप से राज्य संचालन का मौका मिले, यह ध्यान में रखकर ही ऐसा निर्णय लेना पड़ा है। वे अपने अधिकार-क्षेत्र में राज्य-निर्वहण करते हुए प्रजा के प्रीतिपात्र बनें। यही प्रीति उनके लिए रक्षा-कवच बनेगी। और थोड़े समय के बाद विनय को भी इसी तरह एक भाग की जिम्मेदारी देने का निश्चय किया है। तुम अपने लिए कुछ न चाहने वाली, निर्लिप्त हो। कल तुम कहोगी कि मेरे बच्चों को कुछ नहीं चाहिए। दूसरों के सुख के लिए और उनकी आशा-आकांक्षाओं को सफल बनाने के लिए, अपना सब-कुछ त्याग कर देने के लिए भी तैयार हो जाओगी। इसलिए इस विषय में तुमसे सलाह लेना ठीक नहीं है, यही मानकर हमने स्वयं ही यह सब निर्णय कर लिया। इसके लिए तुम परेशान मत होओ। रानी लक्ष्मीदेवी को मन्त्रालोचना-सभा में बुलाने पर तुमने जोर दिया, सो हमने मान लिया था। उस रानी का मन कूपमण्डूक जैसा है, यह आज की सभा में स्पष्ट हो गया है। अब तुमसे हमें यही कहना है कि अपनी इस उदारता को कुछ कम करोगी तो अच्छा होगा। है न?"

शान्तलदेवी ने तुरन्त कुछ जवाब नहीं दिया। वास्तव में उन्हें इस बात की आशा नहीं थी कि उन्हें देखते ही बिट्टिदेव इतना सब कुछ बता बैठेंगे। उन्होंने अनुभव किया कि उनकी बातों में भविष्य की चिन्ता कितनी समा गयी है और उनका हृदय कितना दुखी है। उन्होंने यह भी समझ लिया रानी लक्ष्मीदेवी और बिट्टिदेव के बीच यादवपुरी और बेलुगोल में जो बातचीत हुई उसकी पृष्ठभूमि में उनकी ये बातें अर्थपूर्ण भी हैं। उनके दुखी हृदय को और दुखी करना दुस्साध्य था शान्तलदेवी के लिए। इसलिए वह सोचने लगीं कि क्या बातचीत की जाए।

"सन्निधान के निर्णयों के बारे में मैं असन्तोष जताने नहीं आयी। यह आक्रमण यदि कुछ समय के लिए टल सकता हो तो इस बीच कुमार बल्लाल का विवाह क्यों न करा दिया जाए, यही पूछने चली आयी। एक बार आक्रमण शुरू हुए तो यह कहा नहीं जा सकता कि वे कब तक होते रहेंगे। सन्निधान के साथ सिंगिमय्या और कुमार बल्लाल दोनों हैं ही। इसलिए सोच-विचार कर निर्णय कर लें तो कैसा हो?" कहकर शान्तलदेवी ने बात बदल दी। सचमुच वह इस बात को उठाना ही नहीं चाहती थीं।

''हो जाय, कोई हर्ज नहीं। बात बनती है तो यह काम भी सम्पन्न हो जाए। हमारा उस ओर ध्यान ही नहीं था! सिंगिमय्या भी हमसे ऐसी अपेक्षा कर रहे होंगे।''

''ऐसा करने से मेरे माता-पिता को भी कुछ सन्तोष होगा। वे आजकल कुछ भी बताते नहीं। हमारे पिताजी के भी कानों में आचार्यजी के भक्तों की टीका टिप्पणी की बातें पड़ी हैं, इससे वे बहुत चिन्तित हैं। आप से क्या छिपा, यह अन्तर्जातीय राज्य! जन जीवन में सह-अस्तित्व और समन्वय की साधना को प्रतिष्ठा करने वाला आदर्श राज्य! ऐसे इस पोय्सल राज्य में कहीं भेदभाव पैदा न हो जाए—धर्म या जाति के कारण, यह भय उनके मन में पैदा हो गया है। कुमार बल्लाल का विवाह हो जाए और फिर वह, सन्निधान के कथनानुसार, उत्तर के क्षेत्र का निर्वहण करने यदि जाता है तो ये भी वहाँ जाकर उसके साथ रहना चाहते हैं।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''सो तो ठीक है। लेकिन अभी हमारी चिन्ता कुछ और ही है। आचार्य के भक्तों पर काबू करना कोई कठिन कार्य नहीं है पर कुमार नरसिंह का मन अभी से बिगड़ जाए तो क्या हाल होगा?''

''सन्निधान को ऐसा सन्देह क्यों? कौन बिगाड़ रहा है उसे?''

''कौन क्या? वही तिरुवरंगदास। बेटी के मन को बिगाड़ रखा है न? हम अभी यही सोच रहे हैं। हम सोच रहे हैं कि आचार्यजी के पास इस आशय की एक चिट्ठी भेज दें कि वह अपने इस शिष्य को अपने ही पास बुला लें।''

''चिट्ठी से क्या होगा? उसका कुछ भी अर्थ निकाला जा सकता है। आचार्यजी स्वयं जानते हैं, इसलिए पत्र लिखकर उन्हीं के हाथ में देकर आचार्य जी के पास भेज देना अच्छा है। उसमें यह बता दें कि आचार्यजी के पास ही रहने की इच्छा प्रकट करने से इन्हें भेजा है तो शायद ठीक होगा।''

''सो भी उतना ठीक न होगा। हमारी राय में तो उससे यह कहकर कि इस पोय्सल राज्य के अन्न-जल का ऋण चुक गया है, उसे भेज देना अच्छा होगा।''

''कुछ भी करें, उनके मुँह पर ताला नहीं लगाया जा सकता। इसलिए उन्हें कहीं दूर के मन्दिर का धर्मदर्शी बनाकर भेज दिया जाए। बम्मलदेवीजी के आसन्दी प्रदेश के बाणवूर, कणिकट्टे में केशवजी के मन्दिर हैं। वहाँ भेज दें तो मंचियरसजी सँभाल लेंगे। रानी लक्ष्मीदेवी यहीं रहें। यादवपुरी न जाएँ। पिता का पुत्री से सम्पर्क न हो तो अच्छा।''

''बाप-बेटी में सम्पर्क न रहना ही अच्छा है। यों देखा जाए तो यादवपुरी यदुगिरि या वहिपुष्करिणी भी उसके लिए ठीक होंगे। ये बाणवूर, कणिकट्टे से बेहतर हैं; क्योंकि बाणवूर यहाँ से अधिक-से-अधिक तीन कोस दूरी पर है। मुझे तो लगता है कि उन्हें तलकाडु के कीर्तिनारायण मन्दिर का धर्मदर्शी बनाकर भेज दें। सबसे दूर रहेंगे।''

"रानी अगर इसका विरोध करें तो?"

"उसे मालूम हो तब न, बताएँगे ही नहीं। जैसा तुमने कहा, वह और कुमार नरसिंह यहीं रहेंगे।"

"इस तरह करना-कराना मन को ठीक नहीं जँचता। सो भी आत्मीयों के साथ! न-न। रानी के मन में जो कड़ुआहट आ गयी है, उसे दूर करने का प्रयत्न मैं भी करूँगी। जो भी हो, यह धर्मान्धता राष्ट्र की एकता को नष्ट न करे, इतना भर पर्याप्त है।"

"प्रयत्न तो कर सकती हो। किन्तु मुझे विश्वास नहीं कि ऐसा बदलाव आ जाएगा। कहावत है न 'नीच का संग मान भंग'। वातावरण कुछ ऐसा ही बन गया है। वैसे इसके मूल में हम ही कारण हैं। आत्म-संयम खोकर एक बुरी घड़ी में हम भावना में बहकर आचार्य के शिष्य हो जाने की बात कह बैठे। तब हमने पट्टमहादेवी की बात मानी नहीं। बात मानकर उसी तरह चलते तो आज यह स्थिति ही उत्पन्न न हुई होती।"

"अब इस बारे में सोचने की जरूरत नहीं। इसको चौदह वर्ष गुजर चुके हैं। ज्यों-त्यों दिन बीतते जा रहे हैं। खुजली शरीर को जब लग जाती है तो उसको चाहे कितनी भी दवा करें, पूर्ण रूप से मिटती नहीं। तात्कालिक रूप से थोड़ी-बहुत अच्छी हुई-सी लगने पर भी, मौसम बदलने के साथ फिर बढ़ने लग जाती है। पूरी तरह से वह शरीर का साथ नहीं छोड़ती। यह भी ऐसा ही है। इसलिए कुछ-न-कुछ उपचार करते हुए, तात्कालिक रूप से ही सही, शमन करते रहना होगा। इसलिए सन्निधान को इस बारे में बहुत चिन्तित होने की जरूरत नहीं।"

"इस सम्बन्ध में सोच-विचार करने के लिए हमारे पास समय ही कहाँ? परन्तु चिन्ता न करें तो सारी झंझट का बोझ तुम पर लादने का-सा होगा न? एक काम करेंगे। वह तो एक तरह से हठीली है। उसे भविष्य का ध्यान कहाँ? इसलिए वह चाहे तो जाकर यादवपुरी ही में रहे। उसे रोककर हम क्यों परेशानी मोल लें?"

"तिरुवरंगदास को यदि तलकाडु भेज दें तो फिर छोटी रानी यादवपुरी क्यों जाएगी?"

"यह भी सच है। तो रानी को तलकाडु न भेजें?"

"रानी को बता दें कि तलकाडु भेजने की सोची है। तब उसकी प्रतिक्रिया देखकर बाद में निर्णय कर लें।"

"यही ठीक लगता है। ऐसा ही करेंगे। प्रसंगवश हम अपने हृदय की एक बात और कह देना चाहते हैं। पट्टमहादेवी के विषय में इस भूमण्डल पर कोई चाहे कुछ भी कहे, खबर फैलाए, दुष्ट कहकर दोषारोपण करे, हम कभी भी, किसी भी कारण से, अपने आपसी प्रेम और विश्वास को नहीं खोएँगे। पट्टमहादेवीजी से हमें ऐसी ही

अपेक्षा है। हमारा यह प्रेम और विश्वास कभी किसी भी हालत में कम न हो।''

''नारी यदि किसी को समर्पित होती है, तो वह पूरे जीवन के लिए होती है, किसी काल-परिमाण के लिए नहीं।''

''परन्तु सभी नारियाँ ऐसी ही होंगी, इस पर विश्वास कैसे करें? तुम्हारी बात ही अलग है।''

''लगता है, सन्निधान नारी के व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध के साथ उसकी आशा-आकांक्षाओं को नहीं जोड़ रहे हैं। एक दुष्ट स्त्री भी एक ही से प्रेम करके उसे सफल बनाने का प्रयत्न करती है। इसलिए सन्निधान युद्ध-यात्रा पर रवाना होने से पहले रानी लक्ष्मीदेवी को संगसुख दें, यही अच्छा होगा। सन्निधान जब से यहाँ आये तब से उधर नहीं गये, यही सुना है।''

''जहाँ इच्छा न हो वहाँ कैसे जाएँ?''

''कुमार नरसिंह के रहते हुए यह सवाल करें तो?''

''तब की भावना ही दूसरी थी। अब ऐसा नहीं है। वह अन्य किसी पर दोषारोपण करती तो हम सह लेते। परन्तु जिन्हें हम अत्यन्त आदर और गौरव से देखते हैं, जो हमारे लिए मूर्तरूप विश्वास हैं, ऐसी पट्टमहादेवी के प्रति उसका इतना दुर्भाव! और तो और, इस पट्टमहादेवी के स्थान पर प्रतिष्ठित होने के उद्देश्य से शेष सभी का तिरस्कार? ऐसी बात उसके मुँह से स्वयं सुनकर भी हम चुप बने रहें? उसके मुँह से जब यह बात निकली तो लगा कि उसका गला घोंट दें। परन्तु तुमसे हमने संयम का पाठ जो पढ़ा था, हम चुप रहे। इसलिए हम इस विषय में अब और किसी की नहीं सुनेंगे।''

''मुझे जो लगा, मैंने आपसे निवेदन किया है। मैं फिर भी कहूँगी कि आग बुझाना हो तो हवा नहीं, पानी डालना होता है। आगे सन्निधान की मर्जी।''

''अब यह बात समाप्त करें। गुरुजी से पूछकर यात्रा के लिए मुहूर्त निकलवाना है।''

''शिल्पी जकणाचार्यजी होते तो पूछते ही मुहूर्त बता देते।''

''एक बार उनके गाँव क्रीड़ापुर जाना है। लेकिन अब जो भी करना है, इस दिग्विजय से लौटने पर ही।''

''वे अपने गाँव में एक मन्दिर का निर्माण करवा रहे हैं। उसे पूरा करके उसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर बुलानेवाले हैं। सन्निधान की दिग्विजय और वह कार्य—दोनों शायद एक साथ आ जुड़ें। सन्निधान के कहे अनुसार, गुरुजी को बुलवाकर, मुहूर्त निकलवा लूँगी। सन्निधान सदा की तरह बम्मलदेवी, चट्टलदेवी और मायण को साथ ले जाएँ।''

''लगता है, अब की बार राजलदेवी ने भी युद्ध में चलने का निश्चय किया है।''

''फिर तो अब की बार जीत हमारी ही होगी।''

''क्या मतलब? क्या राजलदेवी कुशल सैन्य-संचालक बन गयी हैं?''

''ऐसा नहीं। युद्ध एक तरह से द्यूत है। द्यूतदेवी के आकर्षण में जो पहले आगे बढ़ता है वह उसके गले में ही जयमाला डालती है। राजलदेवी पहली बार रणक्षेत्र में जा रही है इसलिए हमें विजय मिलनी ही चाहिए।''

''तो यही सलाह है कि राजलदेवी को युद्ध-क्षेत्र में ले जाएँ?''

''हाँ।''

''ठीक। हम स्वयं ही सिंगिमय्या से विवाह की बात छेड़ें या वे ही प्रस्ताव रखेंगे?''

''हरियला के विवाह के समय ही एक तरह से तय हो चुका था। घर की लड़की घर रही आये तो इसमें संकोच क्यों? सन्निधान भी दुविधा में न पड़ें। अम्माजी को साथ लेते जाएँ तो काम आसान हो जाएगा। यदि सन्निधान चाहें तो मैं भी चल सकती हूँ।''

''परन्तु यहाँ अराजकता फैल जाएगी। हम स्वयं इस बात का निश्चय कर लेंगे। तुम्हारी सलाह के अनुसार बुजुर्ग हेग्गड़ेजी भी साथ रहेंगे। कुमार बल्लाल की बात तय हुई। अब छोटा बिट्टिदेव?''

''वह सब सन्निधान के दिग्विजय से लौटने पर।''

''जब भी हो। फिर भी पट्टमहादेवी की दृष्टि में कोई कन्या है?''

''सन्निधान के ही नाम पर उसका नाम है न? सन्निधान की ही तरह उसने कन्या को चुन लिया हो तो?''

बिट्टिदेव जोर से हँस पड़े। शान्तलदेवी भी उनके साथ हँसने लगीं। दोनों के मन बचपन के उन दिनों की ओर उड़ चले। उसी की याद करते-करते दोनों बहुत देर तक बैठे रहे। फिर एक लम्बी साँस लेकर बिट्टिदेव बोले, ''फिर ऐसे स्वर्णिम दिन नहीं आएँगे, देवि। हमें यह सिंहासन न मिलता, वैसा ही स्वतन्त्र विहार करनेवाला पंछी होता तो कितना अच्छा होता!''

''विधि को कौन मेट सकता है?''

''देवि, यदि तुम स्वीकार करो तो इस दिग्विजय के बाद एक-दो साल एकान्त में व्यतीत करने की इच्छा है। तब तक कुमार बल्लाल राजकाज निभाने लायक हो जाएगा।''

''इस पर तभी सोचेंगे। अभी जो काम सामने हैं, वह करें।'' कहकर शान्तलदेवी बिट्टिदेव से विदा लेकर चली गयीं।

गुरुजी के द्वारा निर्णीत मुहूर्त के अनुसार, ठीक वक्त पर बिट्टिदेव ने युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया। उनके साथ बीच की दोनों रानियाँ थीं। बड़ी और छोटी रानियों ने उन्हें तिलक लगाकर, आरती उतारकर, विदा किया।

कुमार बल्लाल में उत्साह छलक रहा था। बिट्टियण्णा वहीं था, इससे उसका उत्साह दुगुना हो गया था। एक योद्धा ही समझ सकता है उस उत्साह को। सो भी यह प्रथम युद्ध-यात्रा! फिर तो पूछना ही क्या! परन्तु उसे यह मालूम नहीं था कि युद्ध-भूमि तक उसे नहीं ले जाएँगे।

छोटे बिट्टि की इच्छा थी कि पिता के साथ जाए। सीधे पिताजी से पूछ ले, इतना साहस नहीं था। इसलिए माँ के पास गया और अपनी इच्छा बतायी।

"बेटा, सारी बातों पर विचार करके निर्णय लिया गया है। अब युद्ध में जाने से भी अधिक राजकाज के संचालन की रीति-नीतियों को जानना आवश्यक है। इसलिए तुम्हारा चोकिमय्या के साथ कोवलालपुर जाना ठीक होगा।" माँ ने कहा।

"तो भैया का जाना?" छोटा बिट्टिदेव बोला।

"क्यों बिट्टि! तुम्हें ईर्ष्या हो रही है?"

"नहीं। उसको ही कोवलालपुर भेजकर मुझे साथ क्यों न ले जाया जाए?"

"तुम बड़े या वह?"

"वह।"

"तो वही न आगे चलकर पोय्सल राजा होगा।"

"हाँ।"

"इसलिए जितना बन पड़े, उसे सन्निधान के साथ रहना चाहिए। तुम्हें भी उसका दायाँ हाथ बनकर राज्य-संचालन के काम में योग देने में समर्थ बनना होगा। इसीलिए सन्निधान तुम्हें चोकिमय्या के साथ रखकर दक्षिण और दक्षिणपूर्व के प्रदेशों के राजकाज सँभालने के लिए भेजना चाहते हैं। इसलिए कुछ न कहना। चुपचाप सन्निधान की आज्ञा के अनुसार चलना।" शान्तलदेवी ने समझाया। छोटे बिट्टिदेव ने माँ के आदेश के अनुसार महाराज के समक्ष यह बात नहीं छेड़ी। महाराज के प्रस्थान के बाद वह कोवलालपुर की ओर चल पड़ा।

रवाना होने से पहले महाराज बिट्टिदेव ने रानी लक्ष्मीदेवी के साथ एक रात बितायी। यह शान्तलदेवी की इच्छा थी। पता नहीं, क्षोभ कम हुआ या नहीं, उस समय बिट्टिदेव ने कहा, "तुम्हारे पिता को हमने धर्मदर्शी का काम देने का निश्चय किया है।"

"देश-निकाला देने की बात..."

"वैसा नहीं कहते तो तुम यहाँ आतीं? तब वह बात कहना जरूरी था।"

"महाराज से विवाह हुए वर्षों बीत गये, फिर भी मुझे इस राजमहल की रीति-

नीति समझ में नहीं आयी।''

''समझने की शक्ति भी नहीं। न सहिष्णुता है, न ही वैसी रुचि । अच्छा, जाने दो। अब तो तुम्हें सन्तोष है?''

''मेरे सन्तोष के लिए उन्हें यह धर्मदर्शी का पद दिया जा रहा है?''

''जब उन्हें धर्मदर्शित्व से मुक्त किया था तो तुम्हें बुरा लगा था न?''

''हाँ, लगा तो था।''

''इसलिए अब तो सन्तुष्ट होना ही चाहिए। इस दिग्विजय से हमारी वापसी तक यहीं दोरसमुद्र में रहोगी या अपने पिता के साथ?''

''सन्निधान की क्या इच्छा है?''

''अब तुम जहाँ भी रहो, अकेली ही न? इसलिए सन्निधान की इच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं। तुम्हारी इच्छा क्या है?''

''वह वेलापुरी में धर्मदर्शी बनना चाहते थे।''

''अभी जो वेलापुरी में हैं उन्हें स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। वेलापुरी में आचार्यजी की प्रेरणा से विजयनारायण की प्रतिष्ठा हुई है, तो तलकाडु में कीर्तिनारायण प्रतिष्ठित हुए हैं। तुम्हारे पिताजी का वहाँ तलकाडु में जाना उचित होगा, यह हमारी राय है।''

''इतनी दूर?''

''कहाँ से दूर?''

''राजधानी से।''

''क्या, यादवपुरी निकट है? वह यहाँ से सात कोस है तो तलकाडु दस कोस, इतना ही।''

''उनसे भी वहीं पूछ लेते तो अच्छा होता न?''

''तब यह विचार नहीं था। यहाँ आने के बाद हमारी पट्टमहादेवीजी की सलाह पर, प्रधानजी से विचार-विमर्श करके, हमने यह निर्णय लिया है। अगर तुम यहीं रहोगी तो पट्टमहादेवी जी तुमको राजकाज में लगाएँगी और तुम्हें उसके योग्य बनाएँगी। यदि यह सब तुम्हें रुचिकर नहीं तो चुपचाप आराम से रह सकती हो। या फिर चाहो तो तलकाडु जाकर अपने पिता के साथ भी रह सकती हो। उनके साथ रहने को वहाँ तुम्हारे निवास आदि की व्यवस्था भी करवानी पड़ेगी। इसलिए तुम अपना निर्णय बता दो।''

''थोड़े दिन यहाँ रहकर, बाद को वहाँ चली जाऊँगी।'' रानी लक्ष्मीदेवी ने कहा। उसका विचार था कि अपने जाने की बात कह दूँ तो पिताजी को वहाँ अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। पर वास्तव में उसने वहाँ जाने का निर्णय उस समय नहीं कर पाया था।

"ठीक।" कहकर बिट्टिदेव ने इस बात को वहीं समाप्त कर दी थी। फलस्वरूप रानी लक्ष्मीदेवी और उसका बेटा कुमार नरसिंह राजधानी में ही रहे आये।

महाराज की ओर से सप्ताह में एक बार समाचार मिलता और इधर से भी खबर भेजी जाती। रानी लक्ष्मीदेवी भी यहाँ अपनी तरफ से जानकारी ला रही थी।

महाराज के दिग्विजय-यात्रा पर रवाना होने के चार पखवाड़ों के बाद, एक दिन पट्टमहादेवी को मारसिंगय्या का एक पत्र मिला। उसमें एक खुशखबरी थी। कुमार बल्लाल का विवाह पक्का होने का समाचार था। साथ ही यह भी समाचार था कि इन परिस्थितियों में यह विवाह राजधानी में सम्पन्न नहीं हो सकेगा। वह राज-वैभव का द्योतक होने की बजाय धार्मिक शास्त्र-विधि से हो। यह भी बताया गया था कि इस विवाहोत्सव का आयोजन तुंगभद्रा के उत्तर की तरफ, युद्ध-क्षेत्र के निकट ही करने का आदेश स्वयं महाराज ने दिया है।

पत्रवाहक से युद्ध-क्षेत्र की भी कुछ खबरें शान्तलदेवी को मालूम हुईं। विवाह का निमन्त्रण कहाँ-कहाँ, किस-किस को दिया गया है, इस बात का भी विवरण मालूम हुआ। राजमहल के निकट सम्बन्धियों और कुछ प्रमुख अधिकारियों के लिए ही निमन्त्रण था। और यह भी बताया गया था कि इस विवाह का किसी तरह का प्रचार नहीं किया जाना चाहिए। यदि यह समाचार पहले से ही फैल गया, तो शत्रु अवसर का लाभ उठाकर हमला कर सकते हैं। ऐसा मौका नहीं आना चाहिए।

राजधानी से थोड़े-से लोगों को ही रवाना होना था। पट्टमहादेवी, रानी लक्ष्मीदेवी, विनयादित्य, नरसिंह, माचिकब्बे, रेविमय्या और विवाह के लिए आमन्त्रित रानी पद्मलदेवी, चामलदेवी, बोप्पिदेवी और तलकाडु से पहले ही पहुँचनेवाले तिरुवरंगदास, ये ही प्रमुख जन थे। इन सबकी सुविधाओं का खयाल रखने के लिए आवश्यक नौकर-चाकर, और देख-रेख के लिए एक रक्षक-दल, ये सब इस टोली में सम्मिलित हुए।

नियोजित स्थान पर उनके पहुँचने तक कोवलालपुर से छोटे बिट्टिदेव और चोकिमय्या भी आ पहुँचे।

उत्सव के सीमित होने पर भी, वहाँ राजोचित वैभव कम नहीं था। निश्चित मुहूर्त में कुमार बल्लाल का महादेवी के साथ विवाह सम्पन्न हो गया। मारसिंगय्या ने ही इस कन्या का नाम महादेवी रखा था। इस विवाह से उन्हें हर्ष हुआ था। एक तरफ मरियाने का घराना, दूसरी तरफ मारसिंगय्या का घराना। इन दोनों का सम्बन्ध पोय्सल राजघराने के साथ जिस मुहूर्त में हुआ था, तब से वह, अलग-अलग रूप में बराबर बढ़ता रहा।

विवाहोत्सव की समाप्ति पर बिट्टिदेव ने एक आदेश दिया। उसके अनुसार कुमार बल्लाल को रानी महादेवी के साथ राज्य के पश्चिमोत्तर प्रदेश में, चलिकेनायक और उसके पुत्रों की मदद से, राज करना था। फिलहाल बल्लाल युद्ध क्षेत्र में न आवें,

आवश्यकता हुई तो अवश्य बुलवा लेंगे—यह भी निर्देश था।

सभी कार्य-कलाप सप्ताह के अन्त तक समाप्त हो गये। महाराज युद्ध-शिविर की ओर चल दिये। काफी लोग राजधानी की तरफ रवाना हुए। आमन्त्रित अन्य जन अपने-अपने घर चले गये। कुमार बल्लाल वहीं ठहर गये। उसके सलाहकार की हैसियत से मारसिंगय्याजी भी वहीं ठहरे रहे। यह कहने की जरूरत नहीं कि माचिकब्बे भी पति के साथ वहीं रुक गयीं।

विवाह के अवसर पर हरियलदेवी आयी थी। उसकी गोदी में छह महीने की बच्ची थी। दण्डनायक भरत की इच्छा थी इसलिए उसका शान्तला नाम रखा गया था। विवाहोपरान्त हरियला अपनी सास के साथ यादवपुरी चली गयी।

रानी लक्ष्मीदेवी ने कुछ दिन राजधानी में ठहरने के लिए अपने पिता से कहा। पिता एचोदास ठहर गये। परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मीदेवी अपने पुत्र के साथ शीघ्र तलकाडु चली गयी। किसी तरह का रक्त सम्बन्ध न रहने पर भी, उससे भी ज्यादा अपनापन होने के कारण रेविमय्या पट्टमहादेवी और विनयादित्य, इन दोनों के साथ बना रहा। वह वृद्ध हो चला था, अतः उसे किसी काम में नहीं लगाया गया था। वह एक तरह से अवकाश-प्राप्त जीवन बिता रहा था। अपना अधिक समय वह राजकुमार विनयादित्य के साथ व्यतीत करता। पोय्सल राज्य को स्थिरता देने वाले राजा विनयादित्य के समय में राजमहल की सभी बातों से रेविमय्या परिचित था। परदादा के जमाने से आज तक गुजरी सभी बातें रेविमय्या ने विनयादित्य से कहकर, उसके मन में अपूर्व जोश भर दिया था। पोय्सल वंश की कोई भी बात या ऐतिहासिक घटना बताता तो उसके मुँह से पट्टमहादेवी शान्तलदेवी की बात अनायास ही निकल पड़ती। उनके बारे में बातें करते-करते वह अत्यन्त भावुक हो जाता। अपनी माँ के प्रति रेविमय्या की भावना और उसके विचार जानकर, विनयादित्य के हृदय में उसके प्रति विशेष आदर-भाव पैदा हो गया। रेविमय्या की बातें सुनना एक तरह से विनयादित्य के लिए मिष्टान्न भोजन-सा होता। सुनकर उसे लगा कि क्यों न माँ के इन सारे गुणों को वह आत्मसात् कर ले। उसने समझ लिया कि द्वेष और असूया के स्थान में प्रेम और आदर का भाव बढ़ाकर सभी को अपनाना श्रेष्ठ राज-मार्ग है। वह अपने माँ-बाप जैसा बुद्धिमान् था भी। सारी बातों को जानने और समझने का सहज कुतूहल भी उसमें था। हर दिन का पाठ-प्रवचन का अभ्यास, और अन्य क्षत्रियोचित शिक्षण के साथ, अन्य विषयों को भी वह जानने-समझने का प्रयत्न करता। मानव को आदर्श व्यक्ति बनना हो तो दूसरों को समझने का प्रयत्न करना आवश्यक है, उसके मन में यह बात अच्छी तरह पैठ गयी। फलतः वह मानव-स्वभाव का अध्ययन करने लगा। उसे किसी के बारे में कुछ सन्देह होता तो वह रेविमय्या से चर्चा कर लिया करता।

रानी लक्ष्मीदेवी के अपने पिता के साथ तलकाडु चले जाने के बाद, एक दिन

विनयादित्य ने रेविमय्या से एकान्त में बात छेड़ी। उसने कहा, ''रेविमय्या, मेरे मन में एक शंका है। वह ठीक है या गलत, सो मालूम नहीं। तुम बता सकोगे, मुझे लगता है।'' कहकर वह रुक गया।

''आधी बात कहकर रुक जाओ तो उत्तर कैसे दे सकूँगा, अप्पाजी?''

''हमारी सौतेली माँ रानी लक्ष्मीदेवीजी स्वभाव की कैसी हैं, रेविमय्या?''

''इस बारे में स्वयं अप्पाजी की क्या राय है?''

''मुझे लगता है कि वे कुछ ईर्ष्यालु हैं।''

''ऐसा क्यों?''

''यह तो मालूम नहीं क्यों? वे जब दूसरों को देखती हैं तब ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि सहज नहीं। लगता है कि कुछ शंका है उन्हें, और कुछ खोज रही हैं।''

''अप्पाजी, अभी आप सोलह के भी पूरे नहीं हुए। अभी से दृष्टि का अर्थ निकालने लगे?''

''मैं अर्थ नहीं निकाल रहा, माँ नृत्य सिखाती थीं तो अनेक बार मैं उसे देखा करता था। मैं छोटा था, इसलिए मेरे वहाँ जाने पर कोई रोक-टोक नहीं थी। तब माँ दिखाया करती थीं कि दृष्टि से किस तरह भिन्न-भिन्न अर्थ निकलते हैं। और स्वयं करके दिखाया करती थीं; और छात्रों से करवाकर, उस दृष्टि का अर्थ बतातीं। मैं भी जब अपने विश्राम-कक्ष में अकेला होता तब आईने के सामने खड़े होकर, आँखें उसी तरह बनाता और दृष्टि का अर्थ ग्रहण करने लगता। इसलिए मुझे उनकी दृष्टि को परखने का जब कभी मौका मिलता है, तब ऐसा ही लगता है। मैं ठीक कह रहा हूँ न?''

''पट्टमहादेवीजी ने स्वीकार किया तभी न वे रानी बनीं?''

''माँ को एक तरह का धीरज है, आत्मविश्वास है। यह कि चाहे कोई कैसा भी हो, उन्हें वह अच्छा बना लेंगी। इसलिए उन्होंने इस बारे में ठीक तरह से सोच-विचार नहीं किया, ऐसा प्रतीत होता है।''

''केवल बाहरी तौर पर व्यक्ति की परख नहीं हो सकती। उसके अन्तरंग तक पहुँचने की योग्यता होनी चाहिए—पट्टमहादेवीजी के इस कथन को आपने सुना नहीं?''

''सुना है। इस तरह की सिद्धि पाने के लिए अनुभव भी तो होना चाहिए—यह भी वे कहती हैं। तुमसे पूछना और सुनना उस अनुभव को पाने का मार्ग ही तो है!''

''अप्पाजी, आपके मन में ऐसा भाव उत्पन्न होने के पीछे वही एक कारण है, या दूसरा और भी कोई है?''

''क्यों रेविमय्या, मेरे प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर, कुछ और ही पूछकर बात को टाल रहे हो न?''

''ऐसा नहीं, अप्पाजी! एक कहावत सुनी है? गरीब की जोरू, गाँव भर की

भौजाई। इसलिए मौन रहना अच्छा है।''

''तुम कोई गरीब तो नहीं हो न? तुम्हें किस बात की कमी है? तुम्हारी निष्ठायुक्त सेवा से सन्तुष्ट होकर राजमहल ने तुम्हें तुम्हारे अपने गाँव में काफी जमीन-जायदाद दे रखी है।''

''मुझे जमीन-जायदाद की क्या जरूरत है? न जोरू, न बच्चे। कुछ भी तो नहीं। मेरा वंश तो मेरे साथ ही खतम। कभी एक बार पट्टमहादेवीजी के मन में मेरे ऊपर दया हो आयी। तब वे छोटी ही थीं। उनकी उस दिन की कृपा ने आज तक मुझे यहाँ बाँध रखा है। मेरा जीवन उनकी चरण-सेवा में ही समाप्त जब होने को है तो मुझे यह सब नहीं चाहिए। मैंने उनसे यह कहा भी था। तो पट्टमहादेवीजी ने कहा था कि एक निष्ठायुक्त प्रजा को महाराज यदि कुछ देते हैं तो उसे सहर्ष शिरोधार्य कर लेना चाहिए, इनकार नहीं करना चाहिए। नाम मात्र के लिए वह जमीन मेरे नाम पर है। परन्तु उससे जो भी फल-फसल मिलती है वह सब भगवान् की सेवा-कैंकर्य के लिए धरोहर के रूप में रख छोड़ी है। अप्पाजी, जैसा आप कहते हैं, मैं गरीब नहीं हूँ। उस करुणामयी माँ की कृपा मुझ पर जब तक है, तब तक मैं कदापि गरीब नहीं। परन्तु मैंने राजमहल में कई दशाब्दियाँ बितायी हैं। इससे एक पाठ मैंने सीखा है। राजमहल के सगे-सम्बन्धियों के विषय में मैं कुछ नहीं बोलूँगा, कभी भी।''

''यह बात पहले ही बता देते तो इतनी सारी बातें ही नहीं होतीं?''

''मैंने ऐसा कुछ नहीं सुना जिसे सुनना नहीं चाहिए, अप्पाजी! आपके इस छोटे-से निर्मल हृदय में इस तरह की भावना यदि उत्पन्न हुई तो इसका कोई बड़ा कारण होना चाहिए, यह मुझे लग रहा है। उसे जानने के लिए मैंने प्रश्न किया। उचित समझें तो बताएँ।''

''तुम मुँह बन्द करके बैठ जाओ तो मैं क्या कहूँ?''

''आपकी हर समस्या का उत्तर मिलेगा, ऐसा तो तय नहीं हुआ न?''

''वह तो तुम करनेवाले नहीं।''

''मेरे न बोलने मात्र से आपने यह कैसे समझ लिया?''

विनयादित्य के मुँह से तुरन्त कोई बात नहीं निकली। वह टकटकी लगाकर रेविमय्या के झुर्रीदार चेहरे को देखने लगा।

विनयादित्य को मौन देखकर रेविमय्या ने पूछा, ''क्यों अप्पाजी, मेरी बातों पर विश्वास नहीं है?''

''विश्वास नहीं, ऐसी बात नहीं। बताओ मुझे उत्तर कहाँ मिल सकता है?''

''पट्टमहादेवीजी से आपको सही उत्तर मिल जाएगा, अप्पाजी!''

''तो क्या माँ से पूछने को कह रहे हो?''

''हाँ।''

''अगर मैं उनसे पूछ सकता तो तुमसे यह प्रश्न ही क्यों करता, रेविमय्या?''

''तो क्या आप पट्टमहादेवीजी से नहीं पूछेंगे?''

''नहीं।''

''क्यों?''

''तुम ही जब नहीं बताते तो वे बताएँगी क्या?''

''देखो अप्पाजी, मैं एक साधारण नौकर ठहरा। मालिकों के बारे में मेरा कुछ कहना उचित नहीं है। मेरा सम्पूर्ण जीवन ही इसी तरह गुजरा है। परन्तु पट्टमहादेवीजी सबसे ऊपर हैं। उनके कहने में कोई रोक-रुकावट नहीं।''

''तो क्या तुम समझते हो कि वे कहेंगी?''

''यह आपके सवाल करने के ढंग पर निर्भर करता है, और उस सम्बन्ध में आपकी जानकारी कितनी है, और कैसे मालूम हुआ, आदि बातों पर भी।''

''ओह! इसीलिए तुमने पूछा था कि कोई और भी कारण है?''

''हाँ, आपको अगर मालूम हो तो बताएँ, अप्पाजी!''

''नहीं बताते।''

''कोई जबरदस्ती नहीं। एरेयंग प्रभु के समय से लेकर आज तक किसी ने किसी भी बात को उद्देश्यपूर्वक मुझसे छिपाये नहीं रखा। उन सभी ने मुझ पर विश्वास रखा था, कभी मनसा-वाचा-कर्मणा मैंने विश्वासघात नहीं किया। बड़े चलिकेनायक और मैं, केवल हम दो ही इस राजवंश के पूरे-पूरे विश्वासपात्र रहे हैं।''

''दूसरे लोगों पर विश्वास नहीं रखते थे?''

''ऐसा नहीं। जिससे जो कहना चाहिए, सो कहा जाता था। सभी को सब बातें मालूम नहीं होती थीं। परन्तु हम दोनों को सभी बातें मालूम रहती थीं। महाप्रधान गंगराज को भी सभी बातें मालूम होती रही हैं, ऐसा मत समझो अप्पाजी!''

''यह नयी बात सुन रहा हूँ आज तुम्हारे मुँह से! ऐसी भी बातें होती हैं जिन्हें प्रधानजी को भी नहीं बताया जाता?''

''होती हैं, अप्पाजी। आप पट्टमहादेवीजी से ही पूछ लें। वे बताएँगी आपको। बड़े हेग्गड़े मारसिंगय्याजी एरेयंग प्रभुजी के प्रिय और जाने-माने हेग्गड़े रहे। इस पर वे समधी भी बने। परन्तु उन्हें भी सभी बातें बतायी जाती रहीं, यह न समझें। इस राजमहल की बात ही कुछ ऐसी है। दो रहे तो एकान्त, तीन हुए तो अनेकान्त।''

''तब ठीक है। तुम्हारी सलाह के अनुसार मैं माँ से ही पूछूँगा। तब बात एकान्त ही बनी रहेगी। राजमहल की रीति के अनुरूप भी होगी वह। है न?''

''वही करें अप्पाजी, वही उचित मार्ग है।''

''तुम्हें असन्तोष तो नहीं होगा न?''

''असन्तोष और मैं, दोनों एक-दूसरे के बैरी हैं। वह मेरे पास फटकता तक नहीं।''

''तो एक और बात, रेविमय्या! यह तिरुवरंगदास है न...''

''हाँ हैं; उनकी क्या बात है?''

''तुमने मुझे पोय्सल वंश का इतिहास बताया है। परन्तु किसी भी प्रसंग में उसका नाम तक नहीं लिया। क्यों?''

''वह आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ इसलिए नहीं कहा।''

''क्यों आवश्यक नहीं? सुनता हूँ कि वह धर्म के नाम पर एक तरह की गुटबन्दी करने की बात सोच रहा है?''

रेविमय्या ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया।

''क्यों रेविमय्या, यह सच नहीं?''

''देखो अप्पाजी, यह बात आपको मालूम कैसे हुई, यह मैं नहीं जानता। उसमें सचाई कितनी है यही इस पर निर्भर करता है कि वह किसके जरिये बाहर आयी है। इसलिए...''

''मुझसे किसने कहा, इसे छोड़ो! तुम तो सोचकर इतना भर बताओ कि यह बात उठानी चाहिए या नहीं।''

''ऐसा नहीं अप्पाजी, चुगलखोरों का मन साफ नहीं रहता। दूसरों की बुराई करना ही उनका लक्ष्य होता है, इसलिए पूछा।''

''तो मेरे भाई बल्लालदेव ऐसे चुगलखोर हैं?''

''ऐसा कहूँ तो मेरे मुँह में कीड़े। वह कहते हैं तो सत्य होना चाहिए। किस प्रसंग में यह बात आपसे कही?''

''बेलुगोल में शान्तिनाथ भगवान् की स्थापना के सन्दर्भ में। उस समय न वह छोटी रानी माँ आयीं, न उनका वह पिता ही आया। तब हम वहीं बातचीत कर रहे थे। हमारे साथ बिट्टियण्णा भी थे। तब कहा था। तब से मुझे उस तिरुवरंगदास के प्रति घृणा-सी हो गयी है। सुनता हूँ कि उसकी इस तरह की हरकतों से क्षुब्ध होकर उन्हें धर्मदर्शित्व से भी हटा दिया गया था!''

''राष्ट्र की भलाई के लिए महाराज को कई बार अवांछित काम भी करने पड़ते हैं।''

''तो अब क्यों उसे फिर से यह मान्यता दे दी गयी? फिर से धर्मदर्शी की हैसियत से उसे नियुक्त क्यों किया गया?''

''जब पट्टमहादेवीजी ने स्वीकार किया है तो यह काम ठीक ही होना चाहिए।''

''शायद। लेकिन अगर फिर ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाए तो क्या करना होगा?''

''सम्भवतः फिर ऐसी स्थिति न आए, इसी विश्वास पर ऐसा निर्णय किया गया होगा।''

"अभी परसों क्या हुआ, मालूम है?"

"परसों?"

"परसों यानी विवाह के बाद, हमारे राजधानी लौटने के बाद, एक दिन यह दास उस रानी की चहेती दासी, वह मुद्दला है न, उसे पता नहीं क्या-क्या उपदेश दे रहा था।"

"कहाँ?"

"उन छोटी रानी-माँ के विश्रान्तिगृह से लगा एक रास्ता है न?"

"वही जो पीछे से राजोद्यान और केलिगृह की ओर जाने के लिए बना है?"

"हाँ। वहाँ दास जोर-जोर से बातचीत कर रहा था। मैं उद्यान के फूलों को देखकर चित्र-कला तैयार करने गया था; अपना कार्य पूरा कर लौट रहा था कि बातें कान में पड़ीं। वहीं रुककर, छिपकर सुनने लग गया।"

"क्या?"

"गलत है रेविमय्या, ऐसे छिपकर सुनना। ऐसे छिपकर सुनना मैं चाहता भी नहीं, ऐसा काम मुझे पसन्द भी नहीं। अनायास ही बात कानों तक पहुँची, और विषय हमसे सम्बन्धित था, फिर बिना सुने कैसे रहा जा सकता था?"

"पट्टमहादेवीजी को बताया?"

"नहीं। उसके यहाँ से चले जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। अब बता दूँगा। उससे पहले तुमसे विचार-विनिमय कर लेना ठीक मालूम पड़ा।"

"कहो, अप्पाजी!"

"दास ने सवाल किया—'यह पोय्सल सिंहासन कल किसका होगा जानती हो?' यह मेरे कान में पड़ी पहली बात है। सुनूँ या न सुनूँ, इस पर विचार करने के लिए समय ही कहाँ था रेविमय्या? बस सुनता हुआ खड़ा रहा। मुद्दला ने पूछा, 'तो सिंहासन किसका होगा?' इसका उत्तर उसने दिया, 'महाराज का जो बेटा अपने पिता के धर्म का अनुयायी होगा, वही आगे राजा बनेगा।' उस स्त्री ने जवाब दिया, 'सभी बच्चे अपने पिता के धर्म के ही होते हैं?' तो उसने कहा, 'हाँ, ऐसा होना लोकरूढ़ि है। परन्तु यहाँ उस रूढ़ि और परम्परा के लिए कोई स्थान ही नहीं। तुम ही देखो! तुम्हारी पट्टमहादेवी उधर पिता के धर्म का भी अनुसरण नहीं करती। इधर पति के धर्म में भी शामिल नहीं हुई। अपने को बहुत बड़ा मान, उस नंगे बाबा के धर्म का पालन कर रही हैं। ऐसी माँ अपने बच्चों को पिता के धर्म का अनुसरण करने देगी? तुम ही सोचो। देखो मुद्दला, बातों-बातों में यह बात मुँह से निकल गयी। कभी कहीं किसी से कह मत देना। तुम अपने बारे में या अपने बच्चों के बारे में इस धार्मिक चर्चा को मत छेड़ बैठना। तुम्हारे पति का धर्म तुम्हारे लिए और तुम्हारे बच्चों के लिए ठीक है। अलावा इसके, तुम्हारे पति ने इस दुनिया में अत्यन्त श्रेष्ठ श्रीवैष्णव धर्म का पालन किया है।

तुम उसी का अनुगमन करती हुई सुखी रहो', इतना कहकर उसने बात समाप्त कर दी। बाद को उसने कुछ नहीं कहा। दो-चार क्षण वहीं खड़ा रहा, फिर राजमहल में चला गया। इसलिए अब हमें यह सोचना है कि हमें क्या करना चाहिए।''

''अप्पाजी, बात आपके कान में पड़ी, इससे आपका मन कलुषित हो गया है। परन्तु एक बात आप भूल गये, मालूम पड़ता है। यह राज्य एक विशाल राज्य है। मजबूत नींव पर जो खड़ा है सो पट्टमहादेवीजी की बुद्धिमत्ता एवं सन्निधान के कर्तव्यपालन के फलस्वरूप ही। इस सिंहासन का भविष्य उन दोनों के निर्णय पर ही निर्भर है, इस खुँसट दास की बात पर नहीं। मैं एक सलाह दूँ?''

''इसीलिए तो तुम्हारे पास आया।''

''आप सब बातें पट्टमहादेवीजी को बता दें और स्वयं निश्चिन्त हो जाएँ।''

''ऐसा क्या ऐसे बनता होगा कि यह सब मैंने ही सुना ही नहीं?''

''यही मेरी सलाह है। मेरी भी यही रीति है। सिंहासन अपने-अपने दैव बल के अनुसार प्राप्त होता है। वास्तव में वह सन्निधान को या उनकी सन्तान आप लोगों को प्राप्त होनेवाला नहीं था। परन्तु वह विधि का लेखा है। आपके बड़े चाचा थे, वे निस्सन्तान ही स्वर्ग सिधार गये। तब आपके पिताजी महाराज बने, और आपकी माता पट्टमहादेवी बनीं। यह तिरुवरंगदास विधि का लेखा लिखने वाला ब्रह्मा नहीं, इसलिए इन बातों का कोई मूल्य ही नहीं।''

''परन्तु यह तौर-तरीका कल फूट का कारण होगा न?''

''आप तीनों भाई एक बने रहेंगे तो फूट के लिए अवकाश ही कहाँ रहेगा?''

''हम तो एक बने रहेंगे। परन्तु वह रानी, और उनका बाप चारों ओर से घेर रखें तो वह एकता को तोड़ने में सहायक हो सकता है न?''

''यह बहुत दूर की बात है। ऐसा होने पर भी वह सिर उठाकर ठहर नहीं सकते। उसके लिए उन्हें इस राज्य में सहायता नहीं मिलेगी, अप्पाजी। फिर भी यह बात पट्टमहादेवीजी को बता दें, यही अच्छा है।''

अन्त में विनयादित्य ने अपनी माँ के पास जाकर यह बात छेड़ दी और जो-जो शंकाएँ उसके मन में थीं, उन्हें बता दीं।

''अप्पाजी, तुमने जो बातें कहीं, वे सब सच हैं। ये सारी बातें सन्निधान और मैं दोनों जानते हैं। मैंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि तुम इन सब बातों की जानकारी रखते हो। परन्तु, जब तुमको उनकी जानकारी हो ही गयी है तो मैं कुछ और भी बताऊँगी जो तुम नहीं जानते।''

''जो बातें मुझे उद्यान में मालूम हुईं वे भी आपको मालूम हैं, माँ?''

''मालूम हैं, अप्पाजी। यह समाचार सन्निधान तक भी पहुँच चुका है। इसे रहने दो। तुमने जो सुना वह उनके मन की आकांक्षा का प्रतिबिम्ब है। उन दास की आकांक्षा

है कि उनकी पोष्य पुत्री का बेटा ही सिंहासन पर बैठे। इसके लिए उन्होंने धर्म की आड़ लेने का प्रयत्न किया। परन्तु इस बारे में लोकाचार भी है। इसलिए तुम चिन्ता मत करो। मैं, सन्निधान और विश्वस्त सात-आठ दण्डनायक हम सबने इस पर विचार-विमर्श करके, कहीं भी किसी भी कारण से धर्म के नाम से भेदभाव पैदा न हो, इसके लिए उचित व्यवस्था की है। इन दास को निष्ठावान पोय्सल प्रजा की एकता को तोड़ना सम्भव नहीं। दास के विषय में राजमहल को पहले ही शंका उत्पन्न हो गयी थी, इसलिए उन पर गुप्तचरों को लगाकर यह इन्तजाम कर दिया है कि यदि उनका काम राष्ट्रद्रोह करनेवाला हो तो उन्हें वहीं तब-का-तब रोक दिया जाए। गुप्तचरों को यह अधिकार भी दिया गया है। अच्छा, छोड़ो यह सब। तुम्हारे सन्तोष के लिए यह सब कहना पड़ा। कल तुम या तुम्हारे भाई हमसे असन्तुष्ट न हों, कभी तुम लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि हमने तुम लोगों के हित की रक्षा नहीं की। यह दास सन्निधान और मुझमें तो मतभेद पैदा करने की कोशिश कर ही रहे हैं। यह कहते फिर रहे हैं कि पट्टमहादेवी बनने की महत्त्वाकांक्षा से तुम्हारे बड़े चाचा बल्लाल महाराज और उनके बेटे नरसिंह को, और बेटे के समान जिस उदयादित्य को पाला-पोसा, उन सबकी मृत्यु मेरे कारण हुई। कहते फिर रहे हैं कि इनको मैंने मरवा डाला।''

''इस तरह की झूठी बातें फैलाने वालों को चौराहे पर सूली चढ़ा देना चाहिए, तुम चुप क्यों रहीं?''

''तिनके पर तलवार का प्रयोग? बेटा, दरअसल में सन्निधान यह बात सुनकर आग-बबूला हो उठे थे। मैंने ही उन्हें शान्त किया। करने के लिए कोई काम न हो तो ऐसे बेकार दिमाग में शैतान प्रवेश कर जाता है। इसलिए उनको काम देकर उस शैतान को भगा देने का प्रयत्न किया है।''

''माँ, तुम सब तरह से ठीक हो। पर अपात्र के लिए ऐसी सहानुभूति उचित नहीं। एक शत्रु के साथ ऐसा व्यवहार?''

''शत्रु को प्रेम से जीतना चाहिए बेटा, यही मानवीयता का लक्षण है। यही हमारा ध्येय होना चाहिए।''

''मेरे गुरुजी ने संस्कृत पढ़ाते समय एक कहानी बतायी थी। आग में गिरने वाले बिच्छू को बचाने पर, उसने एहसान मानने के बदले बचाने वाले को ही डंक मार दिया। यह दास उसी बिच्छू के जैसा है।''

''बेटा, ज्ञानी लोगों ने हमें सावधानी बरतने के लिए ऐसी कहानियाँ कही हैं। सत्य का पालन करनेवाली एक गाय ने बाघ का दिल बदल दिया था न? एक बार यह भी मान लें कि विवेकहीन पशु अपने जन्मजात गुण को नहीं बदलते, लेकिन विवेचना-शक्ति जिसमें हो वह व्यक्ति चाहे कितना ही दुष्ट क्यों न हो, कभी-न-कभी उसमें परिवर्तन आ ही जाता है। मेरा विश्वास है कि प्रेम और आदर मानव के हृदय-परिवर्तन

में दण्ड से अधिक प्रभावशाली अस्त्र हैं।''

''तुम्हारी ऐसी नीति इस तरह के लोगों के लिए उपयुक्त नहीं होती। इनके साथ कड़ा बरताव करना चाहिए—एक मार में दो टुकड़े।''

''तुम्हारी आयु ही ऐसी है, अप्पाजी। अभी केवल उत्साह है, जोश है। अनुभव का तरीका ही अलग है। बाहुबली स्वामी क्यों विश्वमान्य हुए, जानते हो? उन्होंने प्रेम और आदर से सब कुछ त्याग दिया। अपनी स्वयं की शक्ति सामर्थ्य से क्षात्रधर्म का अनुष्ठान किया, विजय पायी। जो भी उन्होंने जीता उसका पूरा-पूरा भोग करने का उनका अधिकार भी था। वह न्याय और धर्म-सम्मत भी था, अपने उस अधिकार का उपयोग करते तो उनपर कोई कलंक भी नहीं लगता। परन्तु उस हालत में वे केवल एक राजा मात्र रहकर लोगों की स्मृति में रह जाते, अब वह केवल एक राजा नहीं, एक शाश्वत विश्व-मान्य देव हैं। हम उस स्तर तक नहीं पहुँच सकते तो भी उनके दर्शाये रास्ते पर चलने का प्रयत्न तो हमें करना ही चाहिए न?''

''सभी बाहुबली स्वामी नहीं बन सकते। हम विश्वास करते हैं कि अच्छे और बुरे दोनों का सिरजनहार भगवान् है। हम उसे दुष्ट शिक्षक और साधु-रक्षक कहते हैं। इसका क्या कारण? मनुष्य होकर हम भी तो वही काम करते हैं। राजा प्रत्यक्ष देवता माने जाते हैं; वह इसीलिए कि वह दुष्ट को दण्ड देनेवाले और साधुरक्षक हैं। ऐसी हालत में दुष्टों को बिना दण्ड दिये छोड़ देना गलती नहीं होगी?''

''अज्ञानी गलती करे तो उसे दण्ड देना उसकी दवा नहीं। उसे शिक्षित करना चाहिए; शिक्षण पाना हो तो पहले सीखने की लगन होनी चाहिए। उस लगन को पैदा करने के लिए प्रेम और आदर ही साधन हैं—यह मेरा अनुभव है। यह बात तुम्हें इस उम्र में शायद मान्य नहीं होगी। परन्तु पीछे चलकर मेरी बात की सत्यता स्वयं स्पष्ट हो जाएगी।''

''तुम कुछ भी कहो माँ, इस तरह के लोगों पर इस सबका कोई असर नहीं होगा।''

''अप्पाजी, जब तुम्हारे हाथ में शासन होगा तब तुमको जैसा ठीक लगे, कर सकते हो। अभी यह सन्निधान के हाथ है। उन्हें जैसा लगता है, वैसा करते हैं। अब तक वही करते आये हैं।''

''उन पर छोड़ देते तो उनका निर्णय कुछ और ही होता। हर बात में वे तुम्हारा ही कहना मानते हैं।''

''तो क्या तुम समझते हो कि जो सलाह मैं देती हूँ वह ठीक नहीं?''

''माँ, तुम्हारा मार्ग सबको अच्छा नहीं लग सकता। वह सब काल्पनिक राज्य के लिए सुन्दर है।''

''जो भी देखता है, वह कहता है कि तुम स्वभाव और आचरण में मुझसे ही

मिलते-जुलते हो। परन्तु आज तुम्हारी बातें..." कहती हुई रुक गयीं।

विजयादित्य को लगा, जैसे वह भीतर-ही-भीतर घुट रहा हो। बोला, "माँ, आपको दुखी करना मेरा उद्देश्य नहीं था। आप और हम पर बिना कारण द्वेष करनेवाले लोगों को वही स्थान देना चाहिए, जिसके वे योग्य हों। इतना ही मेरा कहना है। विवेकी और बुद्धिमान् बनाने के लिए हमें आपने शिक्षण दिलवाया है। राजनीति में आप जिन मानवीय मूल्यों को देखना चाहती हैं, उसके लिए वहाँ स्थान नहीं है।"

"अप्पाजी, मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ। जिस वातावरण में जन्मी, पली-पोसी गयी, वहाँ मुझे अब तक प्रेम और आदर ही मिलता रहा है। मेरे माँ-बाप, पतिदेव और मेरी माता-समान सास सबने प्रेम से ही मेरे व्यक्तित्व को गढ़ा। मेरे गुरुवर्य ने विश्वप्रेम का आदर्श ही मेरे दिमाग में भरा है। किसी तरह का सम्बन्ध न होने पर भी, हमारे रेविमय्या ने मुझको अपार प्रेम-स्नेह दिया है। न वह कोई सगा है, न कोई रिश्ते-नाते का है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में घटी घटनाओं के आधार पर मानवीय मूल्यों को समझने, परखने लगता है। अभी तुम्हारी उम्र छोटी है। जीवन का अभी उतना अनुभव कहाँ! अभी तुम्हारे विचार पुस्तकों में जो पढ़ा है उससे प्रभावित हैं। इसलिए इन बातों में दखल देने जैसे प्रबुद्ध नहीं हो। खुली आँखों से देखो-समझो और अपने अनुभव को बढ़ाते जाओ। तुम्हें तुम्हारे अपने परदादा का ही नाम दिया गया है। वे कितने संयमी थे! अपने अपार अनुभव के फलस्वरूप कितने सूक्ष्मग्राही थे वे! यह बात मुझे उस समय समझ में आ गयी थी जब मैं तुमसे भी छोटी उम्र की थी। तुम्हारे दादा उनके एकमात्र पुत्र थे। उन्हें सिंहासन पर बिठाने के लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न किये, मगर सफल न हो सके। अगर वह क्रोधित होकर उनसे द्वेष कर बैठते तो हमारा यह राज्य आज इतना विशाल नहीं होता। इसलिए अब उन्हीं की तरह तुम्हें भी संयमी होना चाहिए, सूक्ष्मग्राही बनना चाहिए।"

तभी नौकरानी ने द्वार सरकाया। दोनों ने उस ओर देखा। एक क्षण बाद शान्तलदेवी ने कहा, "अन्दर आओ।" नौकरानी अन्दर आयी और बोली, "गुप्तचर आकर हेग्गड़े मायणजी को कुछ समाचार दे गये हैं। वे आपसे मिलना चाहते हैं।"

"कहाँ हैं मायण?"

"बाहर के बरामदे में।"

"और चट्टला कहाँ है?"

"आज वह राजमहल में नहीं आयीं शायद।"

"ऐसा?" शान्तलदेवी उठकर चल दीं।

विनयादित्य को कुछ सूझा नहीं कि क्या करना चाहिए। क्षण-भर सोचकर उसने धीरे से माँ का अनुसरण किया। शान्तलदेवी सीधी मायण के पास गयीं। मायण ने झुककर प्रणाम किया। शान्तलदेवी ने पूछा, "कोई जरूरी बात है?"

मायण ने नौकरानी और विनयादित्य की ओर देखा। कुछ बोला नहीं।

''समझ गयी, मन्त्रणागार में चलेंगे। सुना कि आज चट्टला राजमहल में नहीं आयी. क्या बात है?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

तब भी मायण ने नौकरानी और विनयादित्य की ओर देखा, कुछ बोला नहीं। शान्तलदेवी ने बेटे की ओर देखकर पूछा, ''विनय, क्या कुछ और पूछना है?''

उसने सिर हिलाकर बताया, ''नहीं।''

''ठीक, तो तुम अपना अभ्यास करने जाओ।'' कहकर धीरे-धीरे कदम बढ़ाती हुई मायण से बोलीं, ''आओ मायण!''

नौकरानी दौड़कर गयी और मन्त्रणागार का दरवाजा खोला। शान्तलदेवी और उनके पीछे मायण, दोनों अन्दर गये। शान्तलदेवी ने नौकरानी को आदेश दिया, ''जब तक हम न बुलाएँ, तब तक बाहर ही रहो।'' फिर जाकर अपने आसन पर बैठ गयीं। मायण खड़ा रहा।

दरवाजे को बन्द हुआ देखकर शान्तलदेवी ने कहा, ''बैठो मायण!''

मायण बैठ गया और पट्टमहादेवी की ओर देखता रहा।

''चुप क्यों बैठे हो? क्यों मिलना चाहा था?''

मायण थूक निगलता हुआ बोला, ''गुप्तचर आये थे।'' कहते-कहते रुक गया।

''गुप्तचर आज पहली ही बार नहीं आये न?''

''सच है। परन्तु वे जो समाचार लाये...''

''तुम योद्धा हो। युद्ध की खबर से तुमको घबराना नहीं चाहिए। क्या है, कहो।''

''पट्टमहादेवी की हत्या करने का षड्यन्त्र...''

यह सुन शान्तलदेवी जोर से हँस पड़ीं। मायण ने पट्टमहादेवी से इस तरह की प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं की थी। वह कुछ हतप्रभ-सा हो गया। कुछ क्षण मौन ही गुजरे।

फिर शान्तलदेवी ने कहा, ''मायण, तुम इन सब बातों पर विश्वास करोगे? क्यों हत्या करेंगे? क्रोध हो तो हत्या करेंगे। प्रेम भाव एवं बन्धुत्व से लोगों को एकता बनाये रखने का ध्येय बनाकर अपने जीवन को जब मैंने वैसा ढाल लिया है। कभी किसी को क्रुद्ध करने वाला व्यवहार नहीं करती, तो ऐसी हालत में हत्या करने का षड्यन्त्र हो रहा है, यह कहो तो मैं विश्वास कैसे करूँ, मायण? लोगों के अँगूठे काटकर उनकी माला बनाकर पहननेवाले, दुष्ट शक्तियों को वशीभूत कर लोगों में भय पैदा करनेवाले अंगुलिमान को भी दया और करुणा से महात्मा बुद्धदेव ने परिवर्तित नहीं किया था? रहने दो, बात क्या है, बताओ। चट्टला कहाँ है?''

''इस षड्यन्त्र के पीछे क्या है, वह और चाविमय्या दोनों इसे पूरी तौर से

जानने-समझने के लिए तलकाडु की तरफ गये हैं।''

''यहाँ हमारे रहने की बात तुमको याद नहीं थी, मायण?'' शान्तलदेवी के स्वर में कुछ असन्तोष था।

''तो हमने जो कदम उठाया सो गलत है? महासन्निधान का आदेश रहा है कि धर्म की आड़ में लोगों की एकता भंग करने वालों के षड्यन्त्र को और शत्रुओं के षड्यन्त्र-जाल को तोड़ने के लिए, हमें जैसा उचित लगे वैसा करने की स्वतन्त्रता है। यही मानकर हम इस निर्णय पर पहुँचे और आगे कदम बढ़ाया। हमारी पट्टमहादेवी की हत्या का षड्यन्त्र कोई साधारण खबर नहीं। इस काम में समय व्यर्थ नहीं गँवाया जा सकता था। इसलिए जो हमने ठीक समझा, वह किया है। इसे सन्निधान से निवेदन करने के लिए ही आया था। सन्निधान के पीठ पीछे कुछ करने की हमारी इच्छा नहीं थी। फिर इससे सन्निधान को असन्तोष हुआ हो तो जो चाहे दण्ड दें, भुगतने के लिए हम तैयार हैं। राजपरिवार की भलाई के लिए ही हमारा जीवन समर्पित है। हम ऐसा कोई काम कभी नहीं करेंगे जिससे राजपरिवार का अहित हो।'' यों एकदम कह बैठा मायण। उसके अन्तर में गहरी वेदना थी। वह वेदना उसके स्वर में झलक रही थी।

''मायण, तुमने कहा कि वे तलकाडु की ओर गये हैं। यह बात मुझे पहले मालूम हुई होती तो अच्छा होता, यही सोचकर मैंने पूछा। वहाँ छोटी रानी, राजकुमार नरसिंह और धर्मदर्शी हैं, यह तो तुम जानते हो न? उन लोगों पर कोई आपदा आ जाए तो हमें उनको तुरन्त राजधानी में बुलवा लाना होगा। सन्निधान की अनुपस्थिति में उनकी रक्षा का दायित्व मुझ पर ही है, यह तो तुम जानते ही हो। इसलिए तुमने जो जल्दबाजी की, वह ठीक नहीं।'' शान्तलदेवी बोलीं।

''षड्यन्त्रकारी अपनी सुरक्षा की व्यवस्था आप ही कर लिया करते हैं।''

''मायण! तुम नहीं जानते कि तुम क्या बोल रहे हो।''

''एक समय था जब मैं ऐसा सोचा करता था। परन्तु अब सन्निधान के शिक्षण देने से मैं बदल गया हूँ। उन दोनों के लौटने तक का कृपया मुझे समय दें। फिर मेरी बात गलत हुई तो मैं सेवा-निवृत्त हो जाऊँगा।''

''असम्बद्ध बातें मत करो, मायण। तुम्हारी निष्ठा के विषय में कुछ नहीं कहा। लाचार होकर कहना पड़ता है कि तुमको कुछ व्यवहार की बातें मालूम नहीं। एक बात बता दूँ। मान लो, जैसा तुम सोचते हो कि ये षड्यन्त्रकारी ऊँचे पद पर रहनेवाले ही हैं। यदि यह खबर अब लोगों में फैलेगी तो क्या समझेंगे? वे समझेंगे कि राजमहल में ही कुछ मनमुटाव है, समरसता का अभाव है। इस आधार पर राजमहल के लोगों की ताकत और कमजोरी समझने की वे कोशिश करेंगे। और सुनो, मरने से मैं नहीं डरती। अब मुझे किसी बात की लालसा नहीं है। अब तक मैंने महामातृश्री को जो वचन दिया था उसका पालन किया है। तुम भी तब से सभी बातें जानते आ रहे हो। मुझे

जब यह प्रतीत होगा कि अब मेरी आवश्यकता नहीं, या यह जान जाऊँ कि इस दुनिया में आकर मैंने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया, तब सल्लेखना-व्रत धारण कर मैं स्वयं इन्द्रलोक में जाने का निश्चय कर लूँगी। इसलिए जैसा तुम कहते हो, वाकई वैसी हालत हो क्यों न हो, उसके लिए तुमने जिस मार्ग का अनुसरण किया है वह ठीक नहीं। तुरन्त किसी को भेजकर उन लोगों को वापस बुला लो। मुझे तो ऐसा कोई प्राण-भय नहीं लगता। यदि तुम लोगों को ऐसा भय हो कि मेरे प्राणों को खतरा है, तो चाहो तो यहाँ चारों ओर रक्षक-बल बढ़ा लो। धुआँ जहाँ हो वहाँ आग होगी ही। हवा देने पर तो वह और भड़क उठेगी। अभी इस तरह हवा देने का काम नहीं करना है। जाओ, उनके लौटने पर फिर विचार करेंगे। वह भी तब जब तुम्हें मेरी इन बातों से सन्तोष न हुआ हो।''

मायण चुपचाप ज्यों-का-त्यों बैठा रहा।

''क्यों?''

''दूसरा कोई उन्हें पहचान नहीं सकेगा। मुझे ही जाना पड़ेगा।''

''वही करो।''

''यहाँ?''

''रेविमय्या से कहो। तुम्हारे लौटने तक मैं दूसरी व्यवस्था करवा दूँगी।''

''जो आज्ञा। युद्ध-शिविर के समाचार उतने आशादायक नहीं हैं।''

''युद्ध ही ऐसा है। वहाँ कब कैसे हेर-फेर होते हैं और क्यों होते हैं यह किसी को मालूम नहीं पड़ते। वहाँ के लिए क्या चाहिए सो जानकर, उन्हें वहाँ भेजते रहें तो पर्याप्त है। गुप्तचर को मेरे पास भेजकर तुम रवाना हो जाओ।''

''जो आज्ञा।'' मायण चला गया। शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी। नौकरानी अन्दर आयी। उससे कहा, ''अप्पाजी को बुला लाओ।'' थोड़ी ही देर में विनयादित्य आ गया। उसके आने के कुछ देर बाद युद्ध-शिविर का गुप्तचर आया और पट्टमहादेवी को प्रणाम कर बोला—

''चालुक्य के दामाद जयकेशी की तरफ से लड़ने वाले उस दण्डनायक को पकड़े बिना महासन्निधान राजधानी नहीं लौटेंगे—यही प्रण किया है उन्होंने। अब तक ऐसा शीतयुद्ध उसने शुरू किया है जैसा हमने न देखा न सुना। उसने बंकापुर में पड़ाव डाल रखा है। बाहर से रसद की आवाजाही रोक रखने पर भी उसकी ताकत कम नहीं हुई है। मुझे लगता है तीन-चार साल के लिए उसने रसद जमा कर रखी है। इधर से हमें मिलने वाली सहायता को रोकने के लिए भी उसने बहुत प्रयत्न किये। परन्तु वरदा नदी को पार कर इस तरफ आना उससे हो ही नहीं सका, ऐसी प्रबल रक्षकदल की व्यवस्था पूरे नदी तट पर हमने की है, इसी कारण हम पराजित नहीं हुए। युद्ध का रूप ही कुछ और होता यदि हमारी सेना को आगे बढ़ने का मौका मिलता। फिर तो विजित भागों से धन-धान्य संग्रह हो जाता और हमारी हालत ही बदल जाती। जहाँ हैं वहीं

रह जाने के कारण केवल खर्चा ही खर्चा है। अब वर्षा आरम्भ हो जाए तो फिर फसल काटने के समय तक हमारे शिविर को सक्रिय रहना होगा। तब तक के लिए पर्याप्त हो सके, इतनी सामग्री युद्ध-शिविर में तुरन्त पहुँच जानी चाहिए। इसमें विलम्ब हुआ तो हम मुसीबत में पड़ जाएँगे। हमारा भविष्य इस पर निर्भर करता है कि सामग्री कब पहुँचती है। इसलिए अविलम्ब व्यवस्था होनी चाहिए।''

''सन्निधान का स्वास्थ्य कैसा है?''

''अच्छा है। दण्डनायक बिट्टियण्णाजी का स्वास्थ्य कुछ अच्छा नहीं रहा। महासन्निधान ने राजधानी लौटने पर जोर दिया। मगर उन्होंने माना नहीं। वैद्यजी और महारानियाँ अच्छी तरह देखरेख कर रही हैं। उनकी कोई पेचीदी समस्या नहीं। कुछ घोड़ों को संक्रामक रोग लग गया था। उन्हें दूर वन-प्रदेश में रखकर चिकित्सा करानी पड़ी। महारानी बम्मलदेवी प्रतिदिन वहाँ जाकर देखभाल एवं उपचार कर आती हैं। वे फिर युद्ध के काम में आ सकेंगे या नहीं, कहा नहीं जा सकता। इसलिए अश्वारोही अनन्तपाल नायक को अश्व-दल के लिए कुछ और घोड़ों की भर्ती का आदेश दिया गया है।''

''ठीक है। सन्निधान का कोई पत्र नहीं?''

''मेरे हाथ कुछ भेजा नहीं।''

''कौन-कौन-सी सामग्री कितनी चाहिए, आदि बातों का विवरण तैयार कर भेजा है?''

''नहीं। हमारी तरफ के हताहत सैनिकों की संख्या नगण्य होने के कारण, मंचियरसजी ने आदेश दिया कि यह सब वित्त-सचिव को मालूम है।''

''यहाँ से एक पत्र दूँगी। उसे लेकर तुम लौट सकते हो।''

''जो आज्ञा। मैं वित्त-सचिव से मिलकर...''

बीच ही में शान्तलदेवी ने कहा, ''जरूरत नहीं, व्यवस्था हो जाएगी, इतना भर सन्निधान को बता देना और मैं जो पत्र दूँगी उसे सन्निधान को दे देना। आध घण्टे में पत्र तुम्हारे मुकाम पर पहुँच जाएगा। इस बीच तुम रवाना होने की तैयारी करो।'' कहकर घण्टी बजायी। मन्त्रणागार का दरवाजा खुला। गुप्तचर प्रणाम कर चला गया।

अनन्तर शान्तलदेवी वहाँ से उठीं और विनयादित्य को साथ लेकर अपने विश्रामागार में गयीं। वहाँ उन्होंने विनयादित्य को समझाया कि युद्ध के क्या परिणाम होते हैं, उससे राज्य की आर्थिक स्थिति पर कितना बोझ पड़ता है आदि। फिर कहा, ''अभी मेरे साथ समय व्यतीत करने से शायद तुम्हारे अध्ययन में बाधा पड़ रही हो। फिर भी तुम्हें अभी से एक-एक कर इन बातों की तथा राजनीतिक विषयों की जानकारी प्राप्त करते रहना अच्छा है, यही सोचकर तुम्हें बुलवाया था। अब तुम अपने अध्ययन के लिए जा सकते हो।''

''जब आप कह रही हैं कि मुझे इसका शिक्षण मिलना चाहिए तो यह भी एक अध्ययन ही हुआ न? अच्छा, चलता हूँ, माँ!'' सिंगयादिन्न चला गया।

शान्तलदेवी महाराज को चिट्ठी लिखने बैठ गयीं। शुरू में उन्होंने अपनी हत्या के षड्यन्त्र के बारे में लिखने की बात सोची। कुछ लिखा भी। फिर दुबारा पढ़ा तो उनका मन बदल गया। उन्होंने सोचा, ''यह बात लिखूँ तो सन्निधान के मन में आतंक पैदा हो जाएगा। आतंकित मन में एकाग्रता नहीं रह सकती। एकाग्रता के बिना कोई काम सफल नहीं होगा।'' यों सोचकर पत्र में लिखा, ''इस गुप्तचर से सारी बातें मालूम हुईं। यह भी अच्छी तरह मालूम हो गया कि अभी स्थिति शीतयुद्ध-सी है। यहाँ से आवश्यक सामग्री बहुत शीघ्र भेजी जा रही है। बिट्टियण्णा के स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान रखेंगे। चिण्णम दण्डनाथ और चन्दलदेवी ने उसे हमें सौंपा था। रानी बम्मलदेवी घोड़ों की देखभाल, उनकी चिकित्सा आदि कामों में लगी होंगी। इसलिए बिट्टियण्णा की देखरेख का काम राजलदेवी को सौंप सकते हैं। राजधानी में सब ठीक है। मन्दिर का कार्य तेजी से चल रहा है।'' आदि बातों के साथ पत्र को समाप्त किया, और उसे रेविमय्या के हाथ में देकर उस समाचारवाहक को दे आने को कहा।

पट्टमहादेवी ने राजमहल के नौकर बोकणा को बुलवा भेजा और उसके द्वारा वित्त-सचिव के पास समाचार भेजा कि वे सुबह राजमहल में तड़के ही आ जाएँ। वित्त-सचिव मादिराज से विचार-विमर्श कर चुकने के बाद उन्होंने सोचा कि यदि आवश्यकता हुई तो प्रधान गंगराजजी को बुलवाकर उनसे भी चर्चा कर लेंगे। गंगराज काफी वृद्ध हो गये थे, इसलिए एक तरह से विश्रान्त जीवन ही व्यतीत कर रहे थे। बहुत जरूरी बातों पर ही पट्टमहादेवी उनसे सलाह लिया करती थीं।

रेविमय्या और बोकणा के चले जाने के बाद, शान्तलदेवी युद्ध शिविर के लिए भेजी जानेवाली आवश्यक सामग्री का संग्रह कैसे किया जाए, इस बारे में सोचती हुई अपने विश्रामागार में पलँग पर चित लेट गयीं। उनका शान्त मन सतर्क हो गया था। कितना ही दृढ़ आत्म-विश्वास हो, 'हत्या' के षड्यन्त्र की याद आते ही वह उद्विग्न हो उठतीं। सोचने लगतीं, 'यह दुनिया भी कैसी विचित्र है! मुझे मार डालने लायक कौन-सा कार्य मैंने किया? इस तरह की नीच वृत्ति के पनपने का क्या कारण हो सकता है? अथवा मैंने अनजाने ही कोई अकरणीय कार्य किया है?' एक के बाद एक गुजरे जीवन की घटनाएँ स्मरण करती रहीं। उन्हें अपने माता-पिता की कोई गलती न होने पर भी दण्डनायिका चामव्वे ने क्या सब किया, याद आया। 'फिर भी दण्डनायिका ही हार गयी। सत्यनिष्ठ का कोई अनिष्ट नहीं हो सका। अब भी वही बात है। मैं क्यों आतंकित होऊँ?...फिर भी एक का स्वार्थ दूसरे के अनिष्ट का कारण हो सकता है। यह मानव भी कितना नीचे गिर जाता है! पशु-पक्षियों में विवेचना की सामर्थ्य नहीं, सही। मगर विवेचनाशक्ति युक्त मानव विवेकशून्य होकर इस तरह का आचरण करने

लगे तो उसे क्या कहा जाए? चट्टला और चाविमय्या तलकाडु की तरफ गये हैं। वहाँ तो रानी लक्ष्मीदेवी और उसके पिता हैं। तो क्या इस षड्यन्त्र के पीछे उनका हाथ है? मायण की बात से तो यही ध्वनि निकलती थी। मैं जिस आदर्श पर चल रही हूँ वह बाहुबली स्वामी के त्याग का आदर्श है। मेरे बच्चों का इस सिंहासन पर जो अधिकार है उसे उसके बेटे के लिए त्याग दूँ, तो यह क्या गलत होगा? बाहुबली के त्याग से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश मिला। मेरे त्याग से अधिकार की लालसा रखने वालों के स्वार्थ का नग्न-ताण्डव हो तो प्रजा सुखी कैसे रह सकेगी? अनेक लोगों के राष्ट्र-प्रेम से निर्मित यह राज्य पलक मारते छिन्न-भिन्न हो जाएगा। प्रभु और महामातृश्री जो अब इन्द्रलोक में हैं, वे क्यों मौन हैं?' यों वह तरह-तरह के विचारों में निमग्न हुई लेटी रहीं। पढ़ाई-लिखाई समाप्त कर तभी विनयादित्य माँ को भोजन के लिए बुलाने आया।

"ओफ! इतना समय बीत गया, अप्पाजी?" कहती हुई वह उठीं और बोलीं, "तुम चलो अप्पाजी, मैं हाथ-मुँह धोकर, थोड़ा पूजा-पाठ कर आती हूँ।" वह स्नानागार में गयीं। विनयादित्य उसी ओर एक तरह से देखता रहा, फिर भोजन के लिए चला गया। उसके जाने के थोड़ी देर बाद शान्तलदेवी भी वहाँ पहुँच गयीं।

भोजन तैयार था। शान्तलदेवी मौन ही भोजन करने लगीं। विनयादित्य ने सोचा कि आज माँ क्यों इस तरह गुम-सुम हैं। वह भी चुपचाप भोजन कर रहा था। यों इस तरह मौन माँ-बेटे दोनों के लिए अस्वाभाविक था। क्योंकि महासन्निधान के युद्ध पर चले जाने से, राजमहल में माँ-बेटा दो ही जन तो रह गये थे। भोजन के वक्त विनयादित्य अधिक देर तक ऐसे चुप कैसे रह सकता था? उसने सोचा, माँ से कुछ पूछना चाहिए। पढ़ाई में गुरुजी के समझाने पर भी यदि कोई बात ठीक समझ में नहीं आयी हो तो उसे पूछा जा सकता है। या फिर जो पाठ्य विषय बहुत अच्छा लगा हो, उसे बतलाना उचित होगा। बेटे के अध्ययन में रुचि और उसकी विवेचना-शक्ति बढ़ाने के लिए बहुत-सी बातों को विस्तार के साथ शान्तलदेवी समझाया भी करती थीं। इस कारण आमतौर पर उनका भोजन जल्दी समाप्त नहीं होता था। परन्तु आज के मौन ने दोनों को एक विचित्र स्थिति में डाल रखा था। बेटा माँ के मौन के कारण मौन, और माँ बेटे के चुपचाप बैठे रहने के कारण मौन। दोनों कुछ क्षण प्रश्नसूचक दृष्टि एक-दूसरे पर डालते रहे। अन्त में शान्तलदेवी ने मौन तोड़ा और पूछा, "आज गुरुजी तुम पर गुस्सा हुए हैं क्या, अप्पाजी?"

"वे क्यों गुस्सा होंगे?"

"फिर आज तुम ऐसे गुमसुम क्यों हो?"

"माँ गुमसुम बैठी रहें तो मैं क्या बोलूँ?"

"गुमसुम नहीं। युद्धक्षेत्र में भेजने के लिए सामग्री जुटाने के बारे में सोच रही थी।"

''उसके बारे में आपको ही सोचना है तो फिर मादिराज को क्यों कहला भेजा?''

''धन जुटानेवाले तो वही हैं न?''

''अपने घर से तो नहीं लाते हैं? हमारे खजाने का ही तो है?''

''खजाने में धन होना चाहिए न, अप्पाजी?''

''न होगा तो क्या छूमन्तर कर मँगवा देंगे?''

''क्या आज इस छूमन्तर की कहानी तुम्हारे गुरुजी ने बतायी थी?''

''हाँ, बहुत मजेदार थी। तुम्हें बताने आया था, पर...''

''ओफ, अब अप्पाजी के मौन का रहस्य मालूम हुआ। अच्छा, बताओ क्या है?''

''मनुष्य से अधिक विश्वासघाती प्राणी कोई होता है?''

''पंचतन्त्र पढ़ा रहे हैं?''

''हाँ। उसमें आज उन्होंने शिवभूति की कथा सुनायी। बाघ, बन्दर और साँप ये तीनों शिवभूति से उपकृत हुए। इस उपकार के बदले में तीनों प्राणियों ने अपनी कृतज्ञता दिखायी और शिवभूति की सहायता की। परन्तु उस उपकृत मनुष्य ने उन्हें धोखा दिया।''

''ऐसों को ही 'मानव-पशु' कहा जाता है। सन्धिविग्रही दुर्गसिंह ने क्यों इस काव्य की रचना की, समझते हो?''

''अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए।''

''अपने पराक्रम का प्रदर्शन करने के लिए कोई युद्ध में जाता है?''

''जा सकता है। चालुक्यों ने हम पर हमला नहीं किया?''

''उस हमले की बात बहुत गहरी है। बाहर से देखने पर वह समझ में नहीं आएगी। अच्छा, छोड़ो इन बातों को। तुम्हें आगे चलकर मालूम होगा कि उसके पीछे क्या राज था। युद्ध स्वराष्ट्र एवं जनता की रक्षा के लिए करना होता है। वहाँ योद्धा अपनी शक्ति दिखाते हैं। परन्तु वैयक्तिक शक्ति-प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं। फिर भी लोग उनकी व्यक्तिगत शक्ति का मूल्य आँकते हैं। हमारे राज्य में जहाँ-तहाँ वीरता-स्मारक पत्थर गाड़े गये हैं, वे इसी के प्रतीक हैं। ऐसे ही कवि केवल प्रतिभा-प्रदर्शन के लिए काव्य-रचना नहीं करते। न ही मात्र इतने उद्देश्य से रचना की जानी चाहिए। उनकी रचना में मानवीय मूल्यों का समावेश होना आवश्यक है। उसके अध्ययन से पाठक की मनोभूमि विकसित हो और मनुष्य वास्तविक 'मनुष्य' बन सके, शिवभूति की कथा में दुर्गसिंह ने इसी नीति को रूपित किया है। साँप को दूध पिलाने से क्या लाभ, वह जहरीला जीव है, बुरा ही करेगा—यही हम मनुष्य कहते हैं। परन्तु यहाँ वही सर्प कृतज्ञता की मूर्ति बनकर आता है। उधर मनुष्य कृतघ्न बनकर नीचता का प्रतीक बनता है। दुर्गसिंह राजनीतिक क्षेत्र में रहे। वे सन्धि-विग्रही बनकर कार्य करते थे।

मानव की नीचता का उन्हें भी अनुभव हुआ। फलतः शिवभूति की कथा से वे आकर्षित हुए।''

''यह मालूम होने पर भी कि यह कहानी अनुभव-जन्य है, आप ने उस धर्मदर्शी और उनके अनुयायियों को ऐसे ही क्यों छोड़ रखा है, माँ? यह कहाँ का न्याय है? वह गुट बनाकर भेद-नीति से हमारे प्राप्य सिंहासन को हथियाना चाहें, यह ठीक है माँ?''

''अप्पाजी, यह दुरालोचना है, दूरालोचना नहीं।''

''भुगतने वाले तो हम हैं न?''

''हम के माने? तुम लोगों के साथ कुमार नरसिंह भी शामिल है न। वह अभी बालक है। तुम लोगों को उसके बारे में बुरी भावना रखना ठीक है? तुम सभी के जन्मदाता पिता एक ही हैं न?''

''परन्तु वह माँ पर पड़ा है। राजमहल के वातावरण में पले न होने से उसका ढंग ही अलग होगा।''

''भविष्य बताने वाले श्रीधराचार्य की तरह बातचीत मत करो, अप्पाजी। भावनाएँ चाहे जो भी हों, सब भगवान् की इच्छा के अनुसार होगा न?''

''हो सकता है। ऐसा समझकर हम निष्क्रिय ही हाथ समेटे बैठे रहें, यह ठीक होगा? पंचतन्त्र में कहा है कि मनुष्य को भगवान् पर ही छोड़कर बैठे नहीं रहना चाहिए। भगवान् स्वयं कुछ नहीं करेंगे। मनुष्य में अपना पुरुषार्थ होगा तो भगवान् भी सहायक होंगे। मानवीयता का महत्त्व परखने वाले हमारे घराने को चाहिए कि मानवीयता के इस मूल्य को बनाये रखने का अभ्यास करें। यों हाथ बाँधे बैठे रहकर फल की प्रतीक्षा करने से नहीं चलेगा।''

''मैंने पहले कह दिया है ना अप्पाजी, कि तुम अभी नासमझ हो। इन बातों में मत पड़ो। मैंने सोचा था कि तुम समझ गये होगे लेकिन तुम्हारे दिमाग में अभी भी वही धुन सवार है! इसे तुम बनाये रखोगे तो तुम्हारे मन में वह शैतान बनकर बैठ जाएगी और तुम अपनी क्रिया-शक्ति खो बैठोगे। इसलिए ये सब बातें छोड़ो और भोजन समाप्त करो।'' कहकर शान्तलदेवी ने इस चर्चा को बन्द कर दिया।

दोनों मौन हो भोजन करते रहे। शान्तलदेवी को लग रहा था कि स्वयं संयमी होने पर भी उसके मन में आतंक समा गया है।

फिर एकदम विनयादित्य पूछ बैठा, ''माँ, मायण से बातचीत करने के बाद फिर उस गुप्तचर को बुलाकर बातचीत की न, उसका कोई खास कारण था?''

हाथ का कौर मुँह तक जाकर वहीं रुक गया। शान्तलदेवी ने बेटे की ओर एक तीव्र दृष्टि डाली, पर केवल क्षण भर के लिए ही। अपनी भावनाओं को मन ही में दबाकर कहा, ''जानी हुई बात को बार-बार नहीं पूछना चाहिए, अप्पाजी। खास

कारण न होने पर मैं या सन्निधान किसी को बुलवाते हैं?''

''उस विशेष की जानकारी न हो, इसलिए उस समय मुझे अवकाश नहीं दिया। माँ, मैं सभी बातें जानने लायक कब होऊँगा?''

''होगे, उसके योग्य समय आएगा, तब। एक-एक विषय को समझते जाना चाहिए। सभी बातों को एक साथ निगलना ठीक नहीं। एक-एक कौर को चबा कर क्यों खाते हैं?''

''अन्न-रस अच्छी तरह रक्तगत होकर शक्तिवर्धन करे, इसलिए।''

''विषय संग्रह-कार्य भी वैसा ही होना चाहिए, अप्पाजी। बिना चबाये निगलने पर वह हजम न होगा और बदहजमी हो जाएगी। इसी तरह ज्ञेय बातें भी धीरे-धीरे एक सिलसिले से परिमित परिमाण में दिमाग में लाना चाहिए। एकदम ठूँसने पर दिमाग में कुछ भी नहीं रहता। सो भी तुम्हारी इस छोटी आयु में तुम्हारे दिमाग पर अधिक बोझ लादना ठीक नहीं।''

''अपने लिए एक रीति, दूसरों के लिए कुछ और?''

''ऐसे क्या हुआ है?''

''सुना है कि जब तुम मुझसे भी छोटी थीं तभी अपने से दुगुनी आयुवालों से भी अधिक विद्या सीख ली थीं तुमने। कितनी सारी बातें जानती थीं!''

''हो सकता है, अप्पाजी। अधिक से अधिक जानने का कुतूहल मुझमें था। मेरे माता-पिता ने, मैंने जो चाहा, वह उस सीखने के लिए सारी व्यवस्था कर रखी थी।''

''ऐसे माँ-बाप की पुत्री होकर तुम...''

''उस अपने अनुभव के कारण ही मैं तुम लोगों को विषय-वस्तु की सीमाओं को ध्यान में रखकर पढ़ाती हूँ। एक विशेष बात तुमको जान रखना चाहिए, अप्पाजी। तुम्हें मालूम है कि हमारे घर में चालुक्य पिरियरसी चन्दलदेवी अज्ञातवास में रहीं। मेरे माता-पिता जानते थे कि वे पिरियरसी हैं। फिर भी उन्होंने इस बात का भान तक किसी को न होने दिया। मुझे भी नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें मुझ पर विश्वास नहीं था। संयम हर उम्र में अपने-अपने स्तर का होता है। इसलिए कुछ बातों को हम सभी से नहीं कहा जाता था। कुछ बातों से मतलब राजमहल के काम-काज से सम्बद्ध बातें। तुम्हें जो बताना होता है वह सब तो हम बता ही देते हैं। तो समझना चाहिए कि न बताने का कोई कारण है। कुरेद-कुरेदकर उसे जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। समझे!''

बिनयादित्य ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। फिर बिना कुछ बातचीत किये दोनों भोजन समाप्त करके अपने-अपने विश्रामागार में चले गये।

शान्तलदेवी अपने विश्रामागार में एक आरामकुर्सी पर जा बैठीं। उनके मन की गहराई में दबी अपनी हत्या की वह बात फिर तर आयी, 'हत्या की यह खबर तलकाडु

की तरफ से आयी है तो कहीं ऐसा तो नहीं कि वह धर्मदर्शी तथा उसकी बेटी इसके प्रेरक हों। अगर यह खबर सही हुई तो यह कितना भयंकर कार्य होगा! अपने कटु अनुभव के आधार पर रानी पद्मलदेवी ने जो सलाह दी थी, उसके अनुसार सन्निधान के एकपत्नी-व्रती बने रहने पर जोर दे दिया होता तो आज यह सवाल ही नहीं उठता। सन्निधान के मतान्तरित होने से, धर्म की आड़ में कुछ लोगों का स्वार्थ अपना विकराल रूप दिखाने लगा है। काम-क्रोध आदि के वशीभूत लोगों से भरी इस दुनिया में ऐसे कार्य चलते ही रहेंगे। उन्हें तो बस कुछ कारण चाहिए। लेकिन ऐसे लोगों से डर कर यदि हम इस प्रवृत्ति को बढ़ने दें तो अब तक हम जिस लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे उसका क्या होगा? पूरी बात जानने के लिए जो मौका मिला था वह भी हाथ से निकाल दिया। मायण को न भेजती तो शायद अच्छा होता! पर...यदि न भेजती और यह बात प्रकट होकर फैल जाती तो फिर तो हमारे राजमहल की बातें गली-कूचों में होने लगतीं! आखिर मेरी हत्या करने से उन्हें क्या लाभ? मेरे बेटे क्या चूड़ियाँ पहने बैठे रहेंगे? विनयादित्य के मन में कैसे विचार उठ रहे हैं, यह सब ज्ञात होने पर उसके भाई क्या सोच रहे होंगे, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। तिस पर यदि सन्निधान ने स्वयं बड़े अप्पाजी से कह दिया हो तो अन्त क्या होगा, यह सोच नहीं सकती। आदमी चाहे अच्छा हो या बुरा, एक-न-एक दिन तो उसकी मृत्यु होनी ही है। या फिर जैन मत के अनुसार इच्छा-मरणी भी हुआ जा सकता है। तो फिर यह हत्या की बात क्यों बार-बार मुझे आ घेरती है? हाय रे मन! क्यों तू इस तरह आतंकित हो रहा है? मेरी जन्म-पत्री को देखनेवालों ने यह नहीं कहा कि मेरी मृत्यु ऐसी होगी। मैंने स्वयं उसे देखा है। स्थपति जकणाचार्यजी ने भी उसकी प्रशंसा की थी। फिर भी इस षड्यन्त्र की बात जब से सुनी है, तब से मन जाने क्यों इतना विचलित हो रहा है! अपने इस मन को यदि किसी और काम में न लगाया जाए तो यह चिन्ता सालती ही रहेगी, अन्दर ही अन्दर काँटे की तरह चुभती ही रहेगी।' यों सोचती शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी। दासी ने आकर प्रणाम किया।

"मेरी वीणा ले आओ।" शान्तलदेवी ने आदेश दिया।

जल्दी ही दासी वीणा ले आयी और पलँग पर रखकर चली गयी।

शान्तलदेवी उठीं और पलँग पर बैठकर अपनी वीणा के सुर ठीक बिठाकर एकाग्र हो जिन-तोड़ी राग निकालने लगीं। यदि मन में एक बार आतंक बैठ जाए तो उसकी छाया मनुष्य को ढँक देती है। आतंक की इस छाया से दूर होने में वीणा ने उनकी मदद की। उन्हें समय का पता ही नहीं लगा। इधर कुछ वर्षों से पट्टमहादेवी ने इस तरह तन्मयता से वीणा नहीं बजायी थी। पट्टमहादेवी के सो जाने पर, दीपक को एक कोने में रख, रोशनी की आड़ देकर, फिर दासी सो जाया करती थी परन्तु उस दिन उसे बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। राजमहल के अन्य भागों में काम

करनेवाली दासियाँ अपने-अपने काम समाप्त कर इस तरफ आयीं। पट्टमहादेवी के विश्रामागार की दासी द्वार के पास एकाग्र होकर वीणावादन सुन रही थी। नौकरानियों ने संकेत से पूछा, 'क्या है?' 'पट्टमहादेवीजी वीणा बजा रही हैं, शोर मत करो।' उसने भी संकेत से बताया। वीणा-माधुरी के आस्वादन में तल्लीन हो, यह द्वार को थोड़ा-सा सरकाकर बैठी रही। कुछेक दासियाँ चुपचाप वहाँ से चली गयीं और कुछ वहीं बैठी वीणा-माधुरी का आनन्द लेने लगीं। सुनते-सुनते उनकी आँख झपकी लेने लगी। सुबह से शाम तक काम करके थक जो गयी थीं। अन्दर से एक बार वीणा तीव्रगति से तार-स्थायी में बज उठी और फिर मन्द होती गयी और रुक गयी। वीणा के थम जाने के बहुत समय के बाद दासी की एकाग्रता टूटी। वह जगी। घबराकर वह इधर-उधर झाँकने लगी। बाकी दासियाँ भिन्न-भिन्न भंगिमाओं में वैसे ही दीवार से लगी सो रही थीं। दासी ने धीरे से द्वार सरकाकर, अन्दर झाँककर देखा।

पट्टमहादेवी पलँग के तकिये पर लगी बायीं भुजा पर वीणा रखे, अर्ध-शयनावस्था में लेटी थीं। मिजराब का दायाँ हाथ तार पर ज्यों-का-त्यों था। मीड़ पर चलनेवाला हाथ फिसलकर पलँग से लटक रहा था। दीये की रोशनी उनके मुख पर प्रखर होकर पड़ रही थी। देखकर नौकरानी कुछ घबरा गयी। एकटक देखती रही। पट्टमहादेवी के श्वासोच्छ्वास के अनुसार वीणा चढ़ती-उतरती रही। उसने पलँग के पास जाकर वीणा को हटाने की सोची। पट्टमहादेवी का दायाँ हाथ वीणा पर ही था। क्या करना चाहिए, उसे नहीं सूझा। थोड़ी देर सोचकर उसने पट्टमहादेवी के हाथ को तकिये की ओर धीरे से सरकाया। गहरी नींद में होने के कारण वे जगीं नहीं। दासी ने वीणा को लेकर दीवार से सटाकर रख दिया। दीप को एक कोने की ओर सरकाकर रोशनी को आड़ दे दी। फिर पलँग के पास आयी। पट्टमहादेवी के वस्त्र कुछ अस्त-व्यस्त थे। उसने सोचा कि जगाकर ठीक तरह से सुला दें, पर कहीं जग गयीं और फिर नींद न आयी तो? यही सोचकर वह धीरे-से चादर ओढ़ाकर, किवाड़ लगाकर बाहर चली आयी। बाकी दासियों को जगाकर उसने यथास्थान भेज दिया। फिर स्वयं सोने के लिए चली गयी।

दूसरे दिन शान्तलदेवी कुछ देर से ही जागीं। जागते ही सामने की दीवार पर लगे आईने में उन्होंने अपनी छवि देखी। नजर एक तरफ हो गयी तो देखा कि वीणा दीवार से सटी एक ओर रखी है। पिछली रात की याद हो आयी। बजाना कब रुका यह उन्हें स्मरण ही नहीं हो रहा था! उसी धुन में उठकर उन्होंने अपने प्रातःकालीन कार्यों को समाप्त किया। नाश्ता करने के बाद मन्त्रणागार की ओर चली गयीं। विश्रामागार से निकलते समय मादिराज को बुला लाने का आदेश भी देती गयी थीं। वह भी ठीक वक्त पर मन्त्रणागार में उपस्थित हो गये। जल्दी ही विनयादित्य भी वहाँ आ पहुँचा।

युद्ध-शिविर से प्राप्त खबर, उन्हें सुनाकर, आगे के कार्यक्रम पर विचार-विमर्श करके यह निश्चय किया कि पहले जल्दी से रसद भेज दी जाए। शेष सामग्री बाद में

पहुँचा दी जाएगी। गाँव-गाँव समाचार भेजकर राजदाय से प्राप्त धान्य संग्रह से आधा अमुक-अमुक व्यक्तियों द्वारा अमुक-अमुक स्थान पर सुरक्षित रूप से भेजने की व्यवस्था पक्की की गयी। इतनी रसद करीब छह महीनों के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। इतने में फिर फसल कटाई का समय आ जाएगा। पीछे तकलीफ न उठानी पड़े, यह सब सोच-विचार कर कार्य को आयोजित करने का आदेश शान्तलदेवी ने मादिराज को दिया। यहीं आपस में ही निश्चित हो जाने के कारण बात गंगराज तक नहीं गयी।

मायण से जो समाचार मिला था, और उसे जो आदेश दिया गया, उस सम्बन्ध में मादिराज से शान्तलदेवी ने कुछ नहीं कहा।

पट्टमहादेवी के आदेश के अनुसार मायण भेस बदलकर चट्टलदेवी और चाविमय्या की खोज में राजधानी से रवाना हो चुका था। चट्टल और चाविमय्या दोनों-के-दोनों योद्धाओं के जैसे वस्त्र धारण कर, अच्छी नस्ल के घोड़ों पर तो गये थे, मगर घोड़ों को तलकाडु ले जाने का उनका इरादा नहीं था। वैसे उन्हें जल्दी ही तलकाडु पहुँचना था, इसीलिए दो दिन के भीतर यादवपुरी पहुँचकर दण्डनायक जी के घर गये, और वहाँ की अश्वशाला में घोड़ों को बाँधकर फिर भेस बदलकर पैदल ही आगे बढ़ गये थे। चट्टलदेवी तो अब पुरुषों के लिबास में पुरुष ही लगती थी। खेल-तमाशा दिखानेवालों के भेस में करामाती खेल दिखाते हुए, गाना गाते हुए, दोनों चले जा रहे थे। यादवपुरी में डाकरस दण्डनायकजी नहीं थे। हाँ, दण्डनायिकाजी, हरियलदेवी, कुमारी शान्तला और चंगला, ये सब थे। जिस हेतु आये थे सो उन्हें न बताकर, केवल इतनी भर सूचना कि गुप्तचरी से सम्बन्धित राजकीय कार्य पर तलकाडु की तरफ जा रहे हैं, देकर वे वहाँ से रवाना हो गये थे।

मायण ने यह नहीं सोचा था कि दोनों यादवपुरी गये होंगे, वह सीधा तलकाडु की ओर चल पड़ा। वह भेर्य, तिप्पूर से होकर उदयादित्य द्वारा स्थापित श्रीरंगनाथ अग्रहार पहुँचकर, वहाँ से होते हुए कपिला-कावेरी के संगम-पर पहुँचकर, वहाँ के अगस्त्येश्वर मन्दिर के अग्रहार में रात बिताने के उद्देश्य से ठहर गया। वहाँ उस रात एक वीथि-नाटक का आयोजन था। पहर भर ही बीता था कि रात की उस स्तब्धता में ताल-मृदंग आदि की तुमुल ध्वनि शुरू हो गयी। अग्रहार की धर्मशाला के अहाते में मायण सोया हुआ था। आवाज सुनकर जाग पड़ा। इस शोर-गुल में नींद लगने का कोई सवाल ही नहीं था। इसलिए जिधर से आवाज आ रही थी वह उठकर उस ओर चल दिया। अग्रहार की सार्वजनिक बैठक के सामने रंगस्थल बनाया गया था, वहीं वह खेल चल रहा था। अगस्त्येश्वर-अग्रहार छोटा था, परन्तु वहाँ इकट्ठे लोगों को देखकर

जान पड़ता था कि इर्द-गिर्द के गाँववाले भी जमा हो गये हैं। मायण चुपके से उन लोगों के बीच में जा बैठा।

नाटक इल्वल-वातापि की एक अद्‌भुत कथा पर आधारित था। इल्वल के पास जो भी ब्राह्मण आता, इल्वल उससे वरदान माँगता कि उसे इन्द्र के समान पुत्र प्राप्त हो। ब्राह्मण जब पुत्र-प्राप्ति का यह वरदान देने में असमर्थता व्यक्त करता तो इल्वल अपने छोटे भाई वातापि को बकरा बनाकर उसे पकाता और ब्राह्मण को खिला देता। जब ब्राह्मण भोजन कर चुकता तो इल्वल अपने भाई का नाम लेकर उसे बुलाता। फलस्वरूप वातापि ब्राह्मण का पेट चीरकर बाहर निकल पड़ता, और ब्राह्मण तत्काल मर जाता। कुछ दिनों तक यही क्रम चलता रहा। एक दिन महर्षि अगस्त्य पर भी उसने यही प्रयोग किया। अगस्त्य द्वारा भोजन कर चुकने के बाद, जैसे ही इल्वल ने अपने भाई का नाम लेकर पुकारा, अगस्त्य ने अपने पेट पर हाथ फेरा और कहा, ''वातापि जीर्णो भव।'' फिर क्या था, वातापि का नामोनिशान भी नहीं रहा। इसी कथा को मंचन किया जा रहा था। लोग एकाग्र होकर देख रहे थे। उस रात अगस्त्य के आने की बात सुनकर, उन पर विजय पाने की खुशी में बुरी नीयत से इल्वल नाम का पात्र मंच पर खूब नाचा।

दर्शकों में कुछ लोग कहने लगे, ''बेचारे अगस्त्य की क्या हालत हुई होगी?''

मायण खूब सोच-समझकर जहाँ बहुत से तिलकधारी बैठे थे, वहाँ उनके बीच में जा बैठा था। उसने बहुत आकर्षक ढंग से तिलक भी लगा रखा था। उसकी दृष्टि और कान बड़े सतर्क थे।

''क्यों रे, तुम्हें मालूम नहीं? महर्षि अगस्त्य तो उस वातापि को यों ही हजम कर जाएँगे। फिर क्यों मूर्खों की तरह बोल रहे हो?'' एक ने कहा।

मायण को लगा कि यह आवाज पहचानी-सी है। उसका कुतूहल बढ़ चला। अब आगे होने वाली बातचीत को वह एकाग्र भाव से सुनने लगा। उस आवाज से उसे व्यक्ति को पहचानना था; क्योंकि परिचित होने पर भी वह आवाज सहज नहीं लग रही थी, कुछ बनावटी मालूम हो रही थी। रात का वक्त, पेड़ की छाया में बैठे रहने से पेड़ के पत्तों की आड़ में से होकर चाँदनी कभी-कभी लोगों के चेहरों पर पड़ जाती। सो भी धुँधली-सी। और फिर वह व्यक्ति बहुत पास भी तो नहीं था। मायण ने अपनी दृष्टि दौड़ायी, सोचा कि उस आदमी के पास पहुँचने के लिए कहीं कोई रास्ता है?

''यह पुराण की कथा का वह इल्वल नहीं, यह तो और तरह का इल्वल है। लगता है, मूल कथा कुछ और ही तरह की होगी।''

''तुम्हारे जैसा बेवकूफ और कौन होगा? अरे! पुराण की प्रसिद्ध कथा को जो चाहे अपनी मर्जी के अनुसार बदल सकता है? सो भी ऐसे नाटकों के प्रसंग में?'' उसी बनावटी आवाजवाले ने कहा।

''क्योंजी, तुम इस वीथिनाटक को आज ही देख रहे हो? मैंने कितनी बार देखा है। लेकिन कभी भी इल्वल इस तरह नाचता-कूदता नहीं था। इसका नाचना ही कुछ और तरह का लगता है। इसलिए मुझे कुछ शंका हो रही है।''

''नाचने का ढंग बदल जाए तो कथा थोड़े ही बदल जाएगी? वातापि को मरना चाहिए, तब इल्वल को होश आना चाहिए। वातापि को हजम करनेवाले अगस्त्य को डकार लेना चाहिए। बार-बार देखने वाले ऊब जाएँगे, इसलिए उसमें कुछ नया जोड़कर नाटक खेला जा रहा है, मुझे तो ऐसा ही लगता है।''

''ठीक। बकवास बन्द करो, चुपचाप देखो। आगे मालूम पड़ेगा। देखो कि आगे और क्या होता है।''

बात वहीं रुक गयी। इतने में अगस्त्य पात्रधारी रंगमंच पर आया। उसने अपने दण्डकमण्डलु के साथ बहुत गम्भीर मुद्रा में नाचना शुरू किया। इल्वल और अगस्त्य के परस्पर मिलन का वर्णन करने वाला एक पद नाटकाचार्य, जिसे भागवत कहते हैं, ने तार-स्थायी में गाया। ठीक इसी वक्त रंगमंच पर कोई हाय-हाय चिल्लाया। लोगों ने हैरानी से देखा कि अगस्त्य वेशधारी पात्र रंगमंच पर पड़ा लोट रहा है और कराह रहा है। खेल बन्द हो गया।

लोग उठे और मंच की ओर जमा होने लगे। मगर मायण की दृष्टि उस बनावटी आवाज वाले व्यक्ति की ओर ही लगी थी। जैसे ही वह व्यक्ति इधर-उधर नजर दौड़ाकर धीरे से भीड़ से दूर खिसकने लगा, मायण ने उसका अनुसरण किया। यह मालूम पड़ते ही कि कोई उसका पीछा कर रहा है, उस व्यक्ति ने तेजी से कदम बढ़ाना शुरू किया। मायण ने भी गति तेज कर दी। चलते-चलते उसने कमर में टटोलकर देख लिया कि अपना अंकुश सुरक्षित है या नहीं। दोनों करीब-करीब एक निर्जन स्थान में जा पहुँचे। वहाँ से रंगमंच की आवाज धीमी सुनाई पड़ रही थी। मायण ने कुछ जोर से पुकारा, ''ऐ! कौन हो, वहीं रुक जाओ!'' आवाज सुनते ही वह व्यक्ति दौड़ पड़ा।

मायण ने उसका पीछा कर उसे पकड़ लिया और अपना तेज अंकुश दिखाकर कहा, ''अगर अपने प्राण चाहते हो तो मेरे सवालों का जवाब दो।''

वह निहत्था था, कुछ घबरा गया। उस रात कड़ाके की ठण्ड थी, फिर भी वह पसीना-पसीना हो गया।

''हाँ, तैयार हो जाओ, सवाल का जवाब दो!''

''आप कौन हैं?'' आवाज का बनावटीपन गायब हो गया था।

''मैं कोई भी हो सकता हूँ। इससे तुम्हें क्या? अभी मैं जो कहूँ, वह करो—तुम एक जमाने में तलकाडु के राजगृह की धर्मशाला के कर्मचारी थे न?''

चकित हो मुँह बाये वह देखने लगा।

''इस तरह देखने से काम नहीं चलेगा, बताओ। धर्मशाला के कर्मचारी थे या

नहीं, बोलो।''

''हाँ, वह तो बहुत पहले...मगर यह बताएँ कि आप हैं कौन?''

''वह अभी तुम्हारे लिए जरूरी नहीं। तुम पोय्सल राज्य को छोड़कर चले गये थे न?''

''चला गया था, लेकिन फिर आ गया।''

''क्यों?''

''पेट का तकाजा। धन्धा करने।''

''अगस्त्य पात्रधारी पर पत्थर मारने से तुम्हारी गुजर हो जाएगी?''

''जी हाँ।''

''कैसे?''

''जिनके लिए मैंने यह काम किया वहाँ से।''

''वह अगस्त्य वेशधारी कौन है?''

''यहीं, तलकाडु का है वह।''

''उसका नाम है?''

''नाम क्यों जानना चाहते हैं?''

''यह बाद में मालूम होगा, बताओ।''

''देशिकन है उसका नाम।''

''तो क्या वह श्रीवैष्णव है?''

''जी हाँ।''

''उस पर इस तरह आक्रमण करने के लिए किसने कहा था?''

''यह काम करने के लिए कहला भेजनेवाले का नाम मुझे मालूम नहीं।''

''जिसका तुम नाम तक नहीं जानते हो, उसके लिए भी काम कर सकते हो?'

''पैसा जो मिलता है!''

''अब यदि तुमको पैसा न मिले तो?''

''आधा जो मिल गया, वही मुनाफा समझ लूँगा।''

''पैसा किसने दिया तुमको?''

''मुझे उसका भी नाम मालूम नहीं। वह नाटक देखने आया था।''

''कहाँ बैठा था?''

''मैं और वह जहाँ चर्चा कर रहे थे न, वहाँ।''

''ओफ, तो वह चर्चा लोगों का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए थी?''

''हाँ।''

''अभी भी तुम्हें श्रीवैष्णवों से द्वेष है?''

''हमारे वर्तमान राजा ही बदल गये हैं तो मुझे उस बात से क्या लेना-देना?''

''फिर श्रीवैष्णवों से द्वेष करने की प्रेरणा तुमको किसने दी? जैनियों ने?''

''नहीं, श्रीवैष्णवों ने ही।''

''क्या कहा श्रीवैष्णवों ने? उन लोगों में भी आपस में इस तरह का द्वेष भाव है?''

''सुना है कि उसके धर्मगुरु ने उससे कहा, 'तुम अगस्त्य के पात्र का अभिनय मत करो, भस्म लगानी पड़ती है, भस्म श्रीवैष्णवों के लिए वर्जित है। चाहो तो त्रिपुण्ड लगाकर अगस्त्य का अभिनय कर सकते हो।' मगर रंगमंच पर नाटक करानेवाले सूत्रधार उस भागवत ने नहीं माना। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हम अपनी रीति में कुछ भी परिवर्तन नहीं करेंगे। देशिकन को अभिनय करने की लत थी, दोनों ओर से दबाव बढ़ रहा था। टाँग तोड़ने पर अकल आएगी, यह चेतावनी भी उसे मिल चुकी थी।''

''दूसरों की टाँग तोड़कर तुम्हें पेट पालना है?''

''यह तो अपनी गुजर-बसर का धन्धा है। पाप-पुण्य उन्हीं का, जिन्होंने यह काम करवाया।''

''तुम ही न्याय कर लेते हो और निर्णय भी?''

''हाँ, मैं अपने बारे में तो यही कह सकता हूँ।''

''यह चोलों का राज्य नहीं। तुम्हें मालूम नहीं कि यह पोय्सलों का राज्य है?''

''मालूम है। मगर उससे और मेरे अपने इस काम से क्या सम्बन्ध?''

''हमारे देश में इस तरह का धर्मद्वेष फैलाने के काम को हमारे महाराज स्वीकार नहीं करते। यहाँ सभी धर्म समान हैं।''

''वह आपके राजनीतिक व्यवहार का नियम हो सकता है। और फिर हमें काम देकर रोजी-रोटी देनेवाली वह आप ही के श्रेष्ठ पोय्सल राज्य की ही प्रजा है। अभी जिसने मार खायी, वह भी आप ही के यहाँ की प्रजा है। आप ही देख लें; आपकी राजनीतिक व्यवहार संहिता किस तरह काम कर रही है, आपके यहाँ के ही प्रजाजन में!'' व्यंग्य से उसने कहा।

''तुम जैसे बाहर के लोग ही ऐसे परस्पर विरोधी विचार जनता में फैलाते हैं, हमें यह सब मालूम है। पत्थर मारने का आज का यह काम भविष्य में किसी बड़े कार्य को साधने का पूर्वाभ्यास है। अब तुम मेरे पास से खिसक कर भाग नहीं सकोगे। सभी बातों की तहकीकात जब तक न हो जाए, तब तक तुमको छोड़ेंगे नहीं। चलो मेरे साथ!''

''यहाँ मेरे रहने की जगह नहीं है। अलावा इसके, मुझे तुरन्त तलकाडु की तरफ जाना है। मेरे लिए गाड़ी प्रतीक्षा कर रही है।''

''गाड़ी में और कौन-कौन हैं?''

"कोई नहीं, मैं और गाड़ी चलानेवाला! दो ही।"

"ऐसा है तो मैं भी तलकाडु चलूँगा, तुम्हारे साथ।"

"आपको क्यों जाना है?"

"तुमको समझने के लिए।"

"सो तो ठीक। मुझपर यों दबाव डालने का आपको क्या अधिकार?"

"वह तो पीछे मालूम होगा। मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि तुम कौन हो। तो बताओ, तुम साथ चलोगे या मैं ही तुम्हारे साथ चलूँ?"

"आप ही मेरे साथ चलिए।"

"नहीं, पहले तुम मेरे साथ चलोगे।"

"मेरे साथ चलना मान लेने के बाद, अपने साथ चलने को कहते हैं?"

"मुझको अपना घोड़ा नहीं लाना है?"

"मैं यहाँ हूँ, आप ले आइए।"

"सो तो नहीं होगा। मैं तुमपर विश्वास नहीं कर सकता।"

लाचार होकर मायण के साथ वह चला गया। लौटते वक्त उसी रंगमंच के पास से होकर जाना था। वहाँ फिर से खेल शुरू होने की तैयारियाँ हो रही थीं। हल्ला-गुल्ला थम गया था। लोग बैठे-बैठे आपस में बातें कर रहे थे।

मायण और वह दोनों अपने रास्ते चलकर अग्रहार में पहुँचे। मायण ने अपने घोड़े को लिया। उसी पर दोनों बैठ गये। उसने जिस जगह जाने की बात कही थी, वहाँ पहुँचे। जैसा उसने कहा था, वहाँ उसके लिए गाड़ी प्रतीक्षा कर रही थी। परन्तु उस पर परदा पड़ा था। अन्दर कौन-कौन हैं, इसका पता मायण न लगा सका। अभी गाड़ी से कुछ दूर ही थे कि मायण ने उससे पूछा, "अन्दर कोई नहीं है न?"

उसने सीटी बजायी। फिर बोला, "अब तुम मेरे कब्जे में हो। चुपचाप मुँह बन्द करके चलो।" और मायण के कमरबन्द पर हाथ रख दिया।

मायण ने इसकी अपेक्षा नहीं की थी। उसका सन्तुलन कुछ गड़बड़ा गया। उसने घोड़े की लगाम खींची। घोड़ा सामने के पैर उठाकर एक बार हिनहिनाया। इतने में गाड़ी से सात-आठ लोग कूद पड़े। मायण ने स्थिति भाँप ली। उसने सोचा अब इनसे झगड़ा मोल लेना ठीक नहीं। तभी एकाएक उसके पीछे घोड़े पर जो बैठा था उसे अपनी कोहनी जोर से दे मारी। कमरबन्द की पकड़ ढीली पड़ गयी। घोड़ा पीछे की ओर मुड़कर सरपट दौड़ने लगा। उसे घोड़े से कूदकर भागने का साहस नहीं हुआ। बाजू में जोर का आघात हुआ था। उसे सहन करते हुए उसने लगाम खींच दी। घोड़ा एकदम रुक गया। मायण के लगाम हाथ में थामने के पहले ही वह घोड़े से कूद पड़ा। उसने मुड़कर देखा। दूर पर, गाड़ी से कूदे कुछ लोग दौड़े आ रहे हैं। एक तरह की निराशा से, जो घोड़े से गिरा था उसकी हालत की ओर ध्यान तक न देकर, मायण

अगस्त्येश्वर मन्दिर की तरफ चल पड़ा। रात को वहीं ठहर गया। सवेरे वह अगस्त्य पात्रधारी को देख आया। उसे जोर की चोट लगी थी। जल्दी ही किसी ने हलदी लगाकर रक्त का बहाव रोक दिया था। इसलिए वह होश में आ गया था। मायण को उससे कुछ खास बातें मालूम नहीं हुईं। इतना भर ज्ञात हुआ कि अगस्त्य का अभिनय न करने के लिए किसी श्रीवैष्णव ने नहीं कहा था। जहाँ तक अग्रहार की बात है, वहाँ इस तरह का धर्मद्वेष नहीं, इतना ज्ञात हो गया।

फिर उसने अग्रहार के और लोगों से भी पूछ-ताछ की। किसी नये व्यक्ति के वहाँ आने की कोई बात मालूम नहीं पड़ी। यदि कोई आया होता तो उन्हें मालूम हो जाता, यह अग्रहारवालों का कहना था।

अब इसका यही मतलब हुआ कि यहाँ चोलों का बहुत हस्तक्षेप है। फिर मायण अग्रहार के पटवारी और एक छोटे करणिक से मिला। उन्हें अपना परिचय दिया। उनको यह भी बताया कि अग्रहार के चारों ओर विशेष ध्यान रखकर, निगरानी करते रहें। फिर दोपहर का भोजन समाप्त करके मायण वहाँ से तलकाडु के लिए रवाना हुआ। पटवारी ने सूचित किया कि साथ में किसी को लेते जाएँ। परन्तु मायण ने कहा कि कोई आवश्यकता नहीं, अँधेरे से पहले ही वह पहुँच जाएगा। इस तरह वह अकेला ही चल पड़ा। मायण ने इसलिए ऐसा कहा था कि किसी को साथ ले जाने पर उसके भावी कार्यक्रम में बाधा आ सकती है।

पहले मायण वहाँ रानी के लिए बने उस निवास पर नहीं गया। उसने अपने घोड़े को वहाँ के अस्तबल में रखा और सीधा तलकाडु के राजकीय अधिकारी हुल्लमय्या से मिला।

हुल्लमय्या ने मायण से पूछा, "इस तरह पूर्वसूचना के बिना आपके आने से लगता है कि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य रहा होगा?"

"आपको मालूम ही है कि जयकेशी पर सेना समेत हमला करने के लिए सन्निधान आगे बढ़ गये हैं। इसके लिए हम अपनी सारी शक्ति और धन इस्तेमाल कर रहे हैं। इस वक्त दक्षिण के अन्तिम छोर पर फिर से चोलों द्वारा अड़चन पैदा की जा सकती है, यही सोचकर चाविमय्या और चट्टलदेवी इस तरफ आये हैं। पट्टमहादेवीजी की आज्ञा है कि उन्हें तुरन्त वापस बुला लाएँ। उन्हें ले जाने के लिए ही मैं आया हूँ। मुझे आना पड़ा क्योंकि वे भेस बदलकर आये हैं, और दूसरे उन्हें पहचान नहीं सकते। यह खबर किसी को नहीं दी है।"

"मैं यहाँ का राजकार्य देख रहा हूँ। कम-से-कम मुझे बता देते तो अच्छा होता न?"

"किसे बताना और किसे नहीं बताना, यह राजमहल का मामला है। यदि आप तक पहुँचाने की बात होती तो अवश्य ही आपको बतायी जाती।"

''तो मतलब यह हुआ कि हम राजपरिवार के पूर्ण विश्वास के पात्र नहीं बन सके हैं।''

''ऐसा सोचना जल्दबाजी का कार्य होगा। आपको ऐसी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।''

''मुझे ऐसा लगता है कि मेरे इस क्षेत्र में मेरी जानकारी के बिना गुप्तचर आये हैं तो उसके यही मायने हुआ?''

''वह बात स्वयं छोटी रानीजी को भी मालूम नहीं। उन्हें भी नहीं बताया गया है कि वे कहाँ-कहाँ किससे मिलेंगे।''

''मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि उन्हें भी इस बात को लेकर दुख होगा। कभी-कभी वह ऐसे दुख को बहुत महसूस करती हैं, और हमें कुछ नहीं मालूम होता। 'मैं छोटी रानी हूँ और तिस पर श्रीवैष्णव पन्थी हूँ। इस वजह से इस राजमहल में मुझे मान्यता नहीं, लगता है', ऐसी धारणा उनकी बन गयी है। उनकी यह भी धारणा है कि उन पर कोई विश्वास नहीं रखता।''

''आप सभी कुछ जानते हैं। हमारे राजमहल की सारी रीति-नीतियों से परिचित भी हैं। राजमहल जिस नीति का अनुसरण कर रहा है, वह सबके लिए हितकारी है। वास्तव में वह किसी पर अविश्वास नहीं करता, न ही शंकापूर्ण दृष्टि से किसी को देखता है। अत्यन्त निकट रहनेवाले हमें भी सभी बातें मालूम नहीं रहतीं। ऐसा समझकर मन में यह सोच लें कि हम पर विश्वास नहीं किया जाता, गलत होगा।''

''आपको भी मेरी तरह एक क्षेत्र का निरीक्षक बनाते और जिम्मेदारी सौंप कर कुछ बातें नहीं बताते तो आप समझते। जाने दीजिए। हम आपस में इस विषय में बहस क्यों करें!''

''सो तो ठीक है। आखिर हम सेवक ही हैं। जो काम बताया जाता है उसे तत्परता से पूरा कर देना हमारा काम है। शायद इसमें हमारा भी कुछ अविवेक हो। चाविमय्या के इधर आने की बात भी पट्टमहादेवीजी को बाद में मालूम हुई। जब हमारी रानीजी ही यहाँ हैं तब उन्हें बताये बिना इस तरफ गुप्तचरों को आना नहीं चाहिए था। यह सब कुछ जल्दबाजी में ही हुआ है। उनके तलकाडु पहुँचने से पहले उन्हें लौटा लाने का आदेश पट्टमहादेवीजी ने दिया है। इसलिए मैं आया हूँ। यदि वे मुझे रास्ते में मिल जाते तो मैं यहाँ तक आता ही नहीं।''

''आपकी बात सुनने के बाद मुझे अपना विचार बदलना होगा। अच्छा इस बात को रहने दो। चोलों की हरकतों के बारे में क्या समाचार मिला है, हम जान सकते हैं?''

''मुझे इसका कोई ब्यौरा मालूम नहीं। महाप्रधान की आज्ञा के अनुसार हम काम करनेवाले हैं न? इसे रहने दें। यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ खबर मिली है क्या?''

''उनके बारे में तो कोई खबर नहीं। हाँ, यहाँ रानीजी और उनके बेटे की गुप्त

हत्या के प्रयत्न की सूचना अवश्य मिली है। इस दिशा में हम बड़ी सतर्कता से काम ले रहे हैं। जब से उन्हें यह पता चला तभी से वे भी बहुत परेशान हैं। धर्मदर्शी को कोस रही हैं। प्राणलेवा इस रानी की गद्दी पर बिठाकर हर क्षण प्राणभय से जीते रहने की स्थिति में मुझ जैसी अनजान को डाल दिया है। धर्मदर्शी ही इसके कारण हैं, यों खुल्लम-खुल्ला कह रही हैं। वे जब-तब डर से काँप उठती हैं तो देखकर मेरी अँतड़ियाँ बाहर निकल पड़ती हैं। उन्हें साहस देकर धीरज बँधाकर उनकी सुरक्षा का दायित्व मैंने अपने ऊपर लिया है, और यह वचन भी दिया है कि जब तक मैं जीवित हूँ, रानीजी और राजकुमार का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।'' हुल्लमय्या ने इस तरह अपनी सारी स्थिति मायण को स्पष्ट कर दी।

मायण को इन सब बातों में कोई तालमेल नहीं लग रहा था। राजधानी में मिली खबर के अनुसार पट्टमहादेवीजी की हत्या का षड्यन्त्र चल रहा है, और यहाँ यह खबर है कि रानी और राजकुमार की हत्या का षड्यन्त्र है। इसका मतलब यह कि दोनों तरफ भय पैदा करके विद्वेष भाव बढ़ाने की साजिश हो रही है। उसने निर्णय किया कि इसकी तह में क्या है, इसका पूरा पता लगाना चाहिए। अपने मन की बात को व्यक्त किये बिना, उसने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, ''ये लोग भी कितने बुरे हैं! मुझे एक बात सूझ रही है। ऐसे प्रसंग में रानी और राजकुमार का राजधानी में रहना ही ठीक होगा।''

''मैंने पहले ही सलाह दी थी, पर महाराज के वापस आने तक वे राजधानी जाना ही नहीं चाहतीं। सन्निधान के बिना राजधानी उनके लिए काँटों की सेज है, यही कहती हैं।''

अब मायण के लिए कुछ कहने को क्या रहा! थोड़ी देर चुप बैठा रहा। सोचने लगा कि *अगस्त्येश्वर* अग्रहार की घटना के बारे में हुल्लमय्या से कहें या नहीं। फिर निश्चय किया कि न ही कहें तो ठीक। उसे लगा, हुल्लमय्या के मन में लक्ष्मीदेवी के प्रति आत्मीयता का भाव है, इसलिए यही बेहतर है कि चाविमय्या और चट्टला की प्रतीक्षा की जाए और उन्हें साथ ले जाया जाए। यह निश्चय कर मायण हुल्लमय्या से विदा लेकर जाने को तैयार हुआ।

हुल्लमय्या ने पूछा, ''रानीजी के दर्शन नहीं करेंगे?''

''जैसा आपने कहा कि अभी वे एक तरह से चिन्ताग्रस्त हैं। ऐसी हालत में उनसे मिलना उचित होगा? आप ही सोचें! फिर आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा।''

''आप कब रवाना हो रहे हैं?''

''कैसे बताऊँ? उन लोगों के मिलते ही उनको साथ लेकर चल दूँगा।''

''तो मतलब हुआ कि कुछ समय है। मैं परिस्थिति समझकर आपको सूचित करूँगा।''

"ठीक। अब मुझे अनुमति दें तो मैं अपने मुकाम पर जाऊँ!"

"ठीक है।"

मायण वहाँ से विदा होकर अपने मुकाम पर आ गया। राजनीतिक कार्य से आनेवाले राजमहल के कर्मचारियों के ठहरने के लिए पृथक् आवास की व्यवस्था सभी प्रमुख केन्द्रों में थी। तलकाडु में भी ऐसी व्यवस्था थी। मायण सीधा वहाँ गया। सूर्यास्त के पहले ही मायण वहाँ पहुँच गया था, फिर भी उसे हुल्लमय्या के निवास से वहाँ पहुँचने में विलम्ब हो गया। शाम का भोजन समाप्त कर वह लेट गया। यात्रा के कारण थका हुआ था, जल्दी नींद आ गयी।

दूसरे दिन प्रातः [illegible] जल्दी जागा, नित्य कार्यकलाप से मुड्डुकुतोरे के रास्ते पर चल पड़ा। वहाँ, मुड्डुकुतोरे के पास की अमराई में पहुँचा। वह हाट का दिन था, इसलिए व्यापारी लोग पेड़ों की छाया में और इधर-उधर छाजन के नीचे अनाजों की ढेरियाँ लगाने में व्यस्त थे। अनाज तथा और भी बिकाऊ चीजों को लेकर गाड़ियों की कतारें आ रही थीं। वहाँ व्यापार अनाज के बदले भी होता था और नकद देकर भी। ग्रामीणजन सप्ताह भर के लिए आवश्यकता की चीजें खरीद लिया करते। पोय्सल सिक्कों का ही चलन था।

इस तरह के हाट-बाजारों में खेल-तमाशे हों तो उनकी शोभा बढ़ जाती है। यही वहाँ आये लोगों के लिए मनोरंजन है। वहाँ पहुँचकर मायण ने निरीक्षक दृष्टि से एक बार पूरे बाजार का चक्कर लगाया। बाजार के एक कोने में कुछ दूर पर खड़ी एक गाड़ी ने उसको आकृष्ट किया। उसे लगा कि परदे से ढँकी यह वही पूर्व परिचित गाड़ी है। वह सोच रहा था कि उस गाड़ी के पास कैसे पहुँचा जाए। यही सोचता वह उस तरफ कदम बढ़ा रहा था। सब लोग बाजार में अपने-अपने काम में मग्न थे। लेकिन उसकी आँखें उस परदेवाली गाड़ी पर ही लगी रहीं। कावेरी नदी विनय भाव से धीरे-धीरे बह रही थी। धूप चढ़ रही थी, रेत गरम हो रही थी। जहाँ कावेरी मुड़ती है, उस मोड़ पर पहुँचा ही था कि वहाँ उसे वही दो व्यक्ति दिखे जो नाचते-गाते खेल दिखानेवालों के-से भेस में थे। उसने तुरन्त उन्हें पहचान लिया। उनके पास जाकर मायण ने अपनी आवाज बदलकर पूछा, "कहाँ के हो?"

"आवाज बदल लो और वेश भी बदल लो, तो क्या पहचान नहीं पाएँगे? यहाँ आने की वजह?" उनमें से एक ने पूछा।

"ठीक, जिन्हें मैं ढूँढ़ रहा था, वही मिल गये। चलो, पट्टमहादेवीजी ने तुम दोनों को तुरन्त बुला लाने को कहा है। उन्होंने कहा है कि उनकी अनुमति के बिना तुम लोगों को भेजना गलत हुआ।" मायण बोला।

"तो फिर हमारा आना फिजूल हुआ?"

"फिजूल तो नहीं, राजधानी हम कल चलेंगे। शायद हमें रानीजी से मिलकर

ही जाना पड़ेगा। इसके पहले यह भी जानना है कि वह परदापोश गाड़ी किसकी है। हो सके तो उस गाड़ी को उसके सभी यात्रियों के साथ तलकाडु ले जाने की कोशिश करनी है। इस गाड़ी के पीछे एक रहस्य है। बाकी बातें शहर में अपने मुकाम पर बताऊँगा। अभी तुम अपने रास्ते से जाओ। मैं तुरन्त तलकाडु पहुँच रहा हूँ। तुम लोग युक्ति से उस गाड़ी को वहाँ हाँक लाओ।'' इतना कहकर मायण ने यहाँ के व्यवस्थापक अधिकारी से हुई बातचीत का सारांश भी बता दिया, और चल पड़ा।

मायण नहाने के बहाने नदी पर गया। वहाँ अपने सहज भेस में आकर उसने तलकाडु का रास्ता पकड़ा। जब वहाँ के व्यवस्थापक अधिकारी ने सुबह बुलावा भेजा तो मायण वहाँ नहीं था। जब वह मुकाम पर पहुँचा तो वहाँ, व्यवस्थापक की आज्ञा के अनुसार, रानीजी के दर्शन के लिए उसे ले जाने के लिए लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। मायण के आते ही लोगों ने खबर दी। वह तुरन्त राजमहल की ओर चल पड़ा।

हुल्लमय्या को पहले खबर मिल गयी थी। राजमहल के अहाते में ही उसकी मायण से भेंट हो गयी। मायण को वह रानीजी के पास ले गया।

रानी को देखते ही मायण ने आदर के साथ झुककर प्रणाम किया, और विनीत भाव से पूछा, ''क्या आज्ञा है?''

''हाँ, आप लोगों को स्वयं आकर मिलने की बात सूझती नहीं, हमें बुलवाना पड़ता है।''

''मैंने यहाँ के व्यवस्थापक अधिकारी को बताया था कि सन्निधान की सुविधा देखकर बताएँ।''

''हाँ, उनके खुद पूछने पर कहा न?''

''सच है, पहले उन्होंने यह सवाल तो किया। परन्तु, इसके यह मायने नहीं कि मैं दर्शनाकांक्षी नहीं था। मैं राजमहल की आज्ञा से इधर एक कार्य के निमित्त आया था। क्षमा करें, मेरा मन उस काम की ओर लगा रहा।''

''वह बात मुझे न बताने की आज्ञा है क्या?''

''इस तरह की तो कोई आज्ञा नहीं।''

''मतलब?''

''न बताएँ, ऐसा कुछ नहीं। यह भी नहीं कहा कि बता देना।''

''फिर भी, जहाँ मैं हूँ, वहाँ आएँ और मुझे न बताएँ, क्या यह आपका अपना निर्णय है?''

''वास्तव में मेरा ध्यान अपने उस निर्दिष्ट कार्य पर लगा हुआ था। मैंने और कुछ सोचा ही नहीं।''

''यहाँ जो कुछ घटे, उसके बारे में हम किसी को न बताने की आज्ञा दें तो आप क्या करेंगे?''

''हुकम सिर आँखों पर।''

''पट्टमहादेवीजी से न कहेंगे तो आप लोगों के गले में पानी तक न उतरेगा।''

''सन्निधान की यदि यही राय हो, तो इसके लिए हमारे पास कोई जवाब नहीं। हम राजमहल के निष्ठावान नौकर हैं। सन्निधान भी राजमहल के ही कार्य के लिए आदेश देंगी, ऐसा मैं सोचता हूँ।''

''ठीक, खबर मिली है कि राजकुमार की और मेरी हत्या का षड्यन्त्र हो रहा है। मुझे बताये बिना आपका आना, और आपकी पत्नी और चाविमय्या, इन दोनों को भिजवाना, यह सब देखने पर लगता है कि आपके आने का इस सबके साथ कुछ सम्बन्ध है। ऐसी शंका अगर हो तो क्या गलत है?'' इतना कहकर लक्ष्मीदेवी मायण की ओर देखने लगीं कि उसको क्या प्रतिक्रिया होती है।

वह गूँगे की तरह खड़ा रहा, कुछ बोला नहीं। वह अपने मन की बात कहने की स्थिति में नहीं था। उसे लगा कि कह दें, 'ऐसी पवित्रात्मा पट्टमहादेवी के बारे में इस तरह की शंका करना कितनी नीचता है। आप पूर्वग्रह से पीड़ित हैं। ऐसी बातें मैं सुन नहीं सकता।' मगर कहा नहीं। सोचा कि पता नहीं सही न समझकर कुछ-का-कुछ अर्थ निकालें, और जाने क्या समझ बैठें!

कुछ देर चुप रहकर लक्ष्मीदेवी बोली, ''चुप क्यों हो, कुछ कहते क्यों नहीं? मौन के क्या मायने हैं, जानते हो?''

''राजधानी में इस तरह की कोई खबर नहीं आयी, न मुझे कोई ऐसी खबर मिली। कल ही यहाँ के व्यवस्थापक अधिकारी ने मुझे यह सब सुनाया। उनकी बात सुनकर मैं दंग रह गया। तुरन्त मैंने उनसे जो निवेदन किया सो आप उनसे ही पूछ लीजिएगा।'' मायण बोला।

''उसका उन्होंने क्या जवाब दिया?''

''वे स्वयं यहाँ मौजूद हैं। यदि अब तक उन्होंने नहीं बताया हो तो बाद में बता ही देंगे।''

दो मिनट मौन रहकर रानी ने ही स्वयं कहा, ''राजमहल के नौकरों पर जो अनुकम्पा है, वही राजमहलवालों पर भी हो तो बात दूसरी है। यदि आपने हमारे यहाँ के व्यवस्थापक को जो बताया है वही काम हो, तो वह कहाँ तक बना है?''

''काम करीब-करीब बन गया, कहा जा सकता है। मैं समझता हूँ कि जल्दी ही राजधानी लौटने के बारे में निर्णय लिया जा सकेगा।''

''तो अपने गुप्तचरों से मिल चुके?''

''हाँ।''

''कहाँ हैं वे? क्या उन्हें वैसे ही राजधानी की ओर दौड़ा दिया?''

''अगर उन्हें वैसे ही भेज देना होता तो मैं भी उनके साथ राजधानी चला गया होता।''

''मगर आपका घोड़ा तो यहीं घुड़साल में था न?''

''वह राजमहल का घोड़ा है। यदि घोड़ा यहीं रह जाता तो कोई गलती नहीं होती।''

''तो क्या उन्हें यहाँ बुलवा लाने की सूचना है?''

''वे तो आएँगे ही, मगर कहा नहीं जा सकता कि कब तक आ पाएँगे।''

''क्यों? उन्हें कुछ और भी काम शेष है?''

''हाँ।''

''क्या है वह?''

''कार्य करने वाले स्वयं आकर कहेंगे तो सचाई सामने आ जाएगी। मैं कुछ कहूँ तो वह कल्पना हो सकती है।''

''बहुत जरूरी काम है वह?''

''मैं यह कह नहीं सकता कि वह कितना जरूरी है। हो सकता है कि आगे चलकर वही महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो।''

''आने पर व्यवस्था अधिकारी से मिलें तो दर्शन की व्यवस्था हो जाएगी।''

''जो आज्ञा।'' मायण ने झुककर प्रणाम किया। रानी लक्ष्मीदेवी ने घण्टी बजायी। दरवाजा खुला। मायण ने प्रणाम किया और दरवाजे की तरफ बढ़ गया। व्यवस्था अधिकारी उसके पीछे चलने लगा तो उससे रानी बोली, ''आप यहीं ठहरें।''

मायण चला गया।

''चोलों की हुल्लड़बाजी हमारे राज्य के इस भाग में हो रही है क्या?'' लक्ष्मीदेवी ने हुल्लमय्या से पूछा।

''ऐसी कोई सूचना तक नहीं। राजधानी के खुफियों ने या हमारे अधीन रहनेवाले खुफियों ने भी ऐसी कोई खबर नहीं दी है। इसलिए निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं।'' हुल्लमय्या ने निवेदन किया।

''तो आपको सूचना दिये बिना ही राजधानी के खुफिये खबर ले गये?''

''राजनीतिक व्यवस्था के नियमों के अनुसार इस तरह के व्यवहार की कोई गुंजायश नहीं है। व्यवस्थापक अधिकारी को अपने प्रदेश की सारी बातें मालूम रहती हैं। और, खबर देते रहने की पद्धति भी है।''

''मगर यह मायण कहता है कि वह इसी के लिए यहाँ आया!''

''मुझे उसकी बातों पर विश्वास नहीं।''

''तो क्या वह विश्वसनीय नहीं?''

''ऐसा नहीं। उसके आने से पहले और दो गुप्तचर भेजे गये थे। उन्हें वापस बुला लेने के लिए आया है तो इसका कोई दूसरा बड़ा कारण होना चाहिए, ऐसा लगता है।''

"हो सकता है। मेरा दिमाग इतना विचार नहीं कर सकता। यदि आपको ठीक जँचे तो उस पर गुप्तचरों को लगाकर पता लगाइए कि बात क्या है।"

"मैंने तभी आवश्यक आदेश दे दिये हैं।"

"अच्छा किया। देखिए, इस हत्या की खबर मिलने के बाद तो मेरे अंग-अंग ढीले पड़ गये हैं। कौन विश्वासपात्र है कौन नहीं, कुछ समझ में नहीं आता। उस मायण से जब बातचीत कर रही थी तब उसी पर मुझे शंका हो गयी। पट्टमहादेवी ने ही यह काम करने के लिए उसे भेजा हो शायद, ऐसा ही मुझे लगा।"

"न-न, पट्टमहादेवीजी इस तरह की बात कभी सोच भी नहीं सकेंगी।"

"वे धर्मान्ध होकर धर्म के नाम पर कुछ भी कर सकती हैं।"

"यह बहुत बड़ी बात है; इस पर मैं अपनी राय नहीं दे सकता।"

"डरते हो?"

"नहीं। अनुभव के आधार पर बनी गौरव की भावना है। सभी मनुष्य स्वार्थी हैं। परन्तु उस स्वार्थ को साधने के लिए सभी एक ही स्तर पर कार्य नहीं करते। अनेक बातों में आपसे सहमत होने पर भी, इस विषय में मेरी भिन्न राय है। रानीजी, मुझे क्षमा करें।"

"जाने दीजिए। किसे कहाँ चोट लगती है, उसी के अनुसार उसकी राय कायम होती है। आप रानी नहीं बने, आपके बच्चे उनकी आँखों की किरकिरी नहीं बने, इसलिए आप समझ नहीं सकते। यह सब मेरी आन्तरिक पीड़ा है। अन्य लोगों को यह कैसे दिखाई दे सकती है!"

"रानीजी का यदि यही अनुभव हो तो हम इसे नकार भी कैसे सकते हैं?"

"ठीक, अब तो सतर्क रहें। मेरे पिताजी के संरक्षण की भी समुचित व्यवस्था करें। उनके साथ अंगरक्षक हमेशा बने रहें।"

"षड्यन्त्र की बात जब से सुनी, तब से सब तरह की रक्षा-व्यवस्था चुस्त बना दी गयी है। तलकाडु में आनेवाले बाहर के लोगों पर कड़ी नजर बनाये रखने का आदेश भी दे दिया गया है।"

"अन्दर भी ऐसी ही व्यवस्था होनी चाहिए। अपने ही हाथ हमें चपत मार सकते हैं।"

"चिन्ता की जरूरत नहीं। समुचित व्यवस्था है।"

रानी कुछ बोली नहीं। थोड़ी देर चुप रहने के बाद हुल्लमय्या ने पूछा, "और कुछ आदेश है?"

"मेरी हत्या का यह षड्यन्त्र राजधानी के राजमहल की तरफ से ही चला है, यदि यह बात निश्चित हो गयी तो क्या हमें चुप बैठे रहना होगा? या प्रतिकार की बात सोचना अच्छा है?" धीरे से लक्ष्मीदेवी बोली।

कुछ आतंकित होकर हुल्लमय्या बोला, "तो...?"

"तो...तो क्या?...वही। सब समझाकर कहना होगा?"

"ऐसी बात सम्भव हो ही नहीं सकती।" हुल्लमय्या ने दुविधा में कहा।

"यह न हो सकने की बात नहीं। ऐसी स्थिति यदि उत्पन्न हो जाए तो मेरी और मेरे बेटे की रक्षा की व्यवस्था रहेगी न?" भयग्रस्त हो गिड़गिड़ाने जैसे स्वर में रानी ने कहा।

"मैंने वचन दिया है। रानीजी और राजकुमार का अमंगल हो सकने की स्थिति में, मैं किसी का भी सामना कर सकता हूँ। अपनी जान तक देने को तैयार हूँ। मेरी इस निष्ठा पर शंका न करें।"

"आपकी तरह अनेक की मदद की हमें जरूरत पड़ सकती है न? जिन-जिन को हम अपनी मदद के लिए अपना बनाकर रख सकते हैं, उनको अभी से तैयार कर लेना होगा।"

"यह जल्दबाजी में होने का काम नहीं। कई दृष्टियों से परीक्षा कर, हमें व्यक्तियों को चुनना होगा। उस सम्बन्ध में देरी हो भी जाए तो भी इसके लिए व्यापक रूप से योजना बनानी होगी।"

"योजना बनाएँ। मैं इस विषय में क्या सलाह दे सकूँगी, मुझे ऐसा अनुभव भी नहीं। खुशी की बात तो यह है कि जैन होते हुए भी आप हमें सहयोग दे रहे हैं।"

"यहाँ हम पले-बढ़े उसी ढंग से। हमारे लिए कुछ बातों में धर्म गौण है। एक बार हम किसी को अपना मालिक मान लेते हैं तो वह आजीवन हमारे लिए मालिक है। आपने सुना होगा कि पहले चलिकेनायक नामक एक व्यक्ति थे जो महासन्निधान के पिताजी के प्रिय तथा अत्यन्त विश्वासपात्र थे। उन्हें मैंने भी नहीं देखा था। उन्हें 'स्वामिद्रोहीहन्तक' विरुद भी दिया गया था। उनके पोते नोणवेनायक और माचयनायक आज राजमहल की सेवा में तैनात हैं। वे शिवभक्त हैं। हमारे इस पोय्सल राज्य में स्वामी और सेवक का सम्बन्ध आपसी विश्वास के आधार पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता आ रहा है।"

"हाँ, उन्हें मैंने भी देखा है जब मैं राजधानी में थी। पट्टमहादेवीजी उनकी बहुत प्रशंसा कर रही थीं, यह भी सुना है। मैं पट्टमहादेवी की तरह बोलने में चतुर नहीं। आपको एक बात याद रखनी चाहिए। सारे अधिकार जब उनके हाथों में ही हैं, तब अपने बच्चों के हित की सुरक्षा के लिए पट्टमहादेवी ने कुछ लोगों को क्यों नियुक्त कर रखा है? हमेशा उनके पीछे ये रक्षक क्यों रहते हैं? छोटा कुमार तो राजमहल में ही है। लेकिन इस चोकिमय्या को और उन दोनों नायकों को, जिनके बारे में आपने अभी जिक्र किया, अपने बड़े बेटे के साथ क्यों रखा है? सच है कि मैं केवल कट्टर वैदिक परिवारों में पली हूँ। ये राजनीतिक दाँवपेंच, षड्यन्त्र रचने की चाल आदि तो

मेरी पहुँच के बाहर की बातें हैं। मगर मैं मूर्ख नहीं हूँ। यहाँ की रीति-नीतियों को जानने की मैंने कोशिश की है। इधर कुछ समय से मैं भी इन बातों को समझने लगी हूँ। आपके बारे में अन्याय हुआ है, यह भी मैं जानती हूँ। पर मैं आपको न्याय नहीं दिला सकती हूँ। मैं केवल नाम के लिए रानी हूँ।''

''यहाँ की सेवा में मुझे मानसिक शान्ति है, तृप्ति है। वास्तव में मेरे प्रति अन्याय हुआ है, ऐसी कल्पना भी मैं नहीं करता।''

''आपको शायद कारण दिखता भी नहीं होगा। आपकी निष्ठा ही ऐसी है। आपका विश्वास भी ऐसा ही है। द्रोह की बात आप सोच भी नहीं सकते। फिर भी न्याय से देखा जाए तो बड़े दण्डनायक का पद आपको मिलना चाहिए न? सो नहीं हुआ। पट्टमहादेवीजी के दामाद से पहले, दण्डनायकों की पंक्ति में आपकी गिनती होनी चाहिए थी।''

''वह रक्त सम्बन्ध है। दण्डनायकजी के दादा राजमहल के समधी बने। हम उस स्तर के हैं, ऐसे भ्रम में पड़कर उस पद की आशा हमें रखनी नहीं चाहिए। मुझको क्या कमी है? आपके पूर्ण विश्वास का पात्र हूँ, मेरे लिए बस इतना पर्याप्त है।''

''तो बिना छिपाये यह बताइए कि जब आपको नियुक्त कर यहाँ भेजा गया, तब आपको कौन-सा गुप्त आदेश दिया गया था?''

''वे आदेश तो सभी अधिकारियों के लिए एक-से होते हैं। मुझे भी वही आदेश दिया गया। परन्तु यहाँ रानी और राजकुमार के रहने से, उनकी सुख-सुविधा और सुरक्षा, राष्ट्र की सुख-शान्ति और सुरक्षा के समान ही मुख्य हैं। इसके लिए सब तरह के त्याग के लिए सदा तैयार रहने का आदेश दिया गया था।''

''यह आदेश सन्निधान का था या पट्टमहादेवीजी का?''

''आदेश मुझे महाप्रधान ने दिया था।''

''बेचारे! वे पुरानी पीढ़ी के हैं। सब को एक ही दृष्टि से देखते-समझते हैं। ठीक है। अब यह बात रहने दीजिए। आस्था के कारण, या जितना मिले उसी से तृप्त रहने की प्रवृत्ति के कारण, आपके प्रति जो अन्याय हुआ है उस पर आप ध्यान नहीं देते, परन्तु इस बात को जानकर भी मैं कैसे चुप रह सकूँगी? ऐसी कुछ बातें सन्निधान को मालूम पड़ती हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानती। उचित समय देखकर मैं अपना कर्तव्य करूँगी।''

''अप्रार्थित जो फल मिले वह दैवदत्त फल है, ऐसा मानना चाहिए। मेरा अपना भाग्य।''

''अच्छा, आगे की याद रहे।''

''जो आज्ञा।''

रानी ने घण्टी बजायी। द्वार खुला। हुल्लमय्या वहाँ से बाहर चले गये।

पूरे दिन प्रतीक्षा की, पर मुडुकुतोरे से कोई नहीं आया। दूसरे दिन भी किसी का पता न लगा। मायण चिन्ता में पड़ गया। उसके मन में यह विचार आया कि किसी दूसरे काम पर उनको लगा देने के कारण शायद वे लोग किसी और तरह की तकलीफ में पड़ गये हों। उसे आशा थी कि वे उसी दिन आ जाएँगे जिस दिन उन्हें देखा था। धीरे-धीरे चलने पर भी मुडुकुतोरे से तलकाडु पहुँचने में एक घड़ी से अधिक समय नहीं लगता। सुबह के गये दो बाद भी वह इसी चिन्ता में रहा। उसने सोचा कि एक बार उस तरफ हो आएँ। फिर उसे लगा कि इससे कोई लाभ नहीं होगा। यों चुपचाप कितने दिन पड़े रहें? कुछ करने की सोची तो वह कुछ-का-कुछ हो गया। यों ही खा-पीकर चुपचाप पड़े रहने की उसकी आदत नहीं थी। 'एक बार घोड़े पर सवार होकर हो आऊँ, तो क्या नुकसान है?' यों सोचकर घोड़े को तैयार किया। तभी व्यवस्था अधिकारी ने उसे खबर भेजी कि अभी तुरन्त आ जाएँ। वह उसी घोड़े पर सवार होकर व्यवस्था अधिकारी से मिलने चला गया।

"आदेश हो।" मायण ने प्रणाम करते हुए पूछा।

"दो दिन से आपके दर्शन नहीं हुए। रानीजी पूछ रही थीं। जिनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वे मिले नहीं?"

"परसों ही आ जाना था। कल भी नहीं आये, इसलिए उन्हीं को खोज में निकल रहा था कि इतने में बुलावा आया तो इधर चला आया। वास्तव में उनके न आने के कारण मैं भी चिन्तित हूँ?"

"वे लोग यदि आपके कहे अनुसार मुडुकुतोरे में परसों थे, तो वे हमारे अधिकार-क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकेंगे। सभी अपरिचित लोगों को यहाँ ले आने का हुक्म जारी किया गया है। इसलिए वे आँख बचाकर भी नहीं जा सकेंगे। जानेवाले अपनी पहचान देकर ही जा सकते हैं। परन्तु हमें यह बात भी मालूम हो जाएगी।"

"तो मुझे चिन्तित होने की जरूरत नहीं। यही मतलब है न?"

"हाँ!"

"अब बुलवा भेजने का कारण?"

"सब बात रानीजी के ही सामने होगी। चलिए, चलें।"

दोनों रानीजी से मिलने गये। उनको देखते ही प्रणाम किया। उनके इशारे पर दोनों दूरस्थ आसनों पर बैठ गये।

"हुल्लमय्या जी, बात बता दी?" रानी ने पूछा।

"नहीं, सन्निधान के समक्ष ही बताने के विचार से इन्हें यहीं बुला लाया। जिनकी प्रतीक्षा थी, इनके वे लोग आये नहीं इसलिए ये चिन्तित हैं। मैंने कहा है कि चिन्तित होने की जरूरत नहीं। अब क्या करना है, आदेश दें।"

"मेरे पिताजी भी यहाँ होते तो अच्छा होता न?"

''मुझे यह प्रतीत नहीं हो रहा है कि यहाँ उनकी जरूरत है। यदि सन्निधान की इच्छा हो तो बुला लूँ?'' हुल्लमय्या ने कहा।

''इस तरह के मामलों में मुझे किस तरह व्यवहार करना होगा, मैं क्या जानूँ? इसलिए आपको जो ठीक लगे, वही करें।'' रानी लक्ष्मीदेवी ने कहा।

पहेली बन गयी थी। इस समस्या का पर्यवसान क्या होगा, यह कल्पना भी नहीं कर सकता था मायण। वह कुतूहलपूर्ण आतंक से सोचने लगा कि शायद बात सारे राज्य से सम्बन्धित होगी या फिर रानी के मन में बैठी हुई वही धुन होगी जिसके कारण मुझे बुलाया गया है। यही सोचता हुआ मायण मौन बैठा रहा।

हुल्लमय्या ने वहाँ के नौकर को इशारे से बुलाया और उसके कान में कुछ कहा। नौकर वहाँ से चला गया।

''हमने एक परदे से ढँकी गाड़ी के लोगों को गिरफ्तार किया है। सुना है कि वे परसों मुड्डुकुतोरे के बाजार में दलबद्ध होकर लोगों को उकसाते फिर रहे थे। वे रानी पर और उनके धर्म पर लोगों को छेड़कर उन्हें उकसा रहे थे। हमारे गुप्तचर उनके दल में शामिल हुए। बाजार के निकट एक वृक्ष-कुंज है। वहाँ दस बारह लोग बैठकर बातचीत कर रहे थे। सुना कि ये हमारे खुफिये, वहीं जा बैठे। लोग एक-एक कर आते रहे। दो खेल दिखानेवाले भी थे जो उन्हें एक-एक करके इस टोली की तरफ भेज रहे थे। इन खेल दिखानेवालों के जाने पर ही हमारे गुप्तचर भी वहाँ गये। वहाँ उन खेल दिखानेवालों पर निगरानी रखे रहने की व्यवस्था करने के बाद ही हमारे गुप्तचर वहाँ गये थे। उन सभी को गिरफ्तार कर लिवा लाये। सबको एक साथ गिरफ्तार करने के इरादे से, किसी को खबर दिये बिना जब वे परदेवाली गाड़ी में पूरिगाली की तरफ रवाना हो रहे थे, हमने उन्हें हिरासत में ले लेने की व्यवस्था की थी। अब वे सब यहाँ लाये गये हैं। तहकीकात करने के लिए उन्हें राजधानी भेजना है या उन्हें यहीं दण्ड दिया जाए, इसका निश्चय अब सन्निधान (रानीजी) के सामने किया जाना है। परन्तु जिनके बारे में आपने कहा, वे आये क्यों नहीं, यह एक रहस्य ही बना है। फिर भी इतना कह सकते हैं कि वे हमारी सीमा से बाहर नहीं गये। जैसा पहले ही बताया था, हमारी सीमाएँ सुरक्षित हैं। जब से यह युद्ध शुरू हुआ है, तब से अनाज तथा और भी चीजें अन्यत्र न जाएँ, ऐसी आज्ञा राजधानी से मिली है। तब से कर उगाही आदि का काम भी बड़ी चुस्ती के साथ चला है। अब हमारी पकड़ में जो लोग हैं, उनमें कुछ को आप जानते हैं, यह भी हमारा विचार है। यदि ऐसा हो तो विषय की जानकारी, उसकी गम्भीरता और इसका मूल आदि जानने में मदद भी मिल सकती है।'' एक साँस में ही यह सब हुल्लमय्या कह गया।

हुल्लमय्या की बातें सुनकर मायण जरा भी विचलित नहीं हुआ। फिर गम्भीर होकर बोला, ''हमें सत्य मार्ग को छोड़ अन्यत्र जाने की शिक्षा मिली ही नहीं। झूठ

बोलनेवाला हूँ, ऐसी शंका भी होती तो हमारा राजमहल से सम्पर्क ही कट जाता। देखेंगे, आपकी बातें सुनने के बाद मुझे भी लगता है कि उनमें शायद कुछ परिचित हों।''

''सो कैसे?''

''उस परदेवाली गाड़ी को मैंने अगस्त्येश्वर अग्रहार में देखा था। उस गाड़ी का किस्सा यों है,'' कहकर उसने अगस्त्येश्वर में घटी सारी घटना संक्षेप में सुना दी, और बोला, ''मेरे मन की बात अब शायद हुई है। अच्छा हुआ।'' मगर उन खेल दिखानेवालों के बारे में कुछ नहीं कहा। बात उन्हीं के मुँह से निकले, यों सोचकर वह चुप रहा।

''यह बात आपने पहले ही क्यों नहीं बतायी?'' हुल्लमय्या ने पूछा।

''मैं ही स्वयं उन्हें पकड़ लाकर रानी सन्निधान के समक्ष पेश कर सकूँगा, यही विचार कर नहीं कहा। न कहने का मेरा इरादा नहीं था। कब कहना संगत होगा, यह सोचकर और उस समय कहना ठीक न समझकर चुप रहा।'' मायण ने कहा।

''कम-से-कम रानीजी को तो बता सकते थे न?''

''मैंने पहले ही अपने मन के विचार निवेदन कर दिये हैं।''

रक्षकदल के साथ नौकर बन्दियों को ले आया। खेल दिखानेवाले वे दोनों भी थे। शेष पाँच लोगों में एक वह था जो मायण के हाथ से छूटकर निकल गया था। शेष चारों में से एक को मायण ने पहचान लिया, वह दामोदर का नौकर था और उसका नाम गोज्जिग था। शेष तीन कौन थे, सो पता नहीं चला।

''रानी सन्निधान से एक विनती है।'' उन पाँचों में से एक की ओर उँगली दिखाकर हुल्लमय्या ने कहा, ''यह इन षड्यन्त्रकारियों का नेता है। शेष ये चारों व्यक्ति उसकी रक्षा में लगे उसके साथी हैं। ये नाटकवाले और कोई नहीं, लोगों को उकसाकर इस दल में भरती करनेवाले प्रचारक हैं। ये सब धर्म के नाम पर राजमहल के कुछ लोगों की हत्या करने का षड्यन्त्र रच रहे हैं। इनसे पहले यहाँ पूछताछ करके, यदि रानी सन्निधान आज्ञा दें तो अन्तिम निर्णय के लिए इन्हें राजधानी भेजा जा सकता है। राजधानी में सभी के समक्ष इनसे पूछताछ की जा सकती है।''

''ऐसा ही करें।''

मायण की ओर इशारा करके पूछा, ''इन्हें तुम लोगों में से किसी ने कहीं कभी देखा है?''

खेल दिखानेवाले दोनों ने कहा, ''हाँ, हमने देखा है।'' बाकी लोग बोले, ''हमने नहीं देखा है।''

''कहाँ देखा है?'' नाटक दिखानेवालों से पूछा।

''कई जगह। राजधानी में भी देखा है।''

''किस सन्दर्भ में?''

"उसे वे स्वयं बता सकेंगे।"

"मायणजी, इनका कथन सच है? ये आपसे परिचित हैं?"

"हाँ।"

"यदि आपसे परिचित होकर भी इन लोगों ने षड्यन्त्र में भाग लिया है तो आपको कैसा प्रतीत हो रहा है?"

"मैं विश्वास नहीं कर सकता कि इन लोगों ने षड्यन्त्र में भाग लिया है।"

"तो ये इन षड्यन्त्रकारियों के साथ कैसे?"

"उन्हीं से पूछना होगा।"

"वे क्या बताएँगे? झूठ बोलेंगे।"

"षड्यन्त्र का ब्यौरा जान सकते हैं?" मायण ने पूछा।

"कहा न! धर्म के नाम पर रानी और राजकुमार की हत्या करना।"

"ऐसा है!" उसके स्वर में आश्चर्य था।

"चकित क्यों होते हैं? पहली बार जब आप आये तभी मैंने यह बात कही थी मगर आपने विश्वास नहीं किया। अब षड्यन्त्रकारियों से परिचित होने के बाद भी शंका करते हैं? इस षड्यन्त्र की बात हमें मालूम है और इसके लिए प्रमाण भी हैं।"

"ऐसी बात हो तो मेरी एक सलाह है। इसके ब्यौरे इधर जानने के बदले राजधानी ही में इसकी जाँच हो जाना, मेरी दृष्टि से ठीक होगा। यह अकारण नहीं। उसे मैं आप और रानी सन्निधान के समक्ष निवेदन करूँगा। ये खेल दिखाने वाले कौन हैं, मैं जानता हूँ। फिर भी इनके बारे में अभी नहीं बता सकूँगा। इसके लिए मुझे क्षमा करें। उन्हें और इन लोगों को एक साथ राजधानी ले जाएँगे। मेरी एक विनती और है। ये खेल दिखानेवाले आपको कुछ लोगों के नाम सुझा सकेंगे। उन लोगों को भी राजधानी में बुलवा लाना चाहिए। रानी सन्निधान भी राजकुमार और धर्मदर्शी को साथ लेकर राजधानी में इस मौके पर आएँ यह उचित होगा, क्योंकि वहाँ क्या हुआ इसकी सीधी जानकारी रानीजी को मिलनी चाहिए। इन बातों की भी जानकारी रानी सन्निधान को होनी ही चाहिए। भाग्य से महासन्निधान तब तक विजय प्राप्त कर राजधानी पहुँच जाएँ तो और भी अच्छा होगा। आप जब राजधानी जाएँगे तब यहाँ की व्यवस्था में और अधिक सतर्कता और चुस्ती लानी होगी यह तो आपको विदित ही है। इसके लिए समुचित व्यवस्था कर दें तो अच्छा है। हमें जितनी जल्दी हो सके, राजधानी पहुँचना है।" मायण ने कहा।

हुल्लमय्या ने रानी की ओर देखा।

"अभी तो इन लोगों को ले जाएँ। शेष विषय पर बाद में निर्णय करेंगे।" रानी बोली।

कैदी ले जाए गये। अब वहाँ तीन ही लोग रह गये। तब मायण ने कहा,

''राजधानी में भी इसी तरह के षड्यन्त्र की बात फैली है। पट्टमहादेवीजी को भी यह बात मालूम है। इसलिए सबका वहाँ जाना बेहतर है।''

''आपकी क्या राय है, हुल्लमय्याजी?'' रानी ने पूछा।

''मायणजी की सलाह ठीक है। वही करेंगे। राजमहल में राजघराने वालों की हत्या का षड्यन्त्र! इस सम्बन्ध में सारी तहकीकात सबके समक्ष राजधानी में होना ही ठीक है—यह मेरा भी विचार है।'' हुल्लमय्या ने कहा।

''वैसा ही कीजिए।'' रानी लक्ष्मीदेवी ने निर्णय सुना दिया।

जयकेशी पर आक्रमण की गतिविधियाँ धीमी ही थीं। निश्चित रूप से निर्णायक स्थिति में युद्ध नहीं चल रहा था। बिट्टिदेव जिस तरह की रसद आदि की प्रतीक्षा में थे, वह पहुँच गयी थी। होलियेरु नायक ने एक घुड़सवार सेना के साथ वनवासी के दक्षिण-पश्चिम की ओर कदम्बों से लड़कर विजय पायी थी, और उनके पास जो रसद थी उसे अपने कब्जे में कर लिया था। रसद से भी बढ़कर, उनके पास जो दो सौ अच्छे घोड़े थे, उन्हें भी अपने कब्जे में ले लिया था। उन घोड़ों को पकड़ लाकर बिट्टिदेव को समर्पित कर उसने अपनी स्वामिनिष्ठा दिखायी थी। कुछ बीमार घोड़ों की चिकित्सा रानी बम्मलदेवी की देखरेख में हो रही थी। कुछेक तो अच्छे होकर फिर युद्ध के लिए तैयार थे। परन्तु अधिक अश्व मर गये थे, और कुछ कमजोर हो गये थे। ठीक वक्त पर देखभाल होने के कारण बीमार घोड़ों को अलग रखा था इसलिए रोक संक्रामक नहीं बन सका। होलियेरु नायक ने जो घोड़े लाकर दिये उनसे घुड़सवार सेना पहले की ही तरह सशक्त हो गयी थी। इस सेना में डाकरस की सेना भी आकर शामिल हो गयी थी।

यों ही बेकार बैठे-बैठे समय बिताना बिट्टिदेव के लिए कठिन हो रहा था। 'इस समय जयकेशी की सेना द्वारा बिना रसद के अन्तिम लड़ाई के लिए हमला करने की प्रतीक्षा न करके, स्वयं हम ही जयकेशी पर क्यों न हमला कर दें', यों सोचकर उन्होंने हमला कर देने का ही निश्चय किया। इसका सभी दण्डनायकों ने स्वागत किया। बिट्टियण्णा जो बीमार था, अब चंगा हो गया था। उसकी राय थी कि अब तक प्रतीक्षा करते बैठना ही गलत था, और हमारी कमजोरी का ही प्रदर्शन हुआ। राजमहल के वैद्यजी ने कहा, अबकी अमावस्या के बाद हमला किया जा सकता है तब तक आठ-दस दिन, अब जैसे चुपचाप बैठे हैं, वैसे ही रहना अच्छा है। आखिर उनके निर्णय के अनुसार सावन सुदी पंचमी के दिन हमला करने का निश्चय हुआ।

पुनीसमय्या ने पूछा, "क्यों पण्डितजी, नाग-चौथ और नाग-पंचमी नागदेवता का त्यौहार है। नागदेव तो जहर भरे होते हैं। उनकी पूजा के लिए निश्चित इन दिनों में पूजा छोड़कर हमला करें तो हम नागदेव के क्रोध का पात्र नहीं बनेंगे?"

जगदल पण्डित ने कहा, "अगर साँप के डसने की नियति हो तो पूजा करने मात्र से हम उससे छूट नहीं सकेंगे। ये व्रत और नियम अपने क्रम से चलें, इसलिए ये दिन निश्चित किये गये हैं। पंचमी के दिन बहनें दूध से भाइयों की पीठ धोती हैं और भाई-बहन का रिश्ता मधुर बना रहे इसकी प्रार्थना करती हैं। जिसकी बहन न हो, वह उस दिन रोता बैठा रहे? सन्निधान की बहन है, मगर वे अपनी बहन के पास जा नहीं सकेंगे। युद्धक्षेत्र को छोड़कर बहन के पास जाना तो अब सम्भव नहीं, यों चिन्ता करते बैठा जा सकता है? अपने घर जब रहें, तभी व्रत-त्यौहार आदि हो सकते हैं। यात्रा में, युद्धक्षेत्र में, इन सबको मनाने का मौका ही कहाँ? यहाँ इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।"

"तो आपने क्या देखकर दिन निश्चित किया? रवाना होने का मुहूर्त भी आप ही ने निश्चय किया था न? फिर यह हमला अब शीत-युद्ध में क्यों परिणत हुआ?"

"हमारे सन्निधान (महाराज) को इस हमले में विजय मिले, इसलिए यह शीतयुद्ध होने लगा है। मुहूर्त निश्चित करते समय केवल यह देखा जाता है कि अमुक मुहूर्त में हमला करने पर विजय मिलेगी या नहीं। फल को जाने बिना मुहूर्त के अच्छे होने या न होने के बारे में सवाल करना अनुचित है। अब भी मुहूर्त इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर निकाला गया है।"

"हमारे शत्रु ने भी तो अपने ज्योतिषी से मुहूर्त निश्चित करवाया होगा न? उन्होंने भी तो आपकी ही तरह ग्रहगति देखकर बताया होगा?"

"हाँ।"

"परन्तु विजय एक ही को मिलेगी न?"

"हाँ।"

"तो जिसकी पराजय होगी, उसे जो मुहूर्त बताया गया, वह गलत होगा?"

"हो सकता है। यह मुहूर्त ठहराने वाले के ज्योतिष ज्ञान पर निर्भर करता है। हमला करने वाले तो हम हैं न? वे तो चुप ही रहे। उन लोगों ने हमले के बारे में निर्णय भी नहीं किया था। मुहूर्त का निश्चय भी नहीं किया था। इसलिए आपका सवाल इस मौके पर लागू नहीं हो सकता।"

"मुझे जो लगा, मैंने कहा। सन्निधान की आज्ञा हो तो हम जीन कसे घोड़े की तरह आगे बढ़नेवाले हैं। इन बातों में आगा-पीछा नहीं करेंगे। अनुशासन का पालन हमारा लक्ष्य है। यही हमारा ध्येय है।"

"जहाँ अनुशासन हो, वहाँ जीत है। इस अनुशासन के लिए प्रधान ग्रह कुज है।

वह कितना प्रबल है, यह देखना मुख्य है। फिर गुरु को सदा सहायक होना चाहिए। इन दोनों के इस स्थिति में होने के साथ, उस दिन रविवार है और हस्त नक्षत्र है। अतः अमृतसिद्धि योग है।''

''ठीक। वही करेंगे। अभी तुरन्त हमले की पूरी तैयारी करें। हमला एक तरफ से हो या कई तरफ से, इस बात का विचार भी करें।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''दो तरफ से हमला हो। पूर्व और उत्तर के द्वार पर हमला करके नगर में घुसेंगे। दक्षिण और पश्चिम के द्वारों पर प्रबल तोमरधारी घुड़सवार सेना पहरा देती रहे जिससे शत्रु भाग न जाएँ।'' डाकरस दण्डनाथ ने कहा।

वही निर्णय हुआ। सैन्य की व्यवस्था हुई। व्यूह-रचना का सारा काम डाकरस दण्डनाथ पर ही छोड़ दिया गया। इस वार के हमले के वही महासेनापति बनाये गये। उन्होंने सावन सुदी पंचमी, इतवार, हस्त नक्षत्र के दिन हमले की भारी तैयारी कर दी।

उधर राजधानी में पट्टमहादेवी इस चिन्ता में व्यग्र रहीं कि चट्टला व चाविमय्या को मायण अभी तक क्यों नहीं वापस लिवा लाया। एक पखवाड़े पहले वह गया था। युद्ध शिविर से भी कोई खबर नहीं आयी थी। मगर जो सामग्री युद्धक्षेत्र में भेजी जाती थी उसमें कोई हेर-फेर नहीं हुआ था। रोज-ब-रोज के काम यथावत् चलते रहे। पढ़ाई, मन्दिर-निर्माण के निरीक्षण का कार्य स्वयं पट्टमहादेवी द्वारा संचालित शिल्प-विद्यालय, महिला-शिक्षण-शाला, नृत्य-शिक्षणशाला आदि के कार्यों का निरीक्षण यथावत् चल रहा था। एक दिन मन्दिर के स्थपति ओडेयगिरि के हरीश के साथ शिल्प के सम्बन्ध में एक विस्तृत चर्चा में पट्टमहादेवीजी लगी रहीं। उस समय अचानक स्थपति जकणाचार्य के बारे में बात छिड़ी। स्वयं हरीश ने बात छेड़ी। कहा, ''मैंने बहुत बड़ी गलती की। उनके साथ मुझे काम करना चाहिए था। जवानी के जोश ने मुझे उस समय विमुख कर दिया। अब खुले दिल से कहने का साहस कर सकता हूँ। उस समय जब मैंने उन्हें देखा तो असहिष्णुता का भाव पैदा हो गया था। उनका रूप, वह लिबास आदि देखकर एक तरह की अरुचि पैदा हो गयी थी। ऐसे व्यक्ति को मान्यता देने वाली सन्निधान और पट्टमहादेवीजी के प्रति भी मेरे मन से सद्भावना दूर हो गयी थी। जिस समय मेरे रेखाचित्र को स्वीकार किया था, तब उन्हें जितना पसन्द आया था वह सारा भाव नष्ट होकर, उतना ही अप्रिय भाव मेरे मन में उत्पन्न हो गया था। मैंने एक घोर अपराध किया था।''

''मनुष्य से तो कभी गलती हो ही जाती है। जो अपनी गलती को समझकर

अपने को सुधार लेता है, वह अच्छा मानव बन जाता है। उन स्थपति ने भी गलती की थी। उसे समझकर अपने को उन्होंने सुधार लिया। अच्छा, छोड़िए यह बात। आपका यह निर्माण लोकोत्तर बनकर स्थायी रहेगा।''

''मगर यह अनुकरण है। उनकी कल्पना तो मौलिक है।''

''हम ऐसा समझते हैं। मौलिक कल्पना के क्या मायने हैं?'' हमारा जीवन एक परम्परा में से गुजरता हुआ आगे है। उसी से हमारी रीति-नीतियाँ रूपित होती आयी हैं। हमारा साहित्य और कलाएँ विकसित हुए हैं। परन्तु यहाँ किसी की भी कल्पना को मौलिक नहीं कह सकते। यदि कभी किसी चीज को मौलिक कहने का साहस करते हैं तो वह भी उस पुराने के आधार पर ही। यह स्फुरण पुराने से भिन्न होने पर नवीन के नाम से अभिहित होता है। उस नवीन में भी प्राचीन की छाप होती है। हमारे देश के वास्तुशिल्प की भी यही स्थिति है। समय-समय पर वह बदलता आया है। चोल-शिल्प एक प्रकार का है तो चालुक्य शिल्प उससे कुछ भिन्न है। ऐसे ही हमारे यहाँ अब एक नया रूप उसे मिला है। मन्दिर की दीवारें चौकोर होने के बदले नक्षत्राकार में बनी हैं। चौकोर, गोल, नक्षत्राकार, पंचकोण, अष्टकोण, षट्कोण आदि यह सब कल्पना नवीन नहीं। परन्तु उनको वास्तुशिल्प में लाने का तरीका नवीन है। आपकी कृति उनका मिश्रित रूप है। मन्दिर दो हैं, फिर भी वह एक-दूसरे से अभिन्न लगते हैं। इनकी वास्तुरचना ही इस तरह की है। इसलिए नवीन कहने की दृष्टि से देखने पर, आपकी कृति नवीन ही है।''

''सन्निधान के साथ चर्चा कर सकने की योग्यता मुझमें कहाँ? कठिन स्वभाव वाले आचार्य जकणजी को भी साधु बना देनेवाली सन्निधान के समक्ष भला मैं क्या चीज हूँ?''

''वैसे तो आप भी पहले इस तरह छूटनेवाले थे न? अपनी इच्छा के अनुसार काम होने पर हमें यह अहंकार होने लगता है कि हमसे ही यह सारा काम हुआ है। यह काम यदि कहीं कुछ बिगड़ा तो हमारा मन दूसरों पर दोष का आरोपण करने लग जाता है। इसलिए मन किसी भी तरह से पकड़ में नहीं आता। जिनका मन वश में होता है उन्हीं को हम स्थितप्रज्ञ कहते हैं।''

''अरिषड्वर्ग के वशीभूत और उनसे हार खाने वाले हम जैसों के लिए स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। आचार्य जकण ने अपने क्रीडापुर के मन्दिर का निर्माण सम्पूर्ण होने तक अन्यत्र कहीं काम न करने का संकल्प किया था। उनके उस मन्दिर का कार्य पूरा हो गया हो तो उन्हें एक बार यहाँ बुलवा लिया जाए। मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।''

''उसके पूरा होने पर उसकी प्रतिष्ठा के समारम्भ के लिए हमें बुलाने की बात कही गयी थी। अभी कोई बुलावा नहीं आया है, इसलिए लगता है, शायद अभी काम

पूरा न हुआ हो।''

''कहला भेजकर यदि समाचार जान लिया जाए...''

''उससे केवल अपनी जल्दीबाजी ही प्रकट होगी। मैं उन्हें बहुत अच्छी तरह समझती हूँ। काम समाप्त होने पर उनकी ओर से जरूर ही खबर मिल जाएगी। तब आप भी हमारे साथ चलेंगे।''

''यहाँ का काम समाप्त हो तब न?''

''कितने दिन के लिए! काम नियोजित रूप से चलता रहेगा। जल्दी होकर आ जाएँगे।''

''लेकिन महासन्निधान जब युद्ध में लगे हों...''

''हाँ। उस तरफ मेरा ध्यान ही नहीं गया। सन्निधान के लौटे बिना मैं भी राजधानी कैसे छोड़ सकूँगी? वक्त आने पर विचार करेंगे।'' शान्तलदेवी ने कहा।

तब तक मन्दिर के अन्दर से घण्टी की आवाज भी सुनाई पड़ी। ''आरती उतारने का समय हो गया है, चलें।'' कहती हुई शान्तलदेवी मन्दिर के भीतर गयीं। हरीश ने उनका अनुसरण किया। दोनों महादेव-लिंगों की आरती हुई, फिर चरणामृत और प्रसाद बाँटा गया। हरीश ने कहा, ''आज सन्निधान जब से आयीं तब से केवल बातें और चर्चा ही होती रही। कार्य का निरीक्षण ही नहीं हो सका।''

शान्तलदेवी, ''चलिए देखें'', कहती हुई आगे चलने लगीं। हरीश जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाकर उनके आगे हुआ और मार्गदर्शन करने लगा।

इस युगल-मन्दिर के दक्षिण भाग में गणेशजी की एक सुन्दर मूर्ति तैयार थी। उसे दिखाते हुए हरीश ने कहा, ''यह एक अपूर्व शिल्प है। इसमें पाश, अंकुश तथा प्रभावली का काम बहुत बारीकी से किया गया है। इसे स्थापित करने के लिए उपयुक्त स्थान कौन-सा है—इसका अभी निर्णय नहीं हुआ है। सन्निधान स्थान का निर्देश करें तो बहुत उपकृत होऊँगा।''

शान्तलदेवी ने सवाल का जवाब ही नहीं दिया। गौर से उस मूर्ति को देखती खड़ी रहीं। मूर्ति को एक तरफ से देखा, फिर इधर-उधर से देखा। पास से देखा, दूर से देखा। आगे-पीछे देखा। हाथ की उँगलियों को नली जैसा बनाकर उसमें से देखा। और फिर पूछा, ''इसे किसने बनाया?''

''मैंने ही। इस युगल-मन्दिर का कार्य निर्विघ्न समाप्त हो, इस उद्देश्य से बड़ी श्रद्धा के साथ मैंने बनाया है। परन्तु इसके लिए स्थान कहाँ हो, इस पर पहले विचार नहीं किया। इसीलिए सन्निधान को दिखाया। किसी रेखाचित्र में इसे दिखाया नहीं गया है।'' हरीश ने कहा।

इतने में राजमहल का हरकारा भागा-भागा आया और उसने झुककर प्रणाम किया।

''क्या समाचार है?'' शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

''भण्डारीजी को तलकाडु से समाचार मिला है कि रानीजी और राजकुमार राजधानी के लिए रवाना हो चुके हैं।'' हरकारे ने कहा।

''ऐसा! क्या कारण है?''

''इतनी खबर सन्निधान से निवेदन कर आने को कहा गया, सो चला आया।'' हरकारा बोला।

''ठीक है। मेरी पालकी यहाँ भेज दो। स्थपतिजी, गणेशजी को इस मूर्ति के बारे में आप भी सोचें और मैं भी सोचूँगी।'' शान्तलदेवी ने कहा।

राजमहल का दक्षिणी द्वार निकट था, इसलिए वहाँ जो पालकी थी, वह जल्दी पहुँच गयी। शान्तलदेवी उसमें सवार हुईं और यह सोचती हुई निकलीं कि इस तरह अचानक आने का शायद यह कारण हो सकता है कि वहाँ शत्रुओं की कुछ कारवाई हो रही हो। राजमहल में पहुँचते ही उन्होंने भण्डारी वित्त-सचिव मादिराज को बुलवा भेजा।

मायण ने पत्र में मोटे तौर पर सारी स्थिति बतायी थी। गुप्तचर के हाथ जो पत्र आया था, उसे पढ़कर शान्तलदेवी ने पूछा, ''आपने पत्र को पूरा पढ़ा है?''

''पढ़ा है।''

''यह सब किसका काम है? इस पर आपकी क्या राय है?''

''मुझे लगता है कि यह सब चोलों का ही काम है। क्योंकि राजधानी में और तलकाडु में जो खबर है, लगता है उन दोनों का मूल एक ही है। यह काम राजधानी और तलकाडु के लोगों में भेद-भाव पैदा करने के लिए किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।''

''चट्टला-चाविमय्या का सही परिचय मायण ने क्यों नहीं दिया, यही एक समस्या हो गयी है। एक काम तो अच्छा हुआ। रानी लक्ष्मीदेवी और राजकुमार का राजधानी में आना ठीक रहा। मन में यदि कोई सन्देह हो तो उसका निवारण हो सकेगा।''

''इस वक्त महासन्निधान भी यहाँ होते तो बहुत अच्छा होता!''

''महासन्निधान के लौटने पर उन्हें सब मालूम हो ही जाएगा।''

''परन्तु खुद विचारणा-सभा में भाग लेने से जो विचारधारा बनती है वह और दूसरों से सुनी-सुनायी बातों से बननी वाली विचारधारा—दोनों में अन्तर होता है।''

''तो क्या इस इस विचारणा-सभा को उस वक्त तक के लिए स्थगित करना होगा?''

''महासन्निधान के पास पत्र भेजकर बुलवाएँ। यदि वे आने को राजी हों तो...''

''सन्निधान रणक्षेत्र से लौटेंगे नहीं, कारण चाहे कुछ भी हो।''

''तलकाडु से लोग आ जाएँ। बाद में मायण और रानीजी से विचार-विमर्श करके आगे के कार्यक्रम का निश्चय कर सकते हैं।''

''यह ठीक है। ये बातें अभी अप्पाजी को बता देना उचित है। उसे कुछ अनावश्यक शंकाएँ हैं। उन्हें उसके मन से दूर कर देना होगा।''

''तो अप्पाजी को अभी बुलाऊँ?''

''हाँ, बुलवाइए।''

नौकरानी जाकर तुरन्त अप्पाजी को बुला लायी।

शान्तलदेवी ने सारा समाचार अप्पाजी को बताया और कहा, ''देखो अप्पाजी, अब रानी लक्ष्मीदेवी एक तरह से भयग्रस्त होकर आ रही हैं। उनके मन को दिलासा देना हमारा कर्तव्य है। सामान्य व्यक्ति को अपनी हत्या के षड्यन्त्र का समाचार सुनकर किस तरह का भय उत्पन्न हो सकता है, इसका अनुमान तुम नहीं कर सकते हो।''

''मैं कोई छोटा-सा बच्चा नहीं हूँ। मुझे भी मालूम है। इतना ही नहीं, उनकी यह कल्पना भी हो सकती है कि इस षड्यन्त्र का कारण हम हैं।'' उसने कहा।

''जो नहीं है, उसकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, अप्पाजी। समझ लो, यदि मेरी या तुम्हारी हत्या का षड्यन्त्र हुआ है, तब तुम क्या सोचोगे?''

''सोचने को और क्या हो सकता है, माँ आप और आपकी सन्तान से द्वेष करनेवाले इस राज्य में केवल दो ही व्यक्ति हैं। वह धर्मदर्शी और वह रानी। सिवा इन दोनों के और कोई षड्यन्त्र नहीं कर सकता।''

''मेरी हत्या से उनको क्या लाभ?''

''सब पर आपका प्रभाव बहुत है। आपके प्रेम और आदरपूर्ण व्यवहार के कारण सभी आपको अत्यन्त गौरव की दृष्टि से देखते हैं। महासन्निधान भी आपका कहना मानते हैं। आप ही अगर नहीं होंगी तो लोगों को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अपनी तरफ कर सकते हैं। विद्वेष का बीज बोने के काम में आप बाधक हैं। आप नहीं होंगी तो वह बाधा न रहेगी। तब उन्हें अपना स्वार्थ साध लेने में सहूलियत हो जाएगी।''

''तो क्या तुम यही कहना चाहते हो कि प्रेम और आदर की भावना तभी तक रहेगी जब तक मैं जीवित हूँ?''

''हाँ, माँ। मनुष्य बहुत ही तुच्छ है। धन के लिए वह कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसे नीच व्यक्तियों से राजा अपना बचाव कैसे कर सकता है, इस विषय को कौटिल्य का अर्थशास्त्र बहुत अच्छी तरह समझाता है। किस पर विश्वास करना और किस पर न करना तथा अविश्वसनीय व्यक्ति का पता कैसे लगाना, आदि सभी बातों का विश्लेषण अर्थशास्त्र में है।''

''उस समय से अब तक बारह-तेरह सदियाँ गुजर चुकी हैं। मनु के धर्मशास्त्र

और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रीति-नीतियाँ आज के लिए लागू नहीं हो सकतीं। कुछ उत्तम विचार दोनों ग्रन्थों में हैं, सही है। पर कई ऐसी बातों में जैसा हम आज देखते हैं उसके अनुसार, परिवर्तन आवश्यक है। अप्पाजी, लालच दिखाने पर आदमी झुक जाता है। पर जो भी लालच के वशीभूत होता है वह बुरा होता है यह निर्णय नहीं कर सकते। हमें चाहिए कि मानव में मानवीय मूल्यों को पैदा कर सकें। उसे लालच से दूर रहने की प्रेरणा देने की हमारी रीति होनी चाहिए।''

''यह हवा में तलवार चलाकर हाथ दुखाने की-सी बात हुई। मेरे परदादा के समय से मेरे इस समय तक काफी परिवर्तन हुआ है। माँ, आपके विचारों से मेरे विचार मेल नहीं खाते। यह संघर्ष पीढ़ी-दर-पीढ़ी होनेवाले परिवर्तन के कारण होता आ रहा है। फिर आपका और मेरा, दोनों का लक्ष्य एक ही है, वह है सुखी राज्य।''

''तुम्हारे हाथ में अधिकार-सूत्र आने के बाद की बात है यह। हम अपने लक्ष्य की साधना के मार्ग को बदलने की स्थिति में नहीं हैं। इसलिए तुम लोगों को अपने कार्यक्रम के अनुसार काम करने के लिए समय की प्रतीक्षा करनी होगी। मुझे लगता है कि जो भाग तुम लोगों के हिस्से में पड़े, उसी को अहो भाग्य मानकर सन्तुष्ट रहने की प्रवृत्ति नहीं होगी, प्रत्युत समूचे को बनाने के लिए संघर्ष के लक्षण ज्यादा दिखाई दे रहे हैं,''

''हमें जो मिलना चाहिए उसे दूसरों को छीन लेने दें, यह कैसे हो सकता है, माँ?''

''यही तो संघर्ष का मूल है।''

''टक्कर हो तो क्रिया होगी। क्रिया ही न हो तो मनुष्य सूखा ठूँठ-सा हो जाता है।''

इतने में मन्त्रणा-प्रकोष्ठ का द्वार खुला। हरकारे ने आकर प्रणाम किया।

''क्या बात है?'' शान्तलदेवी ने पूछा।

''युद्ध-क्षेत्र से गुप्तचर आया है। उसे यहीं बुला लाऊँ या महाप्रधान के पास भेज दूँ?''

''उसे यहीं भेज दो।''

हरकारा प्रणाम कर चला गया।

''इस बार अपेक्षित समय से भी पहले खबर आयी है। कुछ खास बात होगी।'' मादिराज बोले।

''हो सकता है।''

द्वार के खुलने की आवाज सुनाई पड़ी। गुप्तचर ने भीतर प्रवेश किया, झुककर प्रणाम किया और अपनी कमर की पट्टी में से एक पत्र निकाला। उसे विनीत भाव से मादिराज की ओर बढ़ाया। मादिराज ने अपने हाथ में लेकर उसे देखा। उस पर स्वयं

सन्निधान की मुद्रा थी। हमेशा की तरह दण्डनायक की मुद्रा नहीं थी। मादिराज ने कहा, "यह महासन्निधान का पत्र है। शायद पट्टमहादेवीजी का है।"

"क्या कहला भेजा है?" शान्तलदेवी ने गुप्तचर से पूछा।

"महासन्निधान ने कहा है कि राजमहल के किसी भी अधिकारी के हाथ में दे देना, उन्हें मालूम हो जाएगा।" गुप्तचर बोला।

"ठीक है। तुम जाकर बाहर बरामदे में बैठो। जरूरत होगी तो बुलवा लेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा। वह प्रणाम कर बाहर चला गया। शान्तलदेवी ने हाथ बढ़ाया। मादिराज ने पत्र उनके हाथ में दे दिया। उन्होंने उसे खोलकर देखा। देखकर वह चकित हो उठीं। तुरन्त कुछ बोलीं नहीं। मादिराज भी मौन हो देखने लगे।

दो-चार क्षणों के बाद विनयादित्य ने कहा, "पत्र का विषय यदि मुझे जानने की आवश्यकता नहीं तो मैं जाऊँ?"

शान्तलदेवी ने पत्र बेटे की ओर बढ़ा दिया। उसने खोलकर पढ़ा। शान्तलदेवी ने कहा, "जोर से पढ़ो।" विनयादित्य पढ़ने लगा :

"अभी तक जैसे प्रतीक्षा करते बैठे रहे, अब यह न होगा। तुरन्त जयकेशी पर हमला कर देने का निर्णय किया है। इस काम में सफल होने के आसार दिखाई देते हैं। यह युद्ध के बारे में साधारण तौर से भेजा जाने वाला समाचार है। युद्ध शिविर में एक विचित्र तरह की वार्ता उड़ रही है। तलकाडु में रानी और राजकुमार की हत्या का भारी षड्यन्त्र चला हुआ है, ऐसी सूचना मिली है। इसलिए तुरन्त सुरक्षा-व्यवस्था के साथ उन्हें राजधानी में बुलवा लें। और जब तक हम लौटें नहीं, तब तक रानी और राजकुमार पट्टमहादेवी की देख-रेख में रहें। इसके साथ एक और समाचार भी मिला है। उसे इस पत्र में न लिखने का हमने निश्चय किया है। मिलने पर बताएँगे। इस समाचार को सुनकर और उसकी रीति-नीति को देखकर ऐसा लगता है कि इस सबका असली लक्ष्य भेद-भाव पैदा करना और एकता को तोड़ना है। इसी तरह से पता नहीं और क्या-क्या खबरें फैली हैं। हमें यही सोचना पड़ेगा कि हमारा गुप्तचर दल कुछ तटस्थ है। गुप्तचर दल को अधिक सतर्क रहने के लिए तुरन्त आदेश दें। युद्धक्षेत्र में जो सामग्री भेजी जाती रही है, वह यथावत् तब तक जारी रहे जब तक यहाँ से न भेजने का आदेश मिले।"

"इस पत्र से तो एक तो निर्णय हुआ। अब सन्निधान को और कुछ बताने की जरूरत नहीं। वे सीधे हमले की तैयारी में हैं, इसलिए यहाँ हम अपनी सूझ-बूझ के अनुसार काम करें। महाप्रधानजी को यह खबर दे दें। तलकाडु से रानी और राजकुमार को राजधानी में बुलवाया जा रहा है। यह सूचना महासन्निधान के पास भेज दें। अब आप जा सकते हैं।" इतना कहकर शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी। मादिराज चले गये। शान्तलदेवी वहीं मन्त्रणागार में बैठी रहीं। विनयादित्य भी वहीं साथ रहा। हरकारा द्वार

खोलकर वहीं खड़ा रहा।

शान्तलदेवी ने कहा, "तुम कुछ देर बाहर ही रहो।"

वह बाहर गया और द्वार बन्द कर दिया।

"अप्पाजी, सन्निधान के मन में क्या आतंक है, समझते हो?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"माँ, आपके और सन्निधान के आतंकों में फर्क कहाँ है?"

"मुझे तुम्हारा मतलब समझ में नहीं आया।"

"नहीं माँ, झूठी अफवाह फैलानेवालों से यदि डरते रहे तो हमारा किस्सा ही खतम हो जाएगा।"

"अप्पाजी, यह तुम क्या कहते हो? कुछ नासमझ-जैसी बात कर रहे हो।" शान्तलदेवी ने कहा।

"आपने यह बहुत दिन पहले ही कहा था, इसलिए मेरी बात ऐसी ही होगी। माँ, राज्य के अन्दर के सारे समाचार राजधानी को पहले मालूम हों और फिर वहीं से युद्धक्षेत्र में पहुँचाने योग्य समाचार पहुँचाए जाएँ, यही न यहाँ की व्यवस्था थी? अब क्या हुआ? आपकी जानकारी के बिना, और यहाँ की व्यवस्था की देखभाल करनेवाले अधिकारियों को बिना बताये, रानी और राजकुमार की हत्या का षड्यन्त्र की खबर मात्र युद्ध-शिविर में क्यों कर पहुँची? राजधानी से खबर न पहुँचे और कहीं अन्यत्र से समाचार वहाँ जाए, तो सन्निधान क्या सोचेंगे? आप ही कहिए। यह सन्निधान के मन को बिगाड़ने के लिए प्रयुक्त तरीका ही है न?"

"पूरे विषय को जाने बिना यों कल्पना करना नहीं चाहिए, अप्पाजी। पत्र पढ़ने के बाद तुमको यही लगता है कि सन्निधान परेशान हुए होंगे? तब छोटी रानी को तुरन्त राजधानी बुलवाने का आदेश क्यों देते? उन्हें मेरे संरक्षण में ही रहने को क्यों कहते? जहाँ वे हैं, वहीं बुलवा लेते। नहीं तो उनकी सुरक्षा के लिए एक घुड़सवार टुकड़ी को ही भेज देते।"

"जो सलाह दी है वह उससे ज्यादा सुरक्षात्मक है। एक लोकोक्ति है—चोर के हाथ अमानत सौंप दें तो खतरा न रहेगा। यदि वे स्वयं कुछ करें तब भी यही माना जाएगा न कि आपने किया। मेरे मन में तो बहुत शंकाएँ उत्पन्न हो गयी हैं, माँ। खुलकर कहूँ? उनके आने के पहले मैं इस जगह को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाकर रहना पसन्द करता हूँ। आप मान जाएँ तो कोवलालपुर, छोटे अप्पाजी के पास, चला जाऊँगा।"

"मतलब यह हुआ कि मुझे अकेली छोड़कर जाने के लिए तुम तैयार हो, है न?"

"माँ, आप तो लाचार हैं। सबको निभाना है। जिन्हें मैं नहीं चाहता ऐसों के साथ रहना मुझसे नहीं होता।"

''उन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो नहीं चाहते? यों ही अनावश्यक बातों की कल्पना करके मन को खराब नहीं किया करो। मेरे-तुम्हारे बरताव दूसरों के लिए आदर्श बनें, ऐसा होना चाहिए। जनता हमसे अनुकरणीय व्यवहार की अपेक्षा रखती है। हम साधारण लोगों की तरह बरताव करेंगे तो वह मूर्खता होगी। ऐसे आचरण का क्या प्रयोजन? वे वास्तव में अमंगल कर रहे हैं, यह बात प्रमाणित हो जाए, तब तुम्हारी राय को मैं मान्यता दूँगी। तब तक तुम गम्भीर होकर सहज रूप से व्यवहार करो। अगर तुम्हें असन्तोष भी हो तो उसे दर्शाना नहीं। अभी केवल रानी और राजकुमार मात्र नहीं आ रहे हैं, कुछ कैदी भी आ रहे हैं। उनके बारे में तहकीकात होनी है। उस तहकीकात के समय तुम भी उपस्थित रहो तो तुम्हें सच्ची स्थिति मालूम हो जाएगी। इसलिए ऐसी बातों को मन में न रखकर, सहज रीति से व्यवहार करना होगा। समझे?''

बिनयादित्य ने तुरन्त कुछ कहा नहीं।

''चुप क्यों हो? मेरी बात मान ली है न?''

''मेरे मन में उनके बारे में क्यों ऐसी भावना हो गयी है, इसे आपको सकारण नहीं समझा सकता। यदि इस भावना को बदलना हो तो मुझे प्रमाण मिलना चाहिए। जैसा आपने कहा, यह तहकीकात यदि कुछ प्रकाश डाल सके तो उसे भी देखूँगा। आपकी बात की उपेक्षा नहीं कर सकता।''

''ठीक। एक चेतावनी फिर देती हूँ। तुम्हारी तरफ से, तुम्हारे व्यवहार से और जल्दबाजी के कारण रानी को या धर्मदर्शी को असन्तोष नहीं होना चाहिए। इस तरह का तुम्हें आचरण करना होगा।''

''उनसे डरकर चलना पड़ेगा?''

''मैंने यह नहीं कहा, अप्पाजी। हमारी तरफ से दूसरों को असन्तोष नहीं होना चाहिए।''

''उन्होंने ही उकसाया हो तो?''

''उस उकसाने से प्रभावित न होना भविष्य की दृष्टि से हितकर है।''

''कोशिश करूँगा।''

''ठीक। अब तुम जाकर अपने अध्ययन में लगो।''

बिनयादित्य उठ खड़ा हुआ। घण्टी बजी। किवाड़ खुले। बिनयादित्य चला गया। उसके पीछे शान्तलदेवी भी निकलीं। बेटे के इस ढंग ने उनके मन में भय पैदा कर दिया था। यदि इस तरह की द्वेष-भावना इस उम्र में मन में पैठ जाए, तो यह आगे चलकर मात्सर्य का कारण होगी। उन्होंने सोचा कि अभी से इस भावना को जड़ से निकाल देना चाहिए। जब वह अपने विश्रामागार में पहुँचीं तब भी इस तरह की चिन्ता ने उनके मन को घेर रखा था। इसी के बारे में सोचते रहना वे नहीं चाहती थीं, इसलिए जल्दी पालकी तैयार रखने का आदेश दिया और उसके आते ही मन्दिर की ओर चल

पड़ीं। शान्तलदेवी के अचानक आगमन पर शिल्पी हड़बड़ा गये। उन्होंने जाकर स्थपति को खबर दी। वह भागा-भागा आया।

स्थपति को देखकर शान्तलदेवी ने कहा, "बीच ही में चली गयी थी। आपने अन्यथा तो नहीं समझा न?"

"राजकार्य की प्राथमिकता को न समझूँ, इतना अज्ञ तो नहीं हूँ।"

"फिर भी कलाकारों का सोच और स्वभाव प्रायः एक तरह के हुआ करते हैं। कभी कोई स्फूर्ति जगती है तो कोई सुन्दर कल्पना मन में आती है। उसी क्षण यदि कोई रोक-रुकावट हो तो मन बहुत परेशान हो जाता है, इसलिए कहा। अच्छा, इस बात को रहने दीजिए; बताइए कि इन गणेशजी को कहाँ स्थापित करने को सोचा है?"

"मैंने इस सम्बन्ध में कुछ सोचा ही नहीं। अलावा इसके कि पट्टमहादेवीजी के अभी इतने जल्दी लौट आने की कल्पना भी नहीं थी।"

"मैं आ सकूँगी या नहीं, यह मैंने भी नहीं सोचा था। आने की बात थी भी नहीं। राजमहल में जाने पर ऐसी सूचना मिली कि सन्निधान शीघ्र ही राजधानी पधारने वाले हैं। हो सके तो काम जल्दी पूरा करवाएँ, यही कहना चाहती थी। यदि शिल्पियों की कमी हो तो कुछ लोगों को बेलुगोल से बुलवा सकते हैं। यदुगिरि में भी कुछ शिल्पी हैं, उन्हें भी बुला सकते हैं। केतमल्लजी की माताजी की इच्छा को पूर्ण करने के उद्देश्य से जल्दी में महादेव की प्रतिष्ठा की गयी है। परन्तु मन्दिर के बाहर का काम अभी पूर्ण नहीं हुआ है। सन्निधान के आ पहुँचने से पहले पूरा हो जाए तो मुझे सन्तोष होगा। बाहर की दीवारों पर बैठाने के लिए विग्रहों को किस क्रम से व्यवस्थित करने पर विचार किया है?"

"यह सब मैंने रेखाचित्र में दर्शाया है।"

"आपके रेखाचित्र में शिवजी से सम्बन्धित मूर्तियाँ एक ओर और विष्णु से सम्बन्धित मूर्तियाँ दूसरी जगह बिठाने का संकेत है।"

"हाँ।"

"मुझे एक बात सूझ रही है। शिव और विष्णु को बीचोबीच स्थापित करना अच्छा होगा। परन्तु यों करना शायद आपके लिए कठिन हो, क्योंकि मूर्तियों की चौड़ाई एक-सी नहीं है। इन कोणाकार दीवारों में बिठाना मुश्किल होगा। जहाँ बिठा सकते हैं वहाँ अदल-बदल कर बिठा सकेंगे। कोने में बिठानेवाले द्विमुख शिल्प वैसे ही रहें।"

"जैसी मर्जी। किस दिशा में कौन मूर्ति बिठाएँ, यह स्पष्ट हो जाए तो अच्छा। पट्टमहादेवीजी दिशादर्शन दें तो उसी तरह उन्हें बिठाने का यत्न करूँगा।"

"अपना रेखाचित्र मँगवाइए। नहीं, आपके कार्यागार में ही चलें, चलिए।"

"वहाँ काम करते-करते, छेनी चलाते रहने के कारण, सब जगह धूल भरी है।

कंकड़ पैर में चुभ जाएँगे।''

''मेरे लिए वहाँ एक आसन बनवाया था न?''

''इस बार महासन्निधान के युद्धक्षेत्र में चले जाने के बाद मेरे कार्यागार में पट्टमहादेवीजी का पधारना हुआ ही नहीं। जब कभी आना हुआ तब सारा समय मन्दिर में ही व्यतीत हुआ। वह आसन किस दशा में है, उस ओर मेरा ध्यान ही नहीं रहा।''

''क्यों, दूसरे लोग उस आसन का उपयोग नहीं कर रहे हैं?''

''ऐसा कहीं हो सकता है? सन्निधान के बैठने के आसन पर दूसरों का बैठना उचित होगा?''

''तो फिर?''

''थोड़ी देर सन्निधान यहाँ सुस्ता लें तो वहाँ पैर धरने के लिए स्थान बनवा दूँ।''

''चलिए तो देखेंगे। वहाँ बैठना यदि नहीं हो सकेगा तो आपके रेखाचित्र के साथ इधर आ जाएँगे।'' यों कहती हुई शान्तलदेवी आगे बढ़ीं। स्थपति हरीश ने साथी शिल्पी को इशारे से बताया कि जाकर स्थान साफ करो, और पट्टमहादेवी के साथ आगे बढ़ गया।

पट्टमहादेवीजी के वहाँ पहुँचते-पहुँचते आसन पर की धूल झाड़-पोंछकर साफ कर दी गयी थी। धूल के कारण वह आसन कुछ मैला-मैला-सा ही लगता था। उन्होंने अन्दर का फैलाव देखा। पत्थर-कंकड़ कहीं पैर में चुभ न जाएँ, इस तरह धीरे-धीरे और सतर्कता से कदम रखती हुई आसन तक गयीं और उस पर बैठ गयीं। हरीश ने रेखाचित्रों का पुलिन्दा उनके सामने बढ़ा दिया।

उन्होंने बहुत बारीकी से ध्यानपूर्वक देखा, और कहा, ''देखिए, उत्तर द्वार के उत्तर-पूर्व के कोने में समुद्रमन्थन का चित्र रहे। परन्तु पूर्व की तरफ उसका चेहरा रहे। शान्तलेश्वर की उत्तर की ओर वाली दीवार पर बलि-वामन की मूर्ति हो। शिव-विष्णु की जोड़ी इस युगल मन्दिरों के बीच आ जाए तो वह सांकेतिक होगा। शान्तलेश्वर मन्दिर के दक्षिण-पूर्व के हिस्से में शिव की मूर्ति हो, और उसके ठीक सामने होय्सलेश्वर (पोय्सलेश्वर) मन्दिर के उत्तर-पूर्व भाग में विष्णु की मूर्ति हो। दक्षिण-पश्चिम में भैरव-मोहिनी-भस्मासुर, सरस्वती-शिव की नृत्य-भंगिमा की मूर्तियाँ और वराह-महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियाँ हों। पश्चिम की ओर प्रह्लाद-नरसिंह, राम-रावण, द्रौपदी-दुश्शासन, त्रिविक्रम की मूर्तियाँ आपने रेखाचित्र में दिखायी हैं, ये सब एक ही तरह की सांकेतिक मूर्तियाँ हैं। ये सब एक साथ रहें तो भी अर्थपूर्ण रहेंगी, इन्हें रहने दें। और छुट-पुट परिवर्तन आपको जैसा ठीक लगे, कर लें। अब मैंने जो परिवर्तन सुझाये उससे सात-आठ मूर्तियों को स्थानान्तरित करना होगा। आपके रेखाचित्र में दक्षिण-पूर्व और उत्तर-पूर्व की ओर तथा पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पश्चिम में दिखाई गयी मूर्तियों को स्थानान्तरित करना होगा। वहाँ की मूर्तियाँ इधर और इधर की उधर होंगी।''

शान्तलदेवी ने बताया।

"इन परिवर्तनों के साथ नया रेखाचित्र तैयार कर लाऊँगा। एक बार देखकर स्वीकृति दे दें तो ठीक होगा।"

"एक काम करें। रेखाचित्र तैयार कर एक बार केतमल्लजी के माता-पिता को भी दिखा लें। उन्हें यह भी सूचित करें कि यह मेरी सलाह है। वे स्वीकार कर लें तो वैसा करें। वैसा ही हो यह कोई आग्रह नहीं। ये दीवारें बाहर से सज जाने पर ये शिल्पाकृतियाँ कहाँ सुन्दर लगेंगी, इस बात की कल्पना तब नहीं उठी जब पहले आपका बनाया हुआ रेखाचित्र देखा था। नहीं तो पहले ही सुझा सकती थी।"

"विग्रहों के रखने का स्थान ही बदला है। इस परिवर्तन से वैविध्य रहेगा और सुन्दर भी लगेगा। जैसी आज्ञा हो, वैसा ही करूँगा।"

"मैंने कहा इसलिए आपको मान लेना चाहिए, ऐसी बात नहीं। इस समूचे शिल्प के स्रष्टा आप हैं। आपको विश्वास हो कि ये परिवर्तन आपकी कल्पना से मेल खाते हैं, तभी परिवर्तन करें। मैंने अपनी राय दी है। नया रेखाचित्र बनाते समय मेरी सलाह ठीक जँचे तो वैसा करें। अन्यथा जो आपको ठीक जँचे, वही करें। मेरे मन में दो मुख्य बातें हैं। सभी धर्म मानव के कल्याण के लिए हैं। शिव अलग, विष्णु अलग और जिनेन्द्र अलग, इस तरह अलग-अलग समझकर झगड़ना जनता के हित की दृष्टि से अच्छा नहीं। फिर भी परम्परा को छोड़कर क्रान्तिकारक परिवर्तन हो, मैं यह नहीं चाहती। परम्परा के द्वारा ही एकता की साधना हो, ऐसी मेरी इच्छा है। हरि-हर को अगल-बगल में देखनेवाली जनता के हृदयान्तराल में दोनों की समानता की भावना उत्पन्न हो सकती है। फिर कथा-प्रसंगों को निरूपित करनेवाले शिल्पियों की भावनाओं में वैविध्य रह सकता है। उस भाव-वैविध्य के अनुसार शिल्प की भंगिमाएँ रूपित होती हैं। एकरूपता-रहित दृश्यों को जोड़ने पर वह आकर्षक भी होता है। दीवार की निचली पंक्तियों में एकरूपता न रहने देने के लिए आपने हाथी, मगर और तोरण आदि बनाये हैं। वैसे ही इसमें भी वैविध्य रहे। ये दीवारें चतुरस्र और समतल न होकर उतार-चढ़ाव से सजकर जैसे एकरूपता से रहित हैं, वैसे ही भित्ति-शिल्प में भी वैविध्य रहे।"

"जैसी आपकी आज्ञा।"

यह कहकर शान्तलदेवी सावधानी से कदम बढ़ाती हुई बाहर आयीं और हरीशजी से कहा, "मैं शायद चार-छह दिन इस तरफ न आ सकूँगी। आप रेखा-चित्र तैयार होते ही स्वयं ही एक बार राजमहल की ओर आ जाइएगा।"

"जो आज्ञा।"

शान्तलदेवी अपनी पालकी में बैठ गयीं और राजमहल पहुँचीं। विनयादित्य भोजन के लिए माँ की प्रतीक्षा में बैठा था। शान्तलदेवी को समय का ध्यान नहीं रहा था।

"कितनी देर हो गयी! अप्पाजी की भूख मिट गयी होगी।" कहती हुई बेटे की ओर देखा।

"अगर भूख मिट जाती तो मैं दूसरे काम पर चला जाता अब तक। जल्दी आओ, माँ।" विनयादित्य बोला।

शान्तलदेवी हाथ-पैर धोकर जल्दी ही लौटीं और आसन पर जा बैठीं। वास्तव में उन्हें भी भूख लग रही थी। दोनों मौन हो भोजन करने लगे।

बीच में अचानक विनयादित्य ने बात छेड़ी, "माँ, कैकेयी और मारीच रामायण के युग तक ही के लिए सीमित नहीं रहे हैं, ऐसा लगता है।"

"अचानक कैकेयी और मारीच की बात क्यों मन में आयी, अप्पाजी? आज गुरुजी ने उनके बारे में बताया है क्या?"

"नहीं, यह कथा बहुत समय पहले ही बता दी थी। आज पता नहीं क्यों दुबारा याद आ गयी। उस जमाने में एक कैकेयी और एक मारीच के कारण क्या सब हुआ। आज देखिए, ऐसी अनेक कैकेयी और ऐसे अनेक मारीच नजर आ रहे हैं।"

"अप्पाजी, भोजन करते वक्त अच्छे लोगों की बात याद किया करो। बुरों की बातें क्यों?" कहकर उसकी बात को वहीं रोक दिया। भोजन समाप्त किया। बाद को यही सोचती हुई अपने विश्रामागार की ओर गयीं कि अभी उसके दिमाग में वही बात चल रही है। किसी तरह से यह बात उसके दिमाग से दूर करनी ही होगी।

विनयादित्य ने सोचा न था कि माँ इस तरह उसकी बात पर रोक लगा देंगी। वह भी अचकचा गया, और मौन ही भोजन समाप्त कर, अध्ययन करने चला गया। फिर दोनों शाम के भोजन के वक्त मिले। तब भी मौन ही भोजन पूरा हुआ। परन्तु दोनों के मन में एक ही विचार को लेकर अलग-अलग भाव उठ रहे थे। इसके बाद के भी दो-एक दिन इसी तरह कटे। वे अपने-अपने काम की ओर ध्यान देते और सिर्फ नाश्ते तथा भोजन के समय मिलते। मौन ही नाश्ता और मौन ही भोजन। इसी तरह कुछ दिन बीत गये। अनन्तर एक दिन सुबह कैदी राजधानी में आ पहुँचे। भायण की सूचना के अनुसार उन खेल दिखानेवालों को अलग-अलग कमरों में रखा गया था। शेष सभी को एक दूसरे भूगर्भ कमरे में बन्द रखा गया था। पट्टमहादेवी को समाचार मिला। उन्होंने सभी बन्दियों को देखा। पूर्वसूचित खेल दिखानेवाले दोनों ने अपने को अव्यक्त ही रखा। शान्तलदेवी ने कुछ कहा नहीं। साथ में विनयादित्य रहा, अतः वह मौन ही रहीं।

"दो गाड़ियों में भरकर कैदियों को लाना पड़ा तो तलकाडु में भारी प्रमाण में ही षड्यन्त्र की योजना हुई होगी न, माँ?" राजमहल लौटने के बाद विनयादित्य ने पूछा।

"इनमें कौन अपराधी हैं, कौन नहीं? इस षड्यन्त्र में वास्तव में ये शामिल थे

या नहीं ? इन लोगों को इस तरह के आचरण की प्रेरणा किसने दी ? कोई बात जब हमें मालूम नहीं, तब किसी पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। अभी केवल सन्देह पर इन्हें गिरफ्तार किया गया है। कल रानी लक्ष्मीदेवी के आने पर, उनसे और वहाँ के प्रबन्धक अधिकारी हुल्लमय्या से, तथा मायण से पहले विचार-विमर्श कर, बाद में कैदियों के बारे में पूरी तहकीकात करनी होगी। वास्तव में इन लोगों में निरपराध भी होंगे।''

''जहाँ धुआँ हो वहाँ आग जरूर ही रहेगी। ऐसी हालत में निरपराध कैसे होंगे ?''

''अब मैं तुम्हारे सवाल का उत्तर दूँ तो शायद वह तुम्हें ठीक न जँचे। पूरी तहकीकात होने तक शान्त रहकर सब देखते रहो, अप्पाजी। उतावलेपन से काम न होगा।''

''वैसा ही सही, माँ!''

फिर न्याय-विचार के लिए निश्चित दिन की अवधि तक शिल्पारिअ ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। कैदियों के आने के दूसरे ही दिन रानी लक्ष्मीदेवी, राजकुमार नरसिंह, धर्मदर्शी, तिरुवरंगदास, हुल्लमय्या, मायण और राजमहल के परिवार के रक्षकदल के लोग, सभी राजधानी पहुँचे।

रानी तथा राजकुमार का शुभ-स्वागत बड़े समारम्भ के साथ सम्पन्न हुआ। रानी लक्ष्मीदेवी ने सोचा कुछ और था, मगर हुआ कुछ और।

पहली बार राजकुमार के साथ राजमहल की ड्योढ़ी पर जिस तरह का भावभीना स्वागत हुआ था, उसी तरह का स्वागत अब भी हुआ। स्वयं रानी लक्ष्मीदेवी को विश्वास नहीं हो रहा था।

उसे और राजकुमार दोनों ही के लिए एक अलग से विश्रामगृह तैयार था ही, साफ-सुथरा सजा हुआ। धर्मदर्शी के लिए राजमहल से लगे, किन्तु राजमहल के बाहर, निवास की व्यवस्था अलग से की गयी थी।

राजपरिवार के पहुँचने के दिन कुशल-प्रश्न मात्र हुए। यात्रा की थकावट मिटाने के लिए सबके लिए आराम करने की समुचित व्यवस्था की गयी थी।

दूसरे दिन शान्तलदेवी ने रानी लक्ष्मीदेवी तथा हुल्लमय्या से अलग-अलग बातचीत करके सूचना संग्रह की। मायण से भी अलग मिलीं, उससे भी जानकारी लीं। हत्या के षड्यन्त्र की खबर मिलते ही तलकाडु के राजमहल में किस तरह का सन्देह उत्पन्न हुआ और वहाँ के व्यवस्थापक अधिकारी से और रानीजी से हुई बातचीत तथा उस सारे सन्निवेश को एवं अगस्त्येश्वर अग्रहार की घटनाएँ आदि अन्यान्य विषयों को मायण ने विस्तार से बताकर, यह भी बताया कि वे खेल दिखानेवाले और कोई नहीं, हमारे चाविमय्या और चट्टला हैं। इस विचारणाकार्य के पूर्ण होने तक वे उसी भेस में रहेंगे और अपरिचितों की तरह बने रहेंगे। उधर ही अगर उनके बारे में रहस्य खुल

जाता तो इसका दूसरा अर्थ लगाया जाता। यही सोचकर उन्हें कैदियों की तरह ही यहाँ लाया गया। सब इन बातों को गुप्त रीति से उन्हें बता दिया गया है। यह बात भी मायण ने विस्तारपूर्वक निवेदन की।

इसके बाद महाप्रधान गंगराज, हुल्लमय्या, भण्डारी मादिराज, रानी लक्ष्मीदेवी, तिरुवरंगदास, मायण और विनयादित्य की बैठक हुई। इन कैदियों को गिरफ्तार करनेवाले हुल्लमय्या से ही इनके विषय में पूछताछ करवाकर, "इन कैदियों के बारे में विचार अभी किया जाए या युद्ध-क्षेत्र से सन्निधान के पधारने के बाद?" शान्तलदेवी ने सलाह माँगी।

"युद्ध की गतिविधि क्या होगी, यह कहा नहीं जा सकता। पट्टमहादेवीजी तो उपस्थित हैं ही। इसलिए अभी न्याय-विचार कर लेना अच्छा है।" गंगराज बोले।

"प्रधानजी के कहे अनुसार न्याय-विचार अभी हो जाना चाहिए। न्याय-पीठ पर प्रधानजी, भण्डारी मादिराज, सुरिगेय नागिदेवण्णाजी रहें और न्याय-विचार करें। नागिदेवण्णाजी दण्डनायिका हरियलदेवी को यादवपुर से कल ही सूर्यास्त के बाद लिवाकर आये हैं। हरियला के अभी प्रसव के दिन हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

गंगराज बोले, "न्याय-पीठ पर पट्टमहादेवीजी का रहना ही अच्छा है।"

"इस प्रसंग में इस बात पर जोर न डालें।" कहकर यह बात पट्टमहादेवी ने वहीं समाप्त कर दी।

"जैसी इच्छा। पट्टमहादेवीजी ने एक शुभ-समाचार भी दिया है। हरियल देवीजी के इस द्वितीय गर्भ से लड़का हो, यह हम सबकी मनोकामना है।" गंगराज बोले।

"राजमहल के बन्धुवर्ग में अनेक लड़के पैदा न हों, प्रधानजी। यह व्यावहारिक नहीं। मेरी बात आप समझते हैं। फिर भी हमारी हरियला की पहली सन्तान लड़की हुई, अतः अब लड़का हो यह मेरी भी अभिलाषा है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"राजकुमारी हरियलदेवी की इच्छा जाने बिना इस बारे में बात करना उचित नहीं होगा।" मादिराज बोले।

"भण्डारीजी का कथन ठीक है। हरियला की इच्छा जानकर हम भी वैसे ही असीसें। अच्छा, यह तो बाद की बात हुई। इस न्याय-विचार को अब कल से ही शुरू कर दें।" शान्तलदेवी बोलीं।

"जो आज्ञा।"

"इस न्याय-विचार का संयोजन प्रधानतया हुल्लमय्याजी करेंगे। मायण उनका सहायक होगा।"

न्याय-विचार दूसरे ही दिन आरम्भ हो गया। बात राजमहल के व्यक्तियों की हत्या से सम्बन्धित होने के कारण यह खुले आम न होकर सीमित अधिकारी वर्ग के समक्ष राजमहल के अन्दर ही हो—यह गंगराज ने सुझाया था। इसलिए यह सभा

राजमहल के बरामदे में ही हुई।

इसके लिए व्यवस्थित एक मंच पर तीन न्यायमूर्तियों की मण्डली बैठी। मंच की दायीं तरफ कुछ ऊँचाई पर तीन अलग-अलग आसनों पर राजकुमार विनयादित्य, पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी बैठे थे। मंच से थोड़ी दूर पर ही अभियुक्तों को एक परदे के पीछे आवश्यक सुरक्षा के साथ रखा गया था। न्याय-पीठ के सामने एक दूसरा मंच, वहाँ से थोड़ी दूर पर बना था, जिस पर उस न्याय विचार में गवाही देने वाले बैठे थे। उसके नजदीक ही एक और छोटा-सा मंच बनाया गया था जिस पर हुल्लमय्या और मायण बैठे थे।

तिरुवरंगदास आदि दूसरे लोगों को मंच के सामने, तीन-चार बाँस की दूरी पर अर्धवर्तुलाकार सजे आसनों पर बैठाया गया था।

न्यायपीठ के अध्यक्ष गंगराज ने कहा, "पट्टमहादेवीजी द्वारा गठित यह न्यायपीठ सत्य और धर्मनिष्ठ होकर, पक्षपात-रहित, अपना कार्य करेगा—इस न्यायपीठ की ओर से मैं जनता को यह आश्वासन देता हूँ। यह बात विदित करायी जा चुकी है कि हत्या करने के लिए षड्यन्त्र रचा गया है। अब यहाँ उसकी सच्चाई का पता लग जाना बहुत आवश्यक है। इनमें सन्देह पर गिरफ्तार किये गये व्यक्ति या गवाही देने वाले व्यक्ति भले कोई भी हों, उन्हें बिना छिपाये नि:संकोच और निडर होकर सच बोलना होगा। तलकाडु में ही उन्हें पकड़ा गया था। वहीं फैसला कर मामला समाप्त किया जा सकता था। स्वयं रानी सन्निधान ही वहाँ उपस्थित थीं। परन्तु वहाँ यही निर्णय हुआ कि इसका फैसला राजधानी में ही हो। क्योंकि इस घटना का अधिकतर सम्बन्ध पोय्सल राजघराने से है। इस षड्यन्त्र की खबर युद्ध-क्षेत्र में महासन्निधान तक पहुँच चुकी है। इसलिए यह व्यापक रूप से फैला हुआ दुष्ट कार्य मालूम पड़ता है। पहले तलकाडु के व्यवस्था-अधिकारी हुल्लमय्या स्पष्ट करेंगे कि इन्हें बन्दी बनाने का क्या कारण है और ये कौन हैं।"

हुल्लमय्या उठे। आगे बढ़े। न्यायपीठ तथा पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी एवं राजकुमार को प्रणाम कर उस मंच पर पहुँचे जो गवाही देने वालों के लिए बनाया गया था। सबसे पहले उन्होंने शपथ ली, "मैं जिनवल्लभस्वामी की सौगन्ध खाकर शपथ लेता हूँ कि इस न्यायपीठ के समक्ष जो कुछ कहूँगा, सच कहूँगा।"

गंगराज ने कहा, "यहाँ सच के मायने यह है कि जिसे आप जानते हैं और जितने ब्यौरे को आपको जानकारी है तथा अपने अन्त:करण से जिसे आप सही समझते हैं।"

"जैसी आपकी आज्ञा। अभी लगभग दो माह से मेरे अधिकार-क्षेत्र तलकाडु के गाँवों में हत्या के षड्यन्त्र की अफवाह इधर-उधर सुनाई पड़ रही थी। सर्व प्रथम यह खबर सन्तेमरल्लो की ओर से आयी। मैंने तुरन्त अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमा

के अन्दर, खासकर कुछ मुख्य ग्रामीण प्रदेशों में, गुप्तचरों को भेजा। तुरन्त रानी सन्निधान को यह बात बताकर उनकी, राजकुमार की तथा धर्मदर्शी की सुरक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था की।''

मादिराज ने पूछा, ''तो आपको जो खबर मिली उसका यही सार था कि रानी, राजकुमार और धर्मदर्शी के प्राण-हरण की सम्भावना है?''

''जी हाँ। आम तौर पर राजमहल वालों की सुरक्षा की व्यवस्था तो रहती ही है। फिर भी वहाँ के व्यवस्थापक होने के नाते मैं चुप नहीं बैठ सकता था। सबसे पहले सुरक्षा की व्यवस्था को और अधिक चुस्त बनाना पड़ा। स्वयं मैंने ही सलाह दी कि रानी सन्निधान वहाँ की अपेक्षा राजधानी में जाकर रहें तो उत्तम हो। उन्होंने स्वीकार नहीं किया।''

''इस हत्या से किसी को कुछ लाभ होगा? किसे लाभान्वित करने के लिए यह षड्यन्त्र किया गया है, कुछ समझ सके?'' गंगराज ने पूछा।

''सीधे किसी का नाम सुनने में नहीं आया, परन्तु यह आभास मिला कि बहुत ऊँचे स्थान पर रहनेवाले जिनधर्मी लोग इस षड्यन्त्र को रचने का कारण बने हुए हैं।''

''कौन हैं वे, इसे जानने की कोशिश नहीं की?''

''कोशिश की जरूर, मगर कोई परिणाम नहीं निकला। परन्तु इस षड्यन्त्र की बात गाँव-गाँव में फैलायी जा रही है, यह मालूम हुआ। इसके कर्ता-धर्ता का पता लगाने की भी कोशिश की गयी। अन्त में नाटक करनेवाले दो व्यक्तियों और उनके साथ के पाँच-छह लोगों को बन्दी बना लिया गया। इन तमाशबीनों के मुँह से बात निकलवाकर कुछ और लोगों को बन्दी बनाया गया है। इन तमाशबीनों का प्रसार के काम में बहुत बड़ा हाथ है। इन लोगों ने सारे प्रान्त में घूमकर मण्डी-बाजारों में जाकर, बेचारे भोले-भाले लोगों में भय पैदा किया है। खासकर श्रीवैष्णव अत्यन्त भयग्रस्त हो उठे हैं। जब हमारे इस पोय्सल राज्य में सभी धर्मियों के लिए समानता के आधार पर सुविधा है, और अब जब हमारे राजपरिवार ने सर्वधर्म-समन्वय को अपने ही परिवार में साधा है; ऐसी स्थिति में इस तरह से आतंक फैलाना आगे चलकर धर्मद्वेष का कारण बन सकता है, ऐसी गतिविधियों का होना हमारे इस राज्य पर एक कुठाराघात होगा। इसलिए अब इन अभियुक्तों से सच्चाई ही प्रकट होनी चाहिए। वहाँ हमने केवल साम नीति से इनसे पूछताछ की है। उससे कोई मदद नहीं मिली। अब यहाँ दण्ड के उपाय से ही इनका मुँह खुलवाना पड़ेगा। यदि उससे भी सच्चाई नहीं पता चली तो कठिन दण्ड से ही इनका मुँह खुलवाया जा सकेगा। पोय्सल राजघराने की सेवा के लिए ही जब हमारा जीवन समर्पित है, तो उसका अन्त तक निर्वाह होगा। इस प्रसंग में इस न्यायपीठ के सामने मुझे एक निवेदन करना है। जब से रानी सन्निधान को इस गुप्त हत्या के षड्यन्त्र का पता चला तबसे वे अपने से ज्यादा राजकुमार के बारे में चिन्तित

हो उठी हैं। मैं और राजमहल के सेवक विश्वासपात्र हैं। साथ ही, पद के दायित्व को मैं भलीभाँति समझता हूँ। मैं रानीजी और राजकुमार के लिए अपने प्राण तक अर्पण करने को सदा तैयार हूँ। मैंने भगवान् जिनदेव की कसम खाकर वचन दिया है, और सन्निधान को धीरज बँधाया है। अब न्यायपीठ न्याय-विचार करके जैसा आदेश दे, वैसा करूँगा।" इतना कहकर हुल्लमय्या ने झुककर प्रणाम किया।

"आपने इस तरह का आश्वासन देकर रानीजी को दिलासा दी, सो बहुत अच्छा किया। आपका यह आश्वासन सम्पूर्ण राज-परिवार पर लागू होता है। हम इसी व्यापक अर्थ में इसे ग्रहण करते हैं। क्योंकि हम सम्पूर्ण राजपरिवार के संरक्षण के लिए ही नियुक्त हैं, राज्य का राजकाज चलाने के लिए नियुक्त हैं। इस विषय में हम किसी व्यक्ति या किसी एक धर्म मत की तरफदारी नहीं कर सकते। हम सदा न्याय के ही पक्षपाती हैं, यह बात भलीभाँति जान लेनी चाहिए। हमने महामातृश्री एचलदेवीजी तथा सन्निधान एरेयंगप्रभु से यही पाठ पढ़ा है। वह सबके लिए अनुसरणीय है। अब राजधानी से तलकाडु जानेवाले मायण हेग्गडे ने क्या-क्या काम किया है, सो बताएँ।" गंगराज ने कहा।

हुल्लमय्या मंच से उतरे और अपनी जगह जा बैठे। मायण मंच पर आया। शपथ ग्रहण की। उसने जिनेन्द्र-भगवान् की कसम के बजाय महादेव की कसम खायी।

गंगराज ने प्रश्न किया, "मायण, तुम किसके आदेश पर तलकाडु गये?"

"पट्टमहादेवीजी के आदेश पर।"

"किस कारण से?"

"मुझे जैसे ही यह खबर मिली कि पट्टमहादेवी और उनकी सन्तान की गुप्त हत्या करने का षड्यन्त्र चला है, मैं वास्तव में डर गया। खबर मिलते ही समय को व्यर्थ गँवाना ठीक न समझकर, इस तरह की बातों में जो अधिकार स्वातन्त्र्य मुझे दिया गया था उसका उपयोग कर, अपने गुप्तचर दल में से दक्ष गुप्तचरों को भेज दिया। मैंने किसी से सलाह नहीं ली। बाद में पट्टमहादेवीजी से मिला और बात बतायी। उन्होंने कहा कि मैंने गुप्तचरों को भेजने का निर्णय जल्दबाजी में किया। उन्होंने तुरन्त किसी को भेजकर उन्हें वापस बुलाने का आदेश भी दिया। यह काम दूसरों से हो नहीं सकता था, इसलिए मुझे ही तलकाडु की तरफ जाना पड़ा।"

"ठीक है। तलकाडु की तरफ क्यों गये?" नागिदेवण्णा ने पूछा।

"मुझे समाचार मिला था कि इस षड्यन्त्र की जड़ तलकाडु में है इसलिए", इतना कहकर राजधानी से रवाना होने के समय से वहाँ से लौटकर आने तक क्या-क्या घटनाएँ घटीं, मोटे तौर पर उनका विवरण प्रस्तुत किया। परन्तु बड़ा सतर्क रहा। रानीजी के सन्दर्शन के अवसर पर और हुल्लमय्याजी से जो बातचीत हुई उस समय, रानी लक्ष्मीदेवी और हुल्लमय्या का यह सन्देह कि पट्टमहादेवीजी के निकटवर्ती लोग

इस षड्यन्त्र के कारण हैं, यह सब मायण ने नहीं बताया; क्योंकि यह बहुत ऊँचे स्तर से संचालित आन्तरिक मामले थे। इस बात को सबके सामने पेश करना उसने उचित नहीं समझा।

"ये तमाशबीन कौन हैं, उनके बारे में जानते हुए भी वहाँ क्यों नहीं बताया? तुमने कहा कि उनको तुम जानते हो?" नागिदेवण्णा ने पूछा।

"वहाँ जैसी हालत थी उसे समझकर मुझे लगा कि वह बात प्रकट न हो तो अच्छा। यहाँ सबके समक्ष वह प्रकट हो तो अभी जो सन्देह बना हुआ है, उसके वे कारण नहीं, यह विदित हो जाएगा। वहीं यदि प्रकट हो जाता तो उस समय वहाँ जो वातावरण था उसमें यह बात आग में घी देने की-सी होती। इसीलिए मैंने ऐसा किया। अब तो सारी बातें खुलेंगी ही न?"

गंगराज ने पूछा, "अगस्त्येश्वर अग्रहार में जो घटना हुई उसके बारे में तुमने जब रानी से पहली बार भेंट की, तब उन्हें क्यों नहीं बताया?"

तिरुवरंगदास जहाँ बैठा था वहीं कुछ आगे की ओर झुका, मानो इस न्याय विचार में अब उसे दिलचस्पी होने लगी।

"वह व्यक्ति अगर मेरे हाथ लगा होता तो मैं सर्वप्रथम उसे रानी सन्निधान के समक्ष ले जाता। परन्तु वह खिसक गया था। यदि मैं रानी से यह बात कहता तो मेरे पास कोई प्रमाण न होता और मेरी बात बकवास बन जाती, इस भय के कारण नहीं बताया।"

मादिराज ने पूछा, "तुमने हुल्लमय्या से और रानीजी से जब परामर्श लिया तब यह बात जानने की कोशिश नहीं की कि उन्हें सन्देह किस पर है?"

मायण ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। उसकी दृष्टि पट्टमहादेवी की ओर थी। "कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनके बारे में हमें बड़े लोगों से पूछना नहीं चाहिए। वे बातें मेरे स्तर की सीमा से बाहर की होती हैं। अब दोनों यहाँ विराजमान हैं। उन्हीं से पूछकर जान सकते हैं।" कहकर मायण ने उस प्रश्न को ही स्थानान्तरित कर दिया।

शान्तलदेवी ने कहा, "अब इस प्रसंग में वह आवश्यक प्रतीत नहीं होता। जब मुझे यह बात मालूम हुई कि मेरी भी हत्या का षड्यन्त्र चल रहा है, तब कई बातें मेरे भी दिमाग में आयीं। उसी तरह रानी लक्ष्मीदेवी के दिमाग में भी कई विचार आये होंगे। इस तरह से अनुमानित विषय या व्यक्ति के वास्तविकता से ज्यादातर दूर ही रहने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए अभी इसे रहने दें। अभी तो इस न्याय-विचार के लिए जिन कैदियों को लाये हैं, उन्होंने क्या-क्या प्रचार किया है, उन बातों की सचाई तथा इस काम के लिए कौन प्रेरक हैं, आदि बातों को जानना प्रधान कार्य है। इसलिए इस ओर ध्यान देना न्याय-मण्डल के लिए ठीक होगा। मुझे बीच में बोलना नहीं चाहिए था। न्याय-मण्डल की मर्यादा का उल्लंघन मेरा उद्देश्य नहीं है। विषयान्तर न

हो, इस विचार से मैंने कहा।''

''पट्टमहादेवीजी का कथन ठीक है। किन-किन पर सन्देह हुआ, इस बारे में पूछताछ कर जानने की कोशिश करने से व्यर्थ ही विद्वेष फैलने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। सबसे पहले तो यह निश्चय हो जाए कि यह एक षड्यन्त्र ही है। तब ये षड्यन्त्रकारी किस तरह की कार्रवाई करके उसे सफल बनाना चाहते थे, यह बात जाननी होगी। फिर उसके मूल प्रेरक कौन हैं और इससे उनको क्या फायदा है, इसे जानना होगा। इसलिए, हुल्लमय्याजी, इस विषय में आप सप्रमाण कुछ प्रकाश डाल सकेंगे?'' गंगराज ने पूछा।

हुल्लमय्या उठे, झुककर प्रणाम किया, और कहा, ''जो आज्ञा।'' फिर पटवारी से कहा, ''तलकाडु के गुप्तचर दल के संचालक वेण्णमय्या को गवाह के मंच पर उपस्थित करें।''

वेण्णमय्या ने आकर शपथ ग्रहण की।

हुल्लमय्या ने कहा, ''वेण्णमय्या, इस हत्या के षड्यन्त्र की बात तुम्हें पहली बार कब और कहाँ मालूम हुई? इसका पूरा विवरण, इन लोगों को बन्दी बनाने तक क्या सब हुआ, बताएँ; कोई बात छूट न जाए और अनावश्यक भी न हो।''

''जो आज्ञा। इस षड्यन्त्र की खबर पहले-पहल सन्तेमरल्लि के बाजार में मेरे कान में पड़ी।''

''तुम वहाँ किस काम पर गये थे?'' मादिराज ने पूछा।

''युद्ध के लिए अनाज तथा धन के रूप में कर आदि का जल्दी संग्रह कर तलकाडु भेज देने का आदेश व्यवस्थाधिकारीजी ने दिया था। इसी सिलसिले में मैं सन्तेमरल्लि गया। वहाँ के पटवारी और मुनीमजी को राजमहल का आदेश सुनाया और आगे जाने वाला था। उस दिन वीथि-नाटककारों का भजन-कीर्तन चल रहा था। सहज ही उसे सुनने की अभिलाषा हुई तो मैं वहाँ जाकर खड़ा हो गया। वहाँ एक भारी दर्शक-समूह था। आम तौर पर जब कभी गुप्तचरी के काम पर, या राजमहल के काम पर अन्यत्र जाना होता है तब हम वेश बदलकर, बिलकुल साधारण लोगों की तरह जाया करते हैं। मैं भी ऐसे ही साधारण लोगों की तरह वहाँ की भीड़ में मिल गया और उन लोगों में से एक बन गया। मेरी बगल में दो व्यक्ति आपस में धीमे स्वर में कह रहे थे, 'इस दुनिया में यह कैसा अन्याय चल रहा है! सुनने में आया है कि रानी लक्ष्मीदेवी और राजकुमार की हत्या का षड्यन्त्र रचा जा रहा है। सुनते हैं कि इस षड्यन्त्र में राजधानी के कुछ जैनियों का हाथ है। रानी श्रीवैष्णव हैं और पुत्रवती हैं, खुद महाराज ने वैष्णव धर्म स्वीकार किया है, इसलिए कल पिता के धर्म का अनुसरण करने वाला ही सिंहासन का उत्तराधिकारी बने—ऐसा न हो जाए, इस डर से अपना रास्ता साफ बना लेने के उद्देश्य से यह षड्यन्त्र रचा जा रहा है। यही कुछ सुनने में

आया। इतनी बात जानने के लिए मुझे वहाँ आध घण्टा ठहरना पड़ा। 'यह कलियुग है, कलियुग...बहुत बुरा।' यों वे आपस में बातचीत कर रहे थे। सुनानेवाला एक और सुननेवाला एक। सुननेवाले ने सुनानेवाले से पूछा कि उससे यह बात किसने कही। तो उसने उन नाटक खेलनेवालों की ओर उँगली दिखाकर कहा, 'उन्होंने।' मेरे साथ और गुप्तचर नहीं थे। होते तो उन्हें उन नाटकवालों पर सतर्क दृष्टि रखने को कहकर मैं तलकाडु जा सकता था। मैं अकेला था, इसलिए इस समाचार को पहले अपने व्यवस्था-अधिकारीजी को बताने की इच्छा से वहाँ रुका नहीं, उसी दिन जाकर उन्हें सुना दिया। उन्होंने तुरन्त तलकाडु के प्रदेश में व्यापक रूप से गुप्तचर विभाग को सक्रिय कर दिया। इन तमाशबीनों को खोजने के प्रयत्न में जहाँ-तहाँ इस षड्यन्त्र की बात सुनाई पड़ी। उन सभी जगहों में बड़े सतर्क होकर हमने खोज का काम जारी रखा। इस तरफ के कुछ गाँवों में यत्र-तत्र इससे सम्बन्धित बातें तो सुनने को मिलीं। लगा, जैसे उन्हें जनता में किसी ने फैलाया है। किसने फैलायीं ये बातें, इसका पता नहीं चल सका। वे वेश बदलकर इस तरह का प्रचार कर रहे हैं, ऐसा मालूम हुआ। तीन-चार पखवाड़ों तक हमने पता लगाने का काम किया। लेकिन सफलता नहीं मिली। इसके बाद मैंने ही इन नाटक वालों को मुडुकुतोरे के बाजार में देखा और उनका पीछा किया। वहाँ, नदी के पास, एक और बूढ़ा इन नाटक वालों से कुछ बातचीत करके नदी की ओर चला गया। मैं दूर पर था इसलिए सुन नहीं सका। परन्तु उस बूढ़े ने पूर्व की ओर इशारा करके कुछ दिखाया, यह मैंने देखा। मैंने उस तरफ जब दृष्टि डाली तो वहाँ परदे से ढकी एक गाड़ी खड़ी दिखाई पड़ी। उस गाड़ी पर और उन नाटकवालों पर सतर्क दृष्टि रखकर, अपने गुप्तचर दल के एक व्यक्ति से बाजार में मिला और उसके द्वारा व्यवस्था-अधिकारी के पास समाचार भेजा और उनसे निवेदन किया कि कुछ लोगों को ग्रामीण वेश में हमारी मदद के लिए भेजें। उसी तरह कुछ और लोगों को दूसरे वेशों में मदद के लिए बुलवाया। फिर हम कुछ लोग इकट्ठे हुए और वहाँ से अन्यत्र जानेवाली गाड़ियों के जाने के रास्तों पर दल बाँधकर पहरा देते रहे। उस गाड़ी को किसी मार्ग से गुजरते देखें तो दूसरे लोगों को तुरन्त खबर कर दी जाए, यह निर्णय किया गया। प्रत्येक व्यक्ति को यह आदेश दिया कि एक दल के लोग दूसरे दल के लोगों से परिचित हैं, ऐसा व्यवहार बिलकुल न करें। इस तरह लोगों को दलों में बाँटकर उन्हें अपने-अपने काम पर निर्दिष्ट मार्गों पर भेज दिया। बाजार की भीड़-भाड़ में हमारी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। बिना किसी बाधा के कार्य होता रहा। अँधेरा होने पर उस परदेवाली गाड़ी के पास एक-एक कर चार-पाँच लोग इकट्ठे हुए। थोड़ी देर बाद वे दोनों नाटकवाले भी वहाँ आ गये। आते ही उन दोनों ने कहा, 'हम उस टीले के अन्दर भगवान् के दर्शन के लिए गये थे, इससे देरी हो गयी। चलिए, हम रात को तलकाडु में रहें। वहीं आराम करेंगे।' उत्तर में उन लोगों में से एक ने 'नहीं' कहकर

अस्वीकार किया और कहा, 'तलकाडु में क्या काम है? वहाँ का काम तो बाद का है न! और फिर उस काम के लिए और ज्यादा विश्वासपात्र व्यक्ति चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को पूरीगाली से आने को कहा गया है। अतः अब हम भी पूरीगाली की ओर चलें।' तब इन नाटकवालों ने कहा, 'वह तो छोटा-सा गाँव है। जल्दी लोगों को पता लग जाएगा। तलकाडु बड़ी जगह है और हम अलग-अलग स्थानों में रहकर, किसी को मालूम हुए बिना, अपना काम साध सकेंगे। बड़ा शहर है।' बाकी लोग माने ही नहीं। अन्त में एक ने कहा, 'चाहो तो तुम दोनों वहाँ जाकर रह सकते हो। हम बाद में एक साथ वहाँ पहुँचेंगे, कल-परसों तक।' वे दोनों थोड़ी देर सोचते रहे। बाद में बोले, 'ऐसा नहीं हो सकता। रहेंगे तो हम एक साथ ही। अलग-अलग होंगे तो इस षड्यन्त्र के कार्य को रूप कैसे दे सकते हैं? जाना है तो सबको तलकाडु जाना है या सब पूरीगाली चलें। हम अलग-अलग नहीं होंगे।' इसी तरह का निश्चय कर ये नाटकवाले भी उसी गाड़ी में, उनके साथ पूरीगाली की ओर रवाना हुए। काफी दूर गाड़ी निकल जाने के बाद मैं चुपचाप पेड़ से नीचे उतरा और उनके पीछे हो लिया।''

मादिराज ने पूछा, ''तुम उस पेड़ पर कब चढ़ गये?''

''शाम अँधेरा होने लगा, तब मैं गाड़ी के पास गया। कोई नहीं था। गाड़ी एक पेड़ के नीचे छाया में खड़ी थी। मैंने चारों ओर नजर दौड़ायी, देखा वहाँ कोई नहीं। तब धीरे से मैं पेड़ पर चढ़ गया। जब मैं गाड़ी के पीछे चल रहा था तब मेरे दल के लोग जल्दी मेरे साथ शामिल हो गये। उनमें से एक को प्रबन्धक अधिकारी के पास यह खबर देकर भेजा कि हम गाड़ी के पीछे जा रहे हैं। कल शाम तक राजधानी न पहुँचें तो सेना की एक टुकड़ी को पूरीगाली की तरफ रवाना कर दें। शेष लोगों में से दो को साथ लेकर, कुछ को पूरीगाली भेज देने के लिए कहकर, बाकी को वापस भेज दिया। दूसरे दिन, पूरे दिन हमने पूरीगाली में प्रतीक्षा की। जैसा उन्होंने कहा था, कोई वहाँ नहीं आया। गाड़ी में जो थे वे भी पूरीगाली में ठहरे रहे। उसके दूसरे दिन तलकाडु से सेना की टुकड़ी आ गयी। गाड़ी में जितने लोग थे उन सभी को एक साथ गिरफ्तार करके तलकाडु ले आया गया। ये दोनों नाटकवाले इसका बहुत विरोध करते रहे। बोले, 'हम कीर्तन-भजन करनेवाले हैं, हमें क्यों बन्दी बनाते हैं? हम थके हुए थे, इसलिए आराम से जाने के उद्देश्य से हमने इन लोगों से प्रार्थना की और इनकी गाड़ी में बैठकर चले आये।' उनका यह कहना सरासर झूठ था, यह बात मैं जानता हूँ।'' बेण्णमय्या बोला।

''सन्तेमरल्लिवाले इस काम में लगे थे। और ये दोनों इसमें अन्यत्र लगे थे। इस हिसाब से इनकी तीन टोलियाँ हुईं?''

''हो सकती हैं। परन्तु इस काम में कहीं कुछ और भी हो सकते हैं?''

''ये अलग-अलग नहीं हैं। यह सब मिले हुए हैं और वे ये ही हैं, इसी बात

के लिए न्यायपीठ का ध्यान आकर्षित होना चाहिए।''

''मेरी समझ में तो निश्चित रूप से ये ही वे लोग हैं।

''इनको पहली बार देखने के पूरे दो महीनों के बाद आपने इन्हें फिर से देखा है। इस दीर्घ अन्तराल में उन चेहरों को देखने में भ्रम भी हो सकता है। तब यह कैसे कह सकते हैं कि ये वही हैं?''

''हो सकता है परन्तु इतनी बात सच है कि ये इस काम में लगे थे।''

''ठीक। हुल्लमय्याजी, आपके गवाह ने जो कुछ कहा, क्या वह वही है जो उन्होंने आपसे कहा था? या उसमें कोई अन्तर है? या जो बातें आपको बतायी थीं उनमें से कुछ बातें नहीं बतायी हों?''

''सब बातें ज्यों-की-त्यों बतायी हैं। परन्तु एक बात कहना भूल गया है।'' हुल्लमय्या बोले।

''कौन-सी?''

''मैंने यह भी कहा था कि इन मायणजी के चाल-चलन पर भी सतर्क दृष्टि रहे।''

''ऐसा क्यों कहा था?''

''उन्होंने मुझसे कहा था कि राजधानी में यह खबर पहुँची है कि तलकाडु की तरफ चोलों की ओर से कुछ हलचल हो रही है। लेकिन ऐसी कोई बात ही नहीं थी। मेरी जानकारी के बिना यहाँ की कोई खबर राजधानी तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए उन्होंने जो बताया उस पर विश्वास नहीं हुआ। शायद कुछ और बातें हो सकती हैं। उनके पीछे रहने पर ही उनका पता लग सकेगा, यही सोचकर मैंने ऐसा आदेश दिया था।''

''उन्हें छिपाने की क्या आवश्यकता थी? आखिर आप दोनों एक ही राजघराने के सेवक हैं न?''

''सच है। फिर भी पता नहीं क्यों, मुझे ऐसा लगा। इसलिए मुझे स्वयं अपनी जिम्मेदारी पर ऐसा करना पड़ा।''

''किया सही, मगर उसका क्या परिणाम निकला?''

''कुछ नहीं। वे एक दिन भी अपने मुकाम को छोड़कर कहीं नहीं गये। दूसरे दिन वे कब चले गये, सो पता नहीं लगा। हाँ, भोजन के वक्त अपने मुकाम पर लौट आये। परन्तु आज के उनके कथन के अनुसार उनके आने का कारण कुछ और रहा जबकि बताया कुछ और इतना निश्चित हो गया।''

''फिर?''

''वे कहाँ गये और क्यों गये, इस सम्बन्ध में अब वे स्वयं ही बता देंगे।''

''आवश्यक होगा तो जान लेंगे।''

''अब साक्षी के लिए किसे बुलाया जाए?'' नागिदेवण्णा ने पूछा।

गंगराज ने बीच में कहा, ''एक क्षण ठहरिए!'' फिर वेण्णमय्या से पूछा, ''आपने अपने विवरण में कहा कि एक बूढ़े ने उन नाटकवालों से बातचीत की थी और गाड़ी की ओर संकेत किया था। उस बूढ़े के बारे में कुतूहल पैदा नहीं हुआ? और उसके बारे में जानने का प्रयत्न भी नहीं किया?''

''कुतूहल तो पैदा हुआ जानने का। परन्तु मेरा काम इन नाटकवालों पर नजर रखना और उनका पीछा करना था। इसलिए मैंने बूढ़े की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। वह नदी की ओर बढ़ गया तो मैंने समझा कि कोई बटोही भिक्षुक होगा। उसके शरीर पर फटे कपड़े और हाथ में सोंटा देखकर उसकी ओर देखने तक का कुतूहल मेरे मन में नहीं हुआ। वह भी तो पीछे मुड़कर देखे बिना ही चला गया।''

''और कोई गवाह है?''

वेण्णमय्या साक्षी-मंच से उतर आया और अपनी जगह आकर बैठ गया।

''हमारी ओर से अब और कोई गवाह नहीं। इन बन्दियों को ही बुलाया जाए!'' हुल्लमय्या बोले।

''आपके पास कोई गवाह है, मायणजी?''

''हमारे गवाह बन्धन में हैं। आज्ञा हो तो उन्हीं को बुलवाऊँ?''

''कैदी सच बोलेंगे?''

''उनसे सत्य उगलवाना होगा। न्याय-मण्डल को यदि उनके कथन में सचाई न लगे तो ऐसों के लिए कठोर दण्डविधान (किट्टिकोले) तो है ही।'' गंगराज बोले।

''जैसी मर्जी।'' हुल्लमय्या ने कहा।

गंगराज ने आदेश दिया, ''मायण, बन्धन में आपके जो गवाह हैं, उन्हें बुलाया जाए।''

''उन दो नाटकवालों में जो ऊँचे कद का व्यक्ति है, उसे बुला लाओ।'' मायण ने कोटपाल से कहा।

उसे पकड़कर लाकर साक्षी-वेदी पर खड़ा किया गया।

''इस न्याय-पीठ के सामने सच बोलना होगा।''

''मैंने और मेरे साथियों ने सत्य ही कहा, तो भी व्यवस्था-अधिकारीजी ने विश्वास नहीं किया। हम निरपराध हैं, फिर भी हमें बन्दी बनाकर ले आये। जिनेन्द्र भगवान् की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं सत्य ही बोलूँगा।''

''वेण्णमय्या ने कहा कि उन्होंने तुमको और तुम्हारे साथियों को मन्तेमरल्लि में देखा। क्या यह सच है?''

''नहीं। तब मैं या मेरे साथी वहाँ नहीं थे।''

''तब तुम लोग कहाँ रहे?''

"उस समय हम यहीं थे!"

"यहाँ क्या कर रहे थे?"

"अपना काम।"

"तो क्या तुम राजधानी के हो?"

"हाँ, हमारा सारा जीवन राजधानी में ही बीता है।"

"तलकाडु क्यों गये?"

"हमारे मालिक का आदेश था।"

"जगह-जगह तमाशा दिखाते रहनेवाले घुमक्कड़ों का कोई मालिक भी होता है? ऐसी बात करो जिस पर विश्वास किया जा सके। शपथ ली है कि सच ही बोलोगे। सावधान!"

"झूठ मेरे मुँह से निकलता ही नहीं।"

"तुम्हारा मालिक कौन है?"

"अभी बताना है...या बाद में भी बताया जा सकता है?"

"बाद से मतलब?"

"इन सभी बन्दियों के वक्तव्य हो जाने के बाद।"

"ठीक है, वैसा ही करें। वेंगण्णय्या का कहना है कि तुम एक बूढ़े से बातचीत कर रहे थे। क्या यह सच है?"

"सच है।"

"उसने तुम्हें क्या दिखाया?"

"परदेवाली गाड़ी।"

"कुछ कहा भी?"

"जी हाँ।"

"क्या कहा था?"

"उस परदेवाली गाड़ी पर ध्यान रखो। उनके अन्दर बैठे लोग देशद्रोही मालूम पड़ते हैं। युक्ति से उन लोगों को तलकाडु बुला लाओ।"

"क्यों?"

"यह मुझे मालूम नहीं।"

"तुमने पूछा नहीं?"

"मालिक की आज्ञा का पालन करना मात्र हमारा काम है।"

"तो वह बूढ़ा तुम्हारा मालिक है?"

"हाँ।"

"तुमने कहा कि मालिक की आज्ञा से तलकाडु की ओर गये थे। उसी मुँह से कह रहे हो कि मालिक तलकाडु में थे। इन दोनों बातों में तालमेल नहीं बैठ रहा है।"

"सच कहा है। मेल नहीं बैठे, तो हम क्या करें?"

"राजधानी से रवाना हुए कितने दिन हुए?"

"वहाँ उनसे मिलने के पाँच-छह दिन पहले शायद।"

"तो तुम्हारे मालिक तुम्हारे पीछे ही चल दिये होंगे?"

"नहीं तो वहाँ उन्हें कैसे देखते? वास्तव में मैंने उनकी वहाँ होने की अपेक्षा नहीं की थी।"

"क्यों?"

"हमें जो काम सौंपा गया था, उस पर उन्हें विश्वास है। इसलिए हमारे पीछे ही वे आ जाएँगे, इसकी हमें कल्पना भी नहीं थी।"

"वेण्णमय्या ने कहा न कि उस बूढ़े ने चीथड़े पहन रखे थे।"

"सच है।"

"ऐसे गरीब की सेवा से तुम्हारा पेट भर जाता है?"

"मुझे देखने पर कैसा लग रहा है?"

"न्यायपीठ से ऐसा सवाल नहीं किया जाता।"

"और क्या करेंगे? मुफ्त का खाना खाकर मस्ती चढ़ी है।" हुल्लमय्या ने कहा।

"सबको अपने जैसा समझना मनुष्य का शायद स्वभाव है।" गवाह बोला।

"तुम्हारा मालिक अब कहाँ है?"

"यहीं हैं।"

"राजधानी में?"

"हाँ।"

"हम चाहें तो उसे देख सकते हैं?"

"जब चाहें तब देख सकते हैं।"

"तुमने कहा कि तुम्हारे मालिक ने उस गाड़ी में बैठे लोगों को देशद्रोही बताया। देशद्रोही होने के नाते उनके काम क्या थे?"

"लोगों में अनबन पैदा करना। धर्म के नाम से उन्हें उकसाना। किसी षड्यन्त्र के बिना ही षड्यन्त्र होने की अफवाह फैलाना। जगह-जगह पर अलग-अलग किस्से गढ़कर झूठमूठ बातें सुनाना। लोगों की एकता को तोड़ना।"

"ये सब बातें तुमको कैसे मालूम पड़ीं?"

"मैंने और मेरे साथी ने उनके पक्षवालों की तरह स्वाँग रचा तो मालूम पड़ गया। बाजार में लोग उनकी इच्छा के अनुरूप समाचार फैला रहे हैं, यह सब मालूम हुआ। अगर हम उन लोगों के पक्षवालों की तरह अभिनय न करते तो मालिक द्वारा सौंपा काम न हो पाता।"

"तो तुम्हारा कहना है कि अब तुम्हारे मालिक का काम बन गया है?"

"हाँ। यह न्याय-विचार ही उस कार्य के सफल होने का प्रमाण है।"

"तुम्हारे मालिक के काम में और राजमहल की तरफ से इन लोगों को बन्दी बनाये जाने में क्या सम्बन्ध है?"

"यही तो सारी घटना का रहस्य है।"

"कैसी घटना?"

"इन लोगों ने तलकाडु के प्रान्त में प्रचार किया कि छोटी रानी और उनके राजकुमार की गुप्त हत्या का षड्यन्त्र चल रहा है, और उस षड्यन्त्र का मूल राजधानी में है। इसी तरह राजधानी के आसपास पट्टमहादेवीजी की गुप्त हत्या के षड्यन्त्र तथा उस षड्यन्त्र के मूल स्रोत को तलकाडु में होने की अफवाहों का प्रचार किया है।"

"ये लोग—इसका मतलब?"

"ये ही, अब जो बन्दी बनाये गये हैं। इन लोगों का मुखिया चोलों के समय तलकाडु के चोलराज की धर्मशाला का पर्यवेक्षक था, और उस समय के व्यवस्था-अधिकारी का पहरेदार गोज्जिगा है। और उनके साथ के दूसरे लोग पोय्सल राज्य की प्रजा हैं। यह सब अब बन्दी बनाये गये हैं।"

"यह सब राजमहल से सम्बन्धित विषय हुआ। तुम लोग भी तो इनके साथ बन्दी बने हो। हम कैसे विश्वास करें कि तुम बन्धन से छूटने के लिए राजमहल की तरफदारी करते हुए इस तरह बात नहीं कर रहे हो! तुम्हारे और तुम्हारे मालिक का राजमहल से सम्बन्ध सम्भव ही नहीं। ऐसी हालत में तुम लोग मौके के अनुसार अपने को बदल लेनेवाले हो, यही माना जाएगा। ये सब बातें हमारे समक्ष निष्प्रयोजन हैं।"

"न्यायपीठ कैदियों से पूछ सकती है कि हम उनसे कब मिले?"

"भले कभी भी मिले हो, तुम लोग उनके इस काम में भागीदार ही तो बने?"

"सिर्फ एक दिन के लिए। परन्तु इन लोगों के पास गुप्त रीति से हमने जिन लोगों को भेजा था, वे लोग अलग हैं। हमने तलकाडु में व्यवस्था-अधिकारी को बताया है कि वे कौन हैं। उन्हें भी बुला लाये हैं तो न्यायपीठ उन्हीं से तहकीकात कर सकती है कि हमने क्या किया। बाद में मेरे कथन की सत्यता न्यायपीठ के समक्ष स्वयं ही आ जाएगी।"

गंगराज ने पूछा, "हुल्लमय्या, इन्होंने जिन और लोगों के होने की बात कही, उन्हें यहाँ बुला लाये हैं?"

"मैं बुला लाने के लिए इतना उतावला नहीं था। मायणजी के अनुरोध के कारण बुला लाया।"

"अच्छा, उन्हें जब जरूरत होगी बुला लेंगे।"

"तुम्हें स्वयं इस बारे में कुछ कहना शेष है?"

"मुझे लग रहा है कि मैं अभी न्यायपीठ की दृष्टि में विश्वासपात्र नहीं माना

गया हूँ। इसलिए अपनी स्वयं की जिम्मेदारी पर कुछ भी कहना नहीं चाहता। इस न्याय-विचार के अन्तिम स्तर पर कुछ शंकाएँ रह जाएँ तो उनके बारे में सफाई देने के लिए मैं समर्थ हूँ, ऐसा प्रतीत होने पर कहना चाहूँगा।''

''ठीक, हुलमय्या! धर्मशाला के पर्यवेक्षक को बुलवाइए।''

उसे बुला लाकर साक्षी-मंच पर खड़ा किया गया।

''तुमने अब तक जिसने जो कुछ कहा, उसे सुना है। उसके अनुसार उन्होंने तुम्हारे बारे में जो कहा सो सब सत्य है?''

''अपने-अपने ढंग से उन्होंने कहा है। वस्तुस्थिति को मोड़ दिया है।''

''मतलब?''

''चोल और पोय्सलों के बीच विद्वेष की भावना को बहाना बनाकर उन्होंने हम पर चोलों के पक्ष के होने का आरोप लगाया है। यह झूठ है।''

''तो तुम उस जमाने में राजमहल की धर्मशाला के पर्यवेक्षक नहीं रहे?''

''वह कौन था सो मैं नहीं जानता।''

''तो तुम क्या थे?''

''मैं पोय्सल राज्य की एक साधारण प्रजा मात्र हूँ।''

''पोय्सल प्रजा होकर इस तरह के दुष्प्रचार में तुम क्यों लगे? तुम्हें लज्जा नहीं आती?''

''पेट का धन्धा किया मैंने। इसके लिए मुझे पैसा मिलता था।''

''कौन देता था पैसा?''

''कौन देता था सो तो मैं नहीं जानता पर पेशगी मिल जाती थी। मैं भी इस काम में लग जाता था।''

''तुम्हें यह नहीं लगा कि इस तरह की झूठी अफवाह फैलाने से राज्य में अशान्ति फैलेगी?''

''मैं भूखों मरना नहीं चाहता। पहले जिन्दा रहूँ, बाकी सब बाद की बात है।''

''तुम्हारे साथ के और लोग तुम्हारे ही द्वारा नियुक्त हैं?''

''हाँ। मैंने कहा कि मदद करने के लिए कम-से-कम पाँच जन तो चाहिए ही। मुझे पैसा देनेवाले ने मान लिया। उन्हें भी पैसा दिया गया, इसलिए नियुक्त कर लिया।''

''वे सब पहले से तुम्हारे परिचित हैं?''

''दो को तो पहले से जानता हूँ। बाकी को उन दोनों ने साथ कर लिया। हमारी टोली के लोगों को जीवन-यापन का कोई रास्ता नहीं। पैसे ने उन्हें आकृष्ट किया। करने को इतना कि हमें अफवाह फैलाना है। इसमें वस्तुतः हत्या का कोई षड्यन्त्र नहीं—यह भी हमें जानकारी दी गयी थी, इसलिए मान लिया।''

"तुम्हें पैसा कौन देता है?"

"तलकाडु के राजमहल में नौकर हैं वे। मुझे ले चलें तो मैं दिखा दूँगा।"

"जरूरत होगी तो वैसा करेंगे।"

"अच्छा, ये नाटकवाले कहाँ के हैं, यह तुम्हें मालूम है?"

"नहीं।"

"उन्हें तुमने काम सौंपा था?"

"हाँ।"

"वे कौन हैं और कहाँ के हैं आदि बातों को जाने बिना ही काम सौंप दिया?"

"जितना मैं ठीक समझता था उतनी परीक्षा कर लेने के बाद ही उन्हें नियुक्त किया। उनके निवास-स्थान आदि के सम्बन्ध में इसलिए नहीं दर्याफ्त किया कि वे घुमक्कड़ हैं। घुमक्कड़ों का घर-बार कुछ नहीं होता। ये चालुक्य प्रान्त, चोल प्रान्त, पोय्सल प्रान्त, वनवासी आदि प्रदेशों से परिचित हैं। मुझे भी इन प्रदेशों की काफी जानकारी है, इसलिए इन घुमक्कड़ों से कुछ स्थानों के बारे में पूछताछ कर ली। यह जानकर कि इन्होंने इस क्षेत्र को अच्छी तरह देखा हुआ है, मैंने इन्हें नियुक्त कर लिया।"

"उनको भी पैसा दिया?"

"दिया, मगर उन्होंने नहीं लिया। कहने लगे, 'साथ ही तो हैं, जब जरूरत पड़ेगी ले लेंगे। हमारा कुल ही तमाशा दिखानेवालों का रहा है। कहीं कुछ भजन-कीर्तन कर लिया तो कोई-न-कोई चार कौर दे ही देगा। उतरन के कपड़े मिल जाएँगे। सोने के लिए मन्दिर है ही। हमें पैसे की कोई जरूरत नहीं।' और फिर इन्हें मैंने जो काम सौंपा उसे इन्होंने अच्छी तरह निबाहा।"

"सन्तेमरल्लि के दो नाटकवालों के बारे में कहा न, वे और ये दोनों अलग-अलग हैं?"

"हाँ, उन्हें मैंने पहले मुडुकुतोरे में देखा।"

"वे कहाँ हैं?"

"वे इन जैसे नहीं। पैसा लेकर चले गये। परन्तु मैंने पता लगाया कि उन्होंने जहाँ-तहाँ मेरा काम किया है।"

"तुम्हारे कहने से तो मालूम पड़ता है कि तुम्हें कहीं कोई खजाना ही मिल गया है।"

"मुझे जितना चाहिए उतना मिल जाता था। मैंने कोई हिसाब नहीं रखा है।"

"तुम्हारे इस बयान को सुनने पर मालूम पड़ता है कि यह काम भारी पैमाने पर चला हुआ है। हमारे राज्य का अधिकारी जितना काम करता है उतना करने की जिम्मेदारी तुमने स्वीकार कर ली है। इसलिए जैसा तुमने कहा, केवल पेट भरने मात्र

के लिए इस धन्धे को स्वीकार किया, इस बात को हम नहीं मान सकते।''

''मुझे अपनी अपेक्षा से भी ज्यादा धन मिला, सच है। केवल इसी से मेरी बात को झूठ मान लेंगे तो वह अन्याय नहीं होगा?''

''एक निपट गँवार भी यह समझ सकता है कि यह एक लक्ष्यहीन रोजगार नहीं है। तुम पोय्सल राज्य की प्रजा नहीं हो। हमें लगता है कि तुम चोल राज्य की प्रजा हो। यह भी कहना पड़ता है कि तुम भी इस षड्यन्त्र में शामिल हो। ऐसा न हो तो बताओ कौन तुम्हें धन देता है? इस बात को भी तुम नहीं जानते हो, ऐसा हम विश्वास नहीं कर सकते। यही तुम्हारे लिए अच्छा होगा, उनका नाम बता दो।''

''निवेदन किया न कि मालूम नहीं!''

''अगर यही तुम्हारा अन्तिम बयान है तो तुमसे सत्य कहलवाने का तरीका न्यायपीठ जानती है: मायण, तुमने कहा कि यह चोल राज्य की प्रजा है। इन दोनों नाटकवालों की भी यही राय है। मगर यह अपने को हमारी प्रजा बताता है। सत्य क्या है?''

''हमने जो निवेदन किया वह सत्य है। दूसरा नाटकवाला चाहे तो इस बात को प्रमाणित कर सकता है।'' मायण ने कहा।

''उसे बुलाया जाए।''

वह आया और साक्षी-मंच पर जाकर खड़ा हो गया।

''तुम्हारा धन्धा?''

''फिलहाल तो मैं तमाशा दिखानेवाला हूँ।''

''फिलहाल के माने?''

''मालिक ने जो आदेश दिया है, उसके पूरे होने तक।''

''मतलब?''

''अब मैं मैं नहीं हूँ। देखनेवालों के लिए एक तमाशबीन हूँ।''

''अच्छा, इस बात को अभी रहने दो। यह चोल राज्य की प्रजा है?''

''हाँ।''

''इसे प्रमाणित कर सकते हो?''

''हाँ, कर सकता हूँ। इस प्रसार करनेवाली टोली का आदमी पहले कह चुका है कि यह पहले धर्मशाला का पर्यवेक्षक था। यह दूसरा आदमी वह है जो इसके साथ उस समय पहरे पर था। इसका नाम मालूम है। यह गोज्जिगा है।''

''कैसे मालूम हुआ?''

''ये दोनों पहले तलकाडु के आक्रमण के समय, पोय्सल गुप्तचर दल की चट्टलदेवी को चोलराज के निर्वाहक अधिकारी दामोदर को सौंप देना चाहते थे। इन लोगों के जीवन में नीति-नियम कुछ नहीं। इनके मुँह से सत्य निकलता ही नहीं।''

"कल-परसों के इस तमाशबीन की बात पर विश्वास भी कैसे करें?" दूर पहरे पर रहनेवाले ने कहा।

"बीच में नहीं बोलना चाहिए।"

"झूठ बोले तो?"

"झूठ-सच का निर्णय करनेवाले तो हम हैं। इसने जो बात कही वह सच है। चट्टला-मायण की उस समय की कहानी हम जानते हैं। परन्तु यह बात तुमको मालूम कैसे हुई?" गंगराज ने पूछा।

उस गवाह ने सर पर बँधा लाल कपड़ा उतार फेंका। पीठ पर केशराशि फैल गयी। चिपकायी मूँछ निकाल फेंकी। भौंह पर चिपकाये घने बाल निकाल फेंके। कामदार कमरबन्द निकाल दिया। पहना हुआ लम्बा चोगा उतार दिया। इस सारी क्रिया को सभा चित्रलिखित-सी देखती रही। इस अफवाह का प्रसारक नेता चकित होकर देखता रह गया।

सहज स्त्री-कण्ठ से आवाज निकली "मैं चट्टला हूँ।"

वह नायक अचकचा गया। रानी लक्ष्मीदेवी हक्का-बक्का रह गयी। विनयादित्य की आँखें चमक उठीं।

"अब क्या बोलते हो?" गंगराज ने प्रश्न किया।

वह निरुत्तर हो खड़ा रहा।

"इसकी टोली में पाँच लोग हैं। दो कौन हैं सो तो मैंने बता दिये हैं। शेष तीनों में दो हमारे राज्य के साधारण श्रीवैष्णव प्रजाजन हैं। ये हमारे धर्मदर्शीजी के परमभक्त हैं। तीसरा राजधानी के गुप्तचर दल का बीरगा है। यह बहुत समय से इस प्रदेश में गुप्तचरी के काम में लगा है। इस सारे कुतन्त्र का पता लगाने के लिए इन लोगों में शामिल हो गया था। हमारे गुप्तचर दल का विश्वस्त व्यक्ति है यह।"

"तो पहले जो तमाशबीन आया, वह चाविमय्या है?"

"जी हाँ। और हमें मुड्डुकुतोरे की नदी के पास इस टोली की खबर देनेवाले वृद्ध वेषधारी ये मेरे मालिक ही हैं।"

"ओफ, मायण है?"

"हाँ। इन्होंने आदेश दिया था : जिस किसी भी युक्ति से इन्हें तलकाडु ले आओ, फिर मैं ही इन्हें बन्दी बनाकर व्यवस्था-अधिकारी को सौंप दूँगा। परन्तु इन लोगों ने दूसरा मार्ग पकड़ लिया। यदि हम जिद करते तो ये लोग हमारे हाथ से छूट जाते। इस डर से हमें कुछ दूसरा ही उपाय ढूँढ़ना पड़ा। हमने अपने गुप्तचर दल के बीरगा से भी बातचीत नहीं की। उसे भी पता नहीं चला कि हम कौन हैं। जब हमने उसे इस टोली में देखा तभी हम कुछ आश्वस्त हो गये थे कि ये चिड़ियाँ उड़ नहीं पाएँगी। शेष बातों की जानकारी यह न्यायपीठ बीरगा से प्राप्त कर सकती है।"

चट्टलदेवी ने कहा।

उस टोली का मुखिया यह जानता था कि बीरगा सभी बातों की जानकारी रखता है, इसलिए वह कुछ घबरा गया। मौका मिलता तो बीरगा के मुँह खोलने से पहले उसे ही खतम कर देता। उसने बीरगा को इस तरह देखा मानो वह उसे निगल ही जाएगा। पर बीरगा उसके चेहरे को देखकर मुस्करा उठा।

गंगराज ने कहा, "बीरगा साक्षी-मंच पर आएँ।"

बीरगा मंच पर आया और शपथ ग्रहण की।

"जब से तलकाडु का प्रदेश हमारा बना तभी से मैं राजधानी का गुप्तचर होकर उस प्रान्त में रह रहा हूँ। विरोधियों का कार्य-कलापों पर ध्यान देते रहना ही मेरा काम था। कोई खास बात हो तो उसकी खबर देनी थी। वास्तव में मैंने भी इस षड्यन्त्र की बात पहले-पहल सन्तेमरल्लि में ही सुनी। और सुनी तमाशबीनों के ही मुँह से। इन्हीं के कहने से मैं इसके सूत्रधार सिंगिराज का शिष्य बना। वास्तव में उसे मुझपर पूरा विश्वास हो गया था। गोज्जिगा से भी ज्यादा।"

"सो क्यों?"

"सिंगिराज को स्त्रियों की बहुत चाह है। मैं उसकी कामुकता को तृप्त करने के लिए उसके पास स्त्रियों को भेजा करता, और इस बात को गुप्त रखता था। यह बहुत ही नीच काम था, यह मैं जानता था। मगर ऐसा न करता तो इसकी गहराई तक नहीं पहुँच सकता था। इसे चोल राज्य से ही धन मिलता था। मैंने स्वयं सीमा पार कर दो-तीन बार वहाँ से धन लाकर इसे दिया है। चोल अब भी हम पर बहुत क्रुद्ध हैं। हमें खतम कर देना चाहते हैं। हमारे राज्य में भेद पैदा कर लोगों की एकता को तोड़ दें तो उनका काम बन जाएगा, यही सोचकर उन्होंने इस तरह की अफवाह उड़वायी है। तलकाडु प्रान्त में छोटी रानी राजकुमार की हत्या और राजधानी के आस-पास पट्टमहादेवीजी की हत्या—इस तरह की अफवाह फैलाकर फिर दूर युद्ध-क्षेत्र में सन्निधान तक रानी-राजकुमार की गुप्त हत्या के षड्यन्त्र की खबर इन्होंने ही पहुँचायी है। मैंने स्वयं पूछा कि इस तरह की प्रेरणा कहाँ से पायी? इसका अन्त क्या होगा? तो उसने मुझे इतना भर बताया, 'मैंने प्रकारान्तर से कई बातें सुनी हैं। और फिर रानी लक्ष्मीदेवी की खास नौकरानी मेरे वश में है। उसे भीतर की सारी बातें मालूम हैं। छोटी रानी के मन में पट्टमहादेवी के प्रति सौतेला डाह है। वह तो बहुत दिन चलेगी नहीं। रानी के पिता किसी तरह से अपने नाती को सिंहासन पर बिठाना चाहते हैं। ऐसा करेंगे तो यह सिंहासन श्रीवैष्णव सिंहासन हो जाएगा, यही उनकी अभिलाषा है। फिर भी लक्ष्मीदेवीजी पर पट्टमहादेवीजी का हार्दिक स्नेह उनके मन में जब कभी उत्पन्न होनेवाले मात्सर्य भाव को दूर करता रहा है। इसलिए वे अपने पिता की बातों पर ध्यान नहीं देतीं। वैसे उनकी यही इच्छा है कि उन्हीं का बेटा सिंहासन पर बैठे। लेकिन विरोध का सामना

करके, किसी तरह युक्ति या तन्त्र के बल पर उसको सफल बनाने की कोशिश करने का साहस उनमें नहीं है। जब कभी उनके पिता कुछ इस तरह की बात छेड़ते हैं तो वे उनपर आग-बबूला भी हो जाती हैं, आदि-आदि।' जितना वह इन बातों को समझती है, जो समझा है, उसमें जितना उसके दिमाग में आता है, और जिस तरह उसका अर्थ वह लगाती है, उतना उसे सुनाती रहती। इन कही-सुनी बातों के आधार पर अन्दर ही अन्दर जलनेवाली आग को हवा देने पर वह भड़क सकती है, यही समझकर रानीजी के मन में हत्या का भय पैदा करके पट्टमहादेवीजी पर सन्देह पैदा करना, पट्टमहादेवीजी के मन को बिलोडना, सुदूरत सन्निधान के मन में आतंक पैदा करके उनकी क्रियाशक्ति को कुण्ठित करना, यह सब ध्यान में रखकर इस तरह की कार्रवाई इसने की है। इस कार्रवाई के पीछे इसी का दिमाग काम कर रहा था। बाकी सब तो इसके हाथ की कठपुतली हैं, जैसा नचाये वैसा नाचनेवाली। काफी पैसा मिल जाता इसलिए वे खुश हो जाते। जो कहा उसे किया और चुप पड़े रहे। ये सब बातें मैंने उसके अन्तरंग को कुरेद-कुरेदकर जानी हैं। मुद्दला अगर आयी हो तो उसे बुलाकर उससे तहकीकात कर सकते हैं।'' बीरगा ने कहा।

'तो जान-बूझकर मुद्दला साथ आने से खिसक गयी?' रानी लक्ष्मीदेवी के मन में सवाल उठा।

धर्मदर्शी अपने चेहरे की विचित्र मुद्रा बनाकर बैठा था।

गंगराज ने पट्टमहादेवी की ओर देखा।

''किसी से कुछ कहा, किसी ने किसी को कुछ बताया, इन सब बातों पर हम क्यों ध्यान दें? दुष्प्रचार के काम में ये लोग शामिल हैं, इतनी बात प्रमाणित हो जाए, पर्याप्त है। नहीं तो वे स्वयं मान जाएँ, काफी है। मायण, चट्टला, चाविमय्या, बीरगा—इन चारों ने इस पर काफी प्रकाश डाला है। इस प्रसंग में न्यायपीठ के समक्ष एक बात कहनी है। चाविमय्या-चट्टलदेवी को किसी से सलाह तक न लेकर, मायण ने स्वयं भेजा था। बाद में मुझे बताया तो सुनते ही उस पर मुझे क्रोध भी आया। इसका कारण था। अफवाह हो सकती है कि पट्टमहादेवी की गुप्त हत्या का षड्यन्त्र चल रहा है, सो भी तलकाडु की तरफ से। केवल इतने से डरकर जल्दी में किसी से सलाह तक लिये बगैर, गुप्तचरों को भेजना मुझे ठीक नहीं लगा। हमारी ही रानी जब वहाँ मौजूद हैं और हमारे राजमहल के व्यवस्था-अधिकारी के रहते हुए जो भी काम कराना हो, उन्हीं के जरिये कराना न्यायसंगत है। उन्हें बिना बताये, स्वतन्त्र रूप से गुप्तचरों को भेजने का यही मतलब होता है कि हम उन पर विश्वास नहीं रखते। इस तरह का विचार उन लोगों के मन में उत्पन्न हो जाए तो मात्सर्य का भाव उठ सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिए, इसीलिए चाविमय्या और चट्टलदेवी के वहाँ पहुँचने से पहले ही वापस बुला लेने का आदेश मायण को दिया गया। अब यहाँ जो बातें स्पष्ट हुई उनसे

मेरी विचारधारा पुष्ट हुई है। हमें उच्च स्तर पर रहने वालों की बाहरी सुनी-सुनायी बातों में आकर, शंकित होकर जल्दबाजी में कार्य-प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, यही पाठ अब हमें मिला। अभी मुद्दला को बुलवाने की जरूरत नहीं। अब ये क्या कहते हैं सो सुनकर निर्णय लिया जा सकता है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''मुद्दला ने सत्य कहा हो तो?'' अचानक विनयादित्य पूछ बैठा।

''वह परिवार से सम्बन्धित विषय है। सबको यह जानना आवश्यक नहीं।'' शान्तलदेवी ने कुछ कड़ाई से कहा।

गंगराज ने पूछा, ''सिंगिराज या गोज्जिगा, कोई भी सही, सत्य नहीं कहेंगे तो उन्हें कठोर दण्ड-विधान से दण्डित करके उनके मुँह से सत्य कहलवाना पड़ेगा। बीरगा की तरह टेढ़े-तिरछे मार्ग अवलम्बन कर इसे जानने की जरूरत इस न्यायपीठ को नहीं है। जहाँ तक हमें जानकारी है, हमने सुना है चोलराज अपने पिता की तरह धर्मान्ध नहीं हैं। इस काम में उनका हाथ है, यह विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके लिए पर्याप्त आधार नहीं। क्या बोलते हो?''

गोज्जिगा आगे बढ़ा, ''द्वेष फैलाने के लिए कहा और धन दिया, यह सत्य है। हमें यह धन देनेवाले हमारे चोल प्रभु नहीं। जयकेशी के चरों ने जितना माँगा उतना धन हमें दिया, और कहा—'यह काम करो। हमें पोय्सल राज्य से कोई प्रेम नहीं। ये तमाशबीन यदि हमारे साथ नहीं होते तो हम आप लोगों के हाथ में न पड़ते। अगस्त्येश्वर अग्रहार में हमारा पता लगानेवाला मायण था, यह हम नहीं समझ पाये। वह वेश बदले हुए था। परन्तु मैं दूर रहा, इसलिए मैं सिंगिराज को छुड़ा न सका। बीरगा ने जो कहा उसमें बहुतांश सत्य है। हमें कठोर दण्ड देने के बदले चाहे सूली पर चढ़ा दें, इनकार नहीं। आपके राज्य में श्रीवैष्णव और जैन का अन्तर्युद्ध निश्चित रूप से होनेवाला है। बहुत तीव्रगति से क्रियात्मक रूप धारण कर रहा है। आपके गुरुजी हमारे राज्य से भाग आये, अपनी गलती से नहीं, बल्कि अपने शिष्यों के बरताव के कारण। उन्हें आपने आश्रय दिया। यहाँ भी वही होगा। उनके शिष्य ही आपके लिए कण्टक हैं।'' इतना कहकर उसने अपना वक्तव्य पूरा किया।

गंगराज ने शेष दोनों से विमर्श किया। बाद में उन्होंने कहा कि पट्टमहादेवीजी की भी राय मिल जाए तो अच्छा!

शान्तलदेवी ने कहा, ''न्यायपीठ का निर्णय पट्टमहादेवी को और महासन्निधान को भी मान्य होगा। न्यायपीठ अपना निर्णय सुना सकती है।''

फिर उन तीनों न्यायाधीशों ने आपस में विचार-विमर्श किया।

बाद में गंगराज ने निर्णय सुनाया, ''न्यायपीठ के हम तीनों जन अब एकमत हो इस राय पर पहुँचे हैं। राजमहल के कार्य को बड़ी दक्षता के साथ निबाहनेवाले ये बन्दी तमाशबीन हमारे गुप्तचर हैं, इसलिए इन्हें बन्धन से मुक्त कर यथावत् अपने कार्य में

नियुक्त किया जाता है। बीरगा के लिए भी यही निर्णय लागू है। वह अब तक केवल गुप्तचर था। उसने जिस युक्ति से कार्य सम्पन्न किया है, उसे देखते हुए उसे तलकाडु प्रान्त के गुप्तचर दल का संचालक बनाया जाता है। देण्णमय्या बीरगा का सहायक बनकर वहीं उसके साथ रहेगा। सिंगिराज और गोज्जिगा को महासन्निधान के लौटने तक बन्धन में ही रखा जाए, उनके बारे में अन्तिम निर्णय महासन्निधान ही करेंगे। शेष दोनों पोय्सल प्रजाजन को इस दुष्प्रचार के काम में सम्मिलित होने के अपराध में देश निकाले का दण्ड दिया जाता है।" न्यायपीठ के निर्णय के साथ ही गंगराज ने, पीठ के अध्यक्ष के नाते, नियुक्ति आदि सभी के बारे में यथोचित घोषणा की। इस प्रकार न्याय-विचार का कार्य समाप्त हुआ।

हुल्लमय्या तलकाडु लौट गये।

निश्चित मुहूर्त में आक्रमण शुरू हो गया। डाकरस इस अवसर पर महादण्डनायक थे। उनके साथ कुँवर बिट्टियण्णा कार्य-निर्वहण कर रहा था। वास्तव में उस वक्त डाकरस को बिट्टियण्णा के पिता की स्मृति हो आयी। एरेयंग प्रभु के अनन्य भक्त चिण्णम दण्डनाथ का बेटा ही तो था वह! माता-पिता के अभाव में राजकुमार की तरह पाला-पोसा गया, भाग्यवान् जो ठहरा! डाकरस को यह समझने में अधिक समय न लगा कि चिण्णम दण्डनाथ से भी उनका यह बेटा ज्यादा तेज और बुद्धिमान है। महादण्डनायक मरियाने की तरह उसने स्वयं युद्ध-कौशल विरासत में प्राप्त किया है। अपने पुत्र मरियाने और भरत के उसी परम्परा के, उसी रक्त के होने पर भी, स्वयं से और अपने बेटों से भी अधिक कुशलता से यह युवक बिट्टियण्णा कार्य-निर्वहण कर रहा है। इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम है। कुँवर बिट्टियण्णा के बारे में अपने ये विचार उसने महासन्निधान के सामने भी रखे। डाकरस की यह राय सुनकर महाराज बिट्टिदेव फूले न समाये।

"डाकरसजी, स्वर्ग में उसके माता-पिता सचमुच प्रसन्न होंगे। उसकी इच्छा के अनुसार उसे युद्धक्षेत्र में न ले जाने के कारण असन्तुष्ट हो गुस्से में आकर, स्त्री वेश में पिछले विजयोत्सव में अपूर्व नृत्य से उसने सभी को चकित कर दिया था न।"

"इस छोटी उम्र में उसकी प्रतिभा और कौशल देखकर मुझे ऐसा लग रहा है..." डाकरस और आगे नहीं कह पाये।

बिट्टिदेव एक-दो क्षण चुप रहे, फिर पूछा, "क्या लग रहा है, क्यों रुक गये?"

"मेरे लिए भी यह युद्ध एक बड़ी समस्या बन गया था, लेकिन इसकी कार्य-

कुशलता से यह ठीक-ठीक आगे बढ़ने लगा है। अब मुझे लग रहा है कि जीत हमारी ही होगी। क्यों दण्डनायक जी?''

''हमारे ज्योतिषी ने जो मुहूर्त ठहराया वह भी तो ऐसा ही है।''

''तलवार पकड़नेवाले के दिमाग में मुहूर्त का हिसाब-किताब नहीं बैठता। हम घड़ी-मुहूर्त देखते बैठनेवाले नहीं। हमारा काम तो है कार्य में डट जाना। हमारा विश्वास है कि प्राण-पण से राष्ट्र के प्रति निष्ठा से लड़ने पर सैन्य-शक्ति ही हमें विजय दिलाएगी। हम चाहे कितने ही अनुभवी रहे हों, इस हमले के बारे में बिट्टियण्णा की सलाह के लिए मैं ऋणी हूँ। इसका जो फल मिलेगा उसके लिए वही अधिकारी है। उसे अब गौरव से भी अधिक, प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसलिए युद्ध के समाप्त होते ही जब विजयोत्सव मनाएँगे तब उसे दण्डनायक का बड़ा पद दें तो सही प्रोत्साहन देने का-सा होगा।''

बिट्टिदेव ने तुरन्त डाकरस को जवाब नहीं दिया। एक तरह से आश्चर्यचकित हो उन्हें देखते रहे।

''क्यों, सन्निधान को मेरी सलाह अनुचित लगी?'' कुछ संकोच से डाकरस ने पूछा।

''अनुचित नहीं, स्वभाव से बाहर लगी।'' बिट्टिदेव ने कहा।

बिट्टिदेव की बात डाकरस की समझ में नहीं आयी। उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखायी। संकोच से इतना ही कहा, ''क्षमा करें। सन्निधान का मतलब समझ नहीं सका।''

''आपके दो बेटे हैं।''

''हैं प्रभु! उन्हें भी मान्यता देकर राजमहल ने हमारे वंश को गौरवान्वित किया है। उससे अधिक और क्या चाहिए?''

''इसी को हमने स्वभाव के बाहर कहा। मनुष्य का स्वभाव कूपमण्डूक का सा होता है। उसका यह सहज स्वभाव होता है कि वह अपने चारों ओर की दुनिया को ही सब-कुछ मानता है, उससे परे और कुछ नहीं। योग्यता और दक्षता अपनों की सुरक्षित धरोहर मान बैठता है। स्थान-मान जो भी मिले, सब अपनों को ही मिलना चाहिए, ऐसा समझता है। ऐसी दशा में आप अपने बेटों को छोड़कर, बिट्टियण्णा के विषय में इस तरह के पुरस्कार की बात कहें तो आश्चर्य होगा ही।''

''सन्निधान शायद यही समझते होंगे कि मेरा भी स्वभाव मेरी सौतेली माँ का-सा ही होगा। हमारे पिताजी को विनयादित्य प्रभु ने, मातृश्री केलेयब्बरसीजी ने किस तरह से पुरस्कृत किया था, क्यों किया था सो भी मुझे याद है फिर हमारी सौतेली माँ ने अपना स्वार्थ साधने के लिए क्या-क्या किया, सो भी अच्छी तरह जानता हूँ। योग्यता को मान्यता देना हमारे वंश का स्वभाव है।''

''पोय्सल राजकुमारी से पाणिग्रहण करनेवाले दण्डनायक को वह स्थान न देकर, बिट्टियण्णा को वह स्थान दें तो राजकुमारी क्या समझेंगी? दण्डनायक भरत क्या सोचेगा?''

''योग्यता का सवाल जब उठता है तब सगे-सम्बन्धी का भाव नहीं उठता। मेरे पिताजी ने भी इसी तरह के प्रेम के वशीभूत होकर सन्निधान के दादा और पिताजी को वेदना पहुँचायी थी। लेकिन युवराज एरेयंग प्रभु, महामातृश्री एचलदेवीजी, दोनों साक्षात् देव-देवी थे, क्षमा की मूर्ति ही थे। ऐसा न होता तो मुझे या मेरे बड़े भाई को अथवा हमारी सन्तान को राजमहल के प्रति अपना विश्वास और भक्ति प्रमाणित करने का यह मौका ही नहीं मिलता। हमारे लिए यही गनीमत है।''

''दण्डनायकजी, इस बात को न भूलें कि आपकी पुत्रवधू पट्टमहादेवीजी की पुत्री हैं।''

''लग रहा है, सन्निधान मेरी परीक्षा ले रहे हैं। पट्टमहादेवीजी की गोद में ही बिट्टियण्णा ने पहली साँस ली। वास्तव में वे ही उसकी माँ हैं। बिट्टियण्णा पर उनका वात्सल्य लोक-विख्यात है। वे कभी मेरी सलाह को गलत नहीं कहेंगी।''

''इतना धीरज आपमें हो तो इस बात के बारे में उनसे विचार करके निर्णय करेंगे। दण्डनायकजी, आपकी इस सलाह से हमें आप पर विशेष गर्व हो रहा है। स्वयं अपनी गलती को समझकर अपने को सुधार लेना मनुष्य के लिए अच्छी बात है। परन्तु दूसरों की गलती से जो अन्याय हो उसे देखकर, उससे अपना व्यवहार ठीक रूपित कर लें, यह और भी श्रेष्ठ रीति है। अच्छा छोड़िए इस बात को, यह बताइए कि इस समय आक्रमण की स्थिति क्या है?''

''अभी निश्चित रूप से बताना कठिन है। फिलहाल हम जान के बदले जान लेंगे। हमारा हमला अभी पूर्व व उत्तर की तरफ से है, मगर उस तरफ किले को तोड़ने में असमर्थ हो रहे हैं। अभी इन दस दिनों के हमले से शत्रुओं का ध्यान पूर्व और उत्तर की ओर ही केन्द्रित है। इसलिए कल सूर्योदय होते ही दक्षिण के द्वार पर हमला कर देने की सलाह बिट्टियण्णा दे रहा है। अब तक हम किले की दीवार तक नहीं छू पाये। शत्रुओं के तीर-कमानवाले सैनिक बहुत चुस्ती से काम कर रहे हैं। इसलिए आज की रात दक्षिण-द्वार को भेदने की गुप्तरीति से तैयारी करने का उसका इरादा है।''

''द्वार कैसे तोड़ेंगे?''

''वैसे द्वार को बाहर से तोड़ने की बात कर रहा है पर उसका उद्देश्य कुछ और है। बिट्टियण्णा का कहना है कि आज ही रात को सैनिकों की एक टुकड़ी किले पर चढ़कर अन्दर उतरेगी और सूर्योदय के पहले ही द्वार-रक्षकों को दबोच लेगी। फिर भीतर से द्वार खुल जाने से हमारी सेना को भीतर घुसने का मौका मिल जाएगा।''

''बिना कारण इतने लोगों की जान एक साथ शत्रुओं के हाथ हम खुद दे दें, यही होगा न? हमें क्या मालूम, अन्दर द्वार-रक्षा के लिए उन्होंने क्या-क्या इन्तजाम

कर रखा है। द्वार खुल जाए तो बाद को तो सीधा सामना किया जा सकता है।''

''कहता है कि 'अभी कितने मरे, कुछ हिसाब मालूम है? कुछ न करके जान देने से कुछ करके जान देना अच्छा है। मैं स्वयं इस सेना की टुकड़ी का नेतृत्व करूँगा'।''

''उत्साह तो सराहनीय है। नेतृत्व कोई करे। आपकी राय क्या है उसकी इस सलाह पर?''

''जैसा मैंने पहले ही निवेदन किया, कुछ आकस्मिक प्रतिकूल परिस्थितियों की सम्भावना होते हुए भी प्रबल करना ठीक ही प्रतीत होता है।''

''उसे हमारे पास भेज दीजिए। हम बातचीत करेंगे।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''जो आज्ञा''—कहकर डाकरस दण्डनायक चले गये।

रानी बम्मलदेवी, जो अन्दर थी, बाहर आयी और बिट्टिदेव के पास आकर बैठ गयी। बोली, ''सन्निधान स्वीकार करें तो मैं एक सैनिक टुकड़ी की अगुआ बनूँगी।''

''क्यों, जीवन से ऊब गयी?''

''सन्निधान को भी मालूम है।''

''क्या?''

''यही कि ऊब जाने का क्या कारण है।''

''ओफ, बड़ी और छोटी रानियाँ पुत्रवती हैं। बीच वाली नहीं हुई, इसलिए?''

''हम छोटी रानी की तरह ईर्ष्या करनेवाली नहीं, यह बात सन्निधान जानते हैं।''

''तो इस तरह ऊब जाने का क्या कारण है?''

''इस बार के इस आक्रमण में मेरा भी राजलदेवी बहन की तरह खाली खा-पीकर बैठे रहना ही हो रहा है। इस तरह घसीटनेवाले युद्ध में कुछ चेतना के आने पर, कुछ-न-कुछ करते रहने का मौका मिलेगा, यही मेरा विचार था परन्तु...''

''हमारी ही दशा ऐसी हो गयी है। इस तरह से बेकार समय गँवाना तो हमें भी पसन्द नहीं।''

''दण्डनायकों की संख्या ज्यादा है, उसमें भी युवकों का प्रबल जत्था है। इस वजह से हमें आगे बढ़ने का मौका ही नहीं मिल रहा है! सन्निधान अगर अनुमति नहीं देते हों तो मुझे आसन्दी ही भेज दीजिए।''

''पट्टमहादेवी को पत्र भेजकर, उनकी स्वीकृति मिलने पर जरूर जा सकती हैं।''

''उन्हें पत्र भेजेंगे तो वे स्वयं ही यहाँ आ जाएँगी।''

''क्यों?''

''युद्ध-शिविर में जब सन्निधान हों तब मैं या वह, दोनों में से किसी एक को साथ रहना ही चाहिए, यह हमने निश्चय किया है।''

"तो फिर आसन्दी जाने की बात क्यों?"

"सन्निधान मेरी बात मान लें तो इस सबका मौका ही नहीं रहेगा न?"

"सन्निधान के साथ रानी का रहना सहज हो सकता है। लेकिन सन्निधान तम्बू में बैठे रहें, और रानी दुश्मन के किले पर हमला करने जाये यह ठीक होगा?"

"सही और गलत का विचार ही आजकल नहीं होता। हमारे राज्य में इन दिनों चुगलखोरों की संख्या बढ़ गयी है, ऐसा प्रतीत होता है।"

"इस तरह के सोच का कारण?"

"आये दिन सुनाई पड़नेवाली अफवाहें। हत्या के षड्यन्त्र की झूठी खबरों का प्रसार।"

"अभी हम किस पर हमला कर रहे हैं?"

"जयकेशी पर।"

"वही इस सबका कारण है, यही सुनने में आया।"

"राजधानी की चिट्ठी का यह सारांश है। मगर मुझे विश्वास नहीं हो रहा है।"

"तो इस बारे में रानी की क्या राय है?"

"यह सब राजमहल के समधी, वही नामधारी, उसी के हथकण्डे हैं।"

"स्वयं पट्टमहादेवी की ऐसी राय नहीं। ऐसे में वस्तुस्थिति की जानकारी के बिना, यहाँ बैठे-बैठे आकर यह राय बना लें तो कैसे होगा?"

"युद्ध-शिविर में क्या खबर फैली है?"

"यही कि छोटी रानी और राजकुमार की हत्या का षड्यन्त्र चला हुआ है।"

"पट्टमहादेवी की हत्या का षड्यन्त्र चला हुआ है, यह खबर युद्ध-शिविर में क्यों नहीं फैली? जयकेशी को इस तरह की खबर फैलाने से क्या फायदा?"

"वही जाने।"

"उसे कुछ नहीं मालूम है। बेचारा जान बचाने की चिन्ता में शहर में कहीं छिपकर पड़ा हुआ है, या किसी गुप्त मार्ग से भागकर कहीं और छिप गया है। यह पुराना किस्सा है। सन्निधान जब दूर रहें तब यह खबर फैला दें तो कुछ शंका उठ सकेगी, फलस्वरूप सन्निधान किसी एक के पक्षपाती भी हो सकते हैं।"

"मतलब?"

"बार-बार ऐसी खबर सुनते रहें तो चाहे मन कितना ही अच्छा हो, वह बिगड़ सकता है।"

"इस तरह की बेकार बातें सुनकर हम किसी के तरफदार बन जाएँगे, यही रानीजी का भाव है?"

"ऐसा न होता तो तुरन्त छोटी रानी और राजकुमार को राजधानी में बुलवाने का आदेश सन्निधान को यहाँ से भेजने की क्या जरूरत थी? सन्निधान ने मेरी सलाह तक

नहीं ली!''

''यहाँ किसी की सलाह के लिए गुंजायश नहीं थी। तुम इसी तरह दूर रहतीं और इस तरह की खबर फैलती और हम ऐसे ही राजधानी से दूर रहते, तब भी इसी तरह का आदेश देते।''

''सन्निधान क्षमा करें। सन्निधान के साथ विवाह हुए करीब-करीब दो दशाब्दियाँ बीत गयीं। हम भी पट्टमहादेवीजी की सौतें हैं। उन्होंने हमारी हत्या का षड्यन्त्र क्यों नहीं रचा? सन्निधान सचमुच आतंकित हुए, इसलिए इस तरह की जल्दबाजी की और सन्देश भेज दिया। इस सन्देश से पट्टमहादेवीजी को कितनी व्यथा हुई होगी, इसकी कल्पना आप कर सकते हैं प्रभु? अपना सर्वस्व स्वेच्छा से त्याग करने के लिए तैयार रहनेवाली और सभी को एक समान प्रेम से देखनेवाली पट्टमहादेवीजी स्वप्न में भी इस तरह की बात सोच नहीं सकतीं।''

''क्या रानीजी की राय है कि हमें यह बात मालूम नहीं? यह सोच कर ही तो छोटी रानी और राजकुमार को राजधानी में बुलवाकर अपनी देख-रेख में रखने को कहला भेजा।''

''षड्यन्त्र की बात सुनने के बाद, उस सम्बन्ध में तहकीकात कर सुरक्षा व्यवस्था करने का आदेश देते तो पर्याप्त था। सन्निधान को मालूम है कि पट्टमहादेवीजी ऐसे मौकों पर अपेक्षित कार्य में तुरन्त लग जाती हैं, वे आदेशों की प्रतीक्षा में बैठने वाली नहीं हैं। ऐसी स्थिति में खुद के संरक्षण में रख लेने के लिए जो आदेश भेजा तो इसका यही अर्थ हुआ कि चोर के हाथ में माल सौंप दें और कहें कि इसकी रक्षा करो!''

बिट्टिदेव जी बैठे थे, उठकर चहलकदमी करने लगे। धीरे से घण्टी बजी। तम्बू के द्वार का परदा सरका कुँवर बिट्टियण्णा अन्दर आया। रानी बम्मलदेवी को देखकर ठिठक गया। वहीं खड़ा हो गया।

''आओ बिट्टी, बैठो।'' कहते हुए बिट्टिदेव भी बैठ गये। बिट्टियण्णा भी बैठ गया। उसके मन में कुछ संकोच का भाव था जो चेहरे पर झलक आया था। करीब-करीब आधी रात का समय था।

संकोच करते देख बिट्टिदेव ने कहा, ''संकोच का कोई कारण नहीं।''

''महादण्डनायक जी ने बताया था कि सन्निधान अकेले हैं।''

''हाँ, जब उनसे बातें हुईं तब अकेले ही थे। परन्तु पूर्व सूचना दिये बिना रानीजी स्वयं आ गयीं। क्यों, मालूम है?'' बिट्टिदेव ने रानी की ओर कनखियों से देखा। उनके होठों पर मुस्कराहट थी।

''कुमार! सन्निधान का कहना सच है। तुम्हारे साथ इस रात मैं भी किले पर चढ़कर तुम्हारी मदद करूँगी। यही चाहकर सन्निधान से अनुमति माँगने आयी थी। तुम्हारे आने की बात मालूम थी इसीलिए ठहर गयी।'' रानी बम्मलदेवी ने कहा।

"ऐसा कहीं हो सकता है ? आपको इस काम में प्रवेश नहीं करना चाहिए। यह सब हम युवकों का काम है।"

"ठीक कहा, बिट्टी।"

"तो क्या मैं यही समझूँ कि महादण्डनायकजी को मैंने जो कार्यक्रम बताया, उसे सन्निधान की स्वीकृति मिल गयी है ?"

"नहीं बिट्टी, तुम्हारी माँ ने तुमको मेरी माँ की गोद में जब डाल दिया था, तब माँ ने जो वचन दिया उसका आजीवन हमें पालन करना है।"

"तो मुझे जो दण्डनायक का पद दिया, वह एक अलंकार मात्र है ?"

"ऐसा नहीं बिट्टी, वास्तव में तुमने युद्ध-तन्त्र में अपनी कुशलता और चातुर्य दिखाकर महादण्डनायक का स्नेह प्राप्त कर लिया है। ऐसी दशा में दण्डनायक का यह पद तुम्हारे लिए अलंकार मात्र नहीं। महादण्डनायकजी के स्नेह-पात्र बनने से ज्यादा इसका प्रमाण और क्या हो सकता है ?"

"तो अब माँ के वचन की बात क्यों ? जो कार्य मैं करने जा रहा हूँ इसमें प्राणों का खतरा ज्यादा है, इसी भय से न ?"

"बिट्टी, एक बात समझ रखो। सेना में भर्ती होना, युद्धक्षेत्र में जाना, इसका मतलब ही मृत्यु को गले लगाना है, यह जानी-मानी बात है। परन्तु कुछ मौकों पर कुछ लोगों के प्राण आगे नहीं कर सकते, यह बात मालूम है न ?"

"मालूम है।"

"ऐसा क्यों ?"

"ऐसों का मार्गदर्शन सेना को सदा मिलता रहना चाहिए।"

"ठीक! इस समय इस काम के लिए तुमको ही अगुआ होना चाहिए ?"

"हाँ, योजना मेरी है। मुझे ही आगे रहकर इस कार्य को निभाना होगा।"

"तुमको ही वहाँ क्यों रहना होगा सो हमारी समझ में नहीं आ रहा है। क्यों ? बताओ तो ?"

"मैं अभी कुछ नहीं कहता । फिलहाल सन्निधान मुझे अनुमति दे दें।"

"यही बात है तो हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे। रानीजी ने जैसा कहा, अब हम भी बेकार बैठे-बैठे ऊब उठे हैं। तुम्हारे कार्य-निर्वहण की रीति को हमें अपनी आँखों से देखना चाहिए।"

"मतलब यह कि दुश्मन के हाथ अपना राज्य सौंप दें, यही सलाह हुई ?"

"यदि हम युद्धक्षेत्र में जाने का निर्णय कर लें तो तुम रोक सकोगे ?"

"सन्निधान को रोक सकने की ताकत मुझमें नहीं है। तो मुझ पर जो विश्वास रहा है वह अब नहीं रहा, यह समझूँ न ?"

"तो यह जिद हुई।"

"हालत ही ऐसी है। केवल मुझ अकेले की यह स्थिति नहीं, हमारी सेना की युवा पीढ़ी के बहुत-से लोग इस घिसटते हमले से ऊब उठे हैं। अभी तो दुश्मन का ध्यान पूर्व और उत्तर की ओर होने से, जो काम हम महीनों में नहीं साध सके, उसे एक ही रात में पूरा कर सकते हैं।"

"हमें तुम्हारे साथ चलने की इच्छा हो रही है।"

"सन्निधान भी जा रहे हों तो मुझे साथ रहना ही होगा न?" बम्मलदेवी ने कहा।

"एक काम करेंगे। सन्निधान और रानीजी वेश बदलकर चाहें तो मेरे साथ किले पर चढ़कर आ सकते हैं। मगर आप किले के अन्दर उतरने का खतरा मोल नहीं लेंगे। ऊपर से ही हमारी गतिविधि देख सकते हैं। सन्निधान के लिए एक रक्षकदल तो रहेगा ही। फिर भी यदि कहीं कुछ खतरे की सम्भावना हो तो उतरकर वापस अपने तम्बू में आने के लिए राजी होना होगा।"

"तो हमारे साथ रानीजी क्यों?"

"वह तो पट्टमहादेवीजी का आदेश है न?" बिट्टियण्णा ने ही कहा।

"तो काम कब शुरू होगा?"

"सारी तैयारी है। केवल सन्निधान की आज्ञा की ही प्रतीक्षा है। सन्निधान को चलना ही हो तो वेश बदलने तक की प्रतीक्षा करूँगा। नहीं तो अभी इसी क्षण चल देने के लिए तैयार हूँ।"

"ठीक, एक-आध घण्टे में चल देंगे।"

"जो आज्ञा।" कहकर बिट्टियण्णा तम्बू से बाहर आ गया।

"नियोजित रीति से बिट्टियण्णा, रानी बम्मलदेवी, महाराज बिट्टिदेव और उनका अंगरक्षक दल, तथा बिट्टियण्णा के साथी, करीब सौ लोग किले की दीवार पर चढ़े। बिट्टियण्णा की सूझ आकस्मिक नहीं, यह बात बिट्टिदेव को तुरन्त मालूम पड़ गयी। उन्होंने बम्मलदेवी के कान में कहा, किले पर चढ़ने के लिए बिट्टी ने जो व्यवस्था की है, उसके लिए काफी श्रम और समय लगा होगा। इसका निर्माण कार्य कैसे और कब किया, इसकी ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया है। इसीलिए डाकरसजी ने बिट्टी की इतनी प्रशंसा की।"

कुछ सरकने की आवाज सुनाई पड़ी। पूर्व निर्णय के अनुसार सभी लोग एक कतार में बैठ गये। उनकी काली ओढ़नी उस अँधेरे में आँखों को धोखा देने में सहायक बनी। काफी समय बीतने पर भी उधर किसी के आने का आभास तक नहीं हुआ। बिट्टियण्णा ने धीमे से कहा, "सन्निधान इस तरफ आएँ।" उसके साथ बिट्टिदेव और बम्मलदेवी एवं अंगरक्षक दल आगे बढ़ने को तैयार हुए। बिट्टियण्णा आगे बढ़ा। बाकी लोगों ने उसका अनुगमन किया। दक्षिण की तरफ के किले के द्वार की छत के पास

पहुँचे। छत किले की दीवार से कुछ ऊँची थी। उस पर चार पहरे वालों के होने का-सा आभास उस अँधेरे में हुआ। बिट्टियण्णा वैसे ही नीचे छत की दीवार से सटकर बैठ गया। बाकी लोगों ने भी वैसा ही किया।

बिट्टिदेव ने कहा, "पहरेदार हैं, जाग रहे हैं। अब यहाँ क्या काम है?"

बिट्टियण्णा ने धीमे स्वर में कहा, "किले के फाटक को मजबूत बनाये रखने के लिए उस पर पत्थर की सिल्लियाँ बिछा रखी हैं। उन सिल्लियों में बड़े-बड़े चौकोर छेद बनाकर उनमें ठीक बैठाने के लिए उतने ही मोटे लकड़ी के बड़े-बड़े शहतीर चार-चार के हिसाब से ऊपर से प्रत्येक दरवाजे पर लटका रखे हैं। इस तरह द्वारों को सुरक्षित बना रखा है।"

बिट्टिदेव ने उसी तरह धीमी आवाज में पूछा, "तुमको कैसे मालूम?"

"मैं पहले अकेला आकर, सब देख गया हूँ।"

"अकेले कैसे आये?"

"किले की दीवार पर काली रस्सी डालकर उसके सहारे ऊपर चढ़कर वहाँ पहुँचकर देख आया।"

"ठीक। अब?"

"मुर्गे की पहली बाँग के साथ ये पहरेदार सो जाएँगे।"

"इनके बदले पहरेदारों का दूसरा दल नहीं आएगा?"

"ऐसा नहीं लगता कि दूसरा दल आएगा। मैं पहले जब आया था तब भी ऐसा ही देखा था।"

"हम यहाँ इतने लोग हैं, कहीं कुछ आवाज हो तो जग नहीं जाएँगे?"

"जहाँ वे सोये पड़े होंगे, वहीं उन्हें खतम कर देना होगा। इस वक्त यही एक रास्ता है।"

"ऐसा नहीं करना। सोने वालों को मार डालना धर्म-संगत नहीं। हम तेजी से काम करें तो उनकी आवाज निकलने से पहले ही, एक-एक के मुँह में कपड़ा ठूँसकर, पीछे की ओर से हाथ-पैर बाँधकर चुप बिठा सकते हैं।" बम्मलदेवी ने कहा।

"आवाज होने पर बाकी लोग जाग जाएँ और लड़ाई छेड़ दें तो गड़बड़ हो जाएगा न?"

"मुँह में कपड़ा ठूँसने का काम मैं करूँगी। इतने में किसी को पीछे की ओर कसकर हाथ बाँध देने होंगे। बाद में पैर भी बाँध दिये जा सकते हैं।" बम्मलदेवी ने कहा।

"एक व्यक्ति पर पहले प्रयोग करके देखेंगे। फिर शेष पहरेदारों के पास हमारे साथी सशस्त्र तैयार रहें। अगर कोई अनहोनी हो जाए तो तुरन्त सामना कर सकेंगे। हमारी सेना मुर्गे की पहली बाँग के साथ दक्षिण के इस दरवाजे के पास पहुँच जाएगी।

मेरे पास सीटी है। संकेत शब्द क्या होगा सो बता दिया है। उसे सुनते ही पूरी सेना एक साथ द्वार पर पिल पड़ेगी।" बिट्टियण्णा ने कहा।

"ठीक।" बिट्टिदेव ने अपनी सम्मति जता दी।

सब प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहे। वे उस रात में काली ओढ़नी के कारण काले पत्थर की तरह दिख रहे थे।

कुछ देर बाद बिट्टिदेव ने धीरे से कहा, "बिट्टी, सेना के शहर में घुसने पर निःशस्त्र साधारण पौर, वृद्ध, बच्चे और स्त्रियों से आदर के साथ व्यवहार करेंगे, यह आदेश दिया गया है न?"

"बिना अनुमति के किसी भी घर में नहीं घुसेंगे और कोई नगर छोड़कर बाहर न भागे, इसका ध्यान रखें—ऐसा आदेश है।" बिट्टियण्णा ने धीमे स्वर में कहा।

इतने में दो सिपाही मुद्गर हाथ में लिये पूरब के द्वार की तरफ से दक्षिण द्वार की ओर आते हुए उस धुँधलके में दिखाई पड़े।

"सन्निधान, सिपाही आ रहे हैं। अगर उन्हें शंका हुई तो फिर संघर्ष के लिए हमें तैयार हो जाना होगा। सन्निधान और रानीजी किले से उतर जाएँ तो अच्छा। नहीं तो..."

"वह सब अब हो ही नहीं सकता है, बिट्टी। जोर से साँस तक न लें, पूरी तरह ओढ़कर चुपचाप बैठे रहो। देखने के लिए इस ओढ़नी में रन्ध्र हैं ही। संघर्ष हो जाने पर पहरेवालों से लड़कर उन आठों शहतीरों को निकाल देंगे। आगे के बारे में बाद में सोचेंगे।" बीच में बिट्टिदेव ने कहा।

पहरे पर के सिपाही निकट आते दिखे। बड़े तड़के ठण्डी हवा की साँय-साँय आवाज मात्र सुनाई पड़ रही थी। वे दोनों कुछ दूर पर खड़े हो गये। उनमें से एक ने कहा, "अरे, वह क्या है? ऊपरी छत की दीवार से काला-काला कुछ सटाकर रखा हुआ-सा दिख रहा है न?"

दूसरे ने कहा, "होगा, उससे हमें क्या? हम केवल गश्ती-पहरेदार हैं। अपरिचित कोई दिखे तो तुरन्त खतम कर देने का हमें हुक्म है।"

"फिर भी, कल तो वहाँ ऐसा कुछ नहीं दिख रहा था, आज यह वहाँ कैसे आया?"

"ऐ, कल तुम कहाँ गश्त लगा रहे थे? हम दोनों आज से तीन दिन पहले इस पहरे पर कहाँ रहे?"

"अरे हाँ!...मगर तीन दिन पहले यहाँ कुछ था नहीं। आज इसके होने के क्या मायने? सांकेतिक आवाज देता हूँ। दरवाजे के कोने पर के रखवालों में से कोई आएगा, उससे पूछ लेंगे।"

"इन सबसे क्या मतलब? जो काम सौंपा गया है, उतना कर दिया। बस, इतना

ही अपना काम है।''

''काम चाहे इतना हो या उतना। साला पेट भर खाना भी नहीं मिलता। अधपेट रहकर कितने दिन काम कर सकेंगे?''

''यह दशा कब तक रहेगी? चक्रवर्ती के दामाद जयकेशी गुप्तमार्ग से गये हैं। उन्हें गये करीब-करीब एक महीना गुजर चुका। जल्दी ही कल्याण से भारी सेना आने वाली है। वह आ जाए तो अन्दर से और बाहर से दोनों तरफ से हमला करके इस पोय्सल सेना को खतम कर सकते हैं?''

''सो तो बाद की बात है। अभी तो आधा-पेट खाकर गुजारना है न?''

''गुजारना ही पड़ेगा। नहीं तो नमकहराम बनें क्या? तुमको हाल का समाचार शायद मालूम नहीं।''

''क्या?''

''उस पोय्सलनरेश ने अपना धर्म बदल लिया है। तभी से वहाँ के राजमहल में बहुत अनबन चल रही है। इन दण्डनायकों में भी आपस में झगड़े चल रहे हैं।''

''अरे जा, तुझे कुछ मालूम भी है? देख, जब तक पट्टमहादेवीजी हैं तब तक ऐसी बातों के लिए गुंजायश ही नहीं। सारी जनता उनको माता ही मानती है।''

''परन्तु उस महाराज ने खुद तो अपनी जात बिगाड़ ली, ऊपर से उसी जाति की लड़की से शादी भी कर ली। क्यों? देखो भाई, मनुष्य चाहे कोई हो, कहीं हो, स्वभाव तो एक-सा ही होगा। पैसा और अधिकार के लालच में वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है।''

''खैर, इन सब बातों से हमें क्या मतलब? कहते हैं कि करनेवाले का पाप कहनेवाले को लगता है। जिस दिन हम अपने हाथ में तीर-तलवार लेने को तैयार हुए, उसी समय यह मालूम हो गया था कि हमें किसी-न-किसी दिन इन्हीं के हाथों मरना है।''

''क्या कह रहे हो? तीर-तलवार लेनेवाले सभी इसी तरह नहीं मरा करते। यों निराशावादी नहीं होना चाहिए। हाथ में काम आने पर उसे साधने तक हमें आशा बनाये रखना चाहिए। तभी फल मिलता है।''

''महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले बड़ों के लिए है यह सब। हम जैसे मामूली पहरेदारों के लिए इन बातों से क्या मतलब?''

''ऐसा कहोगे तो कैसे चलेगा? अब हम दोनों को कोई देखनेवाला नहीं, इसलिए हम खरटि लेने लगें? ऐसा करना उचित होगा क्या? हमारे लिए अपना कर्तव्य बड़ा है।''

''ठीक। चलो, आगे कदम बढ़ाओ।''

''ठीक। एक नया समाचार मिला है। चोलों के पक्ष के लोग अब भी पोय्सलों

पर विद्वेष के कारण उनसे बदला लेना चाहते हैं। यह भी सुना है कि पट्टमहादेवी और उस नयी रानी में अनबन पैदा कर दी गयी है। नयी रानी के सम्बन्धी इस अनबन को बढ़ाने की कोशिश में लगे हैं। राजमहल यदि औरतों के झगड़ों का आखड़ा बना तो सब चौपट समझो। राज्यलक्ष्मी खिसक जाएगी। हमारे प्रभु बड़े बुद्धिमान् हैं, इसी कारण सभी को दूर-दूर अपनी-अपनी जगह रखा है, और जिसका जो स्थान है उसे अधिकार देकर वहीं बिठा रखा है। इसलिए संघर्ष नहीं होने पाता। सब एक साथ रहें तभी न संघर्ष होगा?"

"है कोई घर जहाँ आटा गीला न हुआ हो? बड़ों की बातों से हमें क्या सरोकार? वे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने और उसे बढ़ाने के लिए लड़ाई करते हैं। इधर हम जैसे साधारण लोगों को सब तरह की तकलीफें भुगतनी पड़ती हैं।"

"इसे तकलीफ नहीं कहनी चाहिए। राष्ट्ररक्षा हेतु आत्म-समर्पण के लिए तैयार रहना चाहिए।"

"रहना चाहिए, यह सच है। पर हम आपस में क्यों लड़ें? यही समझ में नहीं आ रहा है।"

"हम लड़ कहाँ रहे हैं?"

"हम अलग, पोय्सल अलग, चालुक्य अलग—ऐसी बात क्यों?"

"हाँ, और क्या?"

"वे भी कन्नड़ भाषा-भाषी हैं, हम भी वही हैं। वहाँ भी जैन, शैव, बौद्ध वेदान्ती, दार्शनिक हैं। हमारे यहाँ भी हैं। भाषा, संस्कृति सब एक। फिर झगड़ा क्यों? एक समय था जब पोय्सलराज चालुक्यराज के कहे अनुसार चलते थे। इन दोनों में परस्पर बड़ा सहयोग था। अब यह विद्वेष क्यों?"

"पोय्सल चालुक्यों के सामन्त थे। सामन्त यदि स्वयं अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दें तो चुप कैसे रहा जा सकता है?"

"बेटा ही जब बालिग हो जाय तो उससे मित्र की तरह बरताव करना चाहिए, यही लोकरीति है। ऐसी हालत में एक राज्य प्रगति करे तो उसे मान्यता देकर उससे प्रेम और मैत्री बनाये रखें, तो कितना अच्छा हो!"

"हमारी पिरियरसीजी को पट्टमहादेवीजी पर अपनी पुत्री का-सा वात्सल्य है। सुना है कि उन्होंने चक्रवर्तीजी से कहा भी कि हममें आपसी द्वेष न हो। परन्तु कुछ बुरे सलाहकार होते हैं न? वे उकसाते हैं, चक्रवर्ती के कान भरते रहते हैं।"

"ऐसे चुगलखोरों की बातें सुनी ही क्यों जातीं? अब क्या कहा जाए?"

"कोई सुन न ले। नहीं तो बच्चू, देश-निकाला ही मिलेगा।"

"देश-निकाले का दण्ड दें तब भी इसी हवा की साँस होगी न? वे कुछ टुकड़े डाल देते हैं, हम मेहनत करते हैं बस! हमारी राय का कोई मूल्य ही नहीं?"

"एक बार राजमहल में नौकरी करने लगो तो कुछ बोलने की स्वतन्त्रता नहीं रह जाती। पोय्सल कवि हमारे यहाँ आये हैं।"

"अच्छा! क्यों आये?"

"मालूम नहीं। सुना है कि बड़े बुद्धिमान् हैं। सुनते हैं, उन्होंने हमारे प्रभु से कहा कि एक ही प्रदेश के लोगों में आपसी द्वेष अच्छा नहीं। सुनते ही प्रभु को क्रोध आ गया। भाषा एक है ठीक है, पर देश एक कैसे? उत्तर में उन्होंने कहा, 'महाराज, कृपया सुनें। मैं सरस्वती का भक्त हूँ। मेरी सरस्वती कन्नड़ है। मेरी सरस्वती जहाँ व्यवहृत है वह सारा प्रदेश मेरे लिए एक ही देश है। जहाँ मेरे काव्य को समझनेवाले न हों, वह मेरे लिए पराया देश है।' इसका उत्तर प्रभु ने इस तरह दिया, 'वह गृह के इष्टदेव की तरह है; उसे आप अपने लिए रखिए। हमारे सामने फिर ऐसी बात न छेड़ें। पिरियरसी ने कहा, इसलिए हमने आपको अपने राज्य में स्थान दिया है।' यों जवाब सुनकर उस सरस्वती-पुत्र का मुँह बन्द ही हो गया।"

"यह तो राजा का दुराग्रह है।"

दूसरे पहरेदार ने उसके मुँह पर हाथ रखकर कहा, "बस, बन्द करो। ज्यादा बको मत।"

"लगता है, इस निःशब्द आसमान के नीचे इतना कोलाहल होने पर भी दूर महलों में से किसी ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया।"

"हम जोर से चिल्ला-चिल्लाकर तो बातचीत नहीं कर रहे हैं। बहुत हुआ तो आवाज दस बाँस की दूरी तक पहुँची होगी।"

"बातचीत करनेवालों को यह पता नहीं लगता कि उनकी आवाज कितनी दूर तक पहुँच रही है।"

ठीक इसी समय हँसने की-सी आवाज सुनाई पड़ी। अचरज की बात यह कि वह आवाज किसी औरत की थी। दोनों पहरेदारों ने चकित होकर एक-दूसरे को देखा। वहाँ मौन छा गया। दोनों पहरेवालों ने थोड़ी देर चुप्पी साध ली। फिर उनमें से एक ने धीमी आवाज में कहा, "रे! ये पहरेवाले कहीं से किसी औरत को किले पर चढ़ा लाये हैं।"

"हो सकता है, चलो चलकर देखें।" दूसरा बोला।

"उसे क्या देखना? चलो लौट चलें।"

"ऐसा नहीं। बात को ठीक तरह से समझकर, यह खबर बड़े अधिकारी को देनी भी होगी न?"

"चाहो तो तुम हो आओ। मैं नहीं जाऊँगा।"

"नहीं, भाई! इन्हें क्या काम सौंपा था, और ये अब किस तरह का काम कर रहे हैं? ऐसा ही करेंगे तो हमारे महाराज की सुरक्षा की कोई आशा नहीं। इसलिए

आओ, पता लगाएँ कि बात क्या है।"

"ठीक, चलो।" दोनों बगल की सीढ़ी से ऊपर चढ़ने लगे। बहुत सावधानी से कदम बढ़ा रहे थे। इधर ये लोग उनकी ओर देखते रहे कि आगे वे क्या करते हैं। बहुत देर तक वहाँ मौन ही रहा।

फिर बिट्टियण्णा बिना कुछ आवाज किये चुपचाप चार सिपाहियों को साथ लेकर आगे बढ़ा। जैसी उम्मीद थी वहाँ के पहरेदार सो रहे थे। एक सिपाही को भेजकर सबको बुलवा लिया। बम्मलदेवी के कहे अनुसार कार्यक्रम चला। द्वार पर के चारों पहरेदार बन्दी बना लिये गये। साँस लेते थे, मगर चिल्ला नहीं सकते थे। इन काली ओढ़नी के लोगों को देखकर वे परेशान हो गये। एकदम चकित-से होकर देखते रहे कि क्या हो रहा है। उन आठों शहतीरों को, जो द्वार से लगे थे, ऊपर उठा दिया गया। बिट्टियण्णा ने कहा, "अब सन्निधान और रानीजी अंगरक्षकों के साथ शिविर लौट जाएँ। शेष काम हम वक्त रहते कर लेंगे।"

थोड़ी आनाकानी के बाद बिट्टियण्णा की बात महाराज को माननी पड़ी। महाराज और रानी बम्मलदेवी के लौट जाने के बाद बिट्टियण्णा ने अपनी टोली की मदद से उन शहतीरों को किले पर से नीचे की खन्दक में गिरा दिया।

इसके बाद आधी टोली को दो भागों में बाँट दिया और फाटक की छत के दोनों ओर पहरे पर रखकर, शेष आधी टोली को अपने साथ लेकर किले के अन्दर की ओर उतरा। द्वार पर के चारों पहरेदार नींद में पड़े थे। नगर का गश्ती सिपाही-दल द्वार की ओर आता हुआ दिखाई पड़ा। बिट्टियण्णा के आदेश के अनुसार उसके साथ के सब काली ओढ़नीवाले दीवार से सटकर बिना हिले-डुले खड़े हो गये। उस स्तब्ध रात में थोड़ी देर और बितानी थी, मुर्गे के बाँग देने तक। पहरेवाले द्वार तक आये और सोये पड़े लोगों को सचेत कर फिर किले की बगल से आगे बढ़े ही थे कि एकाएक चकित हो देखने लगे कि ये दीवार के पत्थरों से सटी चीजें क्या हैं? पहले तो वहाँ कुछ नहीं था, यह नयी क्या चीजें आ टपकीं? एक ने पूछा भी, "वह क्या है, जो दीवार से सटाकर खड़ी की गयी काली-काली दिख रही है? इसे पहले देखा हुआ-सा स्मरण नहीं होता।"

दूसरा बोला, "हो सकता है, तुम्हारा ध्यान उस तरफ नहीं गया हो। पता नहीं, कितने दिनों से वहाँ खड़ी है!"

"कितने दिनों से? इस रात हम यह पाँचवाँ चक्कर लगा रहे हैं, पहले तो नहीं दिखी! इस बार दिखी तो आश्चर्य न होगा? आओ, देख ही लेते हैं कि वह क्या है।" एक ने कहा।

उन सभी के हाथ में तोमर थे ही। वे बिट्टियण्णा की टोली की ओर बढ़े।

इन्होंने भी बात सुन ली और पहरेवालों को अपनी ओर आते देखा। बिट्टियण्णा

चुप न रहा। उसने जान लिया कि अब [illegible] से बच नहीं सकेंगे। वह गरजकर बोला, "आगे एक भी कदम रखा तो मार दिये जाओगे।" और काली ओढ़नी को अलग कर, तलवार चमकाता हुआ आगे बढ़ा। उसकी टोली के बाकी लोगों ने भी वही किया।

पहरेवाले गिनती के छह थे। उन्हें सामना करना था बहुतों का, इसलिए उन्हें कुछ सूझा नहीं कि क्या करें।

बिट्टियण्णा गरज उठा, "तोमर नीचे डाल दो।" बिट्टियणा की आवाज सुन चार द्वार-रक्षक तलवार लेकर दौड़ पड़े। उनमें से एक ने तलवार जोर से दे फेंकी। वह बिट्टियण्णा के माथे पर जा लगी। एक बार बिट्टियण्णा के मुँह से आह निकल गयी। मगर फिर तलवार चमकाते हुए उसने आवाज दी, "आओ वीरो! जयकेशी के इन कुत्तों को यहीं खत्म कर दें। हम अँधेरे में तलवार उठाना नहीं चाहते थे। इन लोगों ने लाचार कर दिया है। बढ़ो, सबको खतम कर दो!"

दोनों दलों में टक्कर हो गयी। ऊपर जो लोग थे वे भी उतर आये। जयकेशी के वे सभी पहरेदार उस संघर्ष में मारे गये। वह कोई इतना बड़ा काम नहीं था, बिट्टियण्णा के पास काफी सिपाही थे। तलवारों की झनझनाहट और लोगों को भी आकर्षित करेगी, यह सोचकर बिट्टियण्णा ने दक्षिण का द्वार खोल दिया। उसकी अपनी सेना अभी आयी नहीं थी। नगर में लोगों के आने-जाने का भान भी नहीं हुआ। अपनी टोली को किले से बाहर ले जाकर बाहर से दोनों द्वारों को खींच लिया। पूरी तरह बन्द नहीं किया, और फिर दोनों दरवाजों की दरार से अन्दर देखने लगा। द्वार की छत पर अपने सिपाहियों को तैनात करना वह भूल गया था। किले के ऊपर के पहरेवाले एक और चक्कर लगाते हुए जब वहाँ आये तो देखा कि पहरेदारों के मुँह में कपड़ा ठुँसा हुआ है। कपड़े को निकालकर उनसे पूछताछ करके हालत जानकर वे अपने अधिकारी को खबर देने दौड़ पड़े।

भोर का अँधेरा अभी छटा नहीं था कि पोय्सल-सेना दक्षिणी द्वार की ओर बढ़ चली। द्वार खोलकर सेना को नगर के अन्दर भेज देने के लिए सुबह की प्रतीक्षा कर रहा था बिट्टियण्णा। इतने में जयकेशी की सेना घुस आयी। बिट्टिण्णा ने सांकेतिक रीति से सीटी बजा दी। शंख फूँका गया, परिणामस्वरूप सेना बाढ़ की तरह घुस पड़ी। नगर के भीतर व्यापक स्तर पर युद्ध करने के लिए जयकेशी की सेना तैयार नहीं थी। पोय्सल-सेना ने आक्रमण करते हुए पूर्व के द्वार पर पहुँचकर उसे भी खोल दिया।

तड़के ही घोर युद्ध शुरू हो गया। दक्षिण और पूर्व के द्वार की रक्षा के लिए एक-एक टुकड़ी सेना तैनात करके, उत्तर के द्वार को खोलने के लिए पुनः भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में पोय्सल सेना की जीत हुई। इसमें सैकड़ों लोगों की जानें गयीं। तीनों तरफ से आयी पोय्सल सेना ने नगर को अपने कब्जे में कर लिया। शत्रुपक्ष के दो प्रमुख सेनापति मात्र गिरफ्तार हुए। शेष मिले नहीं।

अब बंकापुर पर पोय्सल-पताका फहराने लगी। भण्डार को कब्जे में कर लिया गया। मगर सारा खाली पड़ा था। तब पता लगा कि लोग सचमुच ही आधा पेट खाते रहे।

सैनिकों को बन्दी बना लिया। पौर-प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाने की व्यवस्था की गयी। महाराज बिट्टिदेव ने जनता को आश्वासन देते हुए कहा, "हमारी या हमारे सैनिकों की तरफ से यहाँ के किसी भी नागरिक को कोई तकलीफ नहीं होगी। आज की इस विजय से यह प्रान्त हमारा बन चुका है। इस प्रान्त की प्रजा भी अब हमारी ही प्रजा है। आप लोगों की समस्याएँ क्या हैं सो हमें स्पष्ट बताएँ, उन्हें हम दूर करेंगे। यदि आहार सामग्री की कमी हो तो वह भी बताएँ, हमारे पास काफी आहार सामग्री है। हम आप लोगों से सिर्फ एक बात की अपेक्षा करते हैं, वह है निष्ठा। पोय्सल विरोधी कार्रवाइयों में यदि कोई लगा और इसका पता चल गया तो उसे कठिन दण्ड दिया जाएगा। महीनों तक मुहासरा लगाये बैठे रहे, अन्दर आहार-सामग्री पहुँचाने पर रोक लगा दी गयी, तब कहीं इतनी जल्दी यह विजय प्राप्त हो सकी। फिर भी इतनी जानें गयीं, यह बात जब मन में आती है तो हमारा दिल भर आता है। युद्ध में जयकेशी के मृत सैनिकों के परिवार के लोग यहाँ हों, और वे अन्यत्र कहीं जाना चाहें तो हम उन्हें सुरक्षित वहाँ पहुँचा देंगे। यदि यहीं रहना चाहें तो उनकी रक्षा करना हमारी जिम्मेदारी है। इस प्रान्त में फिर युद्ध न हो, इसी उद्देश्य से हम यहाँ कुछ दिन रहना चाहेंगे। इसलिए आप लोगों को डरने की कोई बात नहीं है। आप लोग अपने-अपने दैनिक कार्यों—पूजा-पाठ, अनुष्ठान आदि में निश्चिन्त होकर लगें। आप लोगों के कार्यों में कोई बाधा नहीं डाली जाएगी। षड्यन्त्रकारी इस नगर में कहीं छिपे हो सकते हैं। इस सन्देह के कारण हमारे सिपाही हर रास्ते पर पहरा देते रहेंगे। उन्हें देखकर किसी को भयभीत होने की जरूरत नहीं।"

महाराज की बात समाप्त होते ही डाकरस ने, "पोय्सल महाराज की जय हो" का नारा लगाया। पदाधिकारियों ने भी दुहराया। सभी के साथ पौरजनों ने भी एककण्ठ से "पोय्सल महाराज की जय हो" के नारे लगाये।

राजधानी दोरसमुद्र में न्याय-विचार हो गया, इसकी खबर सन्निधान को भेजनी है? यदि भेजनी हो तो क्या-क्या उन्हें बताना है, इसके लिए दो दिन के भीतर ही राजमहल के मन्त्रणागार में शान्तलदेवी ने एक मन्त्रणा-सभा का आयोजन किया। इसमें प्रधान गंगराज, नागिदेवण्णा, मादिराज और विनयादित्य की उपस्थिति रही।

पट्टमहादेवी ने ही बात उठायी। कहा, "प्रधानजी और मन्त्रिजन! हमारे पास युद्ध-शिविर से फिर कोई पत्र नहीं आया। युद्ध की स्थिति क्या है सो भी हमें ज्ञात नहीं हुई। उधर से कम-से-कम सप्ताह में एक पत्र तो आ ही जाया करता था। इस बार एक पखवाड़ा बीत गया, कोई पत्र नहीं। इसलिए लगता है कि हमला कुछ तीव्र गति से चल रहा होगा। ऐसी हालत में यहाँ की बातें, यह न्याय-विचार और उसके ब्यौरे आदि की खबर देना ठीक होगा या गलत, पहले इसी पर विचार कर लिया जाए। इसलिए आप लोगों को बुलवाया है। अलावा इसके, यह न्याय-विचार खुलेआम न होकर सीमित लोगों के सामने ही हुआ है, कुछ बातों पर अभी विचार नहीं भी हो सका, इसलिए उनके बारे में भी विचार कर लेने की मेरी इच्छा है।"

गंगराज बोले, "जैसा सन्निधान कह रही हैं, युद्ध की गतिविधियाँ निश्चित ही तेज हुई होंगी, इसीलिए खबर नहीं भेज सके होंगे। मेरी समझ में इस न्याय-विचार का ब्यौरा भेजने की आवश्यकता नहीं। छोटी रानी और राजकुमार सुरक्षित राजधानी पहुँच गये, कुशल हैं—इतना मात्र लिखकर चिट्ठी भेज देना फिलहाल काफी है।"

"यह समाचार उसी दिन भेज दिया गया, जिस दिन वे यहाँ पहुँची थीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तब तो उधर से ही खबर मिलने तक प्रतीक्षा करना अच्छा है।" गंगराज बोले।

"हम महासन्निधान के स्वभाव से परिचित हैं। तात्कालिक रूप से ही सही, किसी भी बात को उनसे छिपाये रखना हमारे लिए अच्छा नहीं। खासकर इस षड्यन्त्र की बात की प्रतिक्रिया क्या हुई है, इसे यहाँ बैठकर हम कल्पना नहीं कर सकते। वैसा सोचना ठीक भी नहीं होगा। इस षड्यन्त्र की बातों का प्रचार काफी हो चुका है। वह दो-मुखी रहा, परन्तु वह मात्र बिजूका निकला, आदि बातें विस्तार से लिखकर पत्र भेजना उचित लगता है।" नागिदेवण्णा बोले।

"इसमें छिपाने की भला कौन-सी बात है? लेकिन युद्ध की इन परिस्थितियों में सन्निधान को यह समाचार भेजा जाय या नहीं, यही मुख्य प्रश्न है। मुझे प्रधानजी की राय सही मालूम पड़ती है। इसका एक और भी कारण है। हम अभी सिंगिराज और गोज्जिगा के किस्से पर पूरा विश्वास नहीं कर पाये हैं, मुझे ऐसा लगता है। इस बात पर भी विश्वास नहीं हो रहा है, जैसा उन लोगों ने कहा कि इस अफवाह को फैलाने में मूल प्रेरक जयकेशी है। इसलिए पहले इसके मूलस्रोत को जान लिया जाए तब एक स्पष्ट चित्र महासन्निधान के सामने पेश करना ठीक होगा। अभी यह अधूरी बात पेश करना उचित प्रतीत नहीं होता।" मादिराज ने कहा।

"आपको क्यों ऐसा लगा, मादिराजजी?" गंगराज ने पूछा।

"जब न्याय-विचार हो रहा था तब आपने या सचिव नागिदेवण्णा ने धर्मदर्शी

के चेहरे की ओर शायद नहीं देखा। देखा होता तो..."

मादिराज कह ही रहे थे कि बीच में ही विनयादित्य एकदम बोल उठा, "चेहरे पर भय के भाव स्पष्ट थे। भयग्रस्त आँखें इधर-उधर निहार रही थीं।"

"अप्पाजी..." शान्तलदेवी ने बेटे की ओर एक तरह से देखा।

इतने में मादिराज ने कहा, "राजकुमार का कथन कमोबेश सही हो हृदय की बात मालूम पड़ती है। उनकी सूक्ष्म ग्रहणशक्ति वास्तव में प्रशंसनीय है।"

"तो आपकी राय?"

"स्पष्ट है। इस प्रसार में उनका भी हाथ रहा है।"

"कोई भी हो, बिना आधार के और साक्षी के उसे दण्डनीय नहीं ठहराया जा सकता। ऐसी दशा में धर्मदर्शी के विषय में केवल ऊहापोह या कल्पना के आधार पर कुछ कहना या करना उचित न होगा। इसलिए मादिराजजी, इस सम्बन्ध में अभी कुछ न बोलें। झूठ सदा ही झूठ है, सत्य सदा ही सत्य बना रहेगा। सचाई कभी न कभी प्रकट होगी। सचाई का पूरा पता चलने तक, जैसा प्रधानजी ने सुझाया, मौन रहना अच्छा होगा।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो प्रकारान्तर से मेरी बात भी विचार के योग्य है, यही न माँ?" विनयादित्य ने पूछा।

"विचार के योग्य कहने मात्र से यह नहीं सोच लेना चाहिए कि वह सत्य है। अप्पाजी, किसी व्यक्ति के प्रति जैसे विचार पहले से बन जाते हैं, उसी के अनुसार उनके मन में उसके प्रति नये भाव स्फुरित हुआ करते हैं। वह सत्य की खोज में मार्गदर्शक मात्र हो सकता है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"कभी-कभी बच्चों की सूझ भी अत:प्रेरणा से ही होती है। इसलिए राजकुमार की बात भी मानने योग्य है। मादिराजजी के मन में भी इस तरह की शंका है। इस वजह से इसकी गहराई में जाने का प्रयत्न करना होगा।" गंगराज बोले।

"ठीक है, फिलहाल तो चुप रहना ही है न!" कहती हुई शान्तलदेवी उठीं। बाकी जन भी उठ खड़े हुए। शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी, नौकरानी ने द्वार खोला। द्वार पर रेविमय्या खड़ा था। उसे देखकर शान्तलदेवी रुकीं। रेविमय्या का आना अनपेक्षित था, इसलिए पूछा, "क्या है रेविमय्या?"

"महासन्निधान के पास से पत्र आया है।" रेविमय्या ने कहा।

"कहाँ है?"

"पत्रवाहक कहता है कि उसे सीधे स्वयं पट्टमहादेवीजी के हाथ में देने का आदेश है। वह किसी और को देने को राजी नहीं।"

"वह हमारा ही खुफिया है न?"

"कौन हमारा, कौन नहीं—यह कहना आजकल मुश्किल हो रहा है। सन्निधान

यदि आदेश दें तो हमारा होने पर भी उसकी तलाशी लेकर, निःशस्त्र बनाकर अन्दर लाया जा सकता है।''

''ऐसा क्यों?''

''अभी आध घण्टा पहले एक व्यक्ति जो खुफिया जैसा था, आया। उसने राजमहल के एक परिचारक को मार डाला।''

''कौन था वह?''

''वह खिसक जाना चाहता था, लेकिन उसे पकड़कर बन्धन में रखा गया है।''

''ठीक। उस पत्रवाहक को यहाँ ले आओ।''

शान्तलदेवी की आज्ञा पाकर रेविमय्या चला गया। ''आइए प्रधानजी, मन्त्रीजी, अभी और बैठिए।'' कहती हुई शान्तलदेवी स्वयं भी बैठ गयीं।

थोड़ी ही देर में पत्रवाहक आया। उसने पट्टमहादेवी और दूसरे लोगों को देखकर उन्हें प्रणाम किया। उसके पीछे रेविमय्या कमर से बँधी तलवार की मूठ पर हाथ रखे तैयार खड़ा रहा।

पट्टमहादेवी और दूसरे लोगों ने भी उस पत्रवाहक हरकारे को सिर से पैर तक देखा। किसी ने उसको नहीं पहचाना।

''तुम कौन हो? हमारा कोई गुप्तचर इस तरह पट्टमहादेवीजी तक स्वयं पहुँचने के लिए यों हठ नहीं करता।'' गंगराज ने कहा।

''मैं अभी हाल में भर्ती हुआ हूँ। इस बार के हमले में मैं महासन्निधान का कृपापात्र बना। दण्डनायक बिट्टियण्णाजी ने मुझ पर जो स्नेहभाव रखा, उसी से मुझे इस सेवा का सौभाग्य मिला। मुझे भी यहाँ की रीति मालूम है। परन्तु मैंने महासन्निधान के आदेश के अनुसार ही आचरण किया है, रीति या परम्परा के विरुद्ध चलने के इरादे से नहीं। कुछ अविनय हुई हो तो क्षमा करें—'' कहते हुए, पत्र को आगे बढ़ाते हुए उसने प्रणाम की मुद्रा में सिर झुकाया।

गंगराज ने कहा, ''रेविमय्या, पत्र को लेकर पट्टमहादेवीजी के सामने प्रस्तुत करो।''

रेविमय्या ने वैसा ही किया।

पत्र को हाथ में लेकर शान्तलदेवी ने पूछा, ''युद्ध का क्या हाल है?''

पत्रवाहक हरकारे ने कहा, ''बंकापुर पर पोय्सल-पताका फहरने लगी है।''

''महासन्निधान कब वापस आ रहे हैं?'' तुरन्त शान्तलदेवी ने उत्साह से पूछा।

''मुझे मालूम नहीं। पत्र में लिखा होगा शायद।''

''तुम्हारा नाम?''

''कण्णमा है।''

''ठीक।'' शान्तलदेवी ने पत्र खोलकर मन-ही-मन पढ़ लिया। महासन्निधान

के यह कहने पर कि पत्र उनके ही हाथ में दिया जाय, कुछ शंका होने लगी थी कि उसमें कुछ खास बात होगी।

"रेविमय्या, इनके ठहरने की व्यवस्था करो। फिलहाल ये यहीं रहेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

रेविमय्या कण्णमा को साथ लेकर बाहर चला गया। द्वारपाल ने बाहर से किवाड़ बन्द कर लिये।

पट्टमहादेवी ने वह पत्र प्रधानजी के हाथ में दिया। उन्होंने उसे खोला।

"जोर से पढ़िए!" शान्तलदेवी ने कहा।

प्रधानजी जोर से पढ़ने लगे, "हमारी पट्टमहादेवीजी को हमारा शुभ आशीष। पहले खुशखबरी सुनाने का भाग्य हमारा है। हम विजयी हुए हैं। बंकापुर पर पोय्सल-पताका उसकी शोभा बढ़ा रही है। यहाँ की जनता ने बड़ी खुशी के साथ स्वागत किया है। आधा पेट खाकर जीनेवाले इन लोगों के लिए आराम से दो जून खाने की व्यवस्था हमने कर दी है। जयकेशी सहन पहले ही गुप्त मार्ग से कल्याण जाकर वहाँ से अधिक सेना ले आने की तजवीज में लगा था। इस मौके पर उस सेना के यहाँ आने से पूर्व ही बिट्टियण्णा के एक प्रयोग से हम अनपेक्षित ही इतने शीघ्र विजयी हो गये। फिलहाल हम जल्दी ही राजधानी नहीं लौट पाएँगे। इस पराजय के बाद चालुक्यों का अगला कदम क्या होगा, सो जानना कठिन है। प्रतीक्षा करनी है और गुप्तचरों को भेजकर पता लगाना है। उनकी गतिविधियों को जाने बगैर आना सम्भव नहीं। वास्तव में विजय के तुरन्त बाद उत्साह के साथ लौटने की हमारी अभिलाषा थी। परन्तु हमें जो समाचार मिला, उससे यह मालूम हुआ कि पट्टमहादेवीजी की गुप्त हत्या का षड्यन्त्र किया जा रहा है। यह भी खबर मिली कि इसमें छोटी रानी के लोगों का हाथ है। इस समाचार को सुनकर हमें बहुत परेशानी हो रही है। और छोटी रानी को राजधानी में बुलवाने का हमने जो आदेश दिया, वह भी हमें ठीक नहीं जँच रहा है। उन्हें वापस तलकाडु भेज दें। यह पत्रवाहक यों नया गुप्तचर है। वास्तव में वह गुप्तचर नहीं। एक खास मौके पर वह मिला, उसके पास कुछ जानने लायक बातें हैं। उन बातों को ठीक समय पर प्रकाश में लाना होगा, इसलिए उसे वहीं रख लें। पत्र का उत्तर किसी और से भिजवा देना। हमारी राय में यह कण्णमा विश्वसनीय व्यक्ति है। फिर भी नया होने के कारण उस पर निगरानी रहे। उसे यह न लगे कि अविश्वास की भावना से निगरानी रखी जा रही है। राजमहल में ही उसे कोई नौकरी दे दें। चाहें तो मायण चट्टला उससे सही जानकारी भी ले सकेंगे। उनके गुप्तचर दल में इसे शामिल कर सकती हैं। वहाँ की सभी बातों की हमें विस्तार से जानकारी भिजवा दें।"

गंगराज पत्र को अभी तह कर ही रहे थे कि इतने में विनयादित्य कह उठा, "सचिव मादिराजजी ने जो कहा था वह अब कितना सही साबित हुआ, देखिए!"

"अप्पाजी, हम यहाँ इतने ही लोग हैं। तुमने यह बात यहाँ कही, ठीक है। हर्ज नहीं। यही बात यदि अब प्रकट हो जाए तो इसमें नमक-मिर्च लगाया जाएगा। तुम यह मत समझो कि मादिराजजी की राय को हमने मान्यता नहीं दी। महासन्निधान के पत्र का विषय भी कही-सुनी बातों पर आधारित है। ऐसा हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। इसलिए स्पष्ट आधार और प्रमाण जब तक न मिलें, तब तक हमें इस बारे में बोलना नहीं चाहिए।"

"आपके मन का समाधान करने के लिए तो स्वयं भगवान् को ही अवतरित होना पड़ेगा।"

"हाँ अप्पाजी, ऐसा निश्चित प्रमाण मिलने पर ही बोलना उचित है। अब इस बात को छोड़ो। सन्निधान के आदेश के अनुसार मायण-चट्टला को बुलवाकर उनको बात समझाकर, फिर कण्णमा को उनके साथ छोड़ देना उचित है। फिलहाल बिना किसी व्यवधान के सभी बातों की जानकारी सन्निधान को दे सकेंगे न?" शान्तलदेवी ने कहा।

गंगराज ने कहा, "जहाँ तक मुझे भास होता है, चालुक्य सेना हम पर धावा न करेगी। अब तो डाकरस, बिट्टियण्णा आदि हमारे जबरदस्त दण्डनायक सभी तो वहाँ हैं। वे और सारी सेना वहीं रहे। महासन्निधान का यहाँ आना जरूरी है। यह अधूरी न्याय-विचारणा सन्निधान के समक्ष ही पूरी हो। जितनी जल्दी यह पूरी हो, उतना ही अच्छा। इसलिए महासन्निधान से प्रार्थना करें कि वे यहाँ आएँ। अगर फिर उधर जाना चाहें तो जा सकते हैं। इस विजय पर अपनी खुशी प्रकट करते हुए मोटे तौर पर यहाँ की बातें बता दी जाएँ और इधर पधारने के लिए सन्निधान से विनती करते हुए पत्र भेजा जाए, यही मुझे ठीक जँचता है।"

मादिराज और नागिदेवण्णा, दोनों ने गंगराज की राय का अनुमोदन किया। अन्त में ऐसा ही करने का निश्चय हुआ। चाविमय्या के हाथ पत्र भेजने का निर्णय लिया गया।

पट्टमहादेवी का पत्र पाते ही, दो दिन के भीतर महाराज रानियों, डाकरस दण्डनायक एवं जगदल सोमनाथ पण्डित को साथ लेकर राजधानी पहुँचे। महाराज चाहते थे कि इस अवसर पर अपना सारा परिवार एकत्र हो। इसलिए लौटते हुए रास्ते में कुमार बल्लाल, मारसिंगय्या, माचिकब्बे और बहू महादेवी, इन सबको साथ लेकर आगे बढ़े और रास्ते में ही कोवलालपुर से छोटे बिट्टिदेव को राजधानी बुलाते हुए पत्र भेजा।

महाराज, रानियाँ, बड़े राजकुमार बल्लालदेव, महादेवी, सबका बड़े धूमधाम के साथ स्वागत हुआ। इसके दो ही दिनों बाद, छोटा बिट्टिदेव भी सपरिवार शामिल हो गया। उनके आने के दो-तीन दिन के बाद शान्तलदेवी ने इस न्याय-विचारणा के बारे में महाराज से बातचीत की।

"छोटी रानी और धर्मदर्शी को तुमने अभी तक यहीं रखा है? मैंने आदेश भेजा था न कि उन्हें तलकाडु भेज दें?"

"सन्निधान के आदेश का पालन न करने की बात कहीं हमने किसी ने भी नहीं सोची। सन्निधान को यह मालूम नहीं हुआ होगा कि यहाँ क्या सब गुजरा है, इसलिए ऐसा आदेश दिया होगा, यही हमें लगा। इसके अलावा, गुप्त हत्या के बारे में जो षड्यन्त्र की बात फैली है वह केवल मेरे बारे में नहीं, छोटी रानी के बारे में भी फैली है, यह सन्निधान जानते ही होंगे। उन्हें राजधानी में बुलवाकर रख लेने का सन्देश सन्निधान ने ही दिया था न? परन्तु यहाँ जो न्याय-विचारणा चली, उस समय इस न्याय-सभा में वे भी उपस्थित रहीं, यह अच्छा हुआ। इसलिए अब भी उपस्थित रहकर इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लें ताकि कहीं किसी प्रकार का उन्हें सन्देह न रह जाए—यह सोचकर उन्हें हमने नहीं भेजा।"

"परन्तु हमें ऐसे मौके पर अकस्मात् यह खबर मिली कि पट्टमहादेवी की गुप्त हत्या का षड्यन्त्र तलकाडु की तरफ से हुआ है। उस मौके को जानोगी, और तब हम कितने परेशान रहे होंगे, इसकी कल्पना तुम स्वयं कर सकोगी।"

"उसे जानने के लिए मैं भी उत्सुक हूँ।" शान्तलदेवी ने कहा।

बिट्टिदेव ने बंकापुर के किले के दक्षिणी द्वार को खोल देने के प्रयत्न का सारा किस्सा सुनाया। और कहा, "उस एक काम को बिट्टियण्णा ने साधा, जिससे हमारी जीत हुई। इतना ही नहीं, वह जीत भी बहुत जल्दी मिल गयी। डाकरस जी ने बिट्टियण्णा को और ऊँचा पद देने की सलाह दी है।" इतना बताकर डाकरस से जो बातचीत हुई वह भी बतायी। "अब जो करना है, सो तुम्हारे हाथ है।...क्या अपने दामाद को छोड़कर उसको ऊँचा पद दे दिया जाए?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"सन्निधान को मेरी मनःस्थिति मालूम है। मैं बाहुबली की भक्त हूँ। योग्यता को मान्यता देना मेरा स्वभाव है। मैं साधारण मानवी हूँ। मुझमें भी साधारण मानवों की तरह प्रेम, वात्सल्य, आशा-आकांक्षाएँ हैं, यह सहज है। परन्तु मैं उन्हें संयम से जीत सकती हूँ। सब तरह के स्वार्थ-त्याग के लिए मैं तैयार हूँ। पोय्सल-राज्य की प्रजा को सदा एक होकर जीना है। दलबन्दियाँ नहीं होनी चाहिए। जिस राज्य को स्वयं जीता और जिस चक्राधिपतित्व के स्वयं अधिकारी थे, उन्हीं बाहुबली स्वामी ने अपने से हारे बड़े भाई को सिंहासन सौंप दिया था। इससे बढ़कर त्याग और क्या हो सकता है? वास्तव में डाकरस जी बहुत ऊँचे चरित्र के व्यक्ति हैं। उनकी सलाह मानने योग्य है।"

"ठीक; वैसा ही करेंगे। उसके आ जाने के बाद विशेष समारोह का आयोजन करेंगे।"

"मुझे लगता है कि इसके लिए समारोह के आयोजन की आवश्यकता नहीं, पदोन्नति के लिए समारोह होते रहें तो फिर हमें दूसरे काम करने का अवकाश ही नहीं

मिलेगा।''

''जब भी विजय होती है तब विजयोत्सव तो मनाते ही हैं, हैं!''

''उसी प्रसंग में सन्निधान बिट्टियण्णा की बुद्धिमत्ता की बात कहकर उसे जो नया पद देने जा रहे हैं, वह भी घोषित कर देंगे। यह सब तो ठीक है। परन्तु एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही है!''

''क्या?''

''वही, जब आप सब लोग किले पर चढ़कर काला कम्बल ओढ़े छत की दीवार से सटकर बैठे थे, और जब जयकेशी के सिपाही बातचीत कर रहे थे, तब आपने बताया कि कोई स्त्री हँस पड़ी थी। उस स्त्री का पता आप लोगों ने नहीं लगाया?''

''भई, हमें तो पता है। बाकी के बारे में हम नहीं कह सकते।''

''यानी रानी बम्मलदेवी...''

''हाँ। निकट रहने पर भी इस तरह हँसी मानो कहीं दूर पर कोई हँस रही हो। उन लोगों को हमारे बारे में सन्देह उत्पन्न हो, इससे पहले ही उन्हें वहाँ से भेज देने के लिए रानी ने यह चाल चली थी।''

''तो उनको भी सम्मानित-पुरस्कृत होना चाहिए। उनकी तरकीब से विशेष गड़बड़ी के बिना उन शहतीरों को निकालने में सहायता मिली।''

''सच है। क्या पुरस्कार दिया जाए?''

''रिश्ते से बम्मलदेवी बाकी रानियों से बड़ी हैं। अर्थात् मेरे बाद वे ही बड़ी रानी हैं। इसलिए बम्मलदेवी को पट्टमहादेवी बनाने का अनुग्रह करें।''

''देवि, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। जब पट्टमहादेवी हमारे प्राणों के बराबर है तब किसी और को...''

''आगे चलकर यह चर्चा का विषय न बने, इसलिए अवसर मिलते ही सन्निधान इसकी घोषणा करेंगे। यह एक व्यावहारिक दृष्टि होगी।''

''समझ गया। हमने छोटी रानी को राजधानी से दूर रखने का आदेश दिया था। परन्तु तुमने पहले ही चेता दिया कि उसकी दृष्टि कहीं पट्टरानी के पद पर न हो। इसके लिए हम कृतज्ञ हैं।''

''किसी को किसी से दूर रखने की मेरी कतई अभिलाषा नहीं। योग्यता को मान्यता देना मात्र मेरा उद्देश्य है। परम्परा का पालन करना भी जरूरी है, यह भी मैं जानती हूँ।''

''साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे, यही न! अच्छा, वही करेंगे।''

''तो विजयोत्सव के लिए दिन निश्चित करें। सभी प्रमुखों को बुलवाना होगा।''

''ऐसी बड़ी धूम-धाम की जरूरत नहीं। उसे राजधानी तक ही सीमित रखेंगे। अकेला बिट्टियण्णा आ जाए, बस। शेष सभी दण्डनायक अपनी-अपनी जगह रहें।''

"तब तो शीघ्र ही न्याय-विचार का कार्य समाप्त करके, बाद में कोई शुभ दिन विजयोत्सव के लिए निश्चित कर सकते हैं। तुरन्त पत्र भेजकर बिट्टियण्णा को बुलवा लेना चाहिए।"

"वैसा कर सकते हैं। न्याय-विचार कब होगा?"

"सन्निधान स्वीकार कर लें तो दो-तीन दिन में ही शुरू कर सकते हैं।"

"ठीक।"

बिट्टियण्णा के पास पत्र गया। न्याय-विचार के लिए दिन निश्चित हुआ। अब की बार भी यह न्याय-विचार सार्वजनिक रूप से न होकर, पहले जैसा ही सीमित हो, यह पट्टमहादेवीजी की राय थी अतः महासन्निधान के समक्ष उसी न्याय-पीठ के द्वारा न्याय-विचार की व्यवस्था की गयी। कुछ बड़े पदाधिकारियों और गुप्तचरों को छोड़कर अन्य किसी को वहाँ प्रवेश नहीं था। पट्टमहादेवी, तीनों रानियाँ, बल्लाल, छोटे बिट्टि, विनयादित्य, हेग्गड़े, मारसिंगय्या और राज-परिवार के बन्धुवर्ग में शामिल तिरुवरंगदास वहाँ उपस्थित हुए।

सिंगिराज, गोज्जिगा, बोरगा इन लोगों के फिर से बयान लिये गये। पहले न्याय-विचार के समय इन लोगों ने जो बयान दिये थे, उन्हीं का पुनरावर्तन हुआ। सिंगिराज ने बोरगा के समक्ष भी झूठ कहा था। उससे, मुख्य गवाह और प्रमुख साक्षियों के वक्तव्य से इतनी बात प्रकट भी हुई थी कि बदला लेने के लिए जयकेशी स्वयं इन सबको धन देकर इनके द्वारा यह सारी हलचल मचा रहा है। परन्तु बंकापुर के हमले के वक्त उस रात किले पर स्वयं जो बात सुन चुके थे, उनमें और इस न्याय-विचार से जो बातें मालूम हुईं, उनमें कोई मेल नहीं बैठ रहा था। खुद कानों सुनी तथा इस न्याय-विचार से निकली, दोनों में कौन-सी बात ठीक है, इसे जानना बिट्टिदेव की अब मुख्य चिन्ता थी। किले पर बातचीत करनेवाले दोनों सिपाही आपस में जो बात कर रहे थे, वह तो किसी के छेड़ने या उकसाने पर कही गयी बातें नहीं थीं। उन बातों में कुछ तो सचाई होनी चाहिए! इसलिए उस नये गुप्तचर कण्णमा को बुला लाने का आदेश दिया गया।

कण्णमा आया और शपथ ली।

गंगराज ने पूछा, "तुम पोय्सल गुप्तचर हो?"

"हाँ, अब मैं इस राजमहल का गुप्तचर हूँ।"

"अब पर जोर देकर कह रहे हो, इसके माने?"

"इसके कोई विशेष माने नहीं, नया भर्ती हुआ हूँ। पहले दूसरा धन्धा था मेरा।"

"पहले क्या करते थे?"

"मैं एक वीथिनाटक करने वाला तमाशबीन था।"

"कहाँ पर?"

"तलकाडु प्रदेश में।"

"वही तुम्हारा धन्धा है?"

"वह तो मेरी आनुवंशिक वृत्ति है।"

"उसे छोड़कर इस गुप्तचरी के काम में क्यों लग गये?"

"यह एक संयोग है।"

"कुछ स्पष्ट रूप से बताना होगा। स्पष्ट रूप से बताने के बहाने झूठ नहीं बोलोगे, सच-सच कहना होगा।"

"मैं पोय्सल प्रदेश का हूँ। मेरी निष्ठा मेरे इस प्रदेश की धरोहर है।"

"किस गाँव के निवासी हो?"

"सन्तेमरल्लि।"

"वह चोलों के कब्जे में था न?"

"हो सकता है। हम जन्मतः कन्नड़ भाषा-भाषी हैं। गंगरसजी देश के प्रभु रहे न? हम साधारण प्रजा हैं; हम गाँव-गली नहीं छोड़ सकते। राज करनेवाले राजा हमें चाहे किसी तरह का कष्ट दें, चाहे हम पर अविश्वास करें तब भी हमें सब सहकर जो कहें उसे करते रहना होगा।"

"तुमने अभी अपने को घुमक्कड़, नाटक खेलनेवालों के वंश का बताया और अब गाँव-गली का बताते हो?"

"सच है। हम घुमक्कड़ एक जगह नहीं टिकते। फिर भी गंगराजाओं के जमाने में हमारे दादा इस प्रदेश में आकर बसे थे। उससे भी पहले सुना है कि आसन्दी प्रदेश में रहे। यों हमारा घराना घुमक्कड़ होने पर भी, उसकी जड़ें इसी प्रदेश में हैं।"

"ठीक, आगे बताओ।"

"चोलों को हराकर हमारे प्रभु ने तलकाडु प्रदेश को जब अपने कब्जे में कर लिया, तब हम सब पिंजड़े से छूटे पंछी जैसे आजाद हुए थे। चोलराज के प्रतिनिधि आदियम और उसके चेलों के पंजे से छूटकर जब आजाद हुए तब हमने जैसे आनन्द का अनुभव किया, वैसा शायद राजधानी के लोगों ने भी नहीं किया होगा। एक दशाब्दी बीत गयी उनसे छुटकारा पाये। हम आराम से रह रहे थे। एक दिन अचानक आदियम के चेले सिंगिराज और गोज्जिगा के पंजे में फँस गये। उस समय मुझे मालूम नहीं पड़ा कि ये आदियम के चेले हैं। वे नाट्यकथा कहने की हमारी शैली पर रीझ गये और मेरी पीछे लग गये। मुझे पैसे का लालच दिखाया। अपने कहे अनुसार करने के लिए प्रेरणा दी। हम भी पैसे के लालच में पड़कर, बात को समझे बिना उनका कहा मानते रहे। मगर जब उन्होंने अपना उद्देश्य बताया तो मेरी छाती फट गयी। मैं इनकार कर सकता था। मगर डर था कि यदि दूसरा कोई उनकी मदद करेगा तो क्या होगा। इसलिए मैंने यह निश्चय कर लिया कि उन लोगों को पूरा-पूरा समझूँ और उनके इस षड्यन्त्र

को सफल न होने दूँ, यही विचार कर मैंने उनमें एक बनकर रहना चाहा। अगर मैं इस तरह का दिखावा नहीं करता तो इन लोगों का रहस्य मुझे मालूम ही नहीं पड़ता, सत्य प्रकट न होता। वास्तव में चोलराज विक्रमचोल अपने पिता के जैसे कट्टर नहीं हैं। बड़े सहिष्णु हैं। धर्म के विषय में हीन व्यवहार उन्हें पसन्द नहीं। बात ठीक न जँचने पर पीठ-पीछे नहीं, आमने-सामने ही कहेंगे। पीठ-पीछे कोई कार्य न करेंगे, न करवाएँगे। इसलिए ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि उन्होंने यह किया है। वास्तव में उस राजा को मालूम ही नहीं होगा कि ये लोग कौन हैं। परन्तु इन लोगों ने अच्छा जाल बिछाया है। उस आदियम को ही गुमराह करके, उससे धन संग्रह कर बड़े धनी बन गये हैं। चोल राज्य में अब वास्तव में इनका कोई अधिकार या पद नहीं है। यहीं कुछ-न-कुछ ऐसे कुतन्त्र चलाकर, कुछ पद या स्थान पाने की आशा रखते हैं। इसलिए ये कुछ वर्षों से हमारे राज्य में घूमते-फिरते, कुछ इधर-उधर की बातों को जानते रहे हैं। उन्हीं इधर-उधर की झूठ-सच बातों के आधार पर एक योजना बनाकर उसे चला रहे हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यही उनके मनोगत विचार हैं। ये विचार उनके मन में क्यों उठे, इसका कारण मुझे मालूम नहीं। मैंने इसकी खोज का प्रयत्न भी नहीं किया। मैं सदा सतर्क रहा कि इन लोगों के मन में मेरे प्रति शंका उत्पन्न न हो। मैं अब जो बात बताता हूँ, वह अगर किसी के मन के लिए क्षोभकारक हो तो मुझे क्षमा करे। मैं एक साधारण निष्ठावान् प्रजा मात्र हूँ। ऊँचे स्थानों पर रहनेवालों को नाखुश कर, उनके असन्तोष का पात्र मैं बनना नहीं चाहता। मैं केवल समाचार संग्रह करने में लगा रहता था, इसलिए इनसे मिला हुआ था। ऐसा न मानें कि मैं असल में उनसे मिला हुआ हूँ, यही मेरी एक प्रार्थना है।..''

बीच में ही मादिराज बोले, ''इस भूमिका की जरूरत नहीं। स्पष्ट रूप से असली बात क्या है, कहो। न्याय-पीठ में और राजमहल में समीक्षा की क्षमता है। यहाँ पूर्वाग्रहों के लिए स्थान नहीं। बात कितने ही ऊँचे स्तर के लोगों से सम्बन्धित हो, निडर होकर कहो, संकोच का कहीं कोई कारण नहीं।''

''जो आज्ञा। महाराज ने अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन स्वीकार किया, तब पट्टमहादेवीजी को उनकी अनुवर्तिनी बनना चाहिए था, मगर उन्होंने अपने जैन-धर्म का त्याग नहीं किया, जिद की। इस कारण इन राज-दम्पतियों में पहले की-सी मधुर-भावना और वह सरसता नहीं रही। लोगों के सामने अपनी इस स्थिति को प्रकट न होने देने के लिए दिखावा कर रहे हैं। यहाँ महाराज की अपेक्षा पट्टमहादेवी पर श्रद्धा रखनेवालों की संख्या अधिक है। महाराज भी व्यावहारिकता के कारण कमल के पत्ते पर के पानी का-सा व्यवहार कर रहे हैं। अपनी सच्ची भावनाओं को प्रकट नहीं कर पा रहे हैं। अभी हाल में छोटी रानी का पुत्र हुआ, पुत्र-जन्म के उसी दिन एक युद्ध में महासन्निधान को विजय प्राप्त हुई जिसने उनके मन को प्रभावित किया है। उन्होंने

उस बालक का नाम विजय नरसिंह रखा, यह उनके आन्तरिक सन्तोष का द्योतक है, सुप्त सूक्ष्म मनोभाव की अभिव्यक्ति है। इस तरह की भावधारा उनमें प्रवाहित हो रही है। इस स्थिति का फायदा उठाकर यहाँ विद्वेष फैलाना साध्य है। यही सोचकर उसके लिए भिन्न मत वालों को छेड़कर काम कर लेना आसान तरीका माना गया, और नये मतान्तरित श्रीवैष्णवों से सम्पर्क स्थापित किया गया। उन नवीन श्रीवैष्णवों के मन में पट्टमहादेवी के बारे में यह भाव पैदा करने का प्रयत्न किया गया कि वह श्रीवैष्णव-द्वेषी हैं। यह उनकी इस योजना का प्रथम सूत्र है। उनका विचार है कि पट्टमहादेवी के बारे में जनता में जो अपार भक्ति और विश्वास है उसे कुछ शिथिल बना देने पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव जनता में कम हो जाएगा। फिर, आगे चलकर इस राज्य में वैष्णवों का प्राबल्य स्वयं हो जाएगा। इस प्रकार धीरे-धीरे सब तरह के राज्याधिकार, संचालन-सूत्र अपने ही हाथ में आ जाएँगे। भविष्य में यह पोय्सल सिंहासन श्रीवैष्णव राजा से विभूषित हो, इस महत्त्वाकांक्षा के बीज श्रीवैष्णवों के दिलों में बोकर, यहाँ की जनता की एकता को तोड़ा जाए—यह उनकी इस योजना का दूसरा सूत्र है। छोटी रानी और पट्टमहादेवी इन दोनों में परस्पर विद्वेष भाव पैदा कर देना—यह तीसरा सूत्र है। इन तीन सूत्रों के आधार पर इन लोगों ने कार्यक्रम बनाकर, इस तरह की गतिविधियाँ आरम्भ कर दीं।''

''तुम्हारे हिस्से में कौन-सा कार्य था?'' गंगराज ने पूछा।

''मैं एक कथावाचक हूँ, सभी तरह के लोगों से मेरा सम्पर्क रहता है। इसलिए सार्वजनिकों के मन में इस तरह की झूठ-मूठ ख़बरें फैलाकर उनमें तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न करना, यह मेरे लिए प्रथम आदेश था।''

''तुमने उसका कहाँ तक पालन किया?'' गंगराज ने पूछा।

''एक बार मैंने सन्तेमरल्लि में इस तरह के प्रचार का काम सार्वजनिकों की भीड़ में शुरू किया। उसी दिन रात को मेरे गाँव वालों ने आकर कहा, 'आगे चलकर ऐसा काम करोगे तो तुम्हारा नामोनिशान मिटा देंगे। सुखी राज्य में इस तरह के बुरे कर्म में तुमने हाथ क्यों लगाया?' यों मेरी भर्त्सना करने लगे। जब मैंने उन्हें अपने उद्देश्य के बारे में समझाया तो उन्होंने यह सलाह दी, 'अभी तुमने जो किया यदि आगे भी वैसा करोगे तो तुम द्वेष की भावना ही पैदा करोगे। इससे कोई भलाई तो होगी नहीं। तुमको उनके रहस्य की भी कोई बात मालूम नहीं पड़ेगी इसलिए तुमको जिसने प्रेरित किया, उसकी सारी योजना को समझना हो तो जाकर सीधे उन्हीं को सलाह दो : 'इस तरह के कार्य से विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। अगर वास्तव में इस कार्रवाई के पोषकों के बारे में पूरी जानकारी हो तो उन्हीं की मदद से चालुक्यों के दामाद जयकेशी से सहायता प्राप्त करा देने की बात उन लोगों के दिमाग में लाओ। इस तरह करोगे तो तुम लोगों का काम आसान हो जाएगा। इसी बीच इस तरह के अपप्रचार के लिए

तुम दूसरे लोगों को भी नियुक्त करो। मैं और मेरे साथी इस युद्ध में पोय्सलों को पराजित करने के लिए काम करेंगे। इसमें सफल हो जाओ तो आगे काम आसान हो जाएगा। बाहर पराजय, अन्दर झगड़ा, ऐसी हालत हो जाएगी, तो वे फिर सिर नहीं उठा सकेंगे।' यों उन लोगों को समझाओ। हम बाहर से तुम्हारी मदद के लिए तैयार रहेंगे। राज्य की एकता की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रदेश को छोड़कर जब तुम बाहर जाने लगो तब यह बताते जाओ कि किस-किसने इस काम में हाथ लगाया है, और क्या सब बातें मालूम पड़ीं। हो सका तो हम उनके नामोनिशान मिटा देंगे।' 'ठीक है', कहकर मैंने उनको भेज दिया। मुझमें एक तरह से भय पैदा हो गया। मुझे पचड़े में पड़ना ही नहीं चाहिए था। मैंने सोचा कि अब किसी तरह इससे छूट जाऊँ तो जान बचे। फिर अपनी इच्छा से मैं राजधानी की ओर चल पड़ा।"

"राजधानी की ओर चल पड़ने का कोई कारण भी था?" नागिदेवण्णा ने पूछा।

"हाँ। पट्टमहादेवीजी की गुप्त-हत्या का षड्यन्त्र चला हुआ था। पहले ही यह बात राजमहल में बता देने की इच्छा थी, इसलिए राजधानी आया।"

"गुप्तहत्या का षड्यन्त्र? या इस तरह के षड्यन्त्र के होने का झूठा प्रचार?"

"झूठा प्रचार कर फिर गुप्त रूप से हत्या करना ही उन लोगों का लक्ष्य था।"

"इस षड्यन्त्र के रचने के लिए सिंगिराज, गोज्जिगा आदि की ही मुख्य भूमिका है?"

"उनकी मदद करने के लिए कुछ अज्ञात श्रीवैष्णव भी तैयार थे।"

"तुम्हें मालूम है कि वे कौन हैं?" गंगराज ने पूछा।

"यदुगिरि के कुछ श्रीवैष्णव।"

"कैसे मालूम कि वे यदुगिरि के ही हैं?"

"वे तलकाडु आये थे। तलकाडु में ही षड्यन्त्र की रूपरेखा बनी।"

"तुमको यदुगिरि ले जाएँ तो तुम उन षड्यन्त्रकारियों को पहचान सकोगे?"

"सबको न भी पहचान सकूँ, फिर भी कुछ को अवश्य पहचान लूँगा।"

"इन षड्यन्त्रकारियों का राजमहल में प्रवेश कैसे सम्भव हो सकता था?"

"पट्टमहादेवीजी अंगरक्षकों से घिरी रहनेवाली नहीं हैं। जनता के साथ मिलने-जुलने का स्वभाव है इनका, इसलिए उन्होंने यह सोचा था कि यह कार्य आसानी से हो जाएगा।"

मादिराज ने पूछा, "तुमने पहले कहा न कि छोटी रानी और पट्टमहादेवीजी, इन दोनों के बीच खोट पैदा करना उनका एक सूत्र था।"

"हाँ।"

"अब तुम बता रहे हो कि हत्या का षड्यन्त्र सत्य है?"

"जिन लोगों के कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होते, उनको जो सूझे, वही सिद्धान्त।"

"ठीक है, पट्टमहादेवी की हत्या करने से उनको क्या लाभ होगा?"

"उन लोगों की मान्यता है कि पट्टमहादेवी तो महाराज की अत्यन्त प्रिय हैं। असल में वे ही स्फूर्ति देती हैं महाराज को। और तो और, वे ही महाराज की शक्ति हैं। यदि वे नहीं हों तो महाराज रहें भी तो न रहने के बराबर। इसलिए उन लोगों ने ऐसा सोचा होगा।"

"उनके काम की यह तुम्हारी व्याख्या है, यही न?"

"उन लोगों के साथ रहने की वजह से मेरे मन में यह धारणा पैदा हुई है। न्यायपीठ इसे जो चाहे, समझे।"

"और आगे?"

"यह षड्यन्त्र न हो, और उन्हें सफलता न मिले, यह बताने के लिए ही मैं राजधानी आया। महासन्निधान के युद्धक्षेत्र में जाने की बात मालूम हुई। सीधा बंकापुर के युद्ध-क्षेत्र में गया। छोटे दण्डनायक बिट्टियण्णाजी से बात की। इस बीच वहाँ युद्धक्षेत्र में छोटी रानीजी की हत्या के षड्यन्त्र का समाचार फैल चुका था। उन्हें राजधानी में बुलवा लेने का आदेश सन्निधान ने भेजा है, यह ज्ञात हुआ। इससे मालूम पड़ा कि ये नीच सक्रिय हैं, कार्य में प्रवृत्त हैं। छोटे दण्डनायक जी की मदद से मैंने महासन्निधान के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया। मैंने सारी बात महासन्निधान के समक्ष निवेदन की। छोटे दण्डनायकजी ने मुझे बाद में काम पर नियुक्त कर लिया। इस आक्रमण में छोटे दण्डनायक की जो योजना थी, उसके अनुसार प्राणों की परवाह तक न करके मैंने काम किया। हमारी जीत के बाद सीधे पट्टमहादेवीजी से यह बात कहने के इरादे से, महासन्निधान ने पत्र देकर मुझे यहाँ भेजा था। तब से यहीं हूँ।"

"तुमने कहा न कि पट्टमहादेवीजी की हत्या का षड्यन्त्र रचने के प्रयोजन से यदुगिरि से श्रीवैष्णव आये थे, उनके नाम तुम्हें स्मरण नहीं?" नागिदेवण्णा ने कण्णमा से पूछा।

"कुछ नाम याद हैं।"

"बताओ।"

"तिरुनम्बि, शटगोप, तिरुनारायण, नल्लतम्बि।"

"और कुछ नाम स्मृति में हैं?"

"नहीं।"

"ये नाम याद रहे, दूसरे लोगों के नहीं, इसका कोई कारण है?"

"कुछ नहीं। सुना कि ये सब नये मतान्तरित श्रीवैष्णव हैं। और ये नवीन श्रीवैष्णव धर्मदर्शी के बहुत चाहनेवालों में से हैं।"

"कौन धर्मदर्शी?"

"मुझे मालूम नहीं। परन्तु वह सिंगराज जब तहकीकात करता था तब इतना

प्रकट हुआ कि वही...जो अब तलकाडु में धर्मदर्शी हैं।"

"तो जब वे वहाँ आये तब तुमने धर्मदर्शी को नहीं देखा?"

"कहा कि जानते हैं; शायद उनसे उसकी भेंट न हुई हो!"

"किसी को पता न लगे, इस तरह से यदि मिले हों तो?"

"मैं इस बात को नहीं जानता।"

"तो यह बात कैसे मालूम हो सकती है?"

"सिंगराज और गोज्जिगा से ही दर्याफ्त कर सकते हैं या धर्मदर्शी से ही दर्याफ्त की जा सकती है।"

"यह तो बाद की बात है। हत्या करने के लिए किसी की मदद लेने की बात सोची गयी थी?"

"छोटी रानी की कुछ दासियों से मदद लेने की बात सोची थी।"

"नाम मालूम हैं उनके?"

"नाम मालूम नहीं। इतना जरूर था कि वे छोटी रानी की बहुत आत्मीय हैं। उनकी आपसी बातों से ऐसा लग रहा था।"

"इस सन्दर्भ में छोटी रानी के बारे में भी कोई बात निकली थी?"

"हाँ।"

"किस प्रसंग में? क्यों?"

"इस काम में सफलता मिल जाए तो छोटी रानी बहुत खुश होंगी, यह सिंगराज ने उन दासियों से कहा था।"

"वे दासियाँ स्वयं छोटी रानी से जानकर निश्चय कर ले सकती थीं न?"

"सिंगराज ने कड़ी मनाही कर रखी थी कि इस बात को उनके सामने न छेड़ें। अगर कहीं कुछ छेड़ने की बात मालूम हो जाए, तो तुरन्त नौकरी से हटा देने का डर दिखाया था।"

"तो बात यही हुई कि तुमने उन दासियों को देखा है।"

"देखा है। पहचान भी लूँगा। नाम मालूम नहीं। किसी भी अवसर पर उन दासियों का नाम प्रकट नहीं हुआ।"

"किस तरह से और कब हत्या करना, आदि बातों पर चर्चा भी हुई होगी?"

"चर्चा तो नहीं हुई। इस बारे में उसने उन दासियों से यह कहा था कि उसके लिए उसे एक आसान तरीका मालूम है, और उसे ठीक समय पर उनको गुप्त रूप से बता देगा।"

इस लम्बी बहस के दौरान विनयादित्य की दृष्टि कभी धर्मदर्शी पर जाती, कभी छोटी रानी की ओर। क्षण-क्षण पर उसका पारा चढ़ता जा रहा था।

पट्टमहादेवीजी मौन बैठी रहीं, मगर कभी-कभी उनकी दृष्टि विनयादित्य पर

चली जाती। उन्हें विनयादित्य के मन की बात मालूम थी, इसलिए उन्हें डर था कि वह कुछ कह बैठे तो उसका परिणाम क्या होगा, इसलिए वे कुछ आतंकित-सी थीं। उन्होंने सोचा कि आज की इस सभा का कार्य अब स्थगित कर देना चाहिए। यही विचार कर बगल में बैठे महाराज के कान में कुछ कहा। न्यायपीठ ने महाराज और पट्टमहादेवीजी को कुछ परामर्श करते देखा तो वे थोड़ी देर मौन हो रहे।

बिट्टिदेव ने कहा, "कण्णमा के वक्तव्य से कोई निर्णय स्पष्ट न होने पर भी, यह ठीक लगता है कि उन लोगों को जिन्हें वह पहचान सकता है, यदुगिरि और तलकाडु से यहाँ बुलवाएँ। इसलिए कण्णमा को मायण और चाविमय्या अपने साथ दोनों जगह ले जाएँ और वह जिन-जिनको इस सन्दर्भ में पहचान सकता है, उन सब को, चाहे स्त्री हों या पुरुष, यहाँ लिवा लाएँ। इनकी सहायता के लिए तलकाडु के व्यवस्था-अधिकारी के पास राजमहल से पत्र भिजवा दें। इन लोगों के लौटने तक यह न्याय-विचार स्थगित रहे।"

महाराज की इच्छा के अनुसार गंगराज ने न्याय-विचार सभा को स्थगित कर दिया। उस दिन की सभा विसर्जित हुई।

विनयादित्य एक ओर गुस्से से उबल रहा था तो दूसरी ओर खुश भी हो रहा था। खुशी इस बात की कि उसके विचार में इस न्याय-विचार से सत्य की नींव दिखाई पड़ने लगी थी। धर्मदर्शी और छोटी रानी एक तरह से किंकर्त्तव्यविमूढ़-से लग रहे थे। बल्लाल और छोटे बिट्टिदेव कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखा रहे थे, फिर भी ये सोचने लगे कि आज जो ईर्ष्या-भाव माँ पर है, वह हम पर भी होने लगा तो क्या करना होगा? नागिदेवण्णा जी बहुत खिन्नमनस्क हो रहे थे। दूसरे दिन सुबह उन्होंने सन्निधान से भेंट की। स्वस्थ और तगड़े नागिदेवण्णा आज देखने में कमजोर-से लग रहे थे।

बिट्टिदेव ने कहा, "बैठिए मन्त्रीजी, किसी खास विषय पर चर्चा करनी थी?"

"हाँ, स्वयं अपने बारे में।" कहकर मौन खड़े रहे नागिदेवण्णाजी।

"क्यों, मौन क्यों हो गये? क्या बात है?"

"मैंने राजमहल का नमक खाया है। अब तक मैं राजमहल का पूरी तरह विश्वास-पात्र बना रहा। मेरा समूचा जीवन उसी नींव पर खड़ा हुआ था। मेरी प्रवृत्ति और नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पर कार्यदक्षता में कमी आ गयी है। यह बात अब इस न्याय-विचार से स्पष्ट हो गयी है। इसलिए मुझे निवृत्ति मिले तो शेष जीवन भगवान् के ध्यान में गुजार देना चाहूँगा।"

"आपकी दक्षता में कमी है, यह बात किसने कही?"

"किसी के कहने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं अनुभव कर रहा हूँ।"

"आत्म-निरीक्षण करना अच्छा है, यह बात पट्टमहादेवीजी कहती रहती हैं। आपने इसे साध लिया है। हम यदि किसी को एक बार राजमहल में किसी पद पर

नियुक्त कर देते हैं तो वह नियुक्त जीवन भर के लिए होती है। निवृत्ति शब्द से हम अपरिचित हैं। इसलिए हम आपकी विनती को मानेंगे कैसे?''

''सन्निधान कृपा करें। हमारी आदरणीया पट्टमहादेवीजी ने हम पर विश्वास रखकर अनुग्रह किया। परन्तु हम अपने कर्तव्य को अच्छी तरह नहीं निभा पाये। हमने लापरवाही की। ऐसी दशा में हम भी तो अपराधी ही ठहरे। यह बात हमारे हृदय में काँटे की तरह चुभती रहेगी। इस परिस्थिति में हमें मानसिक शान्ति मिलनी सम्भव नहीं। इसलिए कृपा करनी होगी।''

''देखिए, प्रधान गंगराजजी के बाद आप ही इस राज्य में सबसे बड़े पदाधिकारी हैं। उसमें भी खास बात यह है कि हमारे सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व से ही आप यादवपुरी में हैं। इस वजह से आपके साथ हमारी आत्मीयता स्थायी हो गयी है। अब इस बारे में बिना पट्टमहादेवीजी से पूछे हम कुछ नहीं कर सकते। आप चाहें तो स्वयं पट्टमहादेवीजी से मिलकर विचार-विनिमय कर लें। उन्हें फुरसत हो तो अभी यहीं बुलवा लेते हैं।''

''मैं किस मुँह से उन्हें जवाब दूँगा? ऐसी परिस्थिति श्रेयस्कर नहीं होगी। मैं उनकी रीति-नीति को जानता हूँ और वे क्या कहेंगी, यह भी समझता हूँ। वे गुस्सा करेंगी तो उनका सामना किया जा सकता है, लेकिन उनके क्षमागुण का स्मरण हो आता है तो दिल काँप उठता है।''

''आप अकारण कुछ सोचकर इस तरह बोल रहे हैं। आप इस राज्य की सेवा तीन दशाब्दियों से करते आ रहे हैं। इस राजमहल की यह नीति बन गयी है कि कितना ही बड़ा कार्य क्यों न हो, आपको आप पर विश्वास और भरोसा रखकर बताया जा सकता है। आपका बरताव ही इसका कारण है। हमारे या आपके मन में किसी भी तरह का कड़ुवापन नहीं रहे। यदि ऐसा रहा तो सारा जीवन कड़ुवाहट में ही गुजरेगा।'' कहकर बिट्टिदेव ने घण्टी बजायी। एक दरबान अन्दर आया। बिट्टिदेव ने आदेश दिया, ''फुरसत हो तो पट्टमहादेवी पधारें।'' दरबान चला गया। फिर बिट्टिदेव बोले, ''बैठिए, पट्टमहादेवीजी आ जाएँ।''

अब नागिदेवण्णा लाचार थे, बैठ गये। कुछ कहने की मुद्रा में महाराज की ओर देखा। इतने में दरबान आया और बोला, ''पट्टमहादेवीजी पधार रही हैं।'' और वह एक ओर खड़ा हो गया। नागिदेवण्णा उठ खड़े हुए। शान्तलदेवी आयीं। नागिदेवण्णा ने झुककर प्रणाम किया। दरबान किवाड़ लगाकर बाहर चला गया।

''बैठिए, मन्त्रीजी।'' कहती हुई प्रति-नमस्कार करके पट्टमहादेवीजी महाराज के पार्श्वस्थ आसन पर बैठ गयीं। बुलवा भेजने वाले महाराज स्वयं बोलेंगे, यही सोचकर वे मौन रहीं।

नागिदेवण्णाजी बहुत संकोच के साथ बैठे रहे। अन्त में शान्तलदेवी ने पूछा,

"सन्निधान की क्या आज्ञा है?"

"मन्त्रीजी, कहिए।" बिट्टिदेव ने कहा।

नागिदेवण्णा मौन रहे।

"क्या बात है, मन्त्रीजी?" शान्तलदेवी ने पूछा।

नागिदेवण्णा ने शान्तलदेवी की ओर मात्र देखा, फिर महाराज की ओर।

"मन्त्रीजी सेवा-निवृत्त होने की इच्छा से निवेदन कर रहे हैं।" बिट्टिदेव ने कहा।

"क्यों, राजमहल की सेवा से परेशान हो गये?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"परेशानी नहीं, अदक्षता। मैं यदि अपना कर्तव्य ठीक तरह से करता तो यदुगिरि में यादवपुरी के लोगों का विरोधियों से मिलना सम्भव ही नहीं होता। यही समझा था कि वहाँ वाले सब सात्त्विक पुरुष हैं। यों समझे बैठे रहने के कारण अब यह न्याय-विचार करना पड़ रहा है। यदि मैं सतर्क रहकर सब पर निगरानी रखता तो आज इस स्थिति का मौका न आता।" नागिदेवण्णा ने कहा।

"आपने ऐसा क्यों समझा?"

"श्री आचार्यजी के अनुग्रह के पात्र जितने हैं वे सब सात्त्विक हैं, हमारा यही मनोभाव रह आया।"

"पहले से ही धर्म के नाम पर भेद पैदा हो जाने की बात जनता में फैल रही थी। यह जानते हुए भी आपके मन में ऐसी भावना क्यों पैदा हो गयी?"

"उस समय बहुत ऊँचे स्तर के लोगों के नाम का दुरुपयोग किया गया था न?"

"ऊँचे स्तर के लोगों के नाम? या ऊँचे स्तर पर रहनेवाले लोगों के?"

"दोनों कह सकते हैं। मैंने समझा था कि वह उसी हद तक है, और वहीं समाप्त हो गया है। नीचे तक इस तरह बात फैलाने का काम करने से उन्हें कोई वैयक्तिक लाभ भी नहीं है। वास्तव में वे खुशहाल भी हैं। अपना-अपना काम करते हुए, अपने अनुष्ठान में निरत रहकर सेवा में लगे रहेंगे, यही मेरी धारणा थी। अब मालूम होता है कि यह कितनी बड़ी गलती थी। मेरी इस गलती के लिए मेरी निवृत्ति ही उचित दण्ड है।"

"देखिए, आपने अनेक न्याय-मण्डलों के सदस्य रहकर बहुत-से निर्णय दिये हैं। निश्चित साक्ष्य और आधार के बिना आपने कभी किसी को दण्ड दिया है?"

"नहीं।"

"ऐसी हालत में आपके बारे में भी वही नियम लागू है। आपने गलती की है, इसका साक्ष्य और आधार जब तक न मिले तब तक दण्ड कैसा? अर्थात् निवृत्ति कैसे मिलेगी? इसके अलावा आप अब एक अत्यन्त उच्च स्तर के न्यायपीठ के सदस्य हैं। न्याय-विचार पूरा नहीं हुआ है। उसे पूरा होने दीजिए। बाद में विचार करेंगे कि क्या

करना चाहिए। अब जैसे सलाह आयी, वैसे ही उसे लौटा लिया जाए।''

''इस न्यायपीठ पर बैठने में मुझे संकोच मालूम पड़ता है'', नागिदेवण्णा ने धीमे स्वर में कहा।

''आपकी इस तरह की प्रज्ञा ही आपके उस स्थान पर बैठने की योग्यता का प्रमाण है। जिम्मेदारी जो समझ सकते हैं उन्हीं से उसका निर्वहण हो सकता है। अब आपके सामने जो न्याय-विचार की बात है, उसका विमर्श होने पर कौन-कौन दोषी पाया जाएगा सो कोई भी नहीं कह सकता। पहले एक बार, जब मैं छोटी थी, तब बलिपुर में एक न्याय-विचार हुआ था। उस समय प्रभुजी ने जो बात कही थी, वह अब भी मुझे याद है।''

''[illegible]?''

''मेरे ससुरजी, सन्निधान के पिताजी।''

''क्या कहा था?''

''न्यायपीठ के सम्मुख राजा, युवराज भी सामान्य प्रजा के समान हैं। न्यायपीठ के प्रति गौरव दिखाना होगा। न्यायपीठ की आज्ञा का पालन करना होगा। चाहे हम हों या दूसरे कोई भी हों, आपको इस विषय में किसी के प्रभाव या संकोच के वशवर्ती नहीं होना चाहिए। जिसको चाहें गवाही देने के लिए बुलवा सकते हैं, न्याय-विचार कर सकते हैं। सन्निधान भी इस नियम को मानते हैं।''

''जो आज्ञा।'' नागिदेवण्णा ने कहा। उनके मन में अभी भी उथल-पुथल बनी ही रही। फिर भी इस सान्त्वना से उनमें एक नयी स्फूर्ति आ गयी। इस बार न्याय-विचार की सभा में निष्पक्ष सत्यपूर्ण न्याय ही होना चाहिए, ऐसा मन-ही-मन सोचते हुए नागिदेवण्णा राजदम्पती को प्रणाम कर वहाँ से निकले।

मायण वगैरह जो यदुगिरि की ओर गये थे, लौटे नहीं थे। इसी बीच राजदम्पती युगल मन्दिरों की कार्य-प्रगति जानने के इरादे से उधर गये हुए थे। तभी वहाँ डंकण आया। पहले वह सीधा राजमहल में गया था। पता लगने पर वह यहाँ चला आया था। आते ही उसने राजदम्पती को प्रणाम किया।

"ओह, छोटे स्थपति!" बिट्टिदेव ने आश्चर्य प्रकट किया।

डंकण ने मुस्कराते हुए पुनः सिर झुकाकर प्रणाम किया।

"इस बार-कौन-सा पत्थर बिगड़ने जा रहा है?" बिट्टिदेव ने मुस्कराते हुए कहा।

"तब मैं अन्वेषक था, अब दास हूँ।"

"माने?"

"मेरे पिताजी ने हमारे गाँव क्रीडापुर में केशव मन्दिर का निर्माण कार्य पूरा कर लिया है। उसकी प्रतिष्ठा के आयोजन के लिए सन्निधान की सुविधा जानकर मुहूर्त निश्चित करने और मूर्धाभिषिक्त (राजदम्पती) को निमन्त्रित करने पिताजी द्वारा आपकी सेवा में भेजा गया हूँ।"

"हमने पहले ही वचन दे दिया था। मुहूर्त का निश्चय स्वयं कर लें। हम जरूर आएँगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

"आनेवाली पंचमी का दिन इस कार्य के लिए बहुत शुभ है। राजदम्पती उस अवसर पर पधारें तो हमारे लिए यह परम सौभाग्य की बात होगी।"

"अवश्य आएँगे।"

"धन्य हुआ। अब आज्ञा हो..."

"कोई बाधा नहीं। मगर कल जाना।"

इतने में वहाँ स्थपति हरीश आये। एक अपरिचित को देखकर वे वहीं रुक गये।

"आइए, स्थपतिजी! हम स्वयं कहला भेजना चाहते थे। ये स्थपति जकणाचार्यजी के पुत्र हैं, डंकणाचार्य। भूल गये क्या? क्रीडापुर के केशव मन्दिर का निर्माण-कार्य पूरा हो गया है, यह समाचार देने आये हैं; साथ ही उसके प्रतिष्ठा-महोत्सव के लिए आमन्त्रण देने भी।...और ये इस युगल मन्दिर के स्थपति ओडेयगिरि के हरीशजी हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मेरे पिताजी हमेशा इन स्थपतिजी के बारे में बताते रहते हैं।" डंकण ने कहा।

"बताये बिना चुप कैसे रह सकते हैं। मेरे हठीले स्वभाव को कोई यों ही भूल जाएगा?"

"उन्होंने ऐसा कभी नहीं कहा।"

"तो फिर?"

"आपने जो रेखाचित्र बनाया था उसे वे अपने पास अब भी रखे हुए हैं। कहते थे, 'ऐसी छोटी उम्र में भी उनमें कितनी कल्पना-शक्ति रही, जानते हो?' इतना ही नहीं, उस रेखाचित्र में आपकी रचना-शैली और भावपात्र-निरूपण की विशेषताओं को बताते हुए बार-बार प्रशंसा किया करते हैं। आप भी क्रीडापुर पधारेंगे तो वे बहुत ही खुश होंगे।"

"हमने इस बारे में इनसे पहले ही बातचीत कर ली है। हमने कहा है कि ये भी हमारे साथ इस समारम्भ में चलें। अब तो हमें भी कुछ मानसिक शान्ति है। सन्निधान ने जयकेशी से युद्ध करके विजय प्राप्त की है। क्रीडापुर के मन्दिर की प्रतिष्ठा के बाद हम जब लौटेंगे तो इस विजयोत्सव का आयोजन करेंगे। उस समय आप और आपके माता-पिता हमारे साथ ही आएँ।" शान्तलदेवी ने कहा।

"अब पिताजी क्रीडापुर से आने की बात को शिरोधार्य भी कर लेंगे। वेलापुरी की मूल मूर्ति को दोषयुक्त शिला लेकर बनाया था, इस पाप के प्रायश्चित्त के रूप में उन्होंने क्रीडापुर के इस मन्दिर का निर्माण किया है। इससे उन्हें पुण्य-लाभ होगा, ऐसा पिताजी मानते हैं।" डंकण ने कहा।

ऐसा ही निश्चय हुआ। दूसरे दिन डंकण क्रीडापुर लौट गया।

पंचमी के मुहूर्त के लिए, चौथ के दिन राजदम्पती के क्रीडापुर पहुँच जाने का निश्चय हुआ था। इस यात्रा में अकेले हरीश बाहर के व्यक्ति थे। राजमहल से अन्य किसी को इसमें सम्मिलित नहीं होना था। क्रीडापुर में मूर्ति-प्रतिष्ठा तक केवल दो दिन ही रहना था। सारा राजपरिवार और फिर भारी संख्या में लोगों को साथ जाने पर वहाँ सबके ठहराने की व्यवस्था करना कठिन होगा, इसलिए भी ऐसा निर्णय किया गया था। यों तो विनयादित्य साथ चलने के लिए बहुत उत्सुक था। उसने अपनी इच्छा भी प्रकट की थी, पर शान्तलदेवी ने उसे भी मना कर दिया था।

बम्मलदेवी और राजलदेवी दोनों रानियों ने न ले जाने पर कोई असन्तोष प्रकट नहीं किया परन्तु छोटी रानी लक्ष्मीदेवी अन्दर ही अन्दर जलने लगी थी, 'वहाँ स्थापित होनेवाले देव केशव हैं। वह तो मेरे इष्टदेव हैं। मेरे गुरु के अत्यन्त प्रिय देव हैं। उनकी मूर्ति-प्रतिष्ठा के लिए मुझे न ले जाकर स्वयं ही गयी हैं!... पट्टमहादेवी राजमहल के लिए भले ही बड़ी हो सकती हैं, अपने इष्टदेव के लिए अन्यधर्मी से मैं ही बड़ी हूँ। फिर भी वही गयी हैं तो इसके पीछे जरूर कोई राज है। महाराज अकेले जब साथ रहेंगे, तब उनके कान भरेंगी जिससे मेरा सर्वनाश हो जाए।...अभी यह जो न्याय-विचार चल रहा है, पता नहीं, इसका फल क्या होगा, इससे क्या-क्या निकलेगा और किस-किस पर क्या प्रभाव पड़ेगा?...अब कुछ न करूँ तो मेरा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। मेरे पिताजी भी अपमानित होकर कहीं भाग जाएँ, ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है। इसलिए मुझे भावी हित की दृष्टि से कुछ-न-कुछ रास्ता खोजना ही होगा। उनके वहाँ से लौटने से पहले अपने पिताजी से क्यों न परामर्श ले लूँ? उन्हें काफी अनुभव भी है।...परन्तु यहाँ हम पर गुप्तचरों को लगाया गया होगा। हमें कहीं अन्यत्र जाना होगा।' इस तरह उसके मन में तरह-तरह के विचार उठ रहे थे।

उधर तिरुवरंगदास किसी तरह की प्रतिक्रिया दर्शाये बिना चुप बना रहा। फिर भी उसका दिमाग चलता रहा। वह अपने ही ढंग से सोचता रहा। इस न्याय-विचार के समय जब भी श्रीवैष्णवों के विषय में बात उठती, उसके मन में कुछ विचित्र भाव उठा करते और क्षण भर में लुप्त भी हो जाते। इसे वह जानता भी था, फिर भी उसे यह सन्तोष था कि उसके अन्तरंग की बात दूसरों को मालूम नहीं हुई। उसने कल्पना नहीं की थी कि विनयादित्य की उस पर बराबर नजर लगी हुई है।...तिरुवरंगदास ने उसे अबोध लड़का ही समझ रखा था। वह इस बात से कुछ-कुछ खिन्न भी था कि केशवजी की प्रतिष्ठा पर महाराज उसे न ले जाएँ तो कोई हर्ज नहीं, लक्ष्मीदेवी और कुमार नरसिंह को न ले जाना, यह तो बहुत बड़ी गलती है!

महाराज और पट्टमहादेवी के रवाना होने के दूसरे ही दिन रानी लक्ष्मीदेवी ने प्रधान गंगराज के पास खबर भेजी, "अपने कुमार के लिए एक मनौती मान रखी है, इसलिए बेलापुरी जाना है। इसके लिए व्यवस्था करें। पिताजी भी साथ जाएँगे।"

प्रधानजी ने सलाह दी, "ऐसे अवसर पर सन्निधान भी साथ रहें तो उचित होगा।"

लक्ष्मीदेवी को झूठ का कोई सहारा नहीं मिल पाया था। उसे लगा कि मनौती की बात न कहकर कुछ और कहती तो अच्छा होता! परन्तु अब तो बात मुँह से निकल चुकी थी, इसलिए उसने कहा, "आपकी सलाह तो ठीक ही है। परन्तु मनौती मैंने मानी उसे मुझे ही पूरा करना है। वास्तव में मैंने पिताजी से पूछा था, उन्होंने कहा कि मनौती पूरी करने के लिए माननेवाले का रहना ही मुख्य है। इसका यह मतलब नहीं

कि दूसरे साथ न रहें। रहें तो ठीक है, न रहें तो भी ठीक। वे उधर केशव की प्रतिष्ठा के लिए गये हैं। वह भी धर्म-कार्य है, यह भी धर्म-कार्य है। वहाँ पंचमी के दिन प्रतिष्ठा-महोत्सव है। उसी दिन वेलापुरी में चेन्नकेशव की मनौती मनाना अनुचित तो *नहीं है। एक तरह से दोनों धर्म-कार्यों का मेल है। इसलिए व्यवस्था की जाए।* सन्निधान के लौटने पर चाहेंगे तो एक बार और हो आएँगे।" रानी लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"जैसी आपकी आज्ञा। आपके साथ और रानियाँ भी जाना चाहेंगी?"

"वे स्वयं क्यों चाहेंगी?"

"वे स्वयं नहीं जाएँगी, फिर भी उन्हें इसके लिए कहना लौकिक आचार होता है।"

"यह कोई राजमहल से सम्बन्धित विषय नहीं। इसलिए इसमें लौकिक आचार की क्या बात है? अब क्रीडापुर की प्रतिष्ठा के उत्सव का कार्य भी स्थपतिजी का है। उन्होंने जिन्हें आमन्त्रित किया, सिर्फ वे ही वहाँ गये न?"

"ठीक। रानीजी वहाँ कितने दिन रहेंगी?"

"बहुत दिन वहाँ क्यों रहें? तीन-चार दिन पर्याप्त होंगे।"

"मनौती के लिए क्या-क्या तैयार रखना है वह बता दें तो सारी व्यवस्था करवा रखूँगा।"

"पिताजी से पूछकर बताऊँगी।"

"जो आज्ञा।"

गंगराज के वहाँ से जाते ही उसने अपने पिता को कहला भेजा। बातचीत हुई। झूठी मनौती के लिए सूची तैयार हुई। तिरुवरंगदास ने कहा कि वह सूची को स्वयं प्रधान के पास पहुँचा देगा। इतना ही नहीं, वह खुश हो रहा था कि बेटी अब काफी होशियार हो गयी। राजमहल की समझ उसमें बढ़ रही है। यह जानकर वह खुश हुआ सही, परन्तु कुछ कहा नहीं। अब तो वेलापुरी में वे दोनों ही तो रहेंगे, तब अपनी आपस की बातें समझ लेंगे, यही उसका मनोभाव था।

व्यवस्था के अनुसार रानी लक्ष्मीदेवी, राजकुमार नरसिंह और तिरुवरंगदास वेलापुरी के लिए रवाना हुए।

यह समाचार राजमहल के प्रायः सभी लोगों को मालूम पड़ा। विनयादित्य तक भी यह खबर पहुँची। उसे यह यात्रा कुछ सहज-सी मालूम नहीं पड़ी। फिर भी वह स्वतन्त्र रूप से कुछ करने की स्थिति में नहीं था। मायण और चट्टला भी नहीं थे। वे यदुगिरि और यादवपुरी की ओर गये हुए थे। इस बार राजदम्पती के साथ रेविमय्या नहीं गया था। इसलिए उसने रेविमय्या को अपने विश्रामागार में बुलवाकर उससे मन्त्रणा की। विनयादित्य जानता था कि रेविमय्या अपनी राय सीधे देनेवाला तो है नहीं। अन्त में यही निश्चय करके उसने कहा, "तुम कुछ भी कहो रेविमय्या, यह वेलापुरी

जाना केवल षड्यन्त्र रचने के लिए है। मनौती-वनौती सब बहाना है।''

''ऐसा होता तो वही षड्यन्त्र क्या यहाँ नहीं रचा जा सकता था? उनकी स्वीकृति के बिना उनके विश्रामागार में कोई आ-जा नहीं सकता न?''

''फिर भी वह भयग्रस्त हैं। उन्हें इस बात का डर है कि उन पर और उनके पिता पर निगरानी रखी जाती है।''

''यदि ऐसा है और वह सच है, तो वे जहाँ कहीं भी जाएँ उनकी जानकारी के बिना उनकी निगरानी रखने वाले होंगे ही। आप क्यों चिन्ता करते हैं, अप्पाजी?''

''तुम्हारी माँ होतीं और अगर इस तरह के षड्यन्त्र का शिकार बनतीं तो तुमको भी ऐसा ही लगता।''

''अप्पाजी! मेरी माँ-बहन-बेटी सब पट्टमहादेवीजी हैं। इस राज्य में किसी का साहस नहीं कि उनका बाल भी बाँका कर सके। आप व्यर्थ ही भयभीत न हों।''

''तुम कुछ भी कहो, माँ चाहे कुछ भी कहे, मुझे तो इस धर्मदर्शी पर थोड़ा भी विश्वास नहीं। जहाँ उसकी साँस लगती है वहाँ की सारी हवा विषैली हो जाती है।''

''पट्टमहादेवीजी कहती हैं कि इस तरह का पूर्वाग्रह नहीं रखना चाहिए, अप्पाजी!''

''तुम कुछ भी कहो, मेरे भीतर यह चुभन बराबर बनी रहती है।''

''तो अब क्या करने का आदेश है?''

''हम भी वेलापुरी चलें!''

''नहीं अप्पाजी, हमारा जाना गलतफहमी का कारण बनेगा। इस न्याय विचार के फलस्वरूप राजमहल से सभी क्षेत्रों के गुप्तचरों को आदेश दिया गया है कि इस सिलसिले में सब पर निगरानी रखी जाए। आप आतंकित न हों।''

''ऐसा है तो ठीक है।''

''समझ लें, यदि ऐसा न भी हो तो आप वहाँ जाकर क्या करेंगे, अप्पाजी? ऐसे सब कार्यों के लिए कुछ और ही लोग होते हैं। मुझसे भी गुप्तचरी का काम अच्छी तरह नहीं बन पाता।''

''यह मैं नहीं मानता। माँ को तुम पर जितना विश्वास है उतना और किसी पर नहीं।''

''यदि मैं विश्वासपात्र हूँ तो उसके पीछे गुप्तचरी की कुशलता कारण नहीं, अप्पाजी!''

''गुप्तचर का काम करने के लिए व्यक्ति को विश्वसनीय होना चाहिए न?''

''अप्पाजी, यह कैसी बात कर रहे हैं? विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही राजमहल अपने यहाँ कार्य पर नियुक्त करता है। परिस्थितिवश कुछ नियुक्तियों के गलत होने की भी सम्भावना रहती है, क्योंकि वे नियुक्तियाँ परम्परागत सम्बन्ध के आधार पर होती हैं। कभी-कभी गलत नियुक्तियाँ प्रेम-वात्सल्य आदि के कारण भी हो जाया करती हैं।''

"वैसे ही जैसे अब उसको धर्मदर्शी बनवा दिया गया।"

"वहाँ मात्र प्रेमभाव कारण है, यह कैसे कहा जा सकता है, अप्पाजी?"

"ऐसा नहीं तो और क्या? रानी के पिता होने के सिवा उसमें और क्या योग्यता है।"

"फिर भी इस नियुक्ति में केवल प्रेमभाव कारण नहीं है।"

"फिर और क्या हो सकता है?"

"वह पट्टमहादेवीजी और सन्निधान से सम्बन्धित है।"

"तुमको मालूम नहीं?"

"उन्हीं से पूछकर जान लें तो अच्छा होगा न, अप्पाजी।"

"ठीक, तुमसे पूछने से कोई लाभ नहीं।"

"क्यों, नाराज हो गये अप्पाजी?"

"नाराज नहीं, तुमको समझना ही मुश्किल है!"

"क्यों?"

"जो जानते हो वह भी नहीं बताते।"

"मैं एक परिचारक हूँ। मुझ पर कम-से-कम तीन पीढ़ियों से इस राजमहल ने विश्वास रखा है। मैंने उस विश्वास को यथाशक्ति सुरक्षित रखा है। सेवा-निवृत्त होकर आराम से जीवन-यापन करने के लिए ही सन्निधान और पट्टमहादेवीजी ने मुझे जागीर दान की थी। पर आप ही कहें अप्पाजी, वह धन मेरे किस काम का? इसलिए मैंने तो आखिरी दम तक पट्टमहादेवीजी और उनकी सन्तान की सेवा करते रहने की अनुमति माँग रखी है।...आप गलत न मानें तो एक बात कहूँ?"

"क्या?"

"अप्पाजी, अब आप अपने मन में ऐसे विचार न लाया करें। आपकी अभी चढ़ती उमर है। प्रबुद्ध होकर परिपक्व होनेवाला मन है आपका। अभी अनुभव प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिए, न कि विपरीत दिशा में। फिलहाल कोई अप्रिय धारणा आपके भीतर बैठ गयी है। उसे निकाल देना ही अच्छा है। इसलिए पट्टमहादेवीजी और सन्निधान की वापसी तक विजयोत्सव के लिए नियोजित कामों में, प्रधानजी तथा दूसरों से भी बातचीत करके, लग जाएँ।"

आगे बातचीत करने के लिए विनयादित्य को कुछ सूझा नहीं। उसने रेविमय्या को विदा किया।

उधर क्रीडापुर में केशव भगवान् की प्रतिष्ठा यथाविधि सम्पन्न हुई।

क्रीडापुर उत्साह से छलका जा रहा था। जकणाचार्य के आग्रह से राजदम्पती वहाँ एक सप्ताह तक रहे। प्रतिष्ठा समारोह की सारी व्यवस्था एवं कार्य का निर्वहण ग्रामीणों ने ही किया था। राजदम्पती की विदाई का आयोजन जकणाचार्य ने अपने व्यय से किया।

उस समारोह में चुने हुए कुछ प्रमुख जन ही थे। इर्द-गिर्द के प्रमुख पटवारी, सैनिक, बड़े व्यापारी, शिल्पी, पण्डित आदि; ऐसे ही कुछ और। खान-पान की सुन्दर व्यवस्था थी। आत्मीयता से पूर्ण रही यह विदाई!

विदाई से पहले जकणाचार्य और लक्ष्मीदेवी ने राजदम्पती को वस्त्र भेंट किये। महाराज को एक जोड़ी रेशम की धोती और पट्टमहादेवीजी के लिए एक पीताम्बर तथा कंचुकी मंगल-द्रव्यों के साथ भेंट स्वरूप दी, तथा पैर छूकर प्रणाम किया। हरीश को भी वस्त्र भेंट किया गया।

जकणाचार्य ने राजदम्पती से अनुमति लेकर कहा, "सम्मान्य महाराज और जगन्महती पट्टमहादेवीजी, देश के बुजुर्गों और हितैषी बन्धुओ! मैं इस दिन के लिए आजीवन भूल नहीं सकूँगा, क्योंकि मेरा जीवन अपने स्वरूप को खोकर भँवर में फँसी नैया की तरह डगमग कर रहा था। किनारे लगना असम्भव हो था। उसे सुरक्षित रूप से पार लगानेवाले ये ही राजदम्पती हैं। खासकर इसका श्रेय पट्टमहादेवीजी को जाता है। मैंने सोच लिया था कि मेरा सारा जीवन व्यर्थ गया। मेरे हृदय में अँधेरा छा गया था। उसमें प्रकाश का उद्भव करके, नयी चेतना भरकर उन्होंने मेरे जीवन को जीने लायक बनाया। मनुष्य की मानसिक स्थिति को धन, अधिकार अथवा और किसी तरह का प्रलोभन जब परिवर्तित नहीं कर सकता, तब एकमात्र उसका अन्तःकरण ही उसे बदल सकता है। यह सत्य है कि मैं जिद्दी था, मगर आलसी नहीं। जीवन से विरक्ति उत्पन्न हो गयी थी। परन्तु मेरी कल्पनाशक्ति बन्द नहीं हुई थी। स्वभाव कुछ विचित्र हो गया था। जीवन द्वन्द्वों का एक जमघट-सा हो गया था। किसी का वशवर्ती न था, किसी की दया पर जीना न चाहता था। स्वेच्छा से जीवन-यापन करता था। ऐसे भी लोग थे जो मुझे पागल समझते थे। मैं स्वयं को प्रकट करने के लिए तैयार नहीं था। अनाम बना रहना चाहता था। मेरा अपना स्वभाव इसके लिए सहायक ही रहा। जीतने की सामर्थ्य होते हुए भी किसी विवाद या चर्चा में न उलझकर अपने काम से मतलब रखा। भगवान् श्री रामानुज के आकर्षण में फँस जाने के डर से वहाँ से छिपकर भाग निकला था। यहाँ पट्टमहादेवी के हाथ में शिशु-जैसा बन गया। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ही ऐसा है। उन्होंने मुझमें एक नये जीवन का रोपण किया, मुझमें नयी चेतना डाली। परिणामस्वरूप अपने अविवेक को मैंने स्वयं पहचाना, और अपने कलुषित मन का शुद्धीकरण किया। मैंने अपने परिवार का त्याग कर दिया था। उन्होंने उसके साथ मिलाकर मेरे पारिवारिक जीवन को फिर से सुखी बनाया। एक नयी वास्तु-रचना के

निर्माण की प्रेरणा दी। मैं नहीं रहूँगा, पर जो काम मुझसे करवाया वह चिरस्थायी रहेगा। लोग शिल्पी को चाहे भूल भी जाएँ कोई चिन्ता नहीं, लेकिन शिल्प में रूपित कला से आनन्दित हों तो वही शिल्पी का स्मारक होता है। लोग आगे चलकर शंका भी कर सकते हैं कि कभी जकणाचार्य नामक कोई था भी या नहीं। परन्तु मेरे अविवेकपूर्ण जीवन के किस्से को शायद ही कोई भूल सके। जनश्रुति में यह किस्सा बना रहे तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरा नाम न रहे, यह महत्त्वपूर्ण नहीं, पट्टमहादेवीजी द्वारा प्रेरित यह शिल्प अवश्य स्थायी रहेगा। उनकी कलापूर्ण प्रज्ञा की यह देन लोक-विख्यात हो, इतना ही पर्याप्त है। मुझ जैसे हजारों शिल्पियों को प्रेरित कर शिल्पियों का सृजन करनेवाली शिल्प की देवी हैं पट्टमहादेवीजी।

वे और महासन्निधान, दोनों ने मेरे निमन्त्रण को स्वीकार कर यहाँ तक पधारने का अनुग्रह किया है। इसके लिए मैं और मेरी धर्मपत्नी तथा मेरा पुत्र उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। इतना सब कहने पर भी, नवजीवन पाने पर भी, मैं अपने पुराने स्वभाव से मुक्त नहीं हो पाया। अपने संकल्प के अनुसार अपने इस गाँव क्रीडापुर में केशव-मन्दिर का निर्माण किये बिना अन्यत्र कहीं जा सकना मेरे लिए सम्भव नहीं था। उससे भी असन्तुष्ट न हो उन्होंने मेरी उस हठ को मान्यता देकर इस प्रतिष्ठा-समारोह में पधारकर हमारे इस छोटे-से गाँव को हर्षोल्लास से भर दिया है।

हमारी उन्नति उनकी उदारता का फल ही है। उनकी कृपादृष्टि सदा हम पर बनी रहे, यही प्रार्थना है। आगे कभी भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँगा, यह वचन देता हूँ।" इतना कहकर उन्होंने झुककर प्रणाम किया।

उपस्थित सभी जन सुनने को उत्सुक थे कि महाराज कुछ कहेंगे। प्रतिष्ठा समारोह के समय भी महाराज ने कुछ नहीं कहा, न ही पट्टमहादेवीजी ने। चार-छह क्षण इसी तरह मौन में गुजरे।

ओडेयगिरि के हरीश धीरे से उठे। राजदम्पती की ओर देखा, और बोले, "दो शब्द की अनुमति देने की कृपा करें।"

बिट्टिदेव ने शान्तलदेवी की ओर प्रश्नार्थक दृष्टि से देखा। उन्होंने कहा, "हम भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए हैं, अपनी प्रशंसा के वचन सुनने नहीं। इसलिए इस तरह की बातें अब काफी हो चुकी हैं।"

हरीश ने कहा, "यह प्रशंसा नहीं, कृतज्ञता-ज्ञापन है।"

"एक ही बात है। ऐसी बातों से हमें कुछ उलझन ही होगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

"एक बार अवसर दीजिएगा। मेरी बात यदि सन्निधान को ठीक न लगे तो मैं चुप हो जाऊँगा।" हरीश बोले।

"उनकी तरह आप भी तो हठीले ही हैं न? अच्छा, कहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"एक समय था कि जब ऐसी बात सुन लेता तो खून खौल उठता था। अब ऐसा नहीं होता। वैसे इस तरह के स्वभाव ने प्रवर स्थपति जकणाचार्यजी और स्वयं मेरा भी भला किया है। उनके हठीलेपन से उन्हें सन्निधान का स्नेह-प्रेम मिला, और मुझे उनकी उदारता का परिचय। जकणाचार्यजी के जिद्दी होने के कारण उनकी अपनी जिन्दगी में उत्पन्न सन्देह था। मेरी जिद के मूल में मेरा अहंकार रहा आया। हम दोनों का यह हठीलापन दूर कर हमसे एक महान् कार्य करवा लेनेवालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा कर्तव्य नहीं? मुझे तो दोरसमुद्र के युगल-मन्दिरों के स्थपति के पद की प्राप्ति से भी अधिक आनन्द इन प्रवर शिल्पीजी के मिलाप से हुआ है। जब शिल्पी डंकणजी निमन्त्रण देने गये तब उनकी कही बातों की सत्यता जानकर मेरा दिल भर आया था। उनमें इस तरह की गुणग्राहकता है, इसकी जानकारी मुझे नहीं थी। आज मेरे समस्त अपराधों को क्षमा करके मुझे आशीर्वाद दें कि मैं कीर्तिशाली बनूँ और कृतकार्य होऊँ।" कहकर हरीश ने जकणाचार्य के पैर छुए।

जकणाचार्य का हृदय भर आया। उन्होंने उन्हें कन्धे से उठाया और गाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। "गुण सदा पूजनीय हैं। कला में आयु या वर्ग-भेद के लिए कोई स्थान नहीं। वेलापुरी में मैं अपने पुत्र के सामने झुक गया था न? अगर मैं यह सोचकर कि उसने मेरा अपमान किया उससे द्वेष करता, तो मैंने पट्टमहादेवीजी का जो स्नेह पाया है, उसके योग्य कदापि नहीं रहता। आपने इस युगल मन्दिरों के निर्माण में जो वैविध्य दर्शाया है, सुना है उसमें आप पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। कला स्थायी होकर रुक न जाए, उसे विकसित होते रहना चाहिए, प्रगति-पथ पर आगे बढ़ते रहना चाहिए।" स्थपति जकणाचार्य ने कहा।

"मेरे लिए आज का यह दिन महान् सौभाग्य का दिन है। मुझे इस बात का विश्वास ही नहीं था कि मैं कभी किसी दिन आपकी इस आत्मीयता का पात्र बन सकूँगा। अभी हाल में पट्टमहादेवी का ही आदेश था कि उनके साथ वहाँ आऊँ। मैं तो इस अवसर की प्रतीक्षा में ही था।" हरीश ने कहा।

"यह कला-संगम राष्ट्र की प्रगति का प्रतीक है।" शान्तल देवी ने कहा।

प्रतिष्ठा-समारोह के लिए शिवगंगा के धर्मदर्शी आये थे। उनका अनुरोध स्वीकार कर राजदम्पती दोरसमुद्र के रास्ते में शिवगंगा भी गये। जकणाचार्य, लक्ष्मीदेवी और डंकण राजदम्पती के साथ रहे। शान्तलदेवी और बिट्टिदेव दोनों अपनी जिन्दगी में दूसरी बार एक साथ शिवगंगा के पहाड़ पर चढ़े। वहाँ टीले पर स्थापित वृषभ की परिक्रमा करके, वहीं थोड़ी देर के लिए बैठ गये।

शान्तलदेवी ने पूछा, "स्थपति जकणाचार्यजी, इस क्षेत्र के बारे में आपकी क्या राय है?"

"यह पहाड़ ही एक महान् शिल्प है, पट्टमहादेवीजी! इसके शिल्पी स्वयं भगवान्

शिवजी हैं। इस प्रान्त में रहनेवाले हम सबके लिए यही प्रेरणास्रोत हैं। एक ही प्रस्तरखण्ड के चारों ओर चार तरह की आकृतियाँ रच देनेवाले उस परमात्मा शिव की यह सृष्टि कितनी भव्य है! कितनी व्यापक है! इस कृति में कैसी सांकेतिकता निहित है! उस महान् शिल्पी के सामने हम क्या चीज हैं?'' जकणाचार्य ने कहा।

''वह केवल प्रस्तर में संकेत को रूपित करनेवाला ही शिल्पी नहीं, अन्तरात्माओं को भी रूपित कर मिला देनेवाला शिल्पी है। हम और पट्टमहादेवीजी दोनों एक साथ इस पहाड़ पर यह दूसरी बार आ रहे हैं। प्रथम बार के उस प्रथम दर्शन को हम आजीवन भूल नहीं सकेंगे। शायद पट्टमहादेवीजी को भी यही अनुभूति है। बेलुगोल में जो अंकुरित हुआ, यहाँ वह विकसित हुआ। तब हम दोनों के मन में राजकाज की चिन्ता ही नहीं थी। आप लोगों की तरह हम भी अपनी-अपनी वैयक्तिक आकांक्षाओं में प्रवृत्त थे। तब हम निश्चिन्त थे, किसी प्रकार का दायित्व नहीं था। वह सब स्मरण हो रहा है।'' बिट्टिदेव ने कुछ भावुक होकर कहा।

जकणाचार्य ने कहा, ''हमें इस वृत्तान्त को सन्निधान के मुँह से ही सुनने की अभिलाषा है।''

''पट्टमहादेवीजी की स्मरण-शक्ति हमसे अधिक अच्छी है।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''सन्निधान के मुँह से सुनने को मेरा भी जी कर रहा है।'' शान्तलदेवी ने कहा।

एक तरह से अब निर्णय हो ही गया।

राजधानी से बलिपुर लौटनेवाले हेग्गड़े परिवार के साथ स्वयं बिट्टिदेव और रेविमय्या का बेलुगोल जाना, वहाँ से शिवगंगा आना आदि सभी घटनाएँ बड़ी दिलचस्पी से बिट्टिदेव ने कह सुनायीं। राजदम्पती का मन वास्तव में अतीत के उस वातावरण एवं परिसर में विचरने लगा था। अन्त में कहने लगे, ''वह गुजरा हुआ समय अब लौटने का नहीं। राजनीतिक दबाव में फँसकर हम कई बार जानबूझकर अविवेकपूर्ण काम कर बैठते हैं। उनका परिणाम जब कभी असह्य हो जाता है। जब मानसिक शान्ति नहीं रहती तो सदा युद्ध में ही लगे रहने की इच्छा होती है।'' बिट्टिदेव ने कहा।

''शान्तिधामों में युद्ध की बात ही क्यों? कूडली, बेलुगोल, शिवगंगा—इन तीनों स्थानों ने मुझे तो बहुत शान्ति प्रदान की। यहाँ मुझे पारलौकिक चिन्तन को छोड़कर अन्य कोई बात मन में आती ही नहीं। शिल्पियों द्वारा निर्मित ये मन्दिर भी तीर्थों की तरह ज्ञान और शान्ति प्रदान करें; एक श्रेष्ठ है और दूसरा हीन—इस तरह का भेदभाव फैलाने में सहायक न बनें।''

''यह क्या देवी, अचानक यह श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की अनावश्यक बात तुम्हारे मुँह से क्यों निकली? क्या राजधानी में कोई ऐसी खास बात हुई है?''

''वहाँ जाने पर सन्निधान को आप ही ज्ञात हो जाएगा। इस तरह के पवित्र स्थानों में लौकिक विषयों पर विचार न ही हो तो अच्छा। यहाँ के प्रशान्त वातावरण

में अब नयी अभिलाषा जन्म ले रही है।''

''वह क्या है?''

''युगल-मन्दिरों का कार्य पूरा हो ही गया है। विजयोत्सव के बाद इस स्थान में आकर आत्मशोधन करूँ, ऐसी इच्छा हो रही है। सन्निधान को कोई आपत्ति तो नहीं?''

''इस पर राजधानी में जाकर विचार करेंगे। अपनी इच्छा से तीन-चार दिन ज्यादा यहाँ ठहर गये। कम-से-कम त्रयोदशी तक हमें राजधानी पहुँच जाना चाहिए।'' बिट्टिदेव ने कहा।

और इस प्रकार ठीक त्रयोदशी को राजपरिवार वापस राजधानी आ गया।

इस बीच रानी लक्ष्मीदेवी, राजकुमार और तिरुवरंगदास मनौती पूरी कर वेलापुरी से लौट आये थे।

राजधानी लौटने पर राजदम्पती को रानी लक्ष्मीदेवी की वेलापुरी की यात्रा के बारे में ज्ञात हुआ। दोनों आश्चर्यचकित हो गये। तब तक उन्हें इस मनौती के बारे में कुछ पता ही नहीं था, तो आश्चर्य क्यों न होता! फिर भी उन्होंने उसे प्रकट नहीं होने दिया। और तो और, केवल 'खुशी की बात है', कहकर उस पर किसी तरह की चर्चा करने का मौका भी नहीं दिया।

यदि उस तरह की मनौती की कोई बात उठती तो गंगराज को पहले से मालूम हो जाती थी। परन्तु वह कुछ कहने की स्थिति में नहीं थे। राजदम्पती के आशय को वह समझ चुके थे, इसलिए वे भी चुप्पी साध गये।

षड्यन्त्र से सम्बद्ध तथा न्याय-विचार से प्रकट हुए कुछ लोगों को पकड़कर राजधानी में बुला लाने के लिए गुप्तचर भेजे गये थे। उनके प्रयत्नों से कुछ व्यक्तियों को, जिनके ऊपर सन्देह था, राजधानी में बन्दी बनाकर लाया गया था।

राजदम्पती के लौटने के दो-चार दिनों के अन्दर ही फिर न्याय-मण्डल बैठा। सभी अभियुक्तों पर पुनः न्याय-विचार हुआ। फलस्वरूप इतना स्पष्ट हो गया कि पोय्सलों की इस प्रगति को सह न सकने वाले उनके शत्रुओं ने राज्य में भ्रान्ति पैदा करके, एकता को तोड़ने के लिए कुछ साधारण लोगों को इस चक्कर में डाला है। रानी लक्ष्मीदेवी और तिरुवरंगदास के नाम भी कई बार उस सन्दर्भ में लिये गये। वैसे ऐसा कोई पक्का प्रमाण नहीं मिला कि रानी लक्ष्मीदेवी या तिरुवरंगदास ने सीधे तौर पर किसी को इस कार्य के लिए उकसाया है। दण्डनाथ केलदहत्ति नायक के नाम को भी

चर्चा रही। अन्ततः यह निर्णय हुआ कि सिंगिराज और गोज्जिगा इन दोनों की इस षड्यन्त्र में प्रमुख भूमिका रही है।

रानी लक्ष्मीदेवी की दासी मुद्दला गायब हो गयी थी, इसलिए उसे न्यायपीठ के समक्ष उपस्थित नहीं किया जा सका। इस वजह से सिंगिराज ने जो वक्तव्य दिया था उसका कोई प्रमाण नहीं मिल पाया। उसका वक्तव्य देहरी-दीप की तरह रहा। यह बात तभी प्रमाणित होती जब मुद्दला द्वारा यह जानकारी मिलती कि पट्टमहादेवीजी की हत्या की प्रेरणा रानी लक्ष्मीदेवी और तिरुवरंगदास की ओर से थी।

कभी किसी सन्दर्भ में तिरुनम्बि और शठगोप ने भी यह घोषणा की थी कि वे श्रीवैष्णव की प्रगति के लिए कटिबद्ध हैं और श्रीवैष्णवों के विरोधियों का प्राण-पण से सामना करेंगे। अतः उनको भी इस षड्यन्त्र से सीधे सम्बन्धित मानकर बुलवा लिया गया था। जब उनसे पूछा गया कि इस तरह की घोषणा के पीछे उन लोगों का क्या आशय था तो उन्होंने न्यायपीठ के सामने यही कहा कि श्रीवैष्णव धर्म के प्रचार से जिनधर्म को आघात पहुँचा है इसलिए क्यों न श्रीवैष्णव धर्म का नामो-निशान मिटा दिया जाए!—इस तरह की घोषणा जिनधर्मियों ने पनसोगे में की थी। इसे सुनकर इन लोगों का आक्रोश बढ़ गया था।

अन्त में न्यायपीठ ने पूछा, "रानी लक्ष्मीदेवीजी से हम तहकीकात कर सकते हैं? इसमें कोई आपत्ति तो नहीं? सन्निधान इस बारे में आदेश देने का अनुग्रह करें।"

"ऐसे खोटे विचार पोय्सल रानी के दिमाग में आएँ, इसकी सम्भावना नहीं। षड्यन्त्रकारियों की बातों से, उनके सामने न्यायपीठ को झुकने की जरूरत नहीं। मुद्दला को बुलवाइए, नहीं तो अपना निर्णय सुना दीजिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

चाविमय्या आगे आया और झुककर प्रणाम किया।

गंगराज ने पूछा, "कुछ कहना है?"

"हाँ।" उसने कहा।

"पहले शपथ लो और फिर जो कहना चाहते हो कहो।"

चाविमय्या ने शपथ ली और निवेदन किया, "मुद्दला अब जीवित नहीं है, उसकी हत्या कर दी गयी है।"

"किसने हत्या की? कहाँ और कब?" गंगराज ने पूछा।

"एक पखवाड़ा गुजर गया। मुझे लगता है कि सिंगिराज से इस न्याय विचार के मौके पर जब तहकीकात की गयी थी तब मुद्दला की जो बात उठी, वही इस हत्या का कारण है।"

"हत्यारे का पता लगा?"

"गुप्तचर इसका पता लगाने की कोशिश में लगे हैं।"

"पहले ही यह बात क्यों नहीं बतायी गयी?"

"हत्या करनेवाला पकड़ में आ जाए तो सारी बातें स्पष्ट हो जाएँगी, यही विचार कर चुप रहा। इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।"

गंगराज बोले, "तो मतलब यह हुआ कि अभी निर्णय नहीं लिया जा सकेगा!"

"मुद्दला के मुँह से निकलने वाली बात इस हत्या का मूल कारण थी। मतलब यह कि सत्यांश को जाननेवाले लोग हैं, लेकिन उनका पता नहीं लग सका है। इसलिए अभी निर्णय स्थगित ही रखा जाए।" बिट्टिदेव ने कहा।

उन्होंने जब यह बात कही तब उनकी दृष्टि तिरुवरंगदास पर केन्द्रित रही। इस न्याय-विचार को विनयादित्य बहुत ध्यान लगाकर सुन रहा था। महाराज की इस दृष्टि को उसने भाँप लिया। उसने समझ लिया कि पिताजी को भी कुछ ऐसा ही लगा है जैसा स्वयं उसे। इस बात को जाननेवाले लोग हैं, लेकिन उनका पता नहीं चल सका है, सन्निधान की इस बात में जो आशय छिपा है वह उनकी दृष्टि से व्यक्त हो जाता है—यह विनयादित्य की समीक्षा थी।

पादिराज ने कहा, "सिंगिराज और गोज्जिगा इन दोनों का इस तरह का विद्वेष फैलाने में सीधा हाथ है—यह तो निर्णय हो ही चुका है और इसके लिए साक्ष्य भी हमें प्राप्त हैं। कुछ लोग अन्धों की तरह अँधेरे में बढ़ने वालों के पीछे भी चले हैं। इस षड्यन्त्र के दो मुद्दे हैं। एक, जनता में एकता को तोड़ने के लिए किया गया प्रचार; दूसरा, उसका प्रेरणास्रोत। इस दूसरे के लिए फिलहाल साक्ष्य अपूर्ण हैं। पहली बात के लिए प्रमाण मिल जाने के कारण कम-से-कम उस अंश पर न्यायपीठ निर्णय दे सकती है। यों ही सभी बातों को स्थगित करने से उन लोगों को भी बन्धन में रहना पड़ेगा जिन्हें क्षमा किया जा चुका है। सन्निधान और हमारे इस न्याय-मण्डल के अन्य दो सदस्य यदि स्वीकृति दें तो उस एक अंश पर निर्णय सुनाया जा सकता है।"

शान्तलदेवी ने कहा, "यह विषय न्यायपीठ से सम्बन्धित है। अच्छा होगा यदि निरपराध दण्डित न हों, इस आधार पर न्यायपीठ स्वयं ही विचार करे।"

तीनों न्यायाधीशों ने आपस में विचार-विमर्श किया। बाद में गंगराज ने कहा, "न्यायपीठ का तात्कालिक निर्णय सुनाने के लिए फिलहाल दो दिन का समय और लगेगा। तब तक के लिए न्याय-विचार सभा स्थगित की जाती है।"

उस दिन की यह सभा विसर्जित हुई। सभी जन अपने-अपने निवासों तथा नियुक्त स्थानों की तरफ चले गये।

छोटे कुँवर बिट्टिदेव और विनयादित्य एक जगह एकान्त में मिले। विनयादित्य ने इस बारे में अपने अनुभव अपने बड़े भाई को सुनाये। साथ ही उस सम्बन्ध में अपनी माँ और रेविमय्या से जो चर्चा की थी उसका सार भी बताया। अन्त में कहा, "मुझे तो पहले ही लगता था कि छोटी रानी की तरफ से कभी-न-कभी परेशानी होगी। मगर बालक समझकर किसी ने मेरी बातों की परवाह नहीं की। पिताजी और माँ जब

क्रीडापुर गये थे तब वह छोटी रानी साथ न ले जाने के कारण मुँह फैलाये बैठी थी। और अपने पिता को साथ लेकर वह वेलापुरी चली गयी। क्यों गयी सो तो भगवान् ही जाने! माँ कहती है कि 'शस्त्र कुछ रोक ही लाएगा। प्रेम से बढ़कर कोई अस्त्र नहीं है।' वे अपने मार्ग से हटने का नाम नहीं लेतीं। क्या किया जाए! जब तक वे हैं तब तक ऐसी कोई बड़ी समस्या नहीं उठेगी, फिर भी आगे चलकर परेशानी तो होगी ही। इसलिए हम दोनों को इस सम्बन्ध में सोच-विचार कर अपना ही कोई रास्ता ढूँढ़ लेना होगा।''

''हमें ऐसा कोई काम नहीं करना है जो माँ को पसन्द न हो।''

''फिर भी हमें अपने भविष्य के बारे में सोचना चाहिए न? अपनी उदारता और प्रेम के फलस्वरूप छोटी रानी की इस हठ को, कि उसके बेटे का ही राज्याभिषेक किया जाना चाहिए, माँ स्वीकार कर बैठेंगी तो क्या हमें उसके अधीन रहना होगा?''

''सो तो नहीं हो सकता। चाहे किसी को कुछ भी दे देवें, हमें स्वतन्त्र रूप से जितना मिलना चाहिए उतना अवश्य मिलेगा। हम तीनों में एकता रहेगी तो वे कर क्या सकेंगे?''

''तुम बड़े अप्पाजी से बातचीत करो।''

''पहले चोकिमय्या से बात करूँगा, बाकी बाद में देखेंगे।''

''चोकिमय्या क्या कर सकते हैं?''

''वह हमारे राज्य के बड़े सैन्याधिकारी हैं। उनका अनुमोदन हमें मिले तो हमारी योजना के लिए वह सब सहायक होगा।''

''तो मतलब यह हुआ कि हमें अपनी मदद के लिए अभी से दण्डनाथों का सहयोग प्राप्त कर रखना चाहिए। यही न?''

''बुरा वक्त आ जाए तो उसके लिए यह तैयारी आवश्यक है। यों तो चोकिमय्या विजयोत्सव के लिए मेरे साथ आये ही हैं, उनसे परामर्श कर लूँगा।''

''परन्तु बात फैलने लगी तो खतरा होगा!''

''चोकिमय्या के बारे में यों डरने की जरूरत नहीं। उनका मुझ पर कितना प्रेम और गौरव है, जानते हो? मेरे लिए जान तक देने को तैयार हैं। मैंने अभी यह बात किसी से कही नहीं। उन्होंने भी यही कहा कि किसी को न बताएँ। उन्होंने मेरे लिए अपने प्राणों को गरुड़ (धरोहर) बना रखा है।''

''क्या! प्राणों का गरुड़! तो क्या उन्होंने बायें पैर में 'गरुड़-पेंडेर' धारण कर रखा है?''

''हाँ, मुझे जब पूर्वी प्रान्त में भेजा गया तब वह मेरे रक्षक बनाकर भेजे गये थे। माँ ने भी उन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बतायी हैं। उसी का फल है यह प्राणों का गरुड़—अपने प्राणों को धरोहर बना देना।''

"ऐसा है तो तुम्हें जैसा सूझे, करो। विजयोत्सव की समाप्ति तक हममें कोई इस बारे में कुछ न सोचे। बाद में देखा जाएगा। तब शायद छोटी रानी तलकाडु या यादवपुर जाएगी।"

"वह कहीं रहे, उससे हमें क्या? हम न तो अन्धे हैं, न बहरे। बाहर रहकर राजकाज देखते रहने से अब हमें काफी अनुभव हो गया है। तुम किसी तरह की चिन्ता मत करो। विजयोत्सव तक चुपचाप देखते रहेंगे कि यहाँ क्या सब होता है।"

यों निश्चय करके उन्होंने अपनी बातचीत को पूर्ण विराम दे दिया।

दो दिन बाद फिर न्याय-मण्डल बैठा। निर्णय सुनाया गया। सिंगिराज और गोज्जिगा को आजीवन कारावास! उनके साथ सम्मिलित चार सहकर्मियों को सबके सामने लाठी प्रहार और फिर देश निकाला! शेष चार को छुटकारा! पनसोगे के इन्द्र को छह साल का कारावास!

निर्णय सुनाने के बाद भी उधर चाविमय्या के अधीनस्थ गुप्तचर मुद्दला के हत्यारों की खोज में लगे रहे। इधर राजधानी में विजयोत्सव की तैयारियाँ तेजी से चल रही थीं।

इस अवधि में शान्तलदेवी अपना अधिक समय इन युगल-मन्दिरों में व्यतीत करती रहीं। जकणाचार्य और डंकण के लिए इससे अधिक प्रिय और क्या कार्य हो सकता था? हरीश ने उनकी उपस्थिति का पूरा लाभ उठाया। पट्टमहादेवीजी के आदेश से इस मन्दिर में देव-समन्वय के कार्य को परिष्कृत किया गया। जकणाचार्यजी की उपस्थिति के कारण अन्य शिल्पी भी बड़ी स्फूर्ति से काम में लगे हुए थे। एक दिन मन्दिर के निर्माता केतमल्ल ने, और महादेवी लिंग की प्रतिष्ठा के बाद नव-जीवन प्राप्त करनेवाली उनकी माता ने आकर जकणाचार्य को प्रणाम किया और कहा, "अब तक जो कार्य हुआ है, उसके अलावा कुछ और करने का सुझाव देंगे तो उसे भी करवाएँगे।" केतमल्ल की माँ वृद्धा थीं फिर भी युवाओं जैसा उत्साह उनमें था। कहने लगीं, "देखिए स्थपतिजी, मैं समझती थी कि इस प्रतिष्ठा के पहले ही ईश्वर मुझे संसार से उठा लेगा। मैं अन्तिम साँसें गिन रही थी जब यह प्रतिष्ठा हुई। ईश्वर ने अनुग्रह किया, मेरी इच्छा पूर्ण हुई। देखिए, भगवान् कितना करुणामय है! इस मन्दिर का निर्माण आप ही द्वारा हो, यही मैं चाह रही थी। उस समय आपने कृपा नहीं की। फिर भी इन युवा स्थपतिजी ने अपने सारे बुद्धिचातुर्य का उपयोग कर बड़ी श्रद्धा और भक्ति से इसका निर्माण किया है। हमारी पट्टमहादेवीजी ने रात-दिन एक कर इन स्थपति के माध्यम से इन मूर्तियों को सजीव रूप दिया है। इसे देखकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ है। इस अवसर पर ईश्वर की कृपा से आप भी यहाँ पधारे हुए हैं और इसे पूर्ण रूप दे रहे हैं। मेरी शुरू-शुरू की जो अभिलाषा थी वह भी पूरी हो गयी। यह सब देखने की खुशी का अनुभव करने के लिए ईश्वर ने मुझे जीवित रखा है न?

इससे बढ़कर सौभाग्य की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है!''

जकणाचार्य ने कहा, ''माँ, आपका संकल्प ही अत्यन्त उत्तम है। उसके अनुरूप आपको तृप्ति भी मिली। इसमें हम मात्र निमित्त हैं। हमारा सहयोग स्वीकार करनेवाली सूत्र-शक्ति-स्वरूपिणी तो हमारी पट्टमहादेवीजी हैं। उन्हीं के कारण वेलापुरी के केशव भगवान् तथा यहाँ के पोय्सलेश्वर और शान्तलेश्वर भगवान् के भव्य मन्दिर बने हैं। शिव, विष्णु, और जिनदेव में किसी तरह की भिन्नता न देखनेवाले उस सत्त्व-पूर्ण व्यक्तित्व की प्रेरणा न होती तो कुछ नहीं हो सकता था। उनके सत्संग से अपने जीवन को सुधारने की आकांक्षा रखनेवाले हम सब बड़े भाग्यवान हैं।''

''यह बात मैं हजार बार कहूँगी। मैं अपनी ससुराल इस राजधानी में जबसे आयी तब से सभी रानियों को देखा है। केलेयब्बरसीजी, रानी एचलदेवीजी, उनके बाद मरियाने दण्डनायक की पुत्रियाँ जो रानियाँ बनीं, उन सबको देखा है। प्रत्येक अपने-अपने ढंग की थीं। केलेयब्बरसीजी बहुत ही गम्भीर प्रकृति की थीं। उन्हें बातें करते बहुत ही कम सुना। कभी बोलना होता तो एक-दो बातें ही मुँह से निकालतीं, वे भी मोती जैसी होतीं। राजमहल के बाहर उन्हें किसी ने कभी नहीं देखा। एचलदेवीजी भी उनकी तरह उतनी ही गम्भीर प्रकृति की थीं, परन्तु उनकी उपस्थिति से दस लोगों की उपस्थिति का भान होता था। बहुत ही दयालु। सरलता इतनी कि साधारण लोगों के साथ भी आत्मीयभाव से व्यवहार करती थीं, कभी कोई कठोर वचन उनके मुँह से निकलते ही न थे। कभी साल-दो साल में एक बार मन्दिर में दर्शन करने राजमहल से निकलतीं तो उनके दर्शन का भाग्य हमें भी मिल जाया करता था। उनके बाद की रानी पद्मलदेवी की चर्चा तो सारे नगर में चलती रही। रानी क्या बनीं, अपने को बहुत बड़ा मानती थीं। परिचितों से बातें करना भी अपना अपमान समझती थीं। उनकी बहनें उनसे कहीं अच्छी थीं, उनमें घमण्ड नहीं था। मगर ये पट्टमहादेवीजी, पहले जैसी रहीं अब भी वैसी ही हैं। जहाँ काम हो वहीं वे हाजिर हैं; छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का कोई विचार नहीं। सबसे प्रेम से मिलती-जुलती हैं, फिर भी अपनी गम्भीरता के कारण, लोकमानस में आदरणीय एवं गौरवपूर्ण स्थान उन्होंने प्राप्त कर लिया है। उनका व्यक्तित्व ही विशिष्ट है। इसीलिए कहा कि हजार-हजार बार कहूँगी। क्या उनकी तरह सभी रानियाँ हो सकती हैं?''

''पाँचों उँगलियाँ एक-सी नहीं होतीं। सभी की चिन्ता क्यों की जाय? मैंने एक ही रानी को देखा है। उनकी वजह से मुझे साक्षात्कार मिला है। फिर दूसरे की चिन्ता ही क्यों?''

''फिर भी बगल में बैठी देखते हैं तो कैसा प्रतीत होता है, जानते हैं?''

''कैसा प्रतीत होता है?''

''जैसे सिंहासन पर चूहे। पद मिल सकता है, मगर पद के अनुरूप आचरण न

करना उस पद का अपमान ही तो करना है। उन्हें देखकर प्रजा-जन में गौरव की भावना उत्पन्न न हो और पीठ-पीछे लोग उनके बारे में उल्टी-सीधी कहते फिरें तो राजमहल के गौरव पर बट्टा नहीं लगेगा?"

"तो आपका मतलब है कि अभी ऐसा कुछ घटित हुआ है।"

"स्थपतिजी, हमारे विचारों की परवाह किसे है? हम तो जल्दी ही परलोक सिधारनेवाले हैं। क्या यह कोई साधारण बात है कि छोटी रानी पट्टमहादेवीजी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे? ऐसा करके वह किस रौरव नरक में जाएगी?" केलेयब्बे के स्वर में आवेश था।

"ये सब कहीं-सुनी बातें हैं—सत्य से दूर। बाहरी राज्यों के बैरियों के द्वारा फैलाया हुआ विद्वेष भाव।..."

"स्थपतिजी, आपको ज्ञात नहीं। आप कहीं दूर पर रहते हैं। जब महाराज और पट्टमहादेवी जी आपके यहाँ आये थे तब यह छोटी रानी अपने पिता को साथ लेकर बेलापुरी गयी हुई थी।" केलेयब्बे ने कहा। केतमल्ल ने संकेत से बताना चाहा कि इन सब बातों को कहने की क्या आवश्यकता, मगर कह नहीं सके।

"सुना है मनौती चुकाने के लिए गयी थी?"

"वह तो एक बहाना है। सुना है वहाँ बाप-बेटी ने पट्टमहादेवीजी के बारे में जी भर के चर्चा की। उन्होंने उन पर ऐसा आरोप लगाया है कि वे महाराज को जादू-टोने से अपने वश में कर जैसा चाहे नचाती रहती हैं। कुछ ऐसा कर दिया है कि महाराज उनको छोड़कर शेष सभी रानियों को धूल बराबर समझते हैं। इतना ही नहीं, श्रीवैष्णव धर्म को पोय्सल राज्य से ही दूर कर देने के नाना प्रकार के उपाय रचती रहती हैं। इसके लिए इस बार व्यापक रूप से एक धार्मिक आन्दोलन चलाने की तैयारियाँ कर रही हैं। इस बार के विजयोत्सव को इसकी भूमिका तैयार करने की सोच रही है। वह छोटी रानी इस तरह अण्ट-सण्ट बातें कर रही है, यह सब सुनने में आया है।"

"आपको ये सारी बातें कैसे मालूम हुईं?"

"मेरा भाई राजमहल में गुप्तचर है।"

"गुप्तचर इस तरह दूसरों को बातें नहीं बताते!"

"ऐसा क्या? मुझे यह मालूम नहीं था। उसे यह सब सुनकर बहुत गुस्सा आ गया होगा, सो अपना जी हल्का करने के लिए कह दिया होगा। छोटी रानी के बाप के बारे में भी उसके अच्छे विचार नहीं हैं।"

"कुछ भी हो, उन्हें ये सारी बातें आपसे भी नहीं कहनी चाहिए थीं। उन्हें समझा दीजिए कि राजमहल की बातों को यों कभी किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया करें।"

"ऐसी बातों को छिपा रखने से पट्टमहादेवीजी का बड़ा अहित होगा, स्थपतिजी! यह सब तो सारी प्रजा को मालूम होना ही चाहिए। उस छोटी रानी को इस दुर्बुद्धि का

क्या दण्ड मिलना चाहिए, मालूम है? अनाथ की तरह जहाँ से आयी थी, वहीं वापस भेज दिया जाय।"

"आप भी जोश में आकर कह रही हैं। सच है, सबको ठीक करने की क्षमता पट्टमहादेवीजी में है। वे नीच-से-नीच शत्रु को भी अपनाकर उसे सही रास्ते पर ले आती हैं।"

"कभी-कभी लगता है कि वे आवश्यकता से अधिक क्षमाशील हैं। जूतों को सिर पर कहीं रखा जाता है? शिव-विष्णु एक ही धर्म के अनुयायियों के आराध्य हैं। जैनधर्म की अनुयायी होकर भी पट्टमहादेवीजी सभी धर्मों के प्रति आदर रखती हैं। उसके एक अंश बराबर भी उदार दृष्टि उस छोटी रानी में नहीं। ऐसी उदार दृष्टि उसमें कभी हो ही नहीं सकेगी।"

"उससे आपको क्या हानि? धर्म-बुद्धि से आपने एक पवित्र और स्थायी कार्य करवाया है। कोई एक इधर नहीं आया तो उसके लिए आपको दुखी नहीं होना चाहिए। आपके इस महान् कार्य से आपका समूचा वंश पुण्य का भागी होगा, सद्गति पाएगा।"

"उतना ही पर्याप्त है। मैं बूढ़ी जो ठहरी, जो जी में आया बोल गयी। पट्टमहादेवी जी के आप बहुत आत्मीय हैं, इसलिए कह बैठी। इस मन्दिर में आपके दर्शन पा सकी न, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए! चलिए, भगवान् महादेव की आरती सम्पन्न कराएँगे।" कहती हुई केलेयब्बे ने गर्भगृह की ओर कदम बढ़ाये। बात पूरी होते देख केतमल्ल भी गर्भगृह की ओर चल पड़े।

जकणाचार्य और डंकण दोनों उनके पीछे-पीछे चलने लगे। दोनों मन्दिरों में महादेवजी की आरती के सम्पन्न हो जाने के बाद, केलेयब्बे और केतमल्ल वहाँ से चले गये। जकणाचार्य, डंकण और हरीश—तीनों ने एक बार मन्दिर की परिक्रमा की, फिर स्थपति के मुकाम पर आकर बैठ गये।

हरीश ने जकणाचार्य से कहा, "पूज्य! इसमें मेरा अपना कुछ नहीं। सब कुछ आप ही का अनुकरण है। दोनों मन्दिरों को एक समान रूपित करने का प्रयत्न भर मेरा है। समय-समय पर पट्टमहादेवीजी के दिशा-निर्देश का लाभ मिलता रहा। इन भित्तियों के परिष्करण एवं समन्वय का काम उन्हीं के दिग्दर्शन का फल है। आप भी कुछ सलाह देंगे तो उसका हृदय से स्वागत करूँगा।"

"सभी परिष्कृत ढंग से रूपित जब हैं तो सलाह की गुंजाइश कहाँ? अनुकरण होने पर भी, जैसा कहा, अनुकरण नहीं। मैंने भी अनुकरण किया है। परम्परा ही हमारे लिए आधार-भूमि है, ऐसी हालत में अनुकरण ही मूल है। फिर भी रूप और अलंकार भिन्न होते हैं। हमारी रुचियाँ और परिकल्पनाएँ अलग-अलग होती हैं, यह विविधता उसी का फल है। कलाकार वर्तमान से अधिक भविष्य की ओर विशेष दृष्टि रखता है। नहीं तो वह कला आगे की पीढ़ियों के लिए आकर्षक नहीं बन पाती है। पहले

का अनुभव, वर्तमान की प्रज्ञा एवं भावी का ज्ञान, इन तीनों का प्रतिनिधि है कलाकार। भगवान् ने आपके हाथों से बहुत ही उत्तम कार्य करवाया है। आप दीर्घायु बनें, आपकी कीर्ति चिरस्थायी रहे।''

''आप जैसे शिल्पाचार्यों की छाया में हम जैसे रहें, यही क्या कम है? अभी से इस शैली के शिल्प को लोग पोय्सल-शिल्प, जकणाचार्य-शिल्प कहने लगे हैं। वही नाम रहा तो उसमें हम सभी सम्मिलित हैं। मैंने एक गलती की है, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।''

''वह क्या है?''

''आप महान् हैं, आपको अपने नाम की चिन्ता नहीं, विरुदावली की चाह नहीं। आप निर्लिप्त हैं। कहीं भी अपना नाम तक अंकित नहीं किया। परन्तु मैं?''

''अंकित नहीं भी किया तो क्या हुआ? मेरे साथ काम करनेवाले बहुतों ने अपने-अपने नाम अंकित कर रखे हैं।''

''उन सबने अपने विरुद और नाम मात्र लिख रखे हैं। मैं भी कितना मूर्ख हूँ, मैंने उन पर एक सींग भी जड़ दिया है। लगता है वह गलत है।''

''सो क्या?''

''आइए, दिखाऊँ।''

वहाँ जाकर देखने पर जकणाचार्य ने कहा, ''यह तो सच है और सचाई से किसी को कभी डरना भी नहीं चाहिए। दोषपूर्ण शिला से मैंने विग्रह बनाया। शिला दोषपूर्ण है, इस सत्य को मेरे ही बेटे ने मेरे ही सामने स्पष्ट दिखा दिया। हम दोनों ने सत्य के सामने सिर झुकाया न? वेलापुरी आपको ठीक नहीं लगी, आपने यह बात स्वयं रूपित की है। भविष्य में कोई इस बात पर विचार करे कि आपको वेलापुरी क्यों ठीक नहीं लगी तो करता रहे। इस मन्दिर का निर्माता मैं ही था, इस बात पर भी भविष्य में लोग शंका करें, यह भी सम्भव है। क्योंकि जब तक वह मन्दिर रहेगा, और वह मण्डूक-गर्भ चेन्निगरायस्वामी विराजमान रहेंगे तब तक हमारी यह गाथा भी प्रचलित रहेगी। यह गाथा एक दन्तकथा मानी जाएगी और इसके लिए साक्षी के अभाव में कुछ लोग इस पर अविश्वास भी करने लगेंगे। ऐसे भी लोग होंगे जिनके आलोच्य विषय हम खुद बनेंगे। दोड्डगद्दवल्ली के स्थपतिजी ने अपना नाम उत्कीरित करके एक ऐतिहासिक आधार स्थापित किया है। मैंने वेलापुरी में अपना चिह्न तक नहीं छोड़ा। आपने यहाँ के स्थपति होने पर भी यह लिखा है कि वेलापुरी आपको रास नहीं आयी। तीनों बातें सत्य ही हैं। अच्छा काम किया, कोई हानि नहीं।''

''न करते तो भी शायद अच्छा होता!'' डंकण ने कहा।

''पीढ़ी-दर-पीढ़ी विचार बदलते रहते हैं, इस बात के लिए यही प्रमाण है। हरोशजी के विचार भी मुझसे भिन्न हैं, मैं पुराना हूँ। तुम्हारी तरह भी वह नहीं सोचते।

दोनों से कुछ अलग ही ढंग है उनका। एक बात सुनिए हरीशजी! देखने में दोनों मन्दिर एक-से लगते हैं फिर भी वास्तु की दृष्टि से दोनों अलग-अलग हैं। भिन्नता में एकता को आपने रूपित किया है। वास्तव में बहुत ही प्रशंसनीय बात है यह। इस युगल-मन्दिर में सौन्दर्य बढ़ाने और सजावट से अलंकृत करने के लिए काफी गुंजाइश भी रख छोड़ी है। चाहें तो आनेवाली पीढ़ियाँ नयी-नयी कृतियों से इसकी सुन्दरता बढ़ा सकती हैं। तात्पर्य यह कि नयी-नयी कृतियों को अपनाते हुए इस मन्दिर का विकास किया जा सकता है, इतना इसमें अवकाश दे रखा है। इस दृष्टि से यह अभी अपूर्ण है, फिर भी कितना आकर्षक है!"

"धन्य हुआ। इस मन्दिर के निर्माण में सहयोग देनेवाले सभी शिल्पी आपकी उपस्थिति से बहुत आनन्द-विभोर हैं। मेरे रेखाचित्र के अनुसार अभी बचा-खुचा जो कार्य है वह एक पखवाड़े के अन्दर-अन्दर पूरा हो जाएगा, ऐसी आशा है। आरम्भ में जो तेजी रही वह धीरे-धीरे कम होती गयी। अब, आपके आगमन के बाद, सभी शिल्पी दुगुने उत्साह से निर्माण कार्य में जुट गये हैं। विजयोत्सव तक मेरी जिम्मेदारी समाप्त हो जाएगी। तब तक आप यहीं रहें तो यह हमारा सौभाग्य होगा।"

"इस अवधि में मंदिर पूरा होने के विचार से शीघ्रता न करें। जल्दबाजी में कला का कार्य बिगड़ जाने का डर रहता है। इस बीच एक बार वेलापुरी हो आने की सोच रहा हूँ। सुविधा हो तो आप भी साथ चलें।"

"क्षमा करें। अभी इस कार्य में ही मेरा चित्त है।"

"आपकी इच्छा।"

इतने में मंचण वहाँ उपस्थित हो गया।

"ओफ! भोजन का समय हो गया, यह याद दिलाने आये? अच्छा, चलता हूँ हरीशजी!" कहते हुए जकणाचार्य डंकण के साथ मंचण के पीछे चल दिये।

अनन्तर राजदम्पती की अनुमति पाकर पिता-पुत्र वेलापुरी के लिए रवाना हो गये। मंचण भी साथ रहा।

विजयनारायण और मण्डूकगर्भ चेन्निगराय दोनों के दर्शन किये। अपने जाने के बाद मन्दिर का जो विस्तार हुआ उसे देखकर जकणाचार्य बहुत खुश हुए। परिकल्पना के अनुरूप बड़ा अहाता उस मन्दिर को प्राप्त हो गया था। बाद में यह केवल देवमन्दिर न रहा, ज्ञान-मन्दिर भी बन गया। शैव-जैन-वैष्णव सिद्धान्तों का अध्ययन परम्परागत रीति से बराबर चल रहा था। संगीत, साहित्य, और नृत्य का शिक्षण पूर्ण उत्साह के साथ चल रहा था। वास्तुशिल्प विद्यालय, जो उस समय शुरू हुआ था, नये निर्माण की ओर अग्रसर था। देश के युवा जन ज्ञानार्जन में लगे हुए थे। यह सारी प्रगति देखकर जकणाचार्य का हृदय आनन्द से भर उठा। यह स्थान, जो अपने जीवन के लिए सुख-संगम-स्थान था, ज्ञानसंगम का भी पवित्र स्थान बन गया—यह विचार कर वह फूले

न समाये। एक दिन शाम को वे बेटे के साथ, युगची नदी के तीर पर बैठे थे। इधर-उधर की बातें करते हुए उसी सिलसिले में पिता ने पुत्र से कहा, "देखो डंकण, सार्वजनिक हित ही पट्टमहादेवीजी का ध्येय है। ऐसी देवी के खिलाफ लोग षड्यन्त्र करें? इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य कितना गिर चुका है!"

"स्वार्थ ही इसका मूल है न? दूसरे क्या सोचते हैं, उनकी क्या इच्छा है, हमारे उनके विचार समान हैं या नहीं, यदि नहीं तो क्यों, क्या आपस में समझा-बुझा नहीं सकते, समन्वय नहीं कर सकते? आदि बातों पर हम विचार ही नहीं करते। इसीलिए ऐसा सब होता है। है न? आपने इस राजमहल के बारे में सारी बातें बतायी हैं। विजयनारायण की प्रतिष्ठा के अवसर पर क्या सब गुजरा सो भी मुझे ज्ञात है। इस सबका कारण धार्मिक दुराग्रह है। उस छोटी रानी को किस बात की कमी है? कहीं किसी कोने में तिलकधारी वेदपाठी से शादी कर पड़ी रहती। अब वह रानी है, पट्टमहादेवीजी की ही कृपा से। यह पट्टमहादेवीजी की उदारता थी सो भी आपने बताया था। उसे तो जिन्दगी भर उनका कृतज्ञ होना चाहिए। लेकिन कृतज्ञ होना तो दूर..."

"गरीब एकदम धनी हो जाए, तो आधी रात छतरी तानने लगता है—यह लोकोक्ति नहीं सुनी? यह भी कुछ ऐसा ही है। छोटी रानी की अभिलाषा है कि भविष्य में उनका बेटा सिंहासन पर बैठे।" बीच में मंचण बोला।

"ऐसा कहीं सम्भव है? आगे चलकर पट्टमहादेवीजी का बड़ा बेटा सिंहासनारूढ़ होना चाहिए, परम्परा यही है।"

"परम्परा की चर्चा करनेवालों के लिए धर्म का त्याग करना उचित होगा? वह धर्मदर्शी यों कानाफूसी करते फिरते हैं। उनका यही कहना है कि भविष्य में श्रीवैष्णव मतावलम्बी को ही पोय्सल सिंहासन मिलना चाहिए।"

"तुम्हें यह बात कैसे मालूम हुई, मंचण?"

"जहाँ भी श्रीवैष्णव हैं, वहाँ वे आपस में ऐसा ही कुछ कहते सुने गये हैं।"

"तो क्या ये लोग पट्टमहादेवीजी को गौरव की दृष्टि से नहीं देखते?"

"उनके समक्ष विनीत भक्त बनते हैं। पीठ-पीछे उनका ढंग ही अलग है। वे धर्म को भुनानेवाले हैं, न्याय और मानवीयता से उन्हें कुछ नहीं लेना-देना।"

"वैसे गुरु के ये कैसे शिष्य?"

"सभी ऐसे नहीं हैं। वास्तव में हृदय से पट्टमहादेवीजी की प्रशंसा करनेवाले और उनका आदर करनेवाले श्रीवैष्णवों की संख्या भी कम नहीं। पर हाँ, श्रीवैष्णव कन्या को रानी होने का मौका दिया, इस वजह से कुछ जैनी भी उनसे असन्तुष्ट हैं।"

"ये भी कैसे अजीब लोग हैं! कुछ भी करो, ये असन्तुष्ट ही रहेंगे। यह धर्म का दोष नहीं, रीति या परम्परा का भी दोष नहीं। यह इन लोगों की अपनी कुटिल प्रकृति का दोष है। यही इसका कारण है। आप लोगों को जो बातें मालूम होती हैं,

उन्हें पट्टमहादेवीजी को नहीं बताते?''

''उन्हें सब पता है। परन्तु उन्होंने कभी प्रकट रूप से असन्तोष व्यक्त नहीं किया। आपको ज्ञात है कि मैं मुख्य पहरेदार रेविमय्या के अधीनस्थ हूँ? इसीलिए न आपकी सेवा के लिए मुझे नियुक्त किया गया है? रेविमय्या के गुट का होने के कारण मुझे काफी बातें मालूम हैं।''

''क्या फायदा? अपराध करनेवालों को यों स्वतन्त्र छोड़ रखें तो आगे क्या हाल होगा?''

''कोई बहुत बड़ा अनर्थ नहीं होने वाला है—ऐसा पट्टमहादेवीजी का कहना है।''

''इन लोगों ने उनकी उदारता को शायद गलत समझा है। उनके स्वभाव से मैं परिचित हूँ। वे सदा अर्हन् से यही प्रार्थना करती हैं कि वह ऐसे लोगों को सद्बुद्धि दे। लोग इसी तरह गलती करते जाएँ और उनका प्रायश्चित्त वे करें—कुछ ऐसी ही उनकी रीति है।''

''इसके माने?''

''इसके माने यह कि वे सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो जाएँगी। भगवान् बाहुबली की उपासक होने के साथ-साथ उनके जीवन-दर्शन को भी वे अच्छी तरह जानती हैं। उस त्याग की शक्ति से भी वे भलीभाँति परिचित हैं।''

''तो?''

''अधिकार, पद, सिंहासन, स्थान आदि किसी का भी त्याग करने में वे आगा-पीछा नहीं करेंगी। हाँ, उस त्याग से राज्य में सुख-शान्ति रहे, यही चाहेंगी। उनकी अपनी दृष्टि में इच्छा-अनिच्छाओं से ज्यादा ऊँची है समूचे राज्य की सुख-शान्ति।''

''परन्तु धर्म के झूठे जाल में फँसकर जो अन्धे हो गये, वे यह सब क्या समझें! इस राज्य में अनेक विजयोत्सव हुए हैं, पर लगता है इस बार का विजयोत्सव कुछ और ही ढंग से होगा, वह लोगों की गलतफहमियों को दूर कर, सबकी आँखें खोल देगा।''

''ऐसा हो तो बड़ी बात है! उन्हें दुःखी करने वालों को कभी सद्गति नहीं मिलेगी, मंचण। श्रीवैष्णव धर्मावलम्बी ही सिंहासनारूढ़ हो, ऐसा कहनेवालों के पीछे सम्प्रदाय विशेष का पर्याप्त बल होगा। बिना उसके ऐसी बात करना सम्भव है?''

''प्रत्यक्ष रूप से बल दिखाई न भी दे, पर अप्रत्यक्ष रूप से वह है अवश्य। पट्टमहादेवीजी सब कुछ जानती हैं।''

''ऐसा है! तो वे चुप क्यों हैं?''

''वे कभी जल्दबाजी नहीं करतीं।''

''सो तो है। श्रीवैष्णव मत की ओर जिनका विशेष झुकाव है और ऊँचे स्थान पर आसीन हों ऐसे कोई हैं?''

"हूँ।"

"कौन हैं?"

"जब स्वयं पट्टमहादेवीजी ही मौन हैं, तब उनका नाम हम कैसे लें?"

"न, यों ही कुतूहलवश पूछा, जानने की कोई जरूरत नहीं।"

"यह जगह ही ऐसी है, किसी-न-किसी तरह का कुतूहल पैदा करती है। पहले बल्लाल महाराज ने अपनी तीनों रानियों के साथ इसी स्थान पर बैठकर यह जिज्ञासा की थी कि किसके गर्भजात को सिंहासन पर बैठाना चाहिए। वह बात बहनों के आपसी झगड़े में खत्म हुई, और तब वह सिंहासन स्वप्न में भी इच्छा न रखनेवाले हमारे वर्तमान महाराज को प्राप्त हुआ।"

"तो अब भी तो सिंहासन के उत्तराधिकारी की बात उठी है! इस वजह से बाधाएँ भी तो उपस्थित हो सकती हैं, मंचण!" डंकण ने, जो अब तक मौन श्रोता बना बैठा था, पूछा।

"सिंहासन पर बैठनेवाला कौन है, वह सवाल अभी है कहाँ, शिल्पीजी? पट्टमहादेवीजी के ज्येष्ठपुत्र श्रीबल्लालदेव ही उसके असली अधिकारी हैं। वही रीति के अनुरूप भी है। इसके पीछे जनता का बल भी है।"

"जनता का सिंहासन से क्या सम्बन्ध? वह उस घराने का अपना हक है।" डंकण बोला।

"राजमहल जनता से अलग नहीं, जनता के बिना राज्य नहीं—पट्टमहादेवी जी ऐसा ही मानती हैं। ऐसी दशा में जनता की राय का भी मूल्य होगा।"

"तो यह सब हो-हल्ला इन श्रीवैष्णवों की खाली उछल-कूद है?"

"मैंने पहले ही कह दिया न? उनमें भी एकता नहीं। कुछ लोग लालची हैं, कुछ पा जाने की आशा रखने वाले स्वार्थी। ऐसे ही उस तरफ झुके हैं, बस।"

"कहीं संघर्ष न हो जाए?"

"जब तक पट्टमहादेवीजी हैं, तब तक कोई संघर्ष नहीं होगा। वह ऐसा मौका ही नहीं देंगी।"

"इतना भर रहा आये तो काफी है। परिवार में रहकर भी आज वह तपस्वी जैसी हैं, अपने हृदय के स्वामी को ही दूसरों के लिए छोड़ रखा है, और स्वयं निर्लिप्त रह रही हैं। खैर, बातों-ही-बातों में हमें समय का खयाल ही न रहा, शाम हो चली है। चलें, अब।" मंचण बोले।

तीनों अपने मुकाम पर ठहरे रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल विजयनारायण और मण्डूकगर्भ चेन्निगराय स्वामी की पूजा-अर्चना कर, सौम्यनायिकादेवी के दर्शन-पूजन के बाद भोजन कर वे वहाँ से राजधानी की ओर रवाना हुए।

मानव अपने अविवेक से अपने आपको तो संकट में डाल लेता है, साथ ही

अपने साथियों को भी ले डूबता है। बेचारे उन निरपराध लोगों को क्यों कष्ट दिया जाए, यों जकणाचार्य के मन में विचार उठा। इस विचारधारा ने उनका मन अपने विगत दिनों की ओर मोड़ दिया। बिना सोचे-समझे जो कार्य कर बैठा था, उसकी वजह से मेरी पत्नी और पुत्र को ही नहीं, सारे बन्धुवर्ग को कष्ट झेलने पड़े, फिर भी उन बेचारों ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखायी। यदि वे प्रतिक्रिया दिखाते तो मेरा जीवन क्या वर्तमान स्थिति में होता? यह क्षमाशीलता ही तो है जो सुख का मार्ग प्रशस्त करती है। इसीलिए पट्टमहादेवी ने क्षमा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यदि वह क्षमा गुण न होता तो हरीशजी का स्थपति बनना सम्भव होता? रानी पद्मलदेवीजी को इस राजमहल में ऐसा गौरवमय स्थान और प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी? रानी लक्ष्मीदेवी और उसके पिता का इस राज्य में रहना सम्भव होता? चाहे किसी से किसी भी स्थिति में मिलें, सन्तोषपूर्वक मिलना, वही खुशी से भरा स्वागत, वही सरल बरताव, वही सज्जनता, उदारता की वही रीति—ऐसा कितनों से सम्भव हो सकता है? ये और ऐसे ही अनेक विचार, एक-के-बाद एक, जकणाचार्य के मन में उठ रहे थे। यों यात्रा में जकणाचार्य को कोई थकावट महसूस नहीं हुई।

उधर राजधानी में विजयोत्सव की तैयारियाँ जोरों से चल रही थीं। परन्तु राजमहल में एक तरह गम्भीर वातावरण रहा। उत्सव की उमंगभरी चहल-पहल के बदले राजमहल में एक प्रकार का गम्भीर मौन छाया हुआ था। राजमहल से सम्बन्धित सभी करीब-करीब आ चुके थे। प्रथम श्रेणी के दण्डनायक, मन्त्री, सब आये हुए थे। यादवपुरी, यदुगिरि, तलकाडु, कोवलालपुर, बलिपुर प्रान्त, नोलम्बवाड़ी, हानुंगल आदि प्रदेशों से भी अनेक प्रमुख जन आ चुके थे।

राजमहल का मन्त्रणालय लगातार कार्यक्रमों के कारण खचाखच भरा रहा। एक-न-एक विषय को लेकर विचार-विनिमय के लिए बैठकें होती रहीं। इनमें यदि किसी ने भाग नहीं लिया था तो रानी लक्ष्मीदेवी और उसके पिता ने; मारसिंगय्या, रानी राजलदेवी, रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनों ने। यह कहने की जरूरत नहीं कि रानी लक्ष्मीदेवी और उसके पिता, ये दोनों इससे बहुत असन्तुष्ट थे।

रानी लक्ष्मीदेवी विचार करने लगी, 'मैं किसी गिनती में ही नहीं हूँ! उस बन्ध्या बम्मलदेवी को बुलाया गया है और मुझको नहीं! यह सब उस पट्टमहादेवी का ही कुतन्त्र है। सिर्फ मेरे मन को सान्त्वना देने के खयाल से रानी राजलदेवी को नहीं बुलाया है। पट्टमहादेवी के वृद्ध पिता को भी नहीं बुलवाया गया है। उन दोनों को नहीं

बुलवाएँ तो क्या हुआ ? बेटी बाप को और दीदी अपनी छोटी बहन को तो सब कुछ बता ही देगी। यह सब एक ही थैले के चट्टे-बट्टे हैं। मैं चुप हूँ, इसलिए ऐसा सब हो रहा है। मेरे यह पिताजी ऐसे हैं कि कितना भी समझाओ, समझते ही नहीं! उन्हें इस बात का डर है कि कहीं देश-निकाला न दे दें। इस डर से मुझे मौन रहने को विवश कर दिया है। पहले तरह-तरह की आशा-आकांक्षाओं को मेरे मन में उत्पन्न करके, अब पीछे हटने की सलाह दे रहे हैं। इस राज्योत्सव को समाप्त होने दें। सभी जनों के लौट जाने के बाद, मैं अपनी करामात न दिखाऊँ तो मेरा नाम लक्ष्मी नहीं। विनीत हो झुकने पर सभी पीठ पर घूसा मारते हैं। इसलिए...इसलिए...' यह विचारधारा वहीं रुक गयी। विचार यों रुक जाएँ तो आगे मार्गदर्शन कौन करे ? उसके पिता को छोड़ कर दूसरा कौन है ?...वेलापुरी में रहते समय उसने उसे एक आखिरी अस्त्र सुझाया था। परन्तु तब तक प्रतीक्षा के दिन गुजारें कैसे ? मन में चाहे कैसी भी अशान्ति, अतृप्ति रहे उसे प्रकट न होने दें, इसके अनुरूप स्वाँग रचें और व्यवहार करें—पिताजी ने यही तो कहा था। यही ठीक है। ऐसा ही करना होगा। परन्तु इस दिखावे का सन्तोष, स्वागत और मिलनसारी का स्वाँग रचना आसान नहीं था। फिर भी जितना बन पड़े वह कर रही थी। इसी उधेड़-बुन में अचानक सूझा कि रानी पद्मलदेवी को छेड़ देने से उसका काम शायद हल्का हो जाए। पर हो कैसे यह ? पद्मलदेवी अकेली कभी मिलती ही नहीं थी। अकेली को बुलवा लें, यह भी सम्भव नहीं था। अपनी इस सूझ को कार्यान्वित करने के लिए वह मौके की तलाश में रहने लगी।

विजयोत्सव का दिन आ ही गया।

सारा दोरसमुद्र आनन्दोत्साह से भर गया। राजमहल की परम्परा अनुसार सभी अनुष्ठान कर चुकने के बाद, अपराह्न में सार्वजनिक सभा का आयोजन था। उसमें महाराज बिट्टिदेव के समक्ष उस दिन सभी रानियों, सचिवों और सभी दण्डनायकों के प्रतिज्ञा-वचन स्वीकृत करने का निर्णय मन्त्रालोचना सभा में हुआ था। उसके अनुसार पट्टमहादेवी शान्तलदेवीजी से लेकर सभी रानियों, प्रधान गंगराज, राजकुमार और दण्डनायक—एक-एक करके सभी ने प्रतिज्ञा-वचन दुहराये। प्रतिज्ञा का मजमून पट्टमहादेवीजी के गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव और यदुगिरि के श्रीमदाचार्य के प्रतिनिधि, दोनों ने मिलकर तैयार किया था। वह इस प्रकार था : ''पोय्सल वंश जैन मुनीन्द्र सुदत्ताचार्य के आशीर्वाद के प्रभाव से मूल-पुरुष सल महाराज के द्वारा शशकपुर में आरम्भ हुआ। तब से लेकर अब तक, एक रीतिबद्ध मार्ग का अनुसरण करते हुए यह वंश दिन-प्रतिदिन प्रवृद्ध हो आज समूचे दक्षिणा-पथ में एक प्रबल राज्य के रूप में विकसित हुआ है। इसने गंगवाड़ी, नोलम्बवाड़ी, वनवासी आदि सभी कन्नड़ भाषा-भाषी प्रदेशों को एक श्वेतछत्र की छाया में लाकर जनता में आर्थिक सम्पन्नता, एकता, धर्म-सहिष्णुता एवं राष्ट्रप्रेम आदि को बढ़ाकर, इतिहास में एक चिरस्थायी स्थान प्राप्त

कर लिया है—यह अत्यन्त हर्ष एवं सन्तोष की बात है। राज्य का इस तरह से यह विकास कुछ लोगों की असूया का कारण बना हुआ है। वे राज्य की एकता को तोड़ने के लिए धर्म के बहाने जनता में भेदभाव पैदा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। राज्य की आन्तरिक शक्तियाँ इस तरह की एकता को तोड़ने में निरत बाहरी शक्तियों द्वारा दिये जा रहे प्रलोभन के वश में होती दिखाई पड़ती हैं। इन परिस्थितियों में मनसा-वाचा-कर्मणा मैं राष्ट्र की एकता को बनाये रखने, धर्म सहिष्णुता को बढ़ाने, अविच्छिन्न रूप से राष्ट्रप्रेम की भावना जनता में भरते रहने, तथा राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का दमन कर राष्ट्र-रक्षा के प्रयास में सदैव तत्पर रहूँगा। राष्ट्र की जनता के और अपने सन्निधान के समक्ष पोय्सल सिंहासन की सौगन्ध खाकर, अपने आराध्यदेव को साक्षी मानकर, मैं अपनी इस प्रतिज्ञा की घोषणा करता हूँ।''

शिष्टाचार का पालन जो करना था इसलिए कुछ लोगों के मुँह से प्रतिज्ञा-वचन केवल शिष्टाचार के नाते ही निकले, हृदय से नहीं।

अन्त में महाराज बिट्टिदेव उठ खड़े हुए। चारों ओर फैले जन-समुदाय को देखा। स्वतः दोनों हाथ जुड़ गये, शरीर कुछ झुक गया। उपस्थित जन-समुदाय को झुककर अभिनन्दन किया। तालियाँ ऐसे बज उठीं कि आसमान को भेदकर दसों दिशाओं में गूँज गयीं। लोगों के मुँह से निकला—''पोय्सल वंश''...''चिरायु हो।''

''महाराज बिट्टिदेव''...''अमर हों।''

''पट्टमहादेवी शान्तलदेवी''...''जन-मन में वास करें।''

''पोय्सल सन्तान''...''चिरजीवी हो।''

यह सब नारे अनपेक्षित होते हुए भी लोगों के हृदय से निकल रहे थे। महाराज ने शान्त रहने को कहा। सर्वत्र मौन छा गया।

महाराज ने कहा, ''महानुभाव! आप लोगों ने हमारे वंश पर जो अपार प्रेम और विश्वास रखा है, उसके लिए राजपरिवार आप सबका ऋणी है। आप सभी को ज्ञात है कि हम अपने माता-पिता की द्वितीय सन्तान हैं। कुल की रीति से वास्तव में यह सिंहासन मेरे अग्रज बल्लाल महाराज की सन्तान को मिलना चाहिए था। परन्तु भगवान् की इच्छा कुछ दूसरी ही थी। वे निःसन्तान ही परलोक सिधार गये। हमारा सिंहासनारोहण एक आकस्मिक घटना थी; हमें इस सिंहासन की चाह नहीं रही। फिर भी तन-मन-वचन से इस दायित्व को ओढ़ा। इसकी प्राप्ति के बाद, हमारे पितामह विनयादित्यदेव, पिता एरेयंग प्रभु जिस मार्ग पर चले उसी पर हम अग्रसर हुए। एक ओर उनका आशीर्वाद रहा है, दूसरी ओर इस राज्य की प्रजा का अदम्य उत्साह और बल मुझे मिला है। इन दोनों के कारण राष्ट्र की प्रगति, उसका विस्तार एवं समृद्धि सम्भव हो सकी है। प्रजा की सम्पन्नता बनाये रखने तथा उसे सुखी रखने में हम कृतकार्य हुए। सब प्रकार से समता के आलोक में ही मानव का उद्धार है—इस भावना के विकास के साथ-

साथ हमारा राज्य खुशहाल बनेगा। मैं श्रेष्ठ हूँ, मेरा धर्म ऊँचा है, मेरा सम्प्रदाय उत्तम है, मेरा भगवान् बड़ा है—यों प्रत्येक व्यक्ति विचार करने लगे और अपने से भिन्न सभी को तुच्छ समझने लगे तो राष्ट्र में एक भयंकर उथल-पुथल मच जाएगी, खुशहाल राज्य नरक बन जाएगा।

"आप सभी महानुभावों से इस भरी सभा में एक बात और हम निःसंकोच कह देना चाहते हैं। हम सुन रहे हैं कि लोग हमारे और रानियों के बारे में तरह-तरह की बातें करते फिर रहे हैं। आम तौर पर ऐसी बातों से यदि राष्ट्र को हानि नहीं होती, तो हम उनकी परवाह नहीं करते। हम जन्मतः जैनमतावलम्बी हैं। हमारे माता-पिता, दोनों ने अविचलित होकर हमारे वंश के मूल-पुरुषों के विश्वास के साथ जिस धर्म का अनुसरण किया था, उसी का हमने भी निष्ठा के साथ किया है। हमारे राज्य में हमने धर्म से भी अधिक विश्वास, श्रद्धा और दक्षता को प्राथमिकता दी। कौन किस धर्म का अनुयायी है, किस वंश का है, इन विचारों की अपेक्षा वह कितना विश्वसनीय है, कितना कार्यकुशल है, कितना निःस्पृह है—इन्हीं गुणों के आधार पर हम उन्हें स्थान-मान-पद आदि देते आये हैं। इसीलिए यह राज्य प्रगतिशील है, यह राजपरिवार भी इसी रीति से प्रगति पर है। हमारी पट्टमहादेवीजी की माताजी एक ऊँचे स्तर की जिनभक्त हैं, जब कि उनके पिताजी महान् शिवभक्त हैं। उनका वह परिवार दूध-सा पवित्र है। भिन्न धर्मीय होने पर भी वह परिवार कितनी सुगमता से, कितने सुन्दर ढंग से चला है! इसका कारण है परस्पर विश्वास। धर्म व्यक्तिगत है, उसे पारिवारिक जीवन में या राष्ट्र के जीवन में बाधक नहीं बनना चाहिए। हमारा अपना भी परिवार विभिन्न धर्मियों से सम्पन्न है। हम श्री आचार्यजी के प्रभाव में आये और व्यक्तिगत रूप से वैष्णव धर्मानुयायी होकर मुकुन्द-पादारविन्द के सेवक बने। परन्तु हमारी पट्टमहादेवीजी व्यक्तिगत रूप से जैन धर्म का त्याग न करते हुए भी अपने पातिव्रत्य का पालन करती आ रही हैं। इस परिवार में किसी को कष्ट या दुख न हो, स्वयं इस प्रकार आचरण करती हुई हमें भी उसी तरह चलने की प्रेरणा देती रही हैं। ये सब बातें आप सभी लोगों को विदित हैं, फिर भी उन्हें दोहराने में हमारा कुछ प्रयोजन है। धर्म को मानव-जीवन के विकास में सहायक बनना चाहिए, न कि उसके जीवन को नष्ट करने का कारण। हमारे राज्य में सभी धर्मावलम्बी रहते हैं। हमने शिवालयों, केशवालयों और जैन-मन्दिरों को किसी तरह के भेदभाव के बिना ग्राम-दान किया है। धर्म विशेष के अनुयायी होकर भी हम राजाओं के लिए सभी धर्म और सभी देवी-देवता समान रूप से आदरणीय हैं। धर्म और देवी-देवता प्रत्येक की अपनी-अपनी कल्पना के तथा विश्वास के आधार पर रूपित है। प्रत्येक को अपने-अपने आचरण तथा आराधना के अनुसार वैयक्तिक रूप से उसमें तृप्ति भी मिलती है। धर्म और देवाराधना व्यक्तिगत है। परन्तु राष्ट्रहित सामूहिक है, सार्वभौमिक है। राष्ट्रहित की दृष्टि में यह व्यक्तिवाद बाधक न बने।

हमारे प्रधानजी जैन हैं, हमारे दामाद जैन हैं। जैन, शैव और वैष्णव कन्याओं से हमारा पाणिग्रहण हुआ है। हमारे दण्डनायकों में शैव, वैष्णव, जैन सभी हैं। विविधता में एकता को हमारे इस राष्ट्र ने चरितार्थ किया। हम चाहते हैं कि आगे भी इसी तरह एक होकर राष्ट्र की समृद्धि में सहायक होंगे।

''हम सभी जानते हैं कि हमारा यह शरीर नश्वर है। खुद-ब-खुद एक दिन इसे नष्ट हो जाना है। सल्लेखना व्रत धारण कर हम स्वयं चाहे इसे त्याग भी सकते हैं। इसलिए कौन पहले जाएगा कौन बाद को, यह कहा नहीं जा सकता। उम्र के खयाल से भावी आचरण के लिए अभी हम कुछ सूचना देना चाहेंगे। कोई भी इसे अन्यथा नहीं लेंगे। जिस सिंहासन पर हम इस समय बैठे हैं, राजकुल की नीति के अनुसार वह हमारी प्रथम पट्टमहादेवीजी के प्रथम पुत्र को मिलना चाहिए। यदि उनके पुत्र न हो तो उसके बाद की रानी के पुत्र को मिलना चाहिए। यों कुल की इस रीति को आगे बढ़ते रहना चाहिए। हमने श्रीवैष्णव का आचरण किया, इसलिए आगे चलकर यह सिंहासन श्रीवैष्णव का ही हो, यह विचार इस वंश की परम्परा के विरुद्ध होगा। उसी तरह पट्टमहादेवी के पद की प्राप्ति भी विवाह-क्रम के अनुसार ही होगी। वर्तमान पट्टमहादेवी के बाद रानी बम्मलदेवी, उसके बाद रानी राजलदेवी, उसके बाद रानी लक्ष्मीदेवी। एक सिंहासन के लिए एक महाराज, एक पट्टमहादेवी होंगे—यह सबको विदित हो। मूलत: यही राजकुल की रीति है। इसी का ज्यों-का-त्यों पालन होना चाहिए।

''इस विजयोत्सव में हम एक और सूचना देना चाहेंगे। अब से कुमार बल्लाल राज्य के युवराज होंगे। जब तक हम जीवित हैं यानी उनके सिंहासनारोहण करने तक, युवराज युवरानी के साथ हमारे राज्य के पश्चिमी और बलिपुर के क्षेत्रों में, शशकपुर में जहाँ हमारे वंश का विकास हुआ, रहकर हमारे प्रतिनिधि की हैसियत से राजकाज सँभालते रहेंगे। अभी हमने छोटे बिट्टिदेव को राज्य के पूर्वी हिस्से में चोकिमय्या की देखरेख में अनुभव पाने के उद्देश्य से नियुक्त किया था। अब वह भी हमारे प्रतिनिधि की हैसियत से उसी पूर्वी भाग का शासन सँभालेंगे। छोटे राजकुमार विनयादित्य को अभी और अनुभव पाना है। इसलिए वह पट्टमहादेवी के साथ राजधानी में रहें, या चाहें तो युवराज के साथ भी रह सकते हैं। बालक नरसिंह को अभी कोई दायित्व नहीं दे सकते। फिर भी आगे चलकर उसे भी इस राजघराने की कीर्ति को सँजोये रखना है। अत: वह राज्य के दक्षिणी भाग में, फिलहाल नाममात्र के लिए हमारे प्रतिनिधि बनकर रहेंगे। राज्यकाल के निर्वहण करने योग्य बनने तक वह अपनी माँ और उस विभाग के दण्डनायक की देखरेख में रहेंगे। यों मध्य भाग, जो राज्य के हृदय के समान है, तथा पूर्व, पश्चिमी, और दक्षिण भागों की व्यवस्था के बाद रहा अब उत्तर का भाग। इस उत्तरी भाग को और विस्तृत एवं समृद्ध बनाने तथा हेद्दोरे तक राज्य-विस्तार करने

के अपने इरादे से, हम और रानी बम्मलदेवी दोनों फिलहाल हानुंगल-बंकापुर में निवास करेंगे। राजलदेवीजी अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ रह सकेंगी। इन सभी बातों की हमें यों सार्वजनिक रूप से घोषणा की आवश्यकता नहीं थी। यह सब राजमहल तथा राजकाज से सम्बन्धित विषय है, परन्तु अभी हाल में जब हम युद्धक्षेत्र में थे तब, और वहाँ से लौटने के बाद भी, हमें बहुत कुछ इधर-उधर की बातें सुनने में आयी हैं। इन्हें रोकने के लिए अब हम जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, उससे बढ़कर कोई उत्तम मार्ग नहीं है। यह सब निश्चित एवं स्पष्ट हो जाने के कारण किसी के मन में भी किसी तरह की शंका नहीं रह जानी चाहिए। जो प्राप्य नहीं, उसकी कोई आशा न करे। महाजनों के सामने इन सभी बातों को स्पष्ट करने का उद्देश्य केवल यही है कि आप सभी न्याय के पक्षपाती हैं।

"इस बार के इस युद्ध में हमारे दण्डनायक बिट्टियण्णा ने विशेष बुद्धि-कौशल और स्फूर्ति दिखाकर विजय दिलाने में सूत्रधार का काम किया है। उन्हें इस समारोह में वरिष्ठ दण्डनायक के विरुद से विभूषित करने की राजमहल की इच्छा है।" यह कहकर उन्होंने बिट्टियण्णा की ओर देखा।

बिट्टियण्णा उठ खड़ा हुआ। उसने पहले पट्टमहादेवी को और फिर महाराज को प्रणाम किया। उसके बाद बुजुर्ग मादिराज, पुनीसमय्या, नागिदेवण्णा, माचण और डाकरस आदि सभी को प्रणाम किया। फिर उपस्थित जन-समुदाय के सामने हाथ जोड़कर बोला, "जन्मते ही अनाथ मुझे कभी उस बात का अनुभव तक न होने देकर, मेरा पालन-पोषण कर मुझे बड़ा बनानेवाले इस राजदम्पती का एक अर्थ में मैं ही ज्येष्ठ पुत्र हूँ। मेरे इन शब्दों को सुनकर कोई यह न सोचे कि यह सुझा रहा हूँ कि मैं इस राज-सिंहासन का वारिस हूँ। अधिकार का लालच बहुत बुरा है। वह मनुष्य को बुरे रास्ते पर ले जाकर गर्त में डालनेवाला है। इन सभी बुजुर्गों के समक्ष मुझे जो यह गौरव प्रदान किया गया है, वह मुझमें अहंकार पैदा करके मेरे पतन का कारण न बने। इन सभी बुजुर्गों से हैसियत में मैं बड़ा हूँ, इन सभी बुजुर्गों से मुझमें बुद्धि और योग्यता अधिक है—यदि इस तरह का घमण्ड हो जाए तो मुझे पतन से कोई नहीं बचा सकेगा। इसलिए विनयपूर्वक यह निवेदन करना मेरा धर्म है कि इस प्रशस्ति से मुझे दूर रखें। इस तरह की प्रशस्ति के हकदारों, जो हमसे वरिष्ठ होंगे, को इससे निराशा हो सकती है, उनमें असूया भी उत्पन्न हो सकती है; यह राज्य के हित में नहीं होगा। परन्तु जो भी और जब भी राजदम्पती से मुझे कुछ मिला है, उसे मैंने कभी इनकार नहीं किया है। वे कुछ भी देते हैं तो उसके पीछे मेरे प्रति उनका वात्सल्य भाव रहता है। उनका यह स्नेह-प्रेम आप सभी का प्रेम बने और आप सभी मुझे आशीष दें कि मैं सेवक की ही भावना से आखिरी दम तक निष्ठा के साथ इस शासन की सेवा कर सकूँ, और यही मेरा आजीवन व्रत बने।" इतना कहकर उसने राजदम्पती को पुनः प्रणाम किया।

सोने के परात में हीरे जड़ी मूठदार तलवार लेकर सेवक उपस्थित हुआ। महाराज ने उस तलवार को उठाकर बिट्टियण्णा को भेंट की। हर्षोद्गारों और तालियों की ध्वनि के बीच बिट्टियण्णा ने घुटनों के बल झुककर उसे स्वीकार किया और उसे माथे से लगाया।

जकणाचार्य उठे। महासन्निधान से स्वीकृति लेकर अपनी अन्तरंग भावना को उनके समक्ष निवेदन करते हुए बोले, "मैं एक कारीगर हूँ। मुझे लोग कलाकार भी कहते हैं। चाहे कोई कुछ कहकर बुलाए, इतना स्पष्ट है कि मैं वक्ता नहीं हूँ। मेरी सारी बुद्धि क्षमता पत्थर छैनी और हथोड़ी के ही चारों ओर चक्कर काटती रहती है। पत्थर को हम निर्जीव कहते हैं, क्योंकि वह जड़ है, गति-शून्य है। ऐसे पत्थर में रूप विन्यास करते हैं। साहित्य केवल शब्दों के चमत्कार के द्वारा शून्य में रूप का सृजन कर हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कराता है। हम शून्य में कुछ भी चित्रित नहीं कर सकते, कुछ सृजन नहीं कर सकते। पत्थर को हम आकृति दे सकते हैं; परन्तु हम हैं कि मानव को ही पत्थर बना डालते हैं, स्वयं भी अपनी मानवीयता को लुप्त कर पत्थर ही बन जाते हैं। एक समय था कि जब मैं इस शरीर को धारण कर, मानवीयता को खोकर, ऐसा ही पत्थर हो गया था। ऐसे एक मौके पर मैं इस राजमहल के सम्पर्क में आया। यहाँ रहते हुए मैंने वास्तविक मानवीय मूल्यों को समझा, मानव बना। मैं एक साधारण मनुष्य हूँ। इस राज्य में मुझ जैसे करोड़ों लोग हैं। अगर मैं वैसे ही पत्थर ही बना रहकर धीरे-धीरे चूर-चूर हो मिट्टी में मिल जाता तो कोई नुकसान नहीं होता। मैंने काफी भ्रमण किया है, अनेक जगहें देखी हैं। पेट भरने के लिए बहुत परिश्रम भी किया है। परन्तु मैंने किसी को स्वयं को पहचानने का मौका नहीं दिया। जहाँ भी मैं देखता कि लोग मुझे पहचानने की कोशिश कर रहे हैं, मैं वहाँ से खिसक जाता। भगवान् के स्वरूप महापुरुष श्री रामानुजाचार्य जैसे महान् व्यक्ति को भी मैं धोखा देकर उनके पास से खिसक गया था। सचिव नागिदेवण्णा जी इसके साक्षी हैं। ऐसा था मैं। पट्टमहादेवीजी की कृपा से उनके द्वारा निरूपित मानवीय मूल्यों को पहचानकर मैंने यह बात सीखी कि अपने विचारों को ही सही मान बैठने का आग्रह छोड़, दूसरों के भी विचार सही हो सकते हैं, यह सोचना चाहिए। परिणामत: जिन पत्नी-पुत्र को मैं एक धोखा समझने लगा था, वे ही मेरे लिए नित्य सत्य प्रतीत होने लगे। मेरा विनष्ट पारिवारिक जीवन फिर से सुखमय बन गया। मेरे पारिवारिक जीवन को सुखी न बनाती तो पट्टमहादेवीजी का क्या नुकसान होता? कुछ नहीं। अभी इससे उन्हें कोई लाभ भी नहीं। मगर इससे मेरा लाभ हुआ।

"पट्टमहादेवीजी और राजमहल की यही रीति रही है कि राज्य की आम जनता को सदा लाभान्वित करते रहें। मैंने कई राज्यों में घूमकर देखा है। मेरा अनुभव है कि किसी भी राज्य में ऊँचे पद-स्थान में रहनेवाले महानुभाव निम्न वर्ग के लोगों की

भलाई करना तो दूर, उनके बारे में सोचते तक नहीं। मैं केवल अपने ही बारे में नहीं कह रहा हूँ, दण्डनायक बिट्टियण्णा को सँभालकर पाल-पोसकर किस तरह उन्हें लायक बनाया है, यह प्रत्यक्ष है। चट्टलदेवी और मायण के जीवन को कितना सँवारा और सुन्दर बनाया, देखिए। बूतुगा के ही जीवन को देख लीजिए। यों ऐसों की एक बहुत बड़ी सूची ही मैं पेश कर सकता हूँ। निम्न-से-निम्न स्तर के एक साधारण सेवक से लेकर उच्च-से-उच्च अधिकारियों तक सभी को समभाव से देखना, प्रत्येक के हित का विचार कर सबसे एक-सा व्यवहार करना, इस राजमहल का वैशिष्ट्य है। ऐसे राजपरिवार के साथ सम्पर्क होना मेरे जीवन का परम सौभाग्य है।

"राजदम्पती चाहते तो अपनी बेटी का विवाह एक राजकुमार से कर सकते थे, युवराज का विवाह किसी राजकुमारी से कर सकते थे। लेकिन नहीं, इस तरह के दिखावे या प्रदर्शन से नहीं, आत्मीयता के प्रतिफल के रूप में जो स्थान-मान प्राप्त होगा, वह बहुत ऊँचा है, इसे प्रमाणित कर दिखाया है। प्रजाजन को हर तरह अभावरहित जीवन-यापन कर सकने के लिए जो आर्थिक व्यवस्था इस राज्य ने की है, ऐसी अन्यत्र कहीं भी नहीं। साधारण-से-साधारण व्यक्ति को भी आत्मगौरव के साथ, गण्यमान्य होकर जीने के लिए इस राज्य में सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। साहित्य एवं कला को यह राजमहल जो प्रोत्साहन दे रहा है। उससे स्थायी मूल्य की कृतियाँ निर्मित होकर नूतन विधाओं की ओर संकेत कर रही हैं, यह प्रत्यक्ष है। राजधानी में अभी-अभी निर्मित होय्सलेश्वर युगल मन्दिर इन महाराज और पट्टमहादेवीजी का नाम अमर बनाते हुए, उनकी अन्य-धर्म सहिष्णुता के स्थायी साक्षी बन गये हैं। क्योंकि इन दोनों मन्दिरों में प्रतिष्ठित महादेव होय्सलेश्वर और शान्तलेश्वर के नाम से अभिहित हैं। इस तरह से महादेव मन्दिर को अभिहित करने की स्वीकृति देकर वे स्वयं जनता के लिए एक महान् ज्योति स्वरूप बन गये हैं। मतान्ध जनों के लिए वह मार्गदर्शक हैं। यह राज्य मानवीयता के महान् गुणों से विभूषित होकर प्रगति कर रहा है। सभी को इस राज्य की प्रगति के कार्य में सब तरह से यत्नशील रहना और इस गौरव को बनाये रखने के लिए सतत उद्यम करते रहना चाहिए। मैं और मेरी सन्तान, इतना ही क्यों, मेरे सारे वंश की पीढ़ियाँ इस राजघराने की सेवा सदा करते रहने को तैयार हैं। भगवान् को हमने प्रत्यक्ष नहीं देखा है। हम शिल्पी हैं। पण्डित और द्रष्टा लोगों ने जैसा वर्णन किया है तथा आगमशास्त्र में जैसा बताया है, उसके अनुसार भगवान् की कल्पना करके हम मूर्ति-निर्माण किया करते हैं, और अपनी उस कृति पर गर्व करते हैं। हममें कितने ऐसे हैं जिन्होंने साक्षात् भगवान् को देखा-पहचाना है? मेरे लिए तो पट्टमहादेवीजी ही साक्षात् भगवत् रूप हैं। महाराज तो हमारे लिए प्रत्यक्ष देव ही हैं। मेरे जीवन के पन्नों को स्वर्णाक्षरों में अंकित करनेवाले इन महानुभावों के प्रति मैं किस ढंग से अपनी कृतज्ञता समर्पित करूँ? मुझे अपनी अल्पमति में जो आता है उसे निवेदन कर देता हूँ।

ये प्रभु-दम्पती कन्नड़ राज्य के राजा-रानी बनकर बार-बार जन्म लेते रहें। मैं और मुझ जैसे अन्यजन उनके चरण-कमल के भ्रमर बनकर बार-बार जन्म लें।'' इतना कह मंच पर चढ़कर शिल्पी ने राजदम्पती को साष्टांग प्रणाम किया। शुरू-शुरू में जब वह बोलने लगे तो ऐसा लग रहा था कि वह हकलाते हुए बोलेंगे। परन्तु क्रमशः भावावेश में जब उनकी वाणी एक तन्मयता से निकली तो लोग उस भावधारा में ऐसे डूबे कि उन्हें प्रकृतिस्थ होने में ही कुछ समय लग गया। इस कारण उनके प्रणाम कर वेदी से उतरने के पश्चात् ही तालियाँ बज सकीं।

अन्त में गंगराज प्रधान ने उन्हें सम्बोधित किया। उन्होंने राज्य की एकता को बनाये रखने के लिए जनता का आह्वान किया। उनका दीर्घकालीन अनुभव, संयम, आदि उनकी प्रत्येक बात में झलक रहे थे। वास्तव में उन्होंने लम्बा भाषण नहीं दिया, केवल विजयोत्सव की सफलता में जिन व्यक्तियों ने पूर्णतया योग दिया था, उन सभी को राजमहल की ओर से हार्दिक धन्यवाद दिया और कहा कि कन्नड़ भाषा, पोय्सल सिंहासन, ये ही दो हमारे धर्म हैं। इतना कह उन्होंने महाराज से अनुमति प्राप्त की और सभा को विसर्जित किया।

दो-तीन दिनों में, विजयोत्सव के लिए आगत सभी लोग अपने-अपने स्थान को लौट गये।

जकणाचार्य की विदाई भी बहुत भाव-भीनी और बिना किसी धूमधाम के सम्पन्न हुई। विदा करते वक्त कहीं वेदना प्रकट न हो, इसलिए सभी बड़े गम्भीर रहे। अन्त में ओडेयगिरि के हरीश ने उठकर जकणाचार्य के पैर छुए और कहा, ''सदा आपका मुझ पर आशीष बना रहे। कलाकार में आत्मविश्वास होना चाहिए, यह नहीं कि उसमें 'अहं' हो—यह बात मैंने अच्छी तरह आपसे समझी है।''

रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनों ने भी जाने की बात कही। शान्तलदेवी ने उन्हें सलाह दी, ''सन्निधान यहाँ से प्रस्थान करेंगे, उसके बाद बाकी रानियाँ भी यहाँ नहीं रहेंगी। थोड़े दिन हम साथ रह लें—हमारी यह अभिलाषा है।''

पद्मलदेवी उनका यह आग्रह नहीं टाल सकीं। उन्होंने यात्रा स्थगित कर दी।

यात्रा पर सन्निधान के रवाना होने के पूर्व एक दिन शान्तलदेवी ने महाराज बिट्टिदेव से विनती की, ''एक बार बाहुबली के दर्शन कर आने की इच्छा है। सन्निधान अनुमति प्रदान करें।''

महाराज की स्वीकृति प्राप्त हुई।

राजदम्पती के साथ युवराज, युवरानी, छोटे बिट्टिदेव, विनयादित्य, पद्मलदेवी और उनकी बहनें, रानी बम्मलदेवी, राजलदेवी और कुमार नरसिंह के साथ लक्ष्मीदेवी, इन सबको साथ ले जाने का शान्तलदेवी ने कार्यक्रम बनाया। सभी तैयारियाँ हो चुकी

थीं तथा मुहूर्त भी निश्चित किया जा चुका था। यह बात सुनने के बाद रानी लक्ष्मीदेवी ने भी कोई विरोध व्यक्त नहीं किया था; पर आखिरी वक्त वह हठ पकड़कर बैठ गयी और कितना ही समझाने पर भी वह जाने को तैयार नहीं हुई।

रानी पद्मलदेवी ने भी छोटी रानी के पास जाकर उसे समझाने की कोशिश की। रानी लक्ष्मीदेवी को मालूम ही था कि रानी पद्मलदेवी उसके पास क्यों आयी है। फिर भी उस बेचारी का अपमान क्यों करें, इसी आशय से उसने पद्मलदेवी का स्वागत किया। कहा, "आइए, बैठिए। यात्रा की हड़बड़ी में भी आप आयी हैं, शायद आप वहाँ इधर आये बिना वैसे ही खिसक जाने की बात सोच रही होंगी।" लक्ष्मीदेवी के इस कथन में व्यंग्य था जिसे पद्मलदेवी ने समझ भी लिया था।

उसने कहा, "अब हम चाहे यहाँ रहें चाहे वहाँ, दोनों बराबर हैं। हमने अपनी ही गलती के कारण अपना सर्वनाश तो कर लिया, अब वह ऐंठन ही क्यों?"

"तो आप मानती हैं कि मुझे अपना सर्वनाश खुद नहीं करना चाहिए?"

"क्या कोई ऐसी सलाह देगा?"

"क्यों नहीं? खाया हुआ खाना अंग न लगे या उबकाई आने लगे, फिर भी वही खाना होगा! मुझे बेलुगोल ले जाने के लिए ही न आप जोर दे रही हैं?"

"पवित्र क्षेत्रों के बारे में ऐसा भी कहीं सोचा जाता है?"

"आपके लिए वह पवित्र क्षेत्र हो सकता है। मेरे लिए तो वह क्षेत्र नहीं। उस नंगे भगवान् को, उस निर्लज्ज पुरुष को, देखना भी महापाप है। ऐसी हालत में खाना गले से कैसे उतर सकता है?"

"तुम रानी हो, सभी धर्मियों के कार्यों में भाग लोगी तो सभी की आत्मीयता पा सकती हो।"

"उन पट्टमहादेवीजी के रहते हम सब किस गिनती में हैं? उनके लिए तो नौकरानी और दूसरी रानियाँ सब ही तो एक-सी हैं, कोई फर्क नहीं।"

"छिः, ऐसी बात तुम्हारे मुँह से नहीं निकलनी चाहिए।"

"क्यों नहीं? श्रीवैष्णवों के प्रति उन पट्टमहादेवी की उदासीन मनोवृत्ति है। श्रीवैष्णवों को नीचा दिखाने के खयाल से यह श्रवणबेलुगोल की यात्रा की जा रही है। पट्टमहादेवी ने वेलापुरी जाने की इच्छा क्यों नहीं प्रकट की? मैं दूध-पीती बच्ची नहीं हूँ, अब मुझे यह सब भास हो रहा है। लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिए यह सब स्वाँग रचा गया है। यदि उनमें सर्वधर्म-समभाव होता तो महाराज को, जो अब जैन नहीं, जैन क्षेत्र में क्यों ले जातीं? आप भी जिन-भक्त हैं, इसलिए शायद आपको भी मेरी बात जँचेगी नहीं। व्यर्थ बातचीत आपसे क्यों करें? मुझे आपके प्रति आदरभाव है और आपसे सहानुभूति भी है।"

''सहानुभूति ? क्यों ?''

''यह भी अच्छा सवाल है ! आपको पट्टमहादेवी बनकर रहना था। परन्तु आपसे छीन लेने वाली को वह मिला है।''

''किसी ने कुछ नहीं छीना। यह तुम्हारा गलत विचार है। मैंने अपना सब कुछ स्वयं ही खोया है। लक्ष्मी, एक समय मैं भी तुम्हारी ही तरह लड़ाकू स्वभाव की थी। मेरी भी महत्त्वाकांक्षा थी, परन्तु उस उन्माद में मैं गलत काम पर बैठी। शरीर की लालसा को पूरा करने की पिपासा से मैंने ही अपने स्वामी की आहुति ले डाली। लक्ष्मी, हम स्त्रियों को एक से पाणिग्रहण कर लेने पर बहुत संयम से रहना चाहिए। ऐसा न हो तो जीवन मेरी तरह ठूँठ बनकर रह जाएगा। मेरी बात मानो, भगवान् के बारे में या व्यक्तियों के बारे में तुम्हारे विचार कुछ भी रहें, तुम्हें महाराज का संगसुख चाहिए हो तो तुम्हें कभी उनका मन नहीं दुखाना चाहिए, खासकर इन दिनों में। उनके हानुंगल की तरफ जाने के निर्णय से यह स्पष्ट है कि वे कितने दुखी हैं। उस दुख को और अधिक नहीं बढ़ाना है। बढ़ाने पर अनहोनी हो सकती है। इसलिए तुम्हारा चलना अच्छा होगा। मेरी इस अनुभव से कही बात का मान रखोगी, ऐसा मैं समझती हूँ।'' यों कहकर रानी पद्मलदेवी ने दूर भविष्य की ओर संकेत किया। थोड़ी देर लक्ष्मीदेवी मौन बैठी रही। अन्त में एक दीर्घ निःश्वास लेकर चलने की सम्मति दे दी, और कुछ नहीं बोली। पद्मलदेवी कृतकार्य होकर लौट आयीं।

लक्ष्मीदेवी के मन पर पद्मलदेवी की बातों ने अच्छा प्रभाव डाल दिया था। वह सोचने लगी, 'इस धर्म की धुन में यदि कल पतिप्रेम खो देने की स्थिति आ जाए तो ? आगे चलकर क्या साधा जा सकता है ? मैं स्वयं ही महाराज की उपेक्षा की पात्र बन जाऊँ तो आगे चलकर मेरे बेटे का क्या होगा ? अन्दर विद्वेष का भाव भड़कता रहे तो भी मुझे ऊपर से अभिनय करते रहना होगा ? कभी-कभी लगता है कि वही ठीक है।..लेकिन अभी झुक जाऊँ तो आगे चलकर हमेशा झुककर ही चलना होगा। ऐसी स्थिति में क्या होगा ? कौन साथ देगा उस समय ? धर्म का भी त्याग करके, आत्मगौरव की भी बलि देकर मैंने क्या साधा ?' यों उसका मन डाँवाडोल हो रहा था। उसी मानसिकता में वह अपने पुत्र को साथ ले बेलुगोल गयी।

बेलुगोल की यात्रा यथाविधि सम्पन्न हुई। पता नहीं, भगवान् ने कौन-सी प्रेरणा लक्ष्मीदेवी को दी कि वहीं सवतिगन्धवारण बसदि में, शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिर में, उसी नग्न बाहुबली की मूर्ति के सामने, किसी तरह की आपत्ति या अरुचि के बिना उसने चरणोदक और प्रसाद स्वीकार किया।

हर बार की तरह इस बार भी शान्तलदेवी ने गोम्मट-स्तुति का गान किया। इस बार स्वयं प्रेरित हो, राग का पहले से भी अधिक विस्तार से गायन किया जिससे अधिक समय लग गया। रेविमय्या गायन के आरम्भ से लेकर समाप्त होने तक समाधिस्थ-

सा खड़ा ही रहा। उसकी बन्द आँखों से आनन्द के आँसू झरने लगे।

"वही, उस दिन के वेश में बाहुबली मुस्कुराकर आशीर्वाद दे रहे हैं; किरीट, कुण्डल, गदा और पद्म धारण किये आशीर्वाद दे रहे हैं। छोटी अम्माजी पट्टमहादेवी हुईं, राष्ट्र में एक ही क्रिया लोगों में भिन्न-भिन्न भावनाएँ उत्पन्न करती है। कभी-कभी द्वेष और ईर्ष्या की चिनगारियाँ भी रहती हैं। लेकिन इनके बाहुबली सदा एक से, अपरिवर्तित हैं। जैसे उस दिन थे, वैसे ही आज। भगवान् एक, नाम-रूप अनेक। मानव के रूप में जन्म लिया, देवत्व को प्राप्त हुए, फिर भी अहंकाररहित, नवजात शिशु के समान निर्मल हैं और सभी में करुणा का संचार कर रहे हैं। चारों ओर घटनेवाली घटनाओं के कारण इस जीवन से विरक्ति। मुझको भी यहाँ आकर लगता है कि मेरे जीवन का भी कुछ मूल्य है। इस दर्शन से अन्त तक कर्तव्य-पालन करते रहने की प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई है। छोटी अम्माजी और उनकी सन्तान को मेरी सेवा की आवश्यकता है, ऐसी भावना पता नहीं, कब मेरे मन में पैदा होकर पैठ गयी है। उस भावना के अनुकूल चलने के कारण ही मेरी और अधिक उम्र बढ़ा दी गयी है। मैं धन्य हूँ।" रेविमय्या ने कहा। उसके कहने के ढंग से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि कोई उससे कहलवा रहा है।

उसकी आँखें खुलीं तो शान्तलदेवी ने उससे कहा, "अब चलें, रेविमय्या!"

"उसकी भावुकता हमारे लिए कोई नयी बात नहीं, देवि!" बिट्टिदेव कहते हुए उठ खड़े हुए।

दूसरे दिन सबने राजधानी की ओर प्रस्थान किया।

विजयोत्सव का और तीर्थ-दर्शन—दोनों कार्य विधिवत् सम्पन्न हो गये।

विजयोत्सव के दिन महाराज ने जैसा आदेश दिया था, सब लोग अपने-अपने क्षेत्रों के लिए रवाना हो गये थे। महाराज ने स्वयं बम्मलदेवी के साथ प्रस्थान करने का निश्चय किया।

निश्चय हुआ था कि पट्टमहादेवीजी के साथ राजलदेवी रहेगी, लेकिन मंचियरस की अस्वस्थता के कारण उनकी देखरेख करने के लिए उनके साथ रहने का उसने निर्णय किया था। मंचियरस ने विजयोत्सव में उपस्थित होने का समाचार दिया था, मगर फिर वहाँ से खबर भेज दी थी कि उनका स्वास्थ्य यात्रा के लिए अनुकूल स्थिति में नहीं है। राजलदेवी यह भी जानती थी कि महाराज हानुंगल जाते समय रास्ते में मंचियरस से मिलकर ही जाएँगे। वैसे महाराज ने चलने से पहले यह बात बम्मलदेवी को नहीं बतायी थी, चलते समय ही उससे कहा था। राजलदेवी भी महाराज के साथ निकली थी, पर उसका विचार मंचियरस के पास रुकने का है—यह बाद में ही सबको

पता चला। इस तरह महाराज राजधानी को छोड़कर हानुंगल की ओर रवाना हो गये।

लक्ष्मीदेवी ने तलकाडु जाने का निर्णय किया था लेकिन कुछ दिन रुककर। इसलिए वह और राजकुमार नरसिंह राजधानी में ही ठहरे रहे; पूर्व निश्चय के अनुसार पद्मलदेवी और उनकी बहनें भी ठहर गयी थीं।

किसी खास घटना के बिना दो पखवाड़े गुजर गये। बाद में हानुंगल से खबर मिली की राजलदेवी भी महाराज के साथ हानुंगल गयी है। यह खबर भोजन के समय इधर-उधर की बातों के दौरान शान्तलदेवी ने पद्मलदेवी को दी।

यह सुन लक्ष्मीदेवी बीच में बोल उठी, "मंचियरस की अस्वस्थता तो एक बहाना था। मन-ही-मन तो कुछ और ही सोच रखा था उसने। वैसा ही किया। मुझे तो उसी दिन आभास हो गया था कि वह ऐसा ही करेगी, परन्तु मैं ही क्यों कहूँ—यह सोचकर चुप रही आयी।"

"इसमें सोच-विचार करने की क्या बात है?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"करने योग्य सब करके, चारों ओर से अपने को सुरक्षित बना लेने के बाद, आपको कुछ भी ऐसा नहीं दिखता। परन्तु मैं, जिसे कहीं से कुछ भी सहारा नहीं, अन्धी बनी रहूँ यह कैसे हो सकता है?" लक्ष्मीदेवी ने अपने मन की बात आखिर प्रकट ही कर दी।

"क्या कह रही हो, लक्ष्मी? मैंने कौन-सी सुरक्षा कर ली है? तुम्हें क्या सहारा नहीं मिला? इन सब बातों के क्या माने?"

"क्यों, मुझको ही कहना होगा? क्या मैं नहीं जानती कि यह सब षड्यन्त्र किसका रचा हुआ है?"

"देखो लक्ष्मी, तुम व्यर्थ की कल्पना करके जो मन आए मत बोला करो। फिर जब सचाई प्रकट होगी तो वह तुमको ही निगल जाएगी।"

"जो है नहीं, उसकी कल्पना नहीं की मैंने; जो है सो ही कह रही हूँ। विजयोत्सव में महाराज ने जो बातें कहीं, क्या वे पट्टमहादेवी की रटायी हुई नहीं हैं?"

"छि:-छि:, तुम यह क्या कह रही हो, लक्ष्मीदेवी? वास्तव में उस दिन महाराज की बातें सुनकर स्वयं पट्टमहादेवी ही चकित रह गयी थीं।" पद्मलदेवी ने कहा।

"क्यों, उनके बाद पट्टमहादेवी ही सिंहासनारोहण करेंगी, ऐसा महाराज ने कहा नहीं, इसलिए?"

शान्तलदेवी भोजन छोड़कर, हाथ धोने चली गयीं।

"देखा?"

"देखा क्यों नहीं। अपने विश्रामागार में मँगवाकर वहीं खा लेंगी। गयीं तो गयीं!" उसके स्वर में उसकी हीनता साफ झलक रही थी।

"मतलब यही हुआ कि अभी तुमको अकल नहीं आयी। देखो लक्ष्मी, तुमने

अभी पट्टमहादेवी को समझा नहीं। एक समय था जब मैं पट्टमहादेवी से तुमसे भी अधिक द्वेष करती थी। वह इसे जानती थीं। फिर भी उन्होंने बदले में द्वेष-भाव नहीं रखा। जब भी मौका मिला, अच्छी ही सलाह दीं। अकल की बातें सिखाती रहीं। उनके कहे अनुसार मैं चलती तो आज मेरा ही क्यों, मेरी बहनों को भी स्वर्ग जैसा सुख मिलता। जब मैंने पट्टमहादेवी को समझा, तब तक मेरा सर्वनाश हो चुका था। उसके बाद तो उनकी मेरे प्रति सहानुभूति बराबर बनी रही है। कभी भी मेरे प्रति द्वेष नहीं रहा।''

''तो क्या सबकी भाग्य-रेखा लिखनेवाली ब्रह्मा हैं वह? किसी छोटे बच्चे से कहें तो वह आपकी बातों पर विश्वास भी कर लेगा। और फिर, आपका जमाना ही कुछ और था। आपके जमाने में धर्म के कारण संघर्ष नहीं था। अब मैं अन्यधर्मी जो ठहरी, इस दर्द को आप समझ नहीं सकतीं। श्री आचार्यजी के प्रभाव के सामने झुकना पड़ा तब जाकर मेरे विवाह के लिए स्वीकृति मिली। जब से इन्होंने मुझे देखा तभी से इन्हें मुझसे ईर्ष्या है। मेरे रूप ने सन्निधान का हृदय जीत लिया था। श्री आचार्यजी के आशीर्वाद का बल सन्निधान को चाहिए था। उनके आशीर्वाद का बल न होता तो यह राज्य इतना विस्तार पाता? पूरी पृष्ठभूमि की जानकारी के बिना आप यह सब बात कर रही हैं। आपको मालूम नहीं? कौन नंगादेव आये थे इनकी बेटी की बीमारी दूर करने? अभी परसों देख आयी हैं न? वैसे ही नग्न खड़े थे न? गर्भगृह के बिना, खुले में खड़ी की हुई पत्थर की मूर्ति यदि भगवान् बन जाए तो आदमियों से भी अधिक संख्या भगवानों की हो जाएगी। बेटी की प्राणरक्षा करनेवाले का स्मरण तक नहीं। इतनी कृतघ्न हैं यह। फिर भी अपने बारे में अच्छा प्रचार करा लेती हैं। शरम तक नहीं आती। एक बात में मेरा दृढ़ निश्चय है। चाहे कुछ भी कहें, मैं अपने धर्म की रक्षा करती रहूँगी। इस सर्वधर्म-समता पर मेरा कोई विश्वास नहीं। बायाँ हाथ इसी शरीर से लगा हुआ है सही, पर कोई उस हाथ से खाना खाता है? जबसे मैं कुमार नरसिंह की माँ बनी, तब से यहाँ की रीति-नीति ही बदल गयी है। यहाँ सब के मन में यह डर समाया हुआ है कि सन्निधान मेरे साथ रहेंगे तो किसी को कुछ मिलेगा नहीं। इसीलिए उन दोनों बिल्लियों को उनके साथ भेज दिया है। आप ही कहिए, मैं पुत्रवती हूँ। पहले मुझको पट्टमहादेवी बनाना चाहिए या उन बाँझों को? आप लोग ठहरीं, सो मैं भी ठहर गयी। नहीं तो मैं तो कभी की तलकाडु चली गयी होती!''

किसी ने कुछ नहीं कहा। सभी दासियाँ लक्ष्मीदेवी की गर्जना सुनती रहीं। स्तब्ध हो देखती रहीं। यह सब सुनने के लिए शान्तलदेवी वहाँ उपस्थित नहीं थीं। उस दिन कार्यवश विनयादित्य भी दोडगद्दवल्ली गया हुआ था।

अनन्तर मौन में भोजन समाप्त हुआ। इसके दो ही दिन बाद लक्ष्मीदेवी बेटे और बाप के साथ तलकाडु के लिए रवाना हो गयी।

पश्चात् रानी लक्ष्मीदेवी के आचरण के बारे में पद्मलदेवी और चामलदेवी ने पट्टरानी के साथ लम्बी चर्चा की।

शान्तलदेवी ने सब सुना, पर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। बात की धारा बदलते हुए कहा, "कोई विवेकशील ऐसी बातें करे तो असन्तोष हो सकता है। लक्ष्मी केवल एक सुन्दर स्त्री है। उसकी चित्तवृत्ति उसकी इन्द्रियों के अधीन है। सन्निधान के सिवा कोई उसे ठीक नहीं कर सकता। परन्तु पता नहीं क्यों, वे खुद उससे विमुख हैं। अब तो समय की प्रतीक्षा ही एकमात्र दवा है।"

"आप कुछ भी कहें, लक्ष्मी है बहुत जिद्दी औरत। आज नहीं तो कल. उससे किसी-न-किसी तरह की परेशानी तो होनी ही है।" पद्मलदेवी ने कहा।

बोप्पिदेवी ने, जो कभी कुछ नहीं बोलती थी, कहा, "ऐसी औरत को मैंने कहीं, कभी नहीं देखा। सियार पर भी विश्वास कर सकते हैं, पर इस औरत पर नहीं। झूठ को सच बनाकर उसने दासियों से जो कहा, उसे आप सुन लेतीं तो आप समझ जातीं। वह एक तरह से इस राजमहल के लिए राजव्रण जैसी बीमारी लग गयी है।"

"मैं ब्रह्मा नहीं। छोटी रानी ने कहा न? इसे हृदय से मैं स्वीकार करती हूँ। इतना ही नहीं, मैं एक कदम और आगे बढ़कर कहती हूँ, जन्म के साथ जो भाग्य लिखा लाये हैं, उसे स्वयं लिखनेवाला ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकता। ऐसी हालत में हमें किसी तरह के लालच में नहीं पड़ना चाहिए। हमारे लिए जो प्राप्य है सो तो मिलेगा ही। जो दुर्लभ है, सो प्राप्त होगा नहीं। इसलिए भविष्य के बारे में चिन्तित होने की हमें जरूरत नहीं। हमें चाहिए कि जो कर्तव्य है सो समझकर उतना भर करते जाएँ, बस मेरी इस बात के लिए हम सब स्वयं साक्षी हैं। मेरा जीवन भी साक्षी है। बड़ी-बड़ी बातें क्यों करें?"

"कोई असंगत बातें कहता रहे तो चुप भी कैसे रहा जाए?" बोप्पिदेवी ने कहा।

"असंगत बातें?"

"उसका बेटा नरसिंह ही भावी पोय्सल महाराज है, यह कहती फिर रही है।" कहते समय बोप्पिदेवी की आँखें अंगारे बन गयी थीं।

"भाग्य में न लिखा हो तो वह होगा कैसे? और अगर भाग्य में लिख हो तो उसे कौन मेट सकता है?"

"इस तरह का भाग्यवाद अच्छा नहीं। आपको अपने बच्चों के वंश परम्परागत अधिकारों की तो रक्षा करनी ही होगी?" पद्मलदेवी ने सवाल किया।

"आपको इसका भय ही क्यों है? राज्य में इस तरह उछलकूद करनेवालों की बातों में आनेवाले लोगों की संख्या कम है। माँ होकर मैं अपने बच्चों के हित की कामना करती हुई भगवान् से सदा प्रार्थना करती रहती हूँ। सुख अधिकार की अपेक्षा

अधिक महत्त्वपूर्ण है। अधिकार से प्राप्त होनेवाली सारी सुविधाएँ मुझे प्राप्त हैं, लेकिन मेरे ही मुँह से यदि ऐसी बात निकलती है तो उसका कोई कारण है यह मानना चाहिए आपको।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''तो क्या आप सुखी नहीं?'' चामला ने सीधा सवाल किया।

''स्त्री को बँट जानेवाले प्रेम से कभी सुख प्राप्त नहीं होता। ऐसे लोग ही अधिक हैं जो वास्तविक सुख की ओर मन को प्रवृत्त नहीं करते और अधिकार को ही सब-कुछ मानते हैं। एक साधारण स्त्री को जो सुख प्राप्त होना चाहिए था, वह भी मुझे प्राप्त नहीं हुआ यह तो मैं नहीं कहती, परन्तु वह पूरे समय तक नहीं मिला। जो सुख मिला था, उसे ही स्मृति में सँजोकर मैं सुखी रहने की कोशिश करती हूँ।''

''मैंने पहले ही ज़ोर देकर कहा था कि बम्मलदेवी और राजलदेवी से सन्निधान का विवाह न होने दें।''

''आपने कहा था, मुझे मालूम है। परन्तु जिस पुरुष पर मैंने पूरा विश्वास किया उसकी इच्छाओं का ध्यान रखना मेरा कर्तव्य था। अलावा इसके, कुछ राजनैतिक कारण भी थे। मैं पट्टमहादेवी न होकर मात्र एक साधारण स्त्री होती तो मेरा व्यवहार ही कुछ और तरह का होता। इसके साथ, अपने जीवन को सुखी बनाने के इरादे से, मुझे इस स्तर तक उठानेवाली महामातृश्री को मैंने जो वचन दिया था वह मेरे लिए अपने व्यक्तिगत सुख से भी अधिक मूल्यवान है। मुझे उस वचन का पालन करना है। इन सबके लिए मैं पश्चात्ताप नहीं करती। जो परिस्थिति है उसी में, मुझे जो मानसिक सुख चाहिए उसे पाकर, मैं अपना जीवन जी रही हूँ। यहाँ अब काफी रह लिया है, यहाँ का मेरा कर्तव्य पूरा हो गया--यह अन्दर की आवाज जिस दिन सुनूँगी उसी दिन मैं इस देह से मुक्त हो जाऊँगी।''

''यह क्या? देह से मुक्ति? मन यहाँ तक जा पहुँचा है?''

''इस राजमहल में समरसता की सम्भावनाएँ कम हैं। मैं राज्य में तथा अधिकृत स्थानों पर रहनेवाले कुछ लोगों के व्यवहार तथा विचारों को जानती हूँ, मुझको उन्हें ठीक करने की कोशिश करनी चाहिए, इसके बदले उनसे दूर हटना ही ठीक जँच रहा है। इस विशाल राज्य को एक मजबूत नींव पर प्रतिष्ठित करना है तो सबको खुश रखकर काम करवाना होगा। किसी को दूर करने से बुराई ही अधिक होगी। इसलिए न चाहने पर भी ऐसे लोगों को हँसते-हँसते कार्य प्रवृत्त कर चलाते रहना पड़ेगा। ऐसे लोग अधिक संख्या में नहीं हैं, यही गनीमत है। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या को बढ़ानेवाले लोग भी हैं, अगर यह बात प्रमाणित हो गयी तब तो भविष्य के बारे में कुछ भी कहना कठिन होगा। अब हमारा यह इतना छोटा विनय ही छोटी रानी के बारे में आग-बबूला हो रहा है, मैं उसके मन को बदलने में अपने को असमर्थ पा रही हूँ। आज का यह असन्तोष ही कल विद्वेष का कारण बन सकता है। इसके फलस्वरूप

होनेवाले संघर्ष को देखने की मेरी किंचित् भी इच्छा नहीं है।''

''कुछ बातें सुनकर हमें ही हैरानी हुई है, तब आपका क्या होगा? इस राज्य में ऐसा कौन है जो आपसे उपकृत न हुआ हो? आपकी उदारता का स्वाद किसको नहीं मिला? ऐसे लोग भी कूटनीति के वशवर्ती हो जाएँ, तो मानसिक दुःख का होना सहज ही है। इन सभी बातों को मन में रखकर घुलते रहने की अपेक्षा सन्निधान के साथ खुले दिल से विचार-विमर्श कर लेना अच्छा होगा।''

''ऐसा न समझें कि विचार-विमर्श नहीं किया है। सभी परिस्थितियों से वे भी परिचित हैं। इसीलिए उन्होंने विजयोत्सव के अवसर पर भविष्य की व्यवस्था के बारे में घोषणा की थी।''

''तो क्या उनकी उस घोषणा के पीछे आपकी प्रेरणा थी?''

''प्रेरणा नहीं थी। जो कुछ मुझे लगता है सो समय-समय पर मैं सदा ही खुले दिल से कहती आयी हूँ। वह भी मेरे मन और मेरी रीति से परिचित हैं, इसलिए उन्होंने शायद ऐसा निर्णय लिया है। वास्तव में मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि वे इस तरह की घोषणा उस दिन करेंगे।''

''अब तक जो भी कार्य हुए और विजयोत्सव में जो कुछ देखने को मिला उससे यही सिद्ध होता है कि जनता राजमहल के प्रति और सिंहासन के प्रति पूर्ण निष्ठावान है। ऐसा नहीं लगा कि वह किसी व्यक्ति विशेष के प्रति निष्ठावान रहेगी।''

''ऐसे समारोहों में तत्काल स्फुरित उत्साह के फलस्वरूप लोग ऐसा आचरण करते हैं। बाद को उनके बरताव में परिवर्तन न होगा, ऐसा कैसे कह सकते हैं? नौकर-चाकर न भी चाहें, बहुत-सी बातें उनके कानों में पड़ेंगी ही। वे भी तो आखिर मनुष्य ही हैं। कभी नहीं कुछ बोल आता है। इससे उनकी हत्या तक कर देने का सोचने लगें तो इससे भी बढ़कर मानव की नीचता और क्या हो सकती है? बेचारी मुद्दला की हत्या नीचता की चरम-सीमा है। उसे रास्ते पर लाया जा सकता था। उसे सत्य बात समझायी जा सकती थी। बूतुगा एक साधारण मनुष्य था। पहले जब पिरियरसीजी बलिपुर में अज्ञातवास में थीं, तब उसने क्या-क्या बातें कही थीं सो आपको मालूम नहीं? चाहते तो उसे शूली दे सकते थे। ऐसा न करके उसे अच्छा मनुष्य बनाया गया। मानव के जीवन को यों क्रूरता से समाप्त कर देने का हिंसाचार इस राज्य में शुरू हो गया तो अहिंसा पर विश्वास करनेवाले हम जैसों के लिए जगह कहाँ? मुद्दला की हत्या की बात जब से सुनी तब से मन मुक्ति की ओर बढ़ने लगा है।''

''हर दिन मौतें होती ही रहती हैं, हत्याएँ-आत्महत्याएँ भी होती रहती हैं। यह दूसरी बात है कि हमें सब बातें मालूम नहीं पड़तीं। अब इन्हीं को लेकर मन-ही-मन घुलते रहें तो जिएँ कैसे?''

''यह बात सब जानते हैं कि जन्म के साथ ही मृत्यु लगी रहती है। उस मृत्यु

से हमें डरना नहीं है। हमारा विश्वास है कि मृत्यु स्वागतार्ह है। इसीलिए हम यह कहते हैं कि देह से आत्मा मुक्त हो गयी। मैं मृत्यु के विचार से कभी विचलित नहीं होती। उससे मुझे कुछ भी कष्ट नहीं होता। किसी ने साजिश की और वह राज्य के ऊँचे स्तर के लोगों के नाम से प्रचारित हुई। पोय्सल पट्टमहादेवी और रानियों के नाम पर हत्या हुई तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस तरह के जघन्य अपराध करनेवाले ने यही समझ लिया होगा कि अपने अपराध को छिपाने के लिए मुद्दला की हत्या के सिवा अन्य कोई मार्ग ही नहीं। यही कारण है कि एक सामान्य प्रजा जीविका के लिए राजमहल की दासी बनी और हत्यारों द्वारा मारी गयी। मुद्दला की हत्या के साथ सदा हमारे नाम भी जुड़े रहेंगे, इसे हम कैसे सह सकते हैं, आप ही कहिए?'' ये बातें दर्द भरी थीं।

''हमारी बुद्धि इतनी दूर तक सोच नहीं सकती। उसे भूल जाना ही अच्छा है।''

''भूल कैसे सकती हूँ?''

''आपके अहित की चाह से भरी माँ ने जो साजिश करवायी थी, उसे जिस तरह भूल गयीं, वैसे ही।''

''उससे मेरा या मेरे माता-पिता का कोई अहित नहीं हुआ न? आपकी माँ एक अपरिचित के जाल में फँसकर खुद ही जल-जलकर इस संसार से उठ गयीं। मुझे उनके प्रति सहानुभूति है।''

''लेकिन मुझे नहीं है। और...''

''उन्होंने इस संसार को विशालता से नहीं देखा। बहुत संकुचित भावना रही उनकी, उन्होंने केवल अपनी बेटियों का हित साधा।''

''न बेटियों का हित और न अपना ही हित साध सकी।''

''इसीलिए हमें सभी बातों में अपने स्वार्थ को या अपनी सन्तान के हित को संकुचित दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने पर आपकी माँ की जो गति हुई, वही होगी।''

''तो क्या आप कहती हैं कि रानी लक्ष्मीदेवी की भी वैसी ही हालत होगी जैसी मेरी माँ की हुई?''

''सब कुछ की लालसा करनेवालों के लिए सिवा दुःख के मिलेगा ही क्या?''

''वह अपना-अपना भाग्य है। कोई कुछ भी करे, हमारी पट्टमहादेवी को चाहिए कि मन को विचलित न करें, अब जैसा कहती हैं, छुटकारे की या वैराग्य की बात न करें।''

''मन की पीड़ा के कारण कहा होगा। इसलिए मैं उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहती। मुझे जैसा लगा उसे खुले दिल से आप लोगों को बता दिया।''

''कह चुकी न? अब उस बात को भूल जाइए।''

''यहीं बैठी रही तो भूल नहीं पाऊँगी। एक बार अपने इस सम्पूर्ण राज्य का

चक्कर लगा आने की अभिलाषा है। सन्निधान के पास पत्र भेजूँगी। वे स्वीकृति दे दें, तब आप लोग भी मेरे साथ चलेंगी?''

''ठीक है, चलेंगी। खाली खा-पीकर बैठे रहने के सिवा दूसरा काम ही क्या है? यह हमारे लिए एक अच्छा अवसर होगा।''

''ठीक, आज ही चिट्ठी लिख भेजूँगी।'' शान्तलदेवी ने कहा। उनके कहे अनुसार उसी दिन पत्र हानुंगल के लिए रवाना हुआ। उत्तर की प्रतीक्षा में कुछ दिन गुजरे।

इस बीच एक दिन प्रधान गंगराज पट्टमहादेवीजी के दर्शन हेतु राजमहल में आये। उन्होंने निवेदन किया, ''मुद्दला के हत्यारों का पता लगाकर चार लोगों को पकड़ लिया गया है, उन्हें यहाँ बुलवाया गया है। उनका न्याय-विचार अभी करना है या सन्निधान से निवेदन कर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा की जाय।''

''आप, मादिराज और नागिदेवण्णा ने ही तो इस न्याय-विचार का काम किया है और अंशतः निर्णय भी सुना दिया है। अब बाकी जो बचा है, सो भी विचार करके निर्णय सुना देना ठीक है। सन्निधान तक इस विषय को ले जाने की आवश्यकता नहीं। न्याय-विचार करने के बाद उनके पास समाचार भेज देना पर्याप्त होगा। यह तुरन्त हो जाए। नागिदेवण्णाजी को बुलवा लीजिए। तब तक अपराधी बन्धन में रहें।'' शान्तलदेवी ने स्थिति स्पष्ट कर दी। उन्होंने ब्यौरा जानने की उत्सुकता नहीं दिखायी। गंगराज भी तो ब्यौरा नहीं देना चाहते थे। पट्टमहादेवी का निर्णय सुनने के बाद भी गंगराज गये नहीं, बैठ रहे।

शान्तलदेवी ने पूछा, ''और कुछ कहना है?''

''पूछना उचित है या नहीं, मैं नहीं जानता। विषय सन्निधान से सीधा सम्बन्ध रखनेवाला है। गलती हो तो क्षमा करें। मैं पट्टमहादेवीजी से बहुत बड़ा हूँ, उम्र के विचार से।'' इतना कहकर चुप हो गये।

''इस बात को कौन अस्वीकार करता है? इस पूरे राज्य में आप ही सबसे बड़े हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि आप हमारे बीच हैं।''

''यही अगर भाग्य की बात हो तो हमारी यह अभिलाषा असाधु नहीं कि हमारी पट्टमहादेवी हमारे बीच अनन्तकाल तक रहें।''

''यह कहने का अभी ऐसा प्रसंग ही क्या है?''

''मेरी पत्नी लक्ष्मी जब मुझसे बिछुड़ी तभी से व्यक्तिगत रूप से मैं कार्यमुक्त होना चाहता था—यह बात छिपाकर नहीं रखी। जब दोनों सन्निधान के समक्ष मैंने कार्य-मुक्त होने की इच्छा व्यक्त की तो वह बात ठीक नहीं लगी और मेरी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस राजघराने का नमक खाया, उस राजपरिवार की बात मानकर कर्तव्य-बुद्धि से कार्य करता रहा। राज्य के लिए माता सदृश, संसार की आदर्श, पूजनीया आप

स्वयं अब मुक्ति के मार्ग पर, सुना है, अग्रसर होना चाहती हैं? आप ही विरक्त हो जाएँ तो हम किसके लिए यह श्रम करें? राज्य अनाथ हो जाएगा न?''

''क्यों प्रधानजी? स्नेह-भार से दबकर बात कर रहे हैं न? मानव के प्रति मानव में जो प्रेम होना चाहिए, उसे मैं गलत नहीं कहती। परन्तु इस प्रेम में जड़ बनकर, विश्वनियम को भूलकर व्यवहार करना उचित नहीं लगता। मैं भी तो मानवी ही हूँ। अभ्यास से संयम की साधना करने पर भी, कभी-कभी वह ढीला पड़ जाता है। ऐसी ढिलाई क्षणिक होने पर भी वह कुछ कह जाती है। प्रधानजी, क्या आप भी अधीर...?''

''बात सुनकर किसी के लिए भी आतंकित होना सहज है। मैं भी विश्वनियम को जानता हूँ। फिर भी आपके मन में इस तरह की चिन्ता उत्पन्न हुई तो लगता है कि किसी गलत बात का आप पर कुछ असर पड़ा है। मुझे मालूम है कि किसी बात को मन की गहराई में रखकर उसी में घुलते रहने का स्वभाव हमारी पट्टमहादेवीजी का नहीं है। इसलिए उस विचार को मन से दूर करें—यही प्रार्थना करने के लिए आया हूँ।''

''मैंने पहले ही कहा न कि ऐसी अधीरता का होना क्षणिक मात्र है।''

''ठीक, आश्वस्त हुआ। आज्ञा हो तो अब चलूँ?''

गंगराज चले गये। शान्तलदेवी सोचने लगीं, 'मेरा आत्म-विश्वास शिथिल हो रहा है। दसों दिशाओं में मन जब चक्कर काटता रहता है तब ऐसा लगना सहज है। स्वार्थ के वशीभूत हो जब मन चारों ओर मँडराने लगता है, तब उसका अधिक असर होता है। मन निर्लिप्त रहे तो उसे स्थिर रखना कठिन नहीं है। मेरे मन की तरह मेरे बच्चों का भी मन होता तो बात कुछ और ही होती। एक तरफ बच्चों के मन में संघर्ष, दूसरी तरफ सन्निधान का मानसिक असन्तोष, इन दोनों के बीच भविष्य क्या होगा, उसकी कल्पना नहीं कर सकती!...एक दिन सन्निधान के मुँह से एक बात निकली थी।...हाँ याद आयी : 'यदि ऐसा करेंगे तो राज्य को टुकड़े कर बाँट देने का-सा होगा न?' एक श्वेतछत्र के नीचे विशाल पोय्सल राज्य की स्थापना का सपना देखा था। जब वह सपना सच होने जा रहा है, तब उसे फिर बाँटना हो तो इस तरह राज्य विस्तार ही क्यों किया? बुजुर्गों से जो पाया था उसी को बचाये रखकर, सुख से रह सकते थे न? यों चारों ओर शत्रुओं को पैदा करके, सदा लड़ते हुए, धन-जन की हानि करके, जीवन गुजारने की जरूरत क्या थी? चालुक्य पोय्सलों के आत्मीय कहलाते थे। फिर उनसे द्वेष क्यों बढ़ाया? अपना सर्वस्व त्यागकर सारी मानवता के कल्याण के लिए जीनेवाली बाप्पुरे नागियक्काजी का जीवन इस जीवन से श्रेष्ठ है न? द्वेष के लिए स्थान न देकर केवल प्रेम से जनता को एक करनेवाले उन प्रबोधचन्द्र विहार ने कितना अच्छा काम किया है और कर भी रहे हैं! जन-मन को परिष्कृत करके द्वेषरहित समाज का सृजन करना राज्य-निर्माण से भी बड़ा काम है। मेरे जीवन को प्रकाशित करनेवाले और समय-समय पर मेरी आवश्यकताओं को पूरा कर उसे एक क्रमबद्ध रीति से विकसित

करने में सहायक अनेक पवित्र स्थान हैं इस देश में। एक बार उन सभी स्थानों का दर्शन कर उन पुरानी बातों को एक बार फिर नया रूप देकर लौटने के बाद, मानव-कल्याण के लिए आवश्यक एक ज्ञाननिलय का संचालन करूँ तो वही पर्याप्त है। मुक्त होने की इच्छा प्रबल रहेगी तो मानसिक शान्ति भी बनी रहेगी'।' शान्तलदेवी ने इस तरह जब दृढ़ निश्चय किया तब कहीं शान्ति के लिए मनोभूमि बन सकी और इसके फलस्वरूप अन्य कार्यों में भी उनका ध्यान जाने लगा।

न्यायपीठ ने मुद्दला के हत्यारों पर न्याय-विचार किया। यह बात प्रकट हुई कि किसी ने धन देकर हत्या करवायी। जिसकी हत्या हुई उसके साथ हत्यारों का न कोई सम्बन्ध था न द्वेष था। केवल पैसे के लालच से हत्या की गयी, यह बात स्पष्ट हो गयी। इस हत्या के प्रेरक कौन थे, उसके सूत्रधार कौन थे, यह ज्ञात नहीं हो सका। हत्यारे को धन देनेवालों का चेहरा-मोहरा और उनकी काठी का विवरण मिलने पर भी उन व्यक्तियों का पता नहीं लग पाया। वह एक तिलकधारी था, इतना ही स्पष्ट हो सका। वे हत्यारे भी पोय्सल राज्य के लोग नहीं थे, चोल राज्य के थे वे। मुद्दला राजमहल से सम्बद्ध थी और बहुत गहराई तक के रहस्य वह जानती थी। यदि वे उसके द्वारा प्रकट हो जाएँ तो राज्य में बड़ी गड़बड़ी हो जाएगी, इसलिए हत्यारों से कहकर यह काम करवाया गया, और इसके लिए उन्हें दो सौ स्वर्ण-मुद्राएँ दी गयीं।

हत्यारे जब राज्य से बाहर निकलने लगे तो वहाँ के सीमारक्षक अधिकारियों ने उन्हे रोक लिया था। राज्य के सभी सीमारक्षक अधिकारियों के पास खबर भेजी जा चुकी थी। शंकास्पद आचरण न होने पर भी इन हत्यारों के पास पोय्सल राज्य मुद्रांकित स्वर्ण-मुद्राएँ कैसे पहुँचीं, इसका ब्यौरा वे नहीं दे सके थे। वे सौदा-सुलफ का बहाना करके खिसक जाना चाहते थे, परन्तु उन लोगों के सामान की जाँच करने पर उनके पास रानी लक्ष्मीदेवी के नाम से अंकित अँगूठी मिली। अधिकारियों को शंका हुई तो उन्हें रोक लिया गया और फिर पटवारी के हाथ सौंप दिया गया। बाद में गुप्तचर विभाग ने उन लोगों से मिलकर बहुत-सी और बातों का भी पता लगा लिया। परन्तु जब उन लोगों को यन्त्रणापूर्ण दण्ड दिया गया तब कहीं इस सत्य बात का पता लग पाया कि रानी लक्ष्मीदेवी की मुद्रांकित अँगूठी मुद्दला की अँगुली से निकाल ली गयी थी।

कुछ आधार-सामग्री भी मिल गयी थी। लेकिन तब तक इस तरह के कार्य के लिए प्रेरणा देनेवाले व्यक्ति खिसक गये थे। न्यायपीठ ने इन हत्यारों को आजीवन कारावास का दण्ड दिया।

इस बात की खबर उधर महाराज को और इधर रानी लक्ष्मीदेवी को भी दी गयी। खबर सुनने के बाद रानी लक्ष्मीदेवी चिन्ता में पड़ गयी। वह तरह-तरह से सोचने लगी. हत्यारों ने बताया कि अँगूठी मुद्दला की उँगली से निकाली, वह उसके पास कैसे गयी? अब वह अँगूठी राजधानी के राजमहल में वित्तसचिव मादिराज के पास है। इसका क्या अर्थ लगाया जाएगा, भगवान् ही जाने। कोई कुछ भी सोचे, चिन्ता नहीं, पर सन्निधान मुझसे यदि सवाल करें तो मैं क्या जवाब दूँगी? यही कहना होगा कि मुझपर कलंक लगाने के उद्देश्य से किसी ने मुद्दला के द्वारा चोरी करवायी है, या दासियों द्वारा चोरी करवाकर उसके हाथ में देकर हत्या करायी है।...या यदि मेरे पिता ने ही यह काम कराया हो तो?...कुछ समझ में नहीं आ रहा है। इस तरह घबराहट के कारण तरह-तरह के विचार उसके दिमाग में आते-जाते रहे। पिता की याद आते ही उसने बुलवा भेजा।

उसके आते ही वह बोल उठी, "पिताजी, आपने ऐसा काम करके मेरे नाम पर कलंक लगा दिया है।"

"मैंने क्या किया बेटी? मेरे हृदय में तुम्हारे और तुम्हारे बेटे के कल्याण के अलावा दूसरी कोई बात आ सकती है, लक्ष्मी? ऐसी दशा में तुम्हारे नाम पर कलंक लगे, ऐसा कोई काम कर सकता हूँ, तुम ही बताओ?"

"मेरी नामांकित अँगूठी मुद्दला के पास कैसे गयी? क्यों गयी?"

"तुम्हारी अँगूठी तो तुम्हारे ही पास होनी चाहिए। किसी दूसरे के पास कैसे जा सकती है? क्या वह तुम्हारे पास नहीं है?"

"मैंने देखा नहीं।"

"पहले देख तो लो।"

लक्ष्मीदेवी ने अपने जेवरों में ढूँढ़ा। उनमें अँगूठी मिल गयी। बोली, "मेरी अँगूठी तो यह है। ठीक।" उँगली में पहनकर पूछा, "तो उन लोगों के पास मेरे नाम की जो अँगूठी है, उसके क्या माने?"

"उनके पास माने? किनके पास?"

लक्ष्मीदेवी ने राजधानी से जो समाचार मिला था, उसका ब्यौरा सुनाया।

"तब तो इसमें कुछ धोखा है। तुम्हारे और मेरे शत्रुओं ने यह अँगूठी तैयार करवायी है। अब वह अँगूठी कहाँ है?"

"वित्त-सचिव मादिराज के पास।"

"ऐसा? उसे वहाँ क्यों होना चाहिए? तुम्हारे नाम की अँगूठी तुम्हारे पास होनी चाहिए।"

"परन्तु वह नकली है न?"

"हो सकता है। पर कौन नकली है, कौन असली, इसका पता लगे कैसे? हमें

मालूम है कि वह नकली है, क्योंकि तुम्हारी अँगूठी तुम्हारे पास है।''

''वैसे ही राजधानी को लिख भेजेंगे। मेरी अँगूठी मेरे पास है, अब वहाँ जो है वह नकली है।''

''नहीं, बेटी! अब पहले से ही राजधानी में मुझसे और तुमसे द्वेष करनेवाले लोगों को तैयार कर रखा है। ऐसी स्थिति में, तुम्हारी अँगूठी तुम्हारे पास है, और दूसरी वह नकली है, ऐसा लिखोगी तो जाँच कराने का बहाना कर तुम्हें इस षड्यन्त्र में फँसा देंगे। तब तुम रानी भी न रह सकोगी और न ही तुम्हारे बेटे का पट्टाभिषेक होगा...और तब यह नामधारी भीख माँगता फिरेगा।''

''तो क्या करना चाहिए?''

'' 'हत्यारों का पता लग गया, अच्छा हुआ। मुद्दला हमारी अत्यन्त विश्वसनीय दासी थी। उसकी हत्या से किसे क्या फायदा होगा, सो मालूम नहीं। वहाँ से खबर मिलने पर यहाँ मैंने अपने जेवरों को देखा। ढूँढ़ने पर मेरी अँगूठी का पता नहीं लगा। शायद अन्तःपुर के विश्रामागार के किसी नौकर ने चोरी की है, ऐसा लगता है। यह पता लगाया जा रहा है कि किसने यह चोरी की। मेरी अँगूठी को मेरे पास भिजवा दें।' यों एक पत्र लिख भेजो।''

''यदि वे भेज दें तब तो ठीक है, नहीं तो क्या होगा?''

इतने में बाहर से घण्टी की आवाज सुनाई पड़ी।

''कौन है?'' लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

''राजधानी से एक गुप्तचर आया है और उसके साथ वहाँ के एक बड़े अधिकारी भी आये हैं।'' द्वार खोलकर दासी ने अन्दर आकर कहा।

''वे बाहर बरामदे में बैठें, मैं वहीं आ रही हूँ।'' लक्ष्मीदेवी ने कहा।

नौकरानी चली गयी। कपड़े बदलकर थोड़ी ही देर में अपने पिता के साथ रानी लक्ष्मीदेवी वहाँ आयी। वहाँ मादिराज को बैठे देख वह अवाक् रह गयी। मादिराज ने उठकर रानी को प्रणाम किया।

रानी अपनी घबराहट को छिपाते हुए बैठ गयी और बोली, ''बैठिए, इतनी दूर की यात्रा! आने की पूर्व-सूचना भी नहीं दी?'' उसके स्वर में आश्चर्य और आतंक दोनों का मिश्रण था।

''राज्य का काम जहाँ हो, वहाँ जाना ही होगा न? पट्टमहादेवीजी का आदेश था, चला आया।''

''इतना जरूरी आदेश था?''

''हाँ, हमारे गुप्तचरों द्वारा मुद्दला के हत्यारों के न्याय-विचार का निर्णय सन्निधान को बता दिया गया था। खबर भेजने के बाद पट्टमहादेवी से कहा तो उन्होंने एक बात बतायी : 'रानी लक्ष्मीदेवी की अँगूठी को यहाँ रख लेना उचित नहीं। उनकी अँगूठी

उन्हीं के पास रहनी चाहिए। यदि वह मुद्दला के पास थी तो उन्होंने ही उसके हाथ में दी होगी। यों देने का कोई कारण मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है। यदि रानी ने नहीं दी हो तो उसी ने चोरी की होगी. नहीं तो वह अँगूठी नकली होगी। इसलिए इसकी तहकीकात आप जाकर स्वयं करें। चोरी की गयी हो तो उनकी अँगूठी उन्हें दे दें तथा इस चोरी के कारण का पता लगाएँ। यदि वह जाली हो तो इसे किसने बनाया, इस बात का पता लगाएँ' यह आज्ञा दी है। इसी का पालन करने के लिए आया हूँ।'' मादिराज की दृष्टि रानी लक्ष्मीदेवी की उँगलियों पर ही रही।

''मैं अपने पिताजी से इसी विषय पर बात कर रही थी। मेरी अँगूठी तो मेरे ही पास है।'' लक्ष्मीदेवी ने कहा।

तिरुवरंगदास के माथे पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। उसका चेहरा फक पड़ गया। उसने मन-ही-मन कहा, 'यह बेवकूफ है। वैदिक की लड़की होशियार हो भी तो कैसे? जल्दबाजी में कुछ-का-कुछ कह बैठी न? अब मैं मुँह भी नहीं खोल सकता।'

''ऐसा है? तो जैसा पट्टमहादेवी ने कहा, यह अँगूठी जाली ही होनी चाहिए।''

''हाँ, हो सकता है।'' लक्ष्मीदेवी ने कहा।

'इस पर विश्वास करके धूल ही फाँकनी पड़ेगी। इसे समझाकर कहा था कि वहाँ जो अँगूठी है उसे किसी-न-किसी उपाय से मँगवा ले। मेरे इस कहने का मतलब ही क्या था? मेरा उद्देश्य था कि उस अँगूठी के विषय में किसी को कुछ मालूम न पड़े। अब इस बात का रुख किस तरफ मुड़ेगा?' यही सब सोचकर तिरुवरंगदास का मन छटपटाने लगा। मगर वह मौन ही बैठा रहा।

''तो एक काम करेंगे। अभी यहाँ के सभी सुनारों को यहाँ बुलवा लेंगे!''

''सुनार क्यों?'' लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

''यदि यह जाली है तो इसे यहाँ किसी सुनार ने बनाया होगा। राजमहल के किसी जिम्मेदार अधिकारी के कहे बिना, रानी की नामांकित अँगूठी को कोई नहीं बना सकता। और ऐसे कार्य के लिए उससे सम्बन्धित सभी बातों की उसे जानकारी होनी चाहिए। इस तरह की जानकारी न होने पर उसको दण्ड भोगना पड़ेगा।''

'हाय, हाय! यह बात पहले मालूम होती तो आवश्यक बन्दोबस्त किया जा सकता था।' तिरुवरंगदास अन्दर-ही-अन्दर छटपटाने लगा।

''ऐसा हो तो बुलवा लीजिए। मैं चुपचाप राजमहल में पड़ी हूँ, और यह सब कुतन्त्र हो गया! इन अपराधियों को दण्ड मिलना ही चाहिए।''

''जो आज्ञा। इसके लिए राजपुरुष भेजे जा चुके हैं। यहाँ के व्यवस्था अधिकारी को मैंने पहले ही खबर दे दी थी। उन सभी को अब हुल्लमय्याजी यहाँ बुलवा लाएँगे।''

तिरुवरंगदास अपने दुपट्टे के अन्दर ही अन्दर हाथ मलता रहा।

"सन्निधान से कोई खबर मिली?"

"समाचार आते रहते हैं। वे अब हेद्दोरे की तरफ आक्रमण करने की योजना में लगे हैं। पहले एक-एक का नाम लेकर कुशल पूछा करते थे। अब एक ही पंक्ति में लिख देते हैं कि पट्टमहादेवी और राजपरिवार के सभी जन कुशल हैं न? हम विस्तार के साथ सभी का कुशल समाचार भेजते रहे हैं।"

"रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनें राजधानी में ही हैं?"

"हाँ, हैं।"

"सो क्यों? इतने दिन राजधानी में...?"

"मैं कैसे कह सकता हूँ। वे भी तो राजमहल ही की हैं न? चाहे जहाँ रहें।"

"मैं अकेली बाहर की हूँ।" रानी लक्ष्मीदेवी कह बैठी।

"किसी ने ऐसा समझा नहीं। आप स्वयं ऐसा क्यों समझती हैं?"

"अपने आप कोई ऐसा नहीं समझता। जो अनुभव करता है वही जनता है। मेरा तो इस षड्यन्त्र को लेकर दिमाग खराब हो गया है। अब यही देखिए, मेरे नाम की अँगूठी बनी तो मेरी कितनी कुख्याति होगी, आप ही सोचकर देखिए!"

"आपको ऐसे परेशान नहीं होना चाहिए।"

"परेशान कैसे न हों? कोई एक बात कहे तो उसका दूसरा अर्थ ही लगा लिया जाता है।"

"बुरे विचार करनेवाले हर जगह होते हैं। इन सब बातों के बारे में सोचना नहीं चाहिए। मनुष्य गलती करेगा ही, यह सहज है। किसने गलती नहीं की है? महासन्निधान ने नहीं की? पट्टमहादेवी जी ने नहीं की? प्रधानजी ने नहीं की? आपने नहीं की? आपके पिता ने नहीं की? मैंने नहीं की? सभी से कुछ-न-कुछ गलतियाँ हुई हैं। ऐसी गलतियाँ अनजाने हो जाया करती हैं, ऐसी हालत में वे क्षम्य होती हैं। लेकिन किसी स्वार्थवश अथवा किसी का अहित करने के उद्देश्य से गलत काम किया जाए तो वह कैसे क्षम्य हो सकता है?"

"क्या महासन्निधान से भी कोई गलती हुई है? क्या गलती हो सकती है?"

"वह बात उनके समक्ष ही कहें तो ठीक। यों पीठ-पीछे ऐसी चर्चा नहीं करनी चाहिए।"

"मैंने क्या गलती की?"

"वह दूसरे कहें, यह ठीक नहीं। आपको ही समझना चाहिए और आप ही को कहना चाहिए कि आपसे अमुक गलती हुई।"

"कोई अपनी गलती आप कहेगा?"

"ऐसा न कहे तो उसके मन को शान्ति नहीं मिलेगी। कभी वह गलती प्रकट

हो जाए तो क्या होगा, यह चिन्ता मन में घुमड़ती रहती है।''

इसी समय हुल्लमय्या सुनारों को साथ लेकर आ गये।

तिरुवरंगदास ने सुनारों की ओर देखा। उसके चेहरे पर सन्तोष की रेखा खिंच गयी। उसके मन में जो घबराहट थी, वह कुछ कम हो गयी।

मादिराज ने सुनारों में प्रत्येक से सवाल किये। उन सुनारों ने एक-न-एक जेवर राजमहल के लिए बनाया जरूर था, मगर उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि रानी लक्ष्मीदेवी के नाम की मुद्रांकित अँगूठी उनमें से किसी ने नहीं बनायी।

तब मादिराज ने पूछा, ''राजमहल के लिए जो जेवर आप बनाते हैं, उनमें और दूसरों को बनाकर देनेवाले जेवरों में कोई फर्क होता है?''

''आपको स्वयं ही मालूम है न? राजमहल के जेवर शुद्ध सोने के होते हैं। अन्यत्र वह कितना ही शुद्ध हो, तिल भर मिलावट रहेगी ही।''

मादिराज ने अपने पास की अँगूठी एक सुनार के हाथ में देकर कहा, ''इसे जरा कसौटी पर घिसकर देखिए और बताइए सोना कैसा है?''

उसने कसौटी को जेब से निकालकर अँगूठी को उस पर घिसकर देखा और ''यह तो एकदम खरा सोना है'' कहकर उसे लौटा दिया।

मादिराज ने रानीजी से निवेदन किया, ''कृपया अपनी उँगली से अँगूठी निकालकर दें तो उसे भी कसौटी पर घिसवाकर देखा जा सकता है।''

तिरुवरंगदास ने झट से कहा, ''उनके हाथ की अँगूठी को कसौटी पर घिसवानेवाले आप कौन होते हैं?'' फिर उसे लगा कि इस तरह कहकर उसने गलती कर ली है।

''सच का पता तो लगाना ही चाहिए न, लीजिए मन्त्रीजी!'' कहती हुई रानी लक्ष्मीदेवी ने अँगूठी उतारकर दे दी।

उसे कसौटी पर घिसकर सुनार ने बताया, ''यह खरी नहीं है, इसमें चौथाई मिलावट है। किसी अनजान सुनार ने इसे बनाया होगा। राजमहल के लिए, खासकर रानीजी के नाम से अंकित अँगूठी के बारे में, कोई जानकार सुनार ऐसा न करेगा।''

''हुल्लमय्याजी, इनके अलावा भी कोई और सुनार हैं क्या?''

''हाँ, हैं। मैंने अभी केवल राजमहल के जेवर बनानेवालों को ही बुलवाया है।''

''ठीक। इन सबको जाने दीजिए। एक निर्णय तो हो गया कि मुद्दला जो हत्यारों का शिकार बनी, उसके पास जो अँगूठी थी वही रानीजी की असली अँगूठी है। अब रानी के हाथ में जो है सो नकली है। इससे यही निश्चित होता है कि पहले रानीजी की अँगूठी की चोरी हुई, और उसी तरह की एक दूसरी अँगूठी बनवायी गयी। इसके यही माने हुआ कि यह काम किन्हीं नजदीकी लोगों के ही द्वारा हुआ है। इसकी अच्छी तरह से आद्यन्त तहकीकात होनी ही चाहिए। दूसरे सुनार चाहे स्वीकार करें या न करें, उन्हें राजधानी ले जाकर उनकी पूरी जाँच करवानी ही होगी। इसलिए हुल्लमय्याजी,

इन दोनों अँगूठियों को पहचानने लायक दो अलग-अलग डिब्बियों में रखकर उन पर मुहर लगाकर मेरे हाथ में दें। रानीजी को इस विषय में चिन्तित होने की जरूरत नहीं। इसका परीक्षण बड़ी सतर्कता से किया जाएगा। और इसे बनानेवाले का भी पता लगाया जाएगा। आप भी गुप्तचरों का सहयोग लें और उनकी मदद करें। आपको कष्ट दिया, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं कल लौटूँगा। पट्टमहादेवीजी को कोई पत्र दें तो उसे सहर्ष लेता जाऊँगा।'' कहकर वे उठ खड़े हुए।

रानी ने कहा, ''अच्छी बात है।'' इस बीच बार-बार अपने पिता की ओर वह देखती रही थी, इससे कुछ और कहने का मन नहीं हुआ।

मादिराज चले गये। पिता के साथ अपने विश्रामगृह में जाकर रानी ने किवाड़ बन्द किये और कहा, ''पिताजी, आपने यह क्या किया?'' उसकी आँखों में आँसू थे।

''क्या हुआ, बेटी? क्यों इतना परेशान हो रही हो। जिसने गलती की है, वे पकड़े जाएँगे। तुम तो चुप बनी रहो। मेरे साथ इस मामले का कोई सम्बन्ध नहीं है।'' यों बहुत ही शान्तभाव की मुद्रा बनाकर उसने कहा।

''मैं आपकी बात पर विश्वास नहीं करती।'' उसने अविश्वास से सिर हिला दिया।

उधर हुल्लमय्या और मादिराज ने दूसरे सुनारों को बुलवाकर दर्याफ्त किया। उन लोगों ने साफ-साफ बता दिया कि उन्होंने राजमहल का कोई काम ही नहीं किया है। मादिराज को निराशा हुई। उनके मन में यह निश्चय हो चुका था कि नकली अँगूठी यहीं पर बनवायी गयी है, तो भी वह लाचार थे। उन्हें उस वक्त वहाँ करने के लिए कोई काम नहीं था। अँगूठियों की मुहर बन्द डिबियों के साथ वह राजधानी लौट आये।

इतने में महाराज के पास से पत्र आया। उसमें पट्टमहादेवीजी के भ्रमण पर जाने के लिए अनुमति दी गयी थी। दो और बातें उसमें थीं। एक, तलकाडु न जाना अच्छा है और दूसरी बात हानुंगल आने का निमन्त्रण। यात्रा की तैयारियाँ होने लगीं। शान्तलदेवी ने विनयादित्य को साथ चलने के लिए कहा। वह भी जाना चाहता था मगर उसने कहा, ''राजधानी में सन्निधान और आपकी अनुपस्थिति में यहाँ किसी-न-किसी का रहना अच्छा है।'' यों जाने की इच्छा होते हुए भी, वह वहीं ठहर गया।

अँगूठियों का सारा विवरण महाराज को बता दिया गया।

अपने माँ-बाप की अनुमति पाकर शान्तलदेवी ने भ्रमण की तैयारी शुरू की। साथ में रेविमय्या, मायण और चट्टला तथा उनका बेटा बल्लू, रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनें तथा उनकी सुरक्षा के लिए आवश्यक रक्षक दल, सब रवाना हुए।

वेलापुरी, फिर सोसेऊरु, मल्लिपट्टण, पनसोगे, बह्मिपुष्करिणी होते हुए वे यादवपुरी पहुँचीं। सोसेऊरु में बेटे और बहू के साथ, यादवपुरी में बेटी और दामाद के साथ, कुछ दिन रहीं। हरियला की दूसरी सन्तान लड़का ही हुआ था। उसका बिट्टिमय्या नाम रखा

गया था। वहाँ से यदुगिरि आकर वहाँ शहजादी की समाधि का दर्शन कर, पद्मलदेवी और उनकी बहनों को शहजादी की भक्ति की चरमावस्था का किस्सा सुनाया। वह किस तरह उस रामप्रिय की प्रिया बनी, यह बताया। कहा, यही जगह है जहाँ उसकी आत्मा ने उस यवन-देह से मुक्त होकर, अपने उस रामप्रिय से सायुज्य प्राप्त किया।

"जब एक यवनकन्या को रामप्रिय पर इतनी भक्ति है तब रामप्रिय-पन्थी लोग यों पागलों की तरह क्यों चिल्लाते फिरते हैं?" चामलदेवी ने कहा।

"यों चिल्लाते फिरनेवाले सभी धर्मों में हैं। हमारे जैनियों में नहीं हैं? मैंने शहजादी के बारे में इसलिए कहा कि देह से आत्मा को जोड़ना गलत है। मेरे धर्म की अनुयायिनी अन्य धर्म के देव के साथ सायुज्य पा गयी, सोचकर उनका 'अल्लाह' गुस्से से नहीं भर उठा। विश्वास और श्रद्धा जितनी गहरी होती है उसके अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। राजकुमारी की आत्मा सचमुच पवित्र है।"

"हमने तो उन्हें देखा नहीं, प्रत्यक्ष देखने वाली आज आपके मुँह से सुना। कहाँ कैसा महत्त्व छिपा होता है, इसका पता ही नहीं लगता!" पद्मलदेवी ने कहा।

वहाँ के यतिराज रामानुज के मठ के लोगों के आग्रह पर शान्तलदेवी अपनी इच्छा से भी अधिक दो दिन ज्यादा ठहरीं। फिर यदुगिरि से तलकाडु की ओर उन्हें जाना था।

उसी समय चट्टलदेवी शान्तलदेवी के पास आयी। कुछ बोली नहीं। शान्तलदेवी के साथ रानी पद्मलदेवी थी।

"क्या है, चट्टला?"

"माफ करें, एक खास बात...?"

"ऐसी रहस्यपूर्ण बात है?"

"वह तो सन्निधान ही सोचें। मैं तो केवल निवेदन कर सकती हूँ। जो कुछ हमें मालूम होता है, उस सबको रहस्य ही मानें।"

"ठीक", कहकर शान्तलदेवी अपने लिए व्यवस्थित विश्रामागार में गयीं। चट्टलदेवी ने पट्टमहादेवी का अनुसरण किया।

"क्या बात है?"

"यदुगिरि के टीले पर एक मन्दिर के मण्डप में दो स्त्रियाँ बैठकर आपस में बातें कर रही थीं। उनकी बातें कुतूहलजनक थीं। एक कह रही थी कि वह सात-आठ महीने पहले तलकाडु से आयी और उसका पति वहाँ सुनार का काम कर रहा था। अब इधर कुछ समय से काम छोड़ दिया और श्रीवैष्णव बनकर हाल में यदुगिरि आया है। मेरे पति उनका पीछा करेंगे और उनके घर-बार तथा अन्य बातों की जानकारी लेंगे। अब उनके बारे में कुछ कार्यक्रम तुरन्त बना लेना होगा। क्योंकि हम कल ही तलकाडु की तरफ जा रहे हैं।" चट्टला बोली।

"अब तो नागिदेवण्णाजी यहीं हैं। मायण के लौटते ही मन्त्रीजी को यहाँ आने के लिए कहो।" कहकर शान्तलदेवी उठ खड़ी हुईं।

चट्टलदेवी चली गयी। मायण जब लौटा तो वह नागिदेवण्णाजी को साथ बुला लाया। मायण ने जो समाचार संग्रह किया था और चट्टला के द्वारा जो बातें मालूम हुई थीं, उनके आधार पर यही प्रतीत हो रहा था कि रानी की नामांकित अँगूठी शायद उस सुनार से बनवायी गयी होगी। इसलिए शान्तलदेवी ने नागिदेवण्णा से कहा कि इस विषय में न्याय-विचार का कार्य आगे आप ही चलाइए।

"मैं इसकी पूरी तहकीकात करूँगा। यदि हमारा यह अनुमान ठीक निकला तो उसे कैद करके राजधानी भेज दूँगा। पट्टमहादेवी के प्रवास से लौटने के बाद न्याय-विचार हो जाएगा।" नागिदेवण्णा ने कहा।

पट्टमहादेवी स्वीकृति देकर परिवार के साथ तलकाडु की ओर रवाना हुईं। जब तक पट्टमहादेवी तलकाडु में रहीं, तब तक मन को धुकधुकी वाली कोई बात नहीं हुई। स्वयं रानी लक्ष्मीदेवी व्यवस्था-कार्य में उत्साह से लगी रहीं। एक खास बात यह थी कि उसके पिता के दर्शन नहीं हो सके थे। शान्तलदेवी ने पूछा भी, "आपके पिताजी कहाँ हैं? उनके दर्शन ही नहीं हुए!"

"जाने दीजिए। अपनी राह वे ही जानें। पुराने सम्प्रदाय के वैदिक जो ठहरे। राजनीतिक विषयों को वे समझ नहीं सकते। आगा-पीछा तो समझते नहीं और कुछ-का-कुछ कह बैठते हैं। उनसे कह दिया है कि वे किसी राजनीतिक कार्य में दखल न दें। इस तरह उन्हें रोक रखा है, इसलिए वह मुझ पर गुस्सा हैं।"

"कौन बाप ऐसा होगा जो बेटी के विरोध को सह ले!"

"मुझे क्या द्वेष है? उनका व्यवहार ही कुछ ऐसा है जैसे बन्दर के हाथ में मोती। मेरे नाम की मुद्रा से अंकित अँगूठी के बारे में वित्त-सचिव के आकर लौट जाने के बाद, मेरे और मेरे पिताजी के बीच काफी बातें हुईं। फलस्वरूप कुछ रोक-थाम कर देनी पड़ी। इससे खिन्न होकर वे आचार्यजी के दर्शन के उद्देश्य से चले गये हैं।

"अच्छा हुआ, जाने दो। आचार्यजी के दर्शन से किसी को भी मानसिक शान्ति ही मिलेगी।"

रानी लक्ष्मीदेवी की बातों के पीछे क्या रहस्य है, ठीक तरह से समझने के लिए मायण और चट्टला के द्वारा गुप्तचरों को आदेश देकर शान्तलदेवी किवक्केरी होते हुए बेलुगोल पहुँचीं। और फिर वहाँ से शिवगंगा पहुँचीं। पद्मलदेवी और उनकी बहनों के लिए शिवगंगा नयी जगह थी। चारों ओर चार तरह के मुखवाला वह पहाड़, उस पर वृषभ, तीर्थ-स्तम्भ, बीच पहाड़ पर की अन्दर प्रवाहित गंगा, वहाँ का प्रशान्त वातावरण—यह सब उन्हें अच्छा लगा। चामलदेवी ने कहा, "मन की शान्ति के लिए यह स्थान बहुत ही उत्तम है।"

''सच है, चामला। उस वृषभ के सींगों के बीच से मैंने तो प्रभा-मण्डल का दर्शन पाया है। मैं तब यहाँ आयी जब पहले-पहल उपनयन संस्कार के लिए सोसेऊरु आयी थी।''

''तब बिट्टिदेव...माफ करें, सन्निधान गुप्त रीति से आपके साथ आये थे। इस बात को लेकर हमारी माँ आग-बबूला हो उठी थीं।'' चामलदेवी बोली।

''परन्तु उस नवीन सह-यात्रा ने मुझको अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान किया था—बेलुगोल से ही रेविमय्या कहता आ रहा है।''

''उसने जो कुछ कहा वही हुआ न?'' पद्मलदेवी ने कहा।

''वह जो कुछ कहता है उसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। इसलिए भगवान् ने उसके मन के अनुसार सब होने दिया।''

शिवगंगा में एक सप्ताह बिताकर आगे क्रीडापुर, कुडली, बलिपुर जाने की योजना बनी थी। शिवगंगा से रवाना होने से पहले वहाँ के धर्मदर्शी ने कहा, ''आनेवाली शिवरात्रि को यहाँ अवश्य पधारने की कृपा करें। यहाँ एक शारदापीठ का शुभारम्भ करके इस तीर्थक्षेत्र को ज्ञान-क्षेत्र बनाने की इच्छा है।''

''ऐसे उत्तम कार्य के लिए आने से इनकार कर सकता है कोई? हम अवश्य आएँगे।'' शान्तलदेवी ने तुरन्त आश्वासन दिया।

क्रीडापुर में तो विशेष उत्साहपूर्ण वातावरण रहा। जक्कणाचार्य, डंकण और लक्ष्मी को ऐसा लग रहा था कि मायका ही स्वयं इधर आ गया हो। वे बहुत तृप्त थे, प्रसन्न थे।

वहाँ से कुंडली आयीं, शारदा के दर्शन किये। फिर बलिपुर पहुँचीं। अपने जन्मगृह में ही शान्तलदेवी ने पट्टमहारानी की हैसियत से मुकाम किया। शान्तलदेवी ने उस समय का सारा वृत्तान्त पद्मलदेवी और उनकी बहनों से कह सुनाया। शिल्पी दासोज और चावुण के लिए तो ऐसा लगा कि स्वयं स्वर्ग ही बलिपुर में उतर आया है। ऐसे कलाक्षेत्र में शान्तल का जन्म हुआ है, इस बात की जानकारी पद्मलदेवी और उनकी बहनों को तब हुई।

बलिपुर से हानुंगल जाकर एक-दो महीने महाराज के साथ रहकर, शान्तलदेवी फिर राजधानी लौट आयीं। उनके इस प्रवास में छोटे बिट्टिदेव से कोवलालपुर में जाकर मिलना न हो सका था। यात्रा लम्बी होने पर भी सुगमता से सम्पन्न हुई थी। राजधानी लौटने के एक पखवाड़े के बाद पद्मलदेवी और बहनों ने राजधानी से प्रस्थान किया।

यदुगिरि में नागिदेवण्णा ने जो तहकीकात की, उससे एक बात और स्पष्ट हो गयी। रानी लक्ष्मीदेवी के पिता ने उस अँगूठी को बनवाने के लिए सुनार से कहा था। उस सुनार को राजधानी में बुलवा लिया गया था। न्यायपीठ के सामने उसे पेश किया था।

जब पूछा गया कि गाँव क्यों छोड़ा तो उसने कहा था, "मुझसे कहा गया—'तुमसे जो काम करवाया वह प्रकट होने की सम्भावना है, अतः मैंने जो गलती की उसके लिए तुम दण्डित क्यों हो। इसलिए तुमको काफी धन दिया जाता है, इस गाँव को छोड़कर यहाँ से भाग जाओ', ऐसा कहकर एक तरफ डराया और एक तरह से आश्वासन भी दिया। मैं जीना चाहता था, इसलिए यदुगिरि चला आया।"

यह पूछने पर कि गुजारे के लिए क्या करते हो, उससे जवाब मिला, "इर्द-गिर्द के गाँवों में जाकर लोगों के घरों में जेवर बना देता हूँ।...परन्तु यदुगिरि में मैं सुनार का काम नहीं करता। यहाँ मूर्ति बनाने का काम करता हूँ।"

"क्या तुमको मालूम नहीं कि राजमहलवालों के नाम की मुद्रावाली अँगूठी बनाने का हुक्म सीधे राजमहल से ही मिलता है?"

"मालूम था। रानी के पिता ही रानी की इच्छा के अनुसार बनवा रहे हैं, यही कहा गया। इसलिए मैंने स्वीकार कर लिया। अधिक धन भी मिला था।"

"तो उसे खरे सोने से क्यों नहीं बनाया?"

"साधारण हो तो भी कोई हर्ज नहीं, यही कहा गया था।"

"क्या तुमको यह नहीं लगा कि यह काम गलत है?"

"वे स्वयं घबराकर मुझसे खुद आकर जब तक नहीं बोले, तब तक मुझे ऐसा कुछ नहीं लगा।"

"जब तुमसे कहा कि तलकाडु को छोड़ दो तो तुमने वहाँ के अधिकारियों को क्यों नहीं बताया?"

"अधिकारियों को बताने पर तुम्हारा सिर काट देंगे, यों कहकर डराया था और कहा था, कहीं जाकर रहो, यहाँ से भाग जाओ।"

"तुमने रानी के पिताजी को कभी कहीं देखा है?"

"नहीं, उनकी तरफ से कोई तिलकधारी आया था।"

"उसे तुम पहचान सकोगे?"

"हाँ, पहचान लूँगा।"

"उन्होंने अपना क्या नाम बताया था?"

"मैंने पूछा नहीं। उन्होंने बताया नहीं।"

इतनी तहकीकात के बाद मुद्दला के हत्यारे जो कारावास में थे, उन्हें दिखाया गया। देखने के बाद सुनार ने कहा, "इनमें से कोई मेरे पास नहीं आया था।"

पहले से ही एक-न-एक तरह से तिरुवरंगदास का नाम धर्म-द्वेष और राजनीतिक कार्यकलापों में लिया जाता रहा, तो भी सीधा यही सबका कारण है, यह प्रमाणित करने के लिए कोई सबूत नहीं मिला। तीन स्तरों पर न्याय-विचार होने पर भी, और इनमें उसके सम्मिलित होने का प्रत्यक्ष रूप से निश्चय होने पर भी, उसे दण्ड देना सम्भव

नहीं था। इसलिए न्याय-मण्डल ने सुनार को ही देश-निकाले का दण्ड दिया। पश्चात् पत्र द्वारा सारा विवरण महाराज के पास जानकारी के लिए भेज दिया। उस समय महाराज बंकापुर में निवास कर रहे थे।

पट्टमहादेवी से रानी लक्ष्मीदेवी ने अपने पिता के विषय में जो कहा था उसे भी बता दिया गया।

महाराज से जवाब मिला। लिखा था : तिरुवरंगदास के फिर से राज्य में प्रवेश करने पर रोक लगा दें। रानी अपने पिता को देखने की इच्छा प्रकट करें तो फिर लौटने की आशा छोड़कर वहीं चली जाएँ।

रानी लक्ष्मीदेवी महाराज के इस निर्णय से बहुत आतंकित हुई। उसने अपने मन में निश्चय कर लिया कि इन सबका कारण यह पट्टमहादेवी ही है।

बिट्टिदेव ने अपना निर्णय तो लिख भेजा। महाराज की हैसियत से कर्तव्य तो किया जा चुका था, परन्तु मन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा था। चंचल और अस्थिर बुद्धि की लड़की को रानी बनाने के कारण खुद को धिक्कारते रहे। इधर कुछ वर्षों से बम्मलदेवी के साथ रहने से उससे विशेष आत्मीयता पैदा हो गयी थी। यह आत्मीयता करीब-करीब उसी स्तर की थी जैसे कभी शान्तलदेवी के साथ थी, क्योंकि उनके मन में इधर कुछ समय से शान्तलदेवी के प्रति आदरभाव बढ़ने लगा था। शारीरिक सम्बन्ध के न होने पर भी, प्रेम कम न हो पाया था। और शान्तलदेवी ने भी स्वयं को सब तरह से सभी परिस्थितियों के साथ समन्वित करके, महाराज के सुख और प्रजाहित को ही जीवन का लक्ष्य बना रखा था। पहले जिस आत्मीयता से अपने मन की बातों को खुलकर कहते रहे, उस तरह अब कहने से उनका मन पीछे हटता था। उनकी धारणा थी कि महान इंगितज्ञ एवं सूक्ष्ममति तथा स्थिरचित्त शान्तलदेवी अपने से बहुत ऊँचे स्तर पर हैं। इसलिए अपने अन्तर की इच्छाओं को प्रकट करने के लिए उन्होंने बम्मलदेवी से आत्मीयता बढ़ायी थी। राजलदेवी वैसे ही बहुत कम बोला करती थी।

एक दिन बिट्टिदेव ने अपने विश्रामागार में बम्मलदेवी से एकान्त में कहा "देखो देवि, हमने इस तरह का अपना निर्णय राजधानी को भेज दिया। इस तरह का निर्णय देने की यह स्थिति उनके अपने ही किये अपराध के कारण आयी है। इससे मन बहुत परेशान है।"

"राजनीतिक कारणों से जो निर्णय किया गया उससे परेशान हो जाएँ तो काम कैसे चलेगा?"

"यह केवल राजनीतिक कारण नहीं, उससे भी परे है। देवि, तुम मुझे क्षमा करो। हमने अपने ही व्यवहार से अपनी पट्टमहादेवी को खो दिया।"

''ऐसा कहीं हो सकता है? आप पर उनकी श्रद्धा अपार है। आपको सुखी बनाये रखने के लिए उन्होंने जो त्याग किया है, उसका मूल्य कौन आँक सकता है?''

''उसी का हमने दुरुपयोग किया है। हम एकपत्नीव्रत का पालन करते तो मानसिक शान्ति कभी भंग न होती।''

''तो सन्निधान की मानसिक शान्ति में बाधा डालने का कारण हम हैं?''

''हम किसी पर आरोप नहीं लगाते। राजनीतिक कारणों से हमने तुमसे तथा राजलदेवी से विवाह किया, सच है। कुछ क्षणों के लिए तुम्हारे प्रति हमारा मन आकर्षित जरूर हुआ, मगर उस आकर्षण पर काबू पा सकते थे। लेकिन तुम लोगों से विवाह के बाद कोई बुराई नहीं हुई। बल्कि एक तरह हेल-मेल के होने से राजमहल में शान्ति रह सकी है। तुमने जब मेरे प्राण बचाये, तब से यह राजनीतिक विवाह मात्र न होकर, एक आत्मीयता का रिश्ता बन चुका है। राजलदेवी के साथ आत्मीयता बढ़ाने की व्यवस्था स्वयं पट्टमहादेवी ही ने की। बस यहीं तक रुक जाते तो कितना अच्छा रहता! पट्टमहादेवी के त्याग के फलस्वरूप आप दोनों मिलीं और इससे हमारे जीवन में शून्यता नहीं आयी। परन्तु...जल्दबाजी में हमारा यह मतान्तरित होना; उतनी ही जल्दबाजी में मानसिक चांचल्य के कारण एक अज्ञात कुल-गोत्र की कन्या से विवाह करना—एक के बाद एक बड़े अपराध हुए हमसे।''

''सो कैसे? उससे भी तो सुख पाया है! हम अपने लिए [illegible] नहीं ले सकीं, वन्ध्या ही रहीं। परन्तु उसने तो अपेक्षित फल भी दिया!''

''उस वक्त वह सन्तोष का विषय लग रहा था। परन्तु अब वही मन की अशान्ति का कारण बना है। हमसे अधिक यह पट्टमहादेवीजी की अशान्ति का कारण बना है। क्या सब गुजरा है सो तुम्हें भी मालूम है। अभी प्रवास के बहाने यहाँ आयी थीं तब क्या कहा, मालूम है? 'मेरे बच्चों को सिंहासन न भी मिले तो कोई हर्ज नहीं, अनेक लोगों के श्रम और बलिदान से निर्मित इस राज्य के टुकड़े नहीं होने चाहिए। यह आन्तरिक झगड़ों का अड्डा न बने। मैं इसे देख ही नहीं सकती। उस मुद्दला की हत्या की बात जबसे सुनी, तब से मन में विरक्ति-सी पैदा हो गयी है'।''

''राज्य की सुरक्षा और एकता के लिए इस तरह का त्याग हर किसी से सम्भव नहीं है। ऐसा त्याग पट्टमहादेवी ही कर सकती हैं।'' बम्मलदेवी ने कहा।

''ऐसी स्त्री की हत्या का षड्यन्त्र करानेवालों से हम आत्मीयता से कैसे व्यवहार कर सकते हैं? हम तो उस रानी और उसके बेटे का मुख तक देखना नहीं चाहेंगे।''

''इस मामले में लक्ष्मीदेवी को शायद कई बातें मालूम नहीं हैं।''

''फिर भी उसमें जो महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हुई है, अपने बेटे को सिंहासन पर बिठाने की, उस कारण वह मन को भाएगी भी कैसे?''

''ईश्वर ने हम पर कृपा की, हम माँ न बनीं, अच्छा हुआ।''

''सभी लक्ष्मीदेवी बन सकती हैं?''

''कौन बनेगी, कौन नहीं बनेगी सो तो कहा नहीं जा सकता। फिर भी पद्मलदेवी और उनकी बहनों ने जो किया, वह किस तरह इससे भिन्न है?''

''हमारे पैदा अकारण शत्रु का पैदा न होने और हम चिरप्रवासीन न होते तो कितना अच्छा होता। पट्टमहादेवीजी ने मेरी माताजी को जो वचन दिया, उसका पालन जैसा कर रही हैं, चाहते तो वैसा हम भी कर सकते थे। इन्द्रलोक में हमारी माँ को आज कितना कष्ट हुआ होगा, सो हम जानते हैं। इतने बड़े राज्य का निर्माण करके हम आज प्रधान राजधानी से इतनी दूर हैं, यही इस बात का साक्षी है। लेकिन अब यों ही चुप बैठे रहने पर यही चिन्ता सालती रहेगी, इसलिए शीघ्र ही हेद्दोरे की ओर चलेंगे। युद्ध में लगे रहने पर ये सब बातें मन में नहीं आतीं।''

''सो भी ठीक है,'' कहकर बम्मलदेवी ने बिट्टिदेव की छाती पर अपने हाथ का स्पर्श दिया। उन्होंने उसे वैसे ही जोर से दबा लिया और कहा, ''हमारे हृदय की शान्ति के लिए एक तुम ही सहारा हो।''

''स्वामी, अब सो जाइए। बहुत रात बीत गयी है।'' बम्मलदेवी ने कहा।

दो-तीन दिन के बाद महाराज बिट्टिदेव सेना के साथ उत्तर की ओर बढ़ चले। गुप्तचरों द्वारा यह समाचार राजधानी में पहुँचा।

वहाँ के कार्य यथावत् चलते रहे। युद्ध की बात हुई तो उससे सम्बन्धित हलचल राजधानी में भी बढ़ गयी। धान्य-संग्रह, सैनिक-शिक्षण आदि कार्य तेजी से चलने लगे। शान्तलदेवी को काम से छुट्टी नहीं। शस्त्रास्त्रों की तैयारी का काम भी तेजी से चलने लगा था। परन्तु उनमें सदा का-सा उत्साह न रहा। 'मुद्दला जैसे कितने निरपराधी इस तरह की लड़ाइयों में मरेंगे! राज्य-निर्माण करने और उसका संचालन करने की महत्त्वाकांक्षा में यह कैसा नरमेध हो रहा है! यह सब सोचकर ही अशोक ने युद्ध से संन्यास ले लिया था! सन्निधान भी उसी तरह का युद्ध-संन्यास ग्रहण करें तो कितना अच्छा हो! अब तक हम पर हमला करनेवालों, हमारे लोगों के प्राणों पर ही आघात करनेवालों, हमारी सुख-शान्ति में बाधा डालनेवालों से ही युद्ध हुआ करते थे। बहुत हद तक वह आत्म-रक्षा के लिए होते थे,...परन्तु अब की बार हम स्वयं हमला करें, सन्निधान ने ऐसा निर्णय ही क्यों किया? हानुंगल में जब मिले थे तब मैं निवेदन कर आयी थी कि मेरे बच्चों को राज्य न मिले न सही, यह हत्या का व्यापार रुक जाना चाहिए। राज्य की एकता बनी रहे, और हेद्दोरे तक फैलने की इच्छा न करें। चालुक्यों ने शत्रु समझकर हम पर हमला किया था। हमने केवल उनका सामना किया, उन्हें शत्रु समझकर युद्ध नहीं किया। मैत्री बढ़ाने के विचार से कवि नागचन्द्र को भेजा भी था।

अब तो द्वेष रखनेवाले वे विक्रमादित्य भी नहीं रहे। अब उनके बेटे सोमेश्वर पर यह विद्वेष क्यों हो? प्रस्तुत मैत्री स्थापित करके सहजीवन और सह-अस्तित्व की भावना को बल देना चाहिए—यही कहा था। रानी लक्ष्मीदेवी के पिता पर का क्रोध इस रूप में निकलेगा, यह समझा न था। फिर भी मैं कर्तव्यच्युत कैसे होऊँ? अब तक उन्होंने मुझ पर और मेरे सहयोग पर अपार विश्वास रखा है। उस विश्वास को आघात पहुँचाऊँ तो वह आघात उन पर होगा। ऐसा होना बुरा है, राज्य के हित के लिए भी।' यह सब सोच-विचार कर वह मन-ही-मन, 'अर्हन्! मैं कर्तव्य से विमुख नहीं हो सकती। कर्तव्यपालन के लिए उतना उत्साह भी नहीं दिखा सकती। मुझे जल्दी ही छुटकारा दिलाओ, भगवन्!' यह प्रार्थना करती हुई दिन गुजारने लगीं।

बिट्टिदेव की सेना सांविमलै को पार कर लोक्किगुण्डी तब बढ़ गयी थी। किसी तरह के प्रत्याक्रमण के बिना बिट्टिदेव लोक्किगुण्डी की सीमा तक पहुँच चुके थे। मजबूत किले से लोक्किगुण्डी सुरक्षित थी। उसे अपने कब्जे में कर लेने के लिए अपना बल बढ़ाना था और मौके की प्रतीक्षा भी करनी थी। लोक्किगुण्डी से एक कोस दूर पर पड़ाव डाला था। इस बीच सात-आठ महीने बीत चुके थे। उसी पड़ाव में शान्तलदेवी का पत्र आया। पत्र में यों लिखा था—

'महासन्निधान के चरणकमलों में सविनय प्रणाम। मेरे पिताजी ने अब की बार शिवरात्रि के उत्सव पर शिवगंगा जाने का विचार किया है। वह वयोवृद्ध हैं, इस वक्त परलोक की चिन्ता में लगे हैं। इस मौके पर सन्निधान की उपस्थिति की तीव्र अभिलाषा है उनकी। उनके साथ मेरी माता, मैं और विनयादित्य जा रहे हैं। बल्लाल और छोटे बिट्टिदेव को वहीं आ जाने के लिए कहला भेजा है। सन्निधान की आज्ञा लेकर यात्रा का निश्चय करने के लिए समय का अभाव था। इसलिए सन्निधान की अनुमति-प्राप्ति की प्रतीक्षा में यह निर्णय किया गया है। सन्निधान के साथ रानी बम्मलदेवी, राजलदेवी जी भी पधारेंगी तो बहुत प्रसन्नता होगी। पता नहीं क्यों, मेरी भी इच्छा सबको देखने की ही हो रही है और दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है।

'इस अवसर पर वहाँ शिवगंगा में एक विशेष कार्य सम्पन्न होने जा रहा है। मैं अपने प्रवास के समय जब वहाँ गयी थी तब वहाँ के धर्मदर्शी ने इच्छा प्रकट की थी कि इस शिवरात्रि के अवसर पर वहाँ एक शारदापीठ की स्थापना करनी है, और उसके प्रतीक रूप में वहाँ ज्ञान-बोध के लिए आवश्यक व्यवस्था करनी है। यह बहुत ही उचित और आवश्यक कार्य प्रतीत हुआ। वास्तव में मैं उनकी यह प्रार्थना भूल ही गयी थी। मेरे पिताजी ने जब अपनी इच्छा प्रकट की, तब स्मरण हुआ। सन्निधान पधारेंगे तो इस चरणकमल-उपासिका को बहुत शान्ति मिलेगी।

'प्रसंगवश मैं एक और निवेदन कर रही हूँ। आजकल युद्ध की बात मेरे मन को जँचती ही नहीं। यह हिंसापूर्ण काम आत्मरक्षा के लिए जरूरी हो तो और बात है।

अकारण अपनी ओर से हमला करना ठीक नहीं मालूम पड़ता। इसलिए हमले की इस प्रवृत्ति को रोक लें तो मुझे अपार आनन्द होगा। परन्तु यह सन्निधान के आत्मगौरव को छेड़ने की-सी बात हो सकती है। विनती मेरी, निर्णय सन्निधान का। दर्शन देने की मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें।'

बिट्टिदेव ने पत्र पढ़ा। 'रणव्यापार में सदा आगे रहनेवाली अधिदेवी के नाम से विख्यात और मुझ ही को हरा देनेवाली पट्टमहादेवी अब युद्ध-संन्यास चाहती हैं, यह आश्चर्य है! उसी वजह से सबको एक बार देखने की इच्छा प्रकट की है। पट्टमहादेवी के मन को क्या हो गया है? इस सवाल का कोई जवाब नहीं?' फिर से पत्र पढ़ा— 'वास्तव में मैं उनकी यह प्रार्थना भूल ही गयी थी।' 'वह तो कभी कुछ भी भूलनेवाली नहीं, ऐसी उत्तम बात को भूल गयीं तो निश्चित ही उसके मन पर कोई बोझ होगा! जब हमसे मिलने आयी थीं तब भी शिवगंगा के धर्मदर्शी की विनती की बात नहीं बतायीं। अन्यान्य सभी बातों पर उनसे चर्चा हुई, पर वह बात भूल गयीं, तो यह बड़ा ही आश्चर्य का विषय है!'

पत्र की अन्य बातों के सन्दर्भ में भी उनकी बम्मलदेवी से चर्चा हुई।

उन्होंने कहा, ''पट्टमहादेवी के मनोभाव ही बदल गये हैं। उत्साह और आशा की निधि ही रहीं। पता नहीं क्यों, उनमें विरक्ति की ओर उन्मुख हुई-सी लगती हैं। जब वे हानुंगल पधारी थीं तब भी उनकी बातचीत इस लौकिक व्यवहार से कहीं बहुत दूर ही रही आयी। उनकी बातों में तब निर्मोही का भाव ही निरन्तर झलकता रहा। हमारे साथ विवाह की स्वीकृति देने के बाद उन्होंने हमसे एक बात कही थी। अपने-अपने स्वार्थ के कारण हम सन्निधान को दुःख दें तो वह हम सबके लिए हानिकारक बनेगा। सन्निधान हमारे लिए एक निधि हैं। उस निधि का संरक्षण होना चाहिए। शरीर अलग-अलग होने पर भी हमें एक मन होकर रहना होगा, तभी यह कार्य साधा जा सकता है। हम उनके वचन का पालन करती हुई भिन्न शरीर होकर भी एक-मन होकर रहती आयी हैं। परन्तु...''

''परन्तु...? परन्तु क्या हुआ?''

''इस प्रश्न का उत्तर कहाँ? छोटी रानी से ही सन्निधान का उत्तर मिल सकता है। सन्निधान को मालूम नहीं, विजयोत्सव की समाप्ति के बाद जब हम इधर आये तब राजधानी में क्या सब हुआ, इसका सारा ब्योरा हानुंगल में रानी पद्मलदेवी ने दिया था। एक दिन भोजन के समय, भोजन के बीच ही पट्टमहादेवीजी उठकर चली गयीं। गहरी वेदना हुए बिना वे ऐसा करनेवाली नहीं हैं।''

''अच्छा! क्या हुआ था?''

बम्मलदेवी ने वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया जिसे पद्मलदेवी ने कहा था और बताया, ''देखिए, छोटी रानी का मन हमसे कितनी दूर है! इसके लिए किसी दूसरे

गवाह की जरूरत होगी? इसलिए पट्टमहादेवी ने सन्निधान से निवेदन किया कि यह सिंहासन अपने बच्चों को न भी मिले तो हर्ज नहीं, राज्य की एकता का बना रहना बहुत आवश्यक है।''

बिट्टिदेव ने कुछ नहीं कहा। सोचते बैठे रहे। थोड़ी देर बाद बोले, ''तो क्या विजयोत्सव में हमने जो घोषित किया था, उसके कोई माने नहीं? क्या वह राजकुल की रीति के विरुद्ध था?''

''उस घोषणा के बारे में अब चिन्ता क्यों? उस तरह घोषित करने से पहले आपने पट्टमहादेवी से विचार-विमर्श भी तो नहीं किया था?''

''यदि विचार-विमर्श किया होता तो उस घोषणा का मौका ही नहीं मिलता। उसे हमने पट्टमहादेवी और उनके बच्चों के हित के लिए किया था।''

''इससे छोटी रानी की अभिलाषा पर पानी फिरने का-सा हो गया न?''

''हो सकता है।''

''अब उस तरफ से जो प्रतिक्रिया होगी, उससे छुटकारा मिले भी कैसे?''

''ऐसी प्रतिक्रिया से हमें डरने की जरूरत नहीं।''

''कुछ भी हो, दो गुट तो बन ही गये न?''

''नहीं। जो था, उसमें हमने एक का साथ दिया। जो न्याय-पक्ष था उसी को हमने बल दिया।''

''सो तो ठीक है। अब पट्टमहादेवी के पत्र पर प्रतिक्रिया क्या होगी सन्निधान की?''

''हमला करने की घोषणा करने के बाद पीछे हटने पर दुनिया क्या कहेगी?''

''तो सन्निधान पट्टमहादेवीजी की अभिलाषा पूरी नहीं करेंगे?''

''दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। कैसे करें?''

''सन्निधान स्वीकार कर लें तो हम तीनों वहाँ हो आ सकेंगे। हमले को वापस लेने की जरूरत नहीं होगी।''

''सोचेंगे। हमले की गतिविधि पर निर्भर करेगा कि हमें अवकाश मिलता है या नहीं।''

''किसी भी तरह से सही, मेरी राय है कि अवकाश निकाल लेना उत्तम है।''

''अभी तो समय है। सोचकर बताएँगे।''

''उन्हें अभी उत्तर नहीं भेजेंगे?''

''भेज देंगे।''

''ठीक है।''

उन्होंने उत्तर लिख भेजा। लिखा कि, 'पट्टमहादेवी की मनोकामना पूरी करने की हमारी भी इच्छा है। हमले को वापस लेना तो स्वाभिमान के विरुद्ध होगा—हम इसी

दुविधा में पड़े हैं, फिर भी सोचने के लिए अभी कुछ समय है। शिवरात्रि के अवसर पर शिवगंगा जाएँगी तो वहाँ कितने दिन ठहरने का विचार है? मानसिक शान्ति-लाभ के इरादे से वहाँ महीने दो महीने ठहरने का विचार हो तो किसी भी हालत में समय निकालकर हम वहाँ अवश्य पहुँचेंगे। इसलिए पूरे कार्यक्रम की जानकारी दें। वर्तमान परिस्थितियों में शिवरात्रि पर आना शायद ही सम्भव हो!'

अब की बार शिवरात्रि के अवसर पर पट्टमहादेवीजी के पधारने की बात उस प्रान्त में व्यापक रूप से फैल गयी थी। फलस्वरूप वहाँ अपेक्षाकृत अधिक भीड़ जमा हो जाने की सम्भावना थी। इसलिए आनेवाले इन भक्त-जनों के ठहरने आदि की व्यवस्था के साथ-साथ, पट्टमहादेवी और परिवार के सभी सदस्यों के निवास आदि की विशेष व्यवस्था करनी थी। ऐसे छोटे-से गाँव में यह सब करना कठिन है, यह जानकर शान्तलदेवी ने ही गंगराज और मादिराज की सलाह के अनुसार, काफी प्रमाण में खाद्य-सामग्री तथा देखभाल करने के लिए जरूरी लोगों को भेज देने के साथ, सभी कार्यों पर निगरानी रखने का आदेश चोकिमय्या को दिया। चोकिमय्या की मदद के लिए चट्टलदेवी और मायण को भी भेज दिया गया।

क्रीडापुर की सारी जनता जकणाचार्य के नेतृत्व में वहाँ सेवा के लिए तैयार थी। वे भी वहाँ खाली हाथ नहीं आये थे। अपने ग्राम में जो जरूरत से ज्यादा अनाज था उसे साथ लेकर आये थे। शिवरात्रि के दिन तक वहाँ, पहाड़ की उपत्यका में, एक बड़े नगर का ही निर्माण हो गया था। योजना के अनुसार पट्टमहादेवी, उनके माता-पिता, रेविमय्या, विनयादित्य राजधानी से आ गये। कुमार बल्लाल ने राजधानी न आकर सपरिवार सीधे वहीं पहुँचने की सूचना पत्र द्वारा दे दी थी। चोकिमय्या के साथ छोटे बिट्टिदेव आ ही चुके थे।

शिवरात्रि के लिए महासन्निधान के आने का तो प्रश्न ही नहीं था, हाँ माघ वदी दशमी तक पट्टमहादेवीजी शिवगंगा पहुँच गयी थीं।

माचिकब्बे ने कहा भी कि इस अवसर पर सिंगि सपरिवार और आ जाता तो कितना अच्छा होता! उनके मायके की तरफ से वही एक रिश्तेदार थे।

"पत्र गया है, प्रतीक्षा करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

मारसिंगय्या ने पहले ही बता दिया था कि शिवरात्रि के दिन उनका निर्जल उपवास व्रत रहेगा। उसी के अनुसार उस दिन वे तड़के ही जाग गये और अपना स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ आदि कार्य समाप्त कर शिवालय में पहुँच गये। थोड़ी देर बाद शान्तलदेवी, माचिकब्बे, शान्तलदेवी के बेटे-बहू आदि सभी रेविमय्या के साथ मन्दिर में जा पहुँचे। दिन की सारी पूजा-अर्चना विधिवत् सम्पन्न हुई।

रात के चारों प्रहर का पूजा-क्रम आरम्भ हो चुका था।

दूसरे प्रहर में जब रुद्राभिषेक होने लगा तो पुजारियों के रुद्रपाठ के साथ हाथ

जोड़े आँखें मूँदे बैठी शान्तलदेवी के मुख से भी मन्त्रोच्चार होने लगा। तीसरे प्रहर की पूजा में भी शान्तलदेवी के रुद्र-पठन का क्रम जारी रहा। चौथे प्रहर का रुद्राभिषेक समाप्त होने के बाद, शान्तलदेवी ने पुजारी को बुलवा भेजा और कहा, ''शिव महारुद्र भी हैं और नटराज भी। हर प्रहर की पूजा में आपने नृत्य-सेवा क्यों नहीं करायी? कम-से-कम अब इस अन्तिम प्रहर की पूजा में नृत्य-सेवा की व्यवस्था अवश्य कीजिए।''

''यहाँ नृत्य करने वाला कोई नहीं है। केवल औपचारिक रूप से नृत्य-सेवा स्वीकार करने की प्रार्थना ही करनी होगी।'' पुजारीजी ने कहा।

''यदि मैं यह सेवा समर्पित करूँ तो...!''

पुजारीजी की आँखों में आश्चर्य और सन्तोष दोनों का मिश्रित भाव तैर गया, ''परन्तु पट्टमहादेवीजी प्रातःकाल से निराहार हैं। मन्त्रोच्चार से आपने शिवजी को प्रसन्न किया है। अब और यजना ठीक न होगा...''

''मेरी अपनी बात छोड़िए। सेवा समर्पित करने में कोई बाधा तो नहीं?''

''परमेश्वर की सेवा में भला क्या बाधा? परन्तु...''

''मैं पहली बार जब यहाँ आयी थी तब भी मैंने यह सेवा अर्पित की थी।''

''तब आप पट्टमहादेवी नहीं थीं।''

''तो क्या पट्टमहादेवी ऐसी सेवा के योग्य नहीं?''

''न-न, ऐसा कह सकते हैं?''

''तब तो ठीक है।''

पट्टमहादेवी की नृत्य-सेवा हुई। लोग चकित होकर देख रहे थे। एक मुहूर्त तक नृत्य-सेवा चली। शान्तलदेवी की गति तथा पदचाप से समूचा मन्दिर स्पन्दित हुआ-सा लग रहा था। मन्दिर के कोने-कोने से नाद होने लगा था। जन-समूह स्पन्दित हो उठा था, थिरक उठा था।

नृत्य-सेवा की समाप्ति के साथ संगीत-सेवा भी उन्होंने समर्पित की। प्रभातकालीन राग में शिवस्तुतिपरक संगीत आरम्भ हुआ और उसी के साथ अरुणोदय भी हुआ।

पूजा की सारी विधियों की समाप्ति पर प्रसाद बाँटा गया। शिवगंगा में जितने लोग जमा हुए थे उन सबके प्रसाद स्वीकार करने के बाद, शान्तलदेवी ने भी प्रसाद स्वीकार किया।

उसी दिन शाम को एक छोटी सभा का आयोजन किया गया था। उस दिन जो भक्त वहाँ जमा हुए थे, उनमें अनेक ग्रामाधिकारी, व्यापारी, धनी लोग भी शामिल थे। शिवगंगा क्षेत्र के धर्मदर्शी सभा में उपस्थित सज्जनों के समक्ष अपनी योजना प्रस्तुत करने के इरादे से उठ खड़े हुए। बोले, ''सज्जनो! इस बार शिवरात्रि-समारोह की एक विशेषता है। वैसे तो नाम से साधारण संवत्सर है, परन्तु इस क्षेत्र के इतिहास के लिए यह असाधारण संवत्सर सिद्ध हुआ है। क्योंकि इस क्षेत्र के उद्गम के समय से अब

तक इस राज्य के राजे-महाराजे, रानी-महारानी—कोई भी शिवरात्रि के इस पर्व में सम्मिलित नहीं हुए थे। परन्तु इस बार पोय्सल पट्टमहादेवीजी, युवराज, युवराज्ञी, राजकुमार तथा पट्टमहादेवीजी के माता-पिता—सभी जन सम्मिलित हुए हैं। वे केवल उपस्थित ही नहीं रहे, उन्होंने पूजा में सक्रिय रूप से भाग लिया है। खासकर पट्टमहादेवीजी के द्वारा वेद-मन्त्र पठन तो साक्षात् शारदा के ही मुख से सुनने का-सा भान दे रहा था। सुनकर रोमांच हो रहा था। वे जिनभक्त हैं, जैन हैं, फिर भी उन्हें यह सब कण्ठस्थ है—यह हम नहीं जानते थे। हम केवल कुएँ के मेढक जैसे हैं, सभी को अपने ही जैसे समझने वाले। अर्थात् अन्यान्य बातों की जैसे हमें जानकारी नहीं, वैसे ही दूसरे भी नहीं जानते हैं, यही हम अब तक समझते आये। हमारी पट्टमहादेवीजी त्रिमूर्तियों का समन्वय हैं, यह कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। किसी जमाने में स्थापित इस शिवमूर्ति में आज नवीन प्राण संचरित हुए हैं। पट्टमहादेवीजी के नृत्य से साक्षात् नटराज शिवजी स्पन्दित हो उठे थे, पूरा मन्दिर स्पन्दित हो नादमय हो गया था! इस प्रसंग में, इस पवित्र तीर्थ में ज्ञानार्जन के लिए उपयुक्त अध्ययन केन्द्र हो, और ज्ञानाधिष्ठात्री शारदादेवी की स्थापना भी हो, यह हम सबकी बड़ी अभिलाषा है। इस कार्य को संगत एवं उत्तम मानकर पट्टमहादेवीजी ने अपनी स्वीकृति भी दे दी है। सन्निधान का आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया गया है। पट्टमहादेवीजी चाहती हैं कि वह कार्य महाजनों के हाथों सम्पन्न हो। इस अवसर पर शिवजी भगवान् राजपरिवार को एवं समस्त भक्त-समूह को दीर्घायु प्रदान करें और उनका जीवन सुख एवं समृद्ध बनाएँ—यही प्रार्थना करता हूँ।'' इतना कह धर्मदर्शी बैठ गये।

सभामंच के निकट ही जकणाचार्य बैठे थे। उन्होंने उठकर निवेदन किया, ''इस शुभ कार्य के लिए अपेक्षित मन्दिरों एवं भवन-निर्माण का कार्य मेरे जिम्मे रहा।'' इसी तरह वहाँ उपस्थित सभी ने स्वेच्छा से दान की घोषणा की। चोकिमय्या ने भी अपनी माता के स्मारक के रूप में एक मण्डप बनवाने की घोषणा की।

यह अभिलाषा किसी तरह की रोक-टोक के बिना कार्यरूप में परिणत हुई।

दूसरे दिन शान्तलदेवी ने जकणाचार्य से पूछा, ''इस निर्माण के लिए कितना समय लगेगा? यहाँ कला-प्रदर्शन की अपेक्षा एक सुभद्र शारदा-मन्दिर का होना जरूरी है। आपकी सारी कला शारदा की मूर्ति में रूपित हो।''

जकणाचार्य ने कहा, ''कारीगर और सामग्री प्राप्त हो जाए तो गर्भगृह और मूर्ति-निर्माण कार्य को एक महीने में पूरा किया जा सकता है।'' क्षण-भर सोचने के बाद यह भी कहा, ''शारदा माई की प्रतिष्ठा विरोधिकृत् संवत्सर के चैत्र सुदी दूज, सोमवार के दिन की जा सकती है।''

''तब ठीक है। एक महीने के भीतर शारदा की मूर्ति और उसकी प्रतिष्ठा के लिए गर्भगृह—दोनों का निर्माण हो जाना चाहिए। शेष सभी कार्य भी तेजी से चलते रहें।

शारदा की स्थापना होने तक मैं यहाँ रहूँगी। शायद तब तक सन्निधान भी आ जाएँगे। एक और पत्र वहाँ लिख भेजूँगी।''

''जो आज्ञा।'' जकणाचार्य ने इस निर्णय के बाद व्यर्थ समय नहीं बिताया। तुरन्त डंकण को भेजकर शिल्पियों को बुलवाया। लोगों को आवश्यक सामग्री जुटाने के लिए भेज दिया। शान्तलदेवी ने एक पत्रवाहक को भेजकर बेलुगोल से कवि बोकिमय्या को भी बुलवा भेजा। वह एक ही पखवाड़े के अन्दर शिवगंगा आ पहुँचे।

यहाँ के अध्ययन केन्द्र में किन-किन बातों का शिक्षण हो, इस पर विचार-विनिमय हुआ और तदनुसार एक योजना भी बनी।

शिवरात्रि के लिए जो भक्तवृन्द आये थे वे सब लौट गये थे। शान्तलदेवी ने कहा था कि शारदा के प्रतिष्ठा-समारोह के लिए व्यापक रूप से निमन्त्रण न भेजें। इसलिए इस दशा में विशेष प्रचार नहीं किया गया था। वहाँ के अध्ययन केन्द्र एवं शारदा-मन्दिर की प्रतिष्ठा के कार्य में जिन सबका सहयोग रहा, उन्हें निमन्त्रण भेजा गया और कहा गया कि लोग सीमित संख्या में ही आएँ। फिर भी बात फैल जाने के कारण आशा से अधिक संख्या में लोग एकत्र हुए।

निश्चित मुहूर्त में शारदा की स्थापना हो गयी। फिर भी तब तक महाराज बिट्टिदेव नहीं आये।

प्रतिष्ठा के दूसरे दिन भी बड़ी धूम-धाम के साथ पूजा-अर्चना सम्पन्न हुई। पश्चात् भोजन आदि भी हुआ। इसके पश्चात् बुधवार के दिन बहुत से लोग वहाँ से चले गये। पंचमी गुरुवार के दिन भोजन के पश्चात् बाकी सब लोग भी चले गये।

शिवरात्रि के समारोह के अवसर पर उपस्थित न हो सकने पर भी सिंगिमय्या और सिरियादेवी शारदा-प्रतिष्ठा के समारम्भ के लिए आ पहुँचे थे। इधर महाराज बिट्टिदेव की प्रतीक्षा में शान्तलदेवी की आँखें थक गयी थीं। पर उनके न आने के कारण किसी भी कार्य को रोका नहीं जा सकता था।

वास्तव में धर्मदर्शी ने पूछा भी कि, ''सन्निधान की प्रतीक्षा की जाय? भले ही प्रतिष्ठा के लिए दूसरा दिन तय कर लें।''

शान्तलदेवी ने अपना निर्णय सुना दिया था, ''वहाँ क्या असुविधा हुई है, यह यहाँ बैठकर हम कैसे कह सकते हैं! निश्चित कार्य निश्चित समय पर सम्पन्न हो जाना चाहिए। यहाँ उपस्थित इतने लोगों को प्रतीक्षा में रखना उचित नहीं होगा। इसलिए सभी कार्य नियोजित रीति से चलते रहें। शायद-प्रतिष्ठा-महोत्सव में भाग लेने का सौभाग्य उनके भाग्य में न होगा। हम सब कालगति के नियम के अधीन हैं न? वहाँ से बुलावा आए तो यहाँ रहनेवालों की प्रतीक्षा करते बैठे रहना हो सकता है? जिस कार्य को करना है, या जिसे होना है, वह चाहे कोई आए या न आए, नियत समय पर हो जाना ही चाहिए।''

उनके कहे अनुसार ही सभी कार्यक्रम सम्पन्न हुए।

पंचमी के दिन सूर्यास्त के बाद, राजपरिवार शारदादेवी के मन्दिर के सामने के मण्डप के नीचे बैठा था। शान्तलदेवी ने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, और कहा, "सभी लोग हैं न? केवल सन्निधान मात्र नहीं आये। रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी तथा सन्निधान आ जाते तो मेरे मन को अत्यन्त सुख-शान्ति मिल जाती। हम चाहे किसी धर्म के अनुयायी क्यों न हों, हममें अच्छे मानव बनने की प्रज्ञा उत्पन्न करके, अच्छा बनाना शारदा देवी का काम है। वह तो सभी धर्मों के अनुयायियों के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। उसे कोई भेद नहीं। उसका आशय है कि उसी की तरह बिना भेदभाव के हम सभी जीवन-यापन करें। हम सभी को उसके इस आशय का पालन करना चाहिए। पता नहीं क्यों, आज एक-एक कर सारी पुरानी बातें मन में उठ रही हैं। मैंने किसी भी तरह के भेदभाव के बिना सभी धर्मों के सभी देवताओं की स्थापना में दत्त-चित्त होकर अपना योगदान दिया है। कुछ बातें स्मरण में आ रही हैं। आज ठीक चौदह वर्ष समाप्त हो रहे हैं, बेलापुरी में चेन्नकेशव की स्थापना हुए, है न स्थपति जी?"

"हाँ, हेमलम्ब संवत्सर के चैत्र सुदी पंचमी के दिन रोहिणी नक्षत्र में।"

"आज अभी थोड़ी देर और कृत्तिका नक्षत्र है, रोहिणी आने को है। चौदह वर्ष पूरे हुए। भारतीय संस्कृति श्रीरामचन्द्रजी के चौदह वर्ष के वनवास की समाप्ति के उस दिन को पवित्र दिन मानती है। चौदह वर्ष की समाप्ति का यह दिन मेरे लिए भी पुण्य दिन है। उस दिन वैष्णव धर्म के प्रतीक के रूप में ये चेन्नकेशव भगवान् स्थापित हुए। इसके चार वर्षों के बाद शार्वरी संवत्सर उत्तरायण संक्रान्ति के दिन युगल शिवालयों की स्थापना हुई। इसके दो वर्ष बाद, शोभकृत संवत्सर चैत्र सुदी पड़वा के दिन जिन भक्त होने से मैंने बेलुगोल में शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा करवाकर सबकी मानसिक शान्ति के लिए प्रार्थना की। अब आज यहाँ शारदादेवी की स्थापना में सहयोग देकर प्रार्थना कर रही हूँ 'देवि! द्वेष भाव दूर कर परस्पर मैत्री भाव से सहजीवन बिता सकें, ऐसा ज्ञान सबको प्रदान करो।' यों हमारे राज्य के प्रधान तीनों धर्मों के प्रतीक देवताओं की प्रतिष्ठा और तीनों धर्मों की ज्ञान-धारा से प्लावित करनेवाली शारदा की प्रतिष्ठा के इस महान् सभारम्भ में भी हमने भाग लिया है। स्वधर्म का काम समझकर बहुत खुश नहीं हुई। अन्य धर्म का काम मानकर उसके प्रति उदासीन न रही। सब कुछ मानव मात्र के कल्याण के लिए मानकर इसी विश्वास पर अब तक जीवन-यापन किया मैंने। आज मेरा हृदय उमंगित हो उठा है। आज पता नहीं कौन-सी अव्यक्त भावना मेरे अंग-अंग में व्याप्त होकर एक बहुत ही सुखद अनुभूति दे रही है! ऐसे एक महान् आनन्द का अनुभव करते वक्त सन्निधान यहाँ होते तो कितना अच्छा होता! यह सौभाग्य मुझे

क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? क्यों नहीं आये वे ? अर्हन्, वे जहाँ भी हों, मेरे लिए उनकी रक्षा करो।...रेविमय्या कहाँ हो ?''

रेविमय्या तुरन्त सामने उपस्थित हुआ।

शान्तलदेवी ने उसे देखा। फिर उठ खड़ी हुईं, अपने-माँ-बाप को प्रणाम किया। फिर पूछा, ''ऐ चट्टला! बल्लू कहाँ है ?'' चट्टला उसे पकड़ लायी। वह कुछ दूर पर लट्टू खेल रहा था। उसे छाती से लगाया और आशीष दिया, ''सौ साल जिओ, तुम्हारे माँ-बाप ने बहुत कष्ट झेला है। उन्हें कभी दुख न देना। अप्पाजी, छोटे अप्पाजी, विनय, तुम तीनों एक-मन होकर रहो। जो कुछ अपने हिस्से में मिले उसे स्वीकार कर तृप्त रहना। अपना आत्मगौरव कभी कम न होने पाए। अकारण द्वेष और असूया को अपने मन में स्थान मत देना। इस पोय्सल राज्य की एकता बनी रहे, इसके लिए परिश्रम करते रहना है।'' कहती हुई उन तीनों की पीठ सहलाती रहीं।

माचिकब्बे ने मारसिंगय्या के कान में कहा, ' यह क्या, अम्माजी इस तरह की बातें क्यों कर रही हैं ?''

''मैं कोई ऐसी बात नहीं कह रही हूँ, माँ। माँ होकर मुझे बच्चों से जो कहना है, वही कह रही हूँ। बच्चो! यहाँ सिर्फ बिट्टियण्णा उपस्थित नहीं है। उसे अपने भाई की तरह मान देना।''

''बेटे की तरह सँभालनेवाली आप जब उपस्थित हैं, तब उसे किस बात की कमी है ?'' विनयादित्य ने कहा।

''जब तक मैं हूँ ठीक है। बाद को...?''

''बाद की बात अभी क्यों, माँ ?'' कहते हुए विनयादित्य का गला भर आया।

''वैसा ही सही। अब फिर वह बात नहीं कहूँगी। शिवरात्रि की समाप्ति पर मैंने उदयकालीन राग का गान किया था न ? अब इस शारदा के सान्निध्य में सन्ध्या-राग का गायन करने की इच्छा हो रही है। गाऊँ ? शिवक्षेत्र में आने पर आप सभी का शाम का भोजन अँधेरा होने के बाद हो रहा है। यदि आप लोगों को भोजन करने में विलम्ब हो जाएगा तो मैं नहीं गाऊँगी।''

''हमारे लिए विलम्ब हो तो कोई हर्ज नहीं। आप स्वयं पाँच दिन से निराहार हैं। इस स्थिति में गान के लिए कह रही हैं तब...'' चट्टलदेवी को, जो बात दबा रखी थी, कह आयी।

''क्या अम्माजी, तुम पाँच दिन से निराहार...?'' माचिकब्बे ने आश्चर्य से पूछा।

''आज एक दिन और, माँ! आज शारदा का ध्यान कर लें, बस इसके बाद मैं किसी व्रत या नियम से बँधी नहीं रहूँगी।'' शान्तलदेवी ने कहा।

''ठीक, तब तो गाकर समाप्त कर लो। बहुत थकना नहीं।'' माचिकब्बे ने कहा।

शान्तलदेवी पद्मासन लगाकर दक्षिण की ओर मुँह करके बैठ गयीं और गाने लगीं। उनके कण्ठ से निकला संगीत चारों ओर वातावरण में भर गया। पास ही स्थित पहाड़ से टकराकर वह गान-माधुरी प्रतिध्वनित हो उठी। उस रस माधुरी में सब अपने को भूल गये। गाते-गाते उनका गायन आरोहण के सबसे ऊँचे स्वर तक पहुँचकर एकदम रुक गया।

उपस्थित सभी जन जैसे एकदम जागे, आँखें खोलीं।

शान्तलदेवी आँखें बन्द किये, एक स्तम्भ से सटकर बैठी थीं। उनके मुँह पर एक तरह की शान्तिपूर्ण कान्ति दमक रही थी।

"बेटी शान्तला!" पुकारते हुए मारसिंगय्या अपनी जगह से उठे। दो कदम आगे बढ़े, इतने में ही काँप उठे। गिरने को ही थे कि पास में खड़े किसी ने उन्हें सँभाल लिया।

लेकिन शान्तल के पास आते ही वह भी वहीं गिर रहे और फिर नहीं उठ सके।

"हाय, यह क्या हो गया!" कहती हुई माचिकब्बे बेटी के पास आयी। माथा छुआ। शान्तलदेवी का सिर एक तरफ झुक गया। माचिकब्बे ने पैर छूकर देखा। वह ठण्डा हो रहा था। "इसीलिए कहा था कि ध्यान कर लूँ तो बस...? यही देखने के लिए मुझे जीवित रहना था? मुझे बेलुगोल ले चलिए। वहीं सल्लेखना व्रत धारण कर देह-त्याग करूँगी। किसी से कहे बिना पाँच दिन का व्रत करके उसने मुक्ति पा ली?" वह रोने लगी। साँस धीमी पड़ गयी। एक भयानक मौन वहाँ छा गया।

तभी दूर से घोड़ों की टाप सुनाई पड़ी।

लोगों के कान टापों की ओर लग गये थे। सभी की आँखों से आँसू की धारा बह रही थी। सात-आठ घुड़सवारों के साथ दो रथ आकर रुके। महाराज बिट्टिदेव घोड़े से उतरे। वहाँ उपस्थित जन-समूह देखा। उन्होंने पूछा, "पट्टमहादेवी कहाँ हैं?"

किसी ने उत्तर नहीं दिया। इतने में दूसरे रथ से रानी बम्मलदेवी और रानी राजलदेवी उतर चुकी थीं। रेविमय्या आँसू बहाता हुआ सामने आकर खड़ा हुआ।

"क्या हुआ, रेविमय्या?"

"अम्माजी मुक्त हो गयीं। हेग्गड़ेजी भी उनका अनुगमन कर गये। सन्निधान थोड़ा पहले ही आ जाते तो...! अम्माजी तीन दिन से बराबर सन्निधान के आगमन की प्रतीक्षा करती रहीं।" कहते हुए उसका गला रुँध गया।

"अब देवी कहाँ हैं?"

रेविमय्या मौन हो आगे बढ़ा। महाराज बिट्टिदेव, रानियाँ, बम्मलदेवी और राजलदेवी रेविमय्या का अनुगमन कर पट्टमहादेवी के पास आ गिरे।

वहाँ जो लोग उपस्थित थे उनके दुःख का अनुमान लगाना उस सिरजनहार के लिए भी शायद कठिन रहा होगा।

उपसंहार

पिता और पुत्री का अन्तिम संस्कार शिवगंगा में ही सम्पन्न हुआ। संस्कार की सभी विधियाँ युद्ध में विजय पाकर, लोक्किगुण्डी में शार्दूल-पताका को फहराकर लौटने वाले महाराज बिट्टिदेव की उपस्थिति में ही पूरी की गयीं।

कालान्तर में माचिकब्बे भी श्रवणबेलुगोल में जाकर सल्लेखना व्रत का अनुष्ठान कर, पति और पुत्री के साथ जा मिली।

महाराज ने रानियों—राजलदेवी और बम्मलदेवी—के साथ वहाँ जाकर अश्रुतर्पण दिया। अपनी शिष्या की मृत्यु को स्वयं देखना पड़ा, इस कारण बोकिमय्या अत्यन्त दुखी थे; उस समय उन्हें जैसा लगा, वे शान्तलदेवी तथा उनके माता-पिता के देहावसान के वृत्तान्त को लिपिबद्ध करके ले आये और महाराज को समर्पित किया।

महाराज ने उसे सावधानी से पढ़ा वह यों था—

[1]श्रीमत्परमगंभीर-स्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

श्रीमद्यादववंशमण्डनमणिः क्षोणीश-रक्षामणिः।
लक्ष्मीहारमणिः नरेश्वरशिरः प्रोत्तुंग-शुम्भन्मणिः॥
जीयान्वीतिपथेक्षदर्प्पणमणिः लोकैक-चूडामणिः।
श्रीविष्णुर्विनयार्च्चितो गुणमणिः सम्यक्त्वचूडामणिः॥

---

1. श्रीमत्परम गम्भीर, स्याद्वाद के अमोघ लांछन से युक्त, तीनों लोकों के नाथ का शासन अर्थात् जिनदेव के शासन की जय हो।
श्री यादववंश के भूषणरत्न, नृपालों के रक्षकरत्न, लक्ष्मी के हार के रत्न, राजाओं के उन्नत ललाट पर शोभायमान रत्न, अश्वमार्ग जैसी चंचलेन्द्रियों के लिए दर्पण के समान, लोक के लिए एकमात्र चूडारत्न, गुणों से शोभित, सम्यक्त्व के श्रेष्ठरत्न, विनय से विभूषित श्रीविष्णु जयवन्त हों।

एरेद मनुजंगे सुर भू।
भरं शरणेंदवगे कुळिशागारं॥
परवांनतेगनिल तनयं।
धुरदोळ् पोणदंगे मृत्तु विनेयादित्यं॥

एने तानुं केरेदेगुलंगळ्देनितानुं जैनगेहंगळं।
तेनेतुं नार्क्कळ नृग्गळं प्रजेगळं संतोशदिं माडिदं॥
विनेयादित्यनिपाळ पोय्सळने संदिर्दा बलीन्द्रंगे मे।
लेने पेंपं पोगळ्वन्ननावनो महागंभीरनं धीरनं॥

इट्टिगेगेन्दगळ्द कुळिगळ्केरेयादवु कल्लुगे गोण्डपे।
व्वेंट्टु धरातलक्के सरियादवु सुण्णद भंडि बंदपे॥
व्वंट्टिये पळ्ळवादुवेने माडिसिदं जिनराज गेहमं।
नेट्टने पोय्सळेसनेने बण्णिपरर्म्मले राजराजनं॥

आ पोय्सळ भूपंगे म।
हीपाळ कुमार निकर चूडारत्नं॥
श्रीपति निज भुज विजय म।
हीपति जनियिसि सिदनदटनेरेयंगनृपं॥
विनयादित्य-नृपाळनात्मज निळा लोकैक कल्पद्रुमं।

सेवा करनेवाले मनुष्यों के कल्पवृक्ष, शरणागतों के लिए वज्रगृह जैसे दृढ़ संरक्षक, दूसरों की स्त्रियों के लिए आंजनेय सदृश, युद्ध में सामने वाले को काल समान यह विनयादित्य।

विनयादित्य नृपाल ने अनेक तडाग, देवालय, जिनगृहों को बनवाया, अनेक देवों को, ग्रामों को, प्रजाजन को सन्तुष्ट किया; यह पोय्सल राजा बलीन्द्र से भी श्रेष्ठ कीर्तिशाली था, तो इस धीर महागम्भीर राजा का वर्णन कौन कर सकता है? ईंटों के लिए खुदी हुई भूमि ही तडाग हो गयी; (भवन-निर्माण के लिए) निकाले हुए पत्थरों से, पर्वत पृथ्वी समान हो गये; चूने की गाड़ियों की पगडण्डी ही खाई बन गयी, ऐसे जिनेश्वर-गृह को पोय्सल राजा ने बनवाया। पर्वतराज सदृश उसका वर्णन भला कौन कर सकता है?

उस पोय्सलराज से, राजकुमारों के समूह के मुकुटरत्न जैसे, लक्ष्मीरमण के समान, अपनी बाहुओं से विजित राजसमूह, एरेयंग राजा ने जन्म लिया। विनयादित्य राजा का यह पुत्र, भूलोक में कल्पवृक्ष था। जगदेकवीर यह

मनुमार्ग्गं जगदेकवीर नेरेयंगोर्व्वीश्वरं मिक्कना॥
तन पुत्रं रिपुभूमि पालक मदंस्संमर्द्दनं विष्णुव।
र्द्धन-भूपं नेगळ्दं धरावळेयदोळु श्रीराजकंठीरवं॥

आनेगळ्देरेयंग त्रिपा।
लनसूनु त्रिहद्वैरि मर्दनं सकळ धरि॥
श्रीनाथनत्थि जनता।
भानुसुतं विष्णुभूपनुदयं गेय्दं॥

अरिनर पसिरास्फालन।
करतुद्धत [illegible] वद लं॥
हरणं निजान्वयैका।
भरणं श्री बिट्टिदेवनीवरदेव॥

स्वस्ति समधिगत पंचमहाशब्द महामंडलेश्वरं। द्वारावती पुरवराधीश्वर। यादवकुलांबरद्युमणि। सम्यक्त चूडामणि। मलपरोळ्गंड। चलके बलुगंड। नाळिं मुन्निरेव। सौर्य्यमं मेरेव। तलकाडुगोण्ड। गंड़प्रचंड। पट्टि पेरुमाल निज राज्याभ्युदयैक रक्षण दक्षक। अविनय नरपालक जनशिक्षक। चक्रगोट्टवन दावानल। नहित मंडळिक काळानळ। तोंड मंडळिक मंडळ प्रचंड दौर्व्वानळ। प्रबळ रिपुबळ संहरण कारण। विद्विष्ट मंडळिक मद निवारण करण। नोळंब-

---

ऐरेयंग राजा मनु से बोधित मार्ग को छोड़ने वाला नहीं था। इसका पुत्र, शत्रु-राजाओं के गर्व को नाश करने वाला, राजसिंह, विष्णुवर्धन राजा इस भूमण्डल में सुशोभित है।

कीर्तिशाली ऐरेयंग राजा का पुत्र विष्णुभूप, बड़े बड़े शत्रुओं का नाश कर सारी पृथ्वी का राजा हुआ तथा याचक-जन के लिए राजा कर्ण की भाँति सुशोभित हुआ। शत्रुजनों को कँपानेवाला, गर्वितवैरि सामन्तों के मद का नाशक, अपने वंश का आभरण रहा है यह श्रेष्ठदेव श्री बिट्टिदेव।

स्वस्ति समधिगत पंचमहाशब्द महामंडलेश्वर, द्वारावती पुरवराधीश्वर, यादवकुलाम्बरद्युमणि, सम्यक्त्व चूडामणि, दम्भियों का दमन करनेवाला, हठियों का नाशक, देखते ही मारनेवाला, शौर्य का प्रदर्शन करनेवाला, तलकाडु स्वाधीन करनेवाला, शूरों का शूर, अपने पट्टिपेरुमाल राज्य के रक्षण में समर्थ, अविनीत राजाओं का शिक्षक, सेना लेकर आनेवालों को दावानल, शत्रु समूह के लिए कालानल, दुष्ट सामन्त-समूह को भयंकर वनाग्नि, प्रबल शत्रुबलसंहारकारण, द्वेषी सामन्तक वर्ग का नाशक, नोलंब-

वाडिगोंड। परिपक्षनरपाल लक्ष्मिय निकोळिगोंड। तप्पेतप्पुव। जयश्रीकांतेयनप्पुव। क्रूरेकूर्प्य। सौर्य्यमंतोर्प्य। वीरांगनालिंगित दक्षिणदोर्दंड। नुडिदते गंड। आदियम हिदयसूल। वीरांगनालिंगित लोल। उद्धतारति केंजवन कुंजर। सरणागत वज्रपंजर। सहजकीर्तिध्वज। संग्राम विजयध्वज। चेंगिरेय मनोभंग। वीर प्रसंग। नरसिंहवर्म्म निर्म्मूळनं। कळपाळ कालानळं। हानुंगलुगोंड। चतुर्म्मुख गंड। चतुर चतुर्म्मुख। नाहव शण्मुख। सरस्वती कर्णाभरणं। विष्णुवंश शोभे। रिपुहृदयहरंस। भीरु कोलिदं। दानविनोद। चंपकामोद। चत्समय समुद्धरण। गंडराभरण। विवेकनारायण। वीर पारायण। साहित्य विद्याधर। समरधुरंधर। पोय्सलान्वय भानु। कविजन कामधेनु। कलियुग पार्थ। दुष्टर भूर्त्य। संग्रामराम। साहस भीम। हयवत्सराज। कांतामनोज। मत्तगज भंगदत्त। नभिनव चारुदत्त। नीलगिरि समुद्धरण। गंडराभरण। कौंगरमारि। रिपुकुळतळ प्रहारि। तेरेयूरनलेव। कोयतूर तुळिव। हेंजेरुदिसापट्ट। संग्रामजत्तलट्ट। पांड्यनं बेंकोंड। उच्चंगि गोंड। एकांगवीर। संग्रामधीर। पोंबुच्च निर्द्धारण। साविमले निल्लोंटिण। वैरिकाळानळ। नहित दावानळ। शत्रुनपाळ दिशापट्ट। मित्रनरपाळ

वाडिस्वाधीन करनेवाला, शत्रुराजाओं की लक्ष्मी को स्ववश करनेवाला, दुष्टों का नाशक, जयश्री वरण करनेवाला, स्नेहियों का मित्र, शौर्यप्रदर्शक, दक्षिण भुजा से वीरांगना का आलिंगन करनेवाला, अपने वचन के अनुसार चलनेवाला, आदियम के हृदय का शूल, वीरांगना से आलिंगित प्रियंकर, मदोन्मत्त शत्रुरूपी कमलवन के लिए गज, शरणागतों का दृढ़संरक्षक, स्वयं कीर्तिपताका समान, संग्राम का विजयध्वज,चेंगिरे की अभिलाषा का नाशक, वीरप्रसंग, नरसिंहवर्मा का नाशक, कलपाल का कालानल, हानुंगल स्वाधीन करनेवाला, चारों तरफ युद्ध करनेवला, कुशलों का सृष्टिकर्ता, युद्ध में कार्तिकेय, सरस्वती का कर्णाभरण, विष्णुवंश की शोभा, शत्रुहृदय को भयंकर, कायरों को न मारनेवाला, दानविनोद, चम्पकामोद, चतुस्समय का समुद्धारक, शूरों का भूषण, विवेकनारायण, वीर-पारायण, साहित्य-विद्याधर, समरधुरन्धर, पोय्सलवंश का सूर्य, कविजन कामधेनु, कलियुग का अर्जुन, दुष्टों के लिए दुष्ट, संग्राम-राम, साहसभीम, हयवत्सराज, कान्तामनोज, मत्तगज-भंगदत्त, अभिनव चारुदत्त, नीलगिरि का समुद्धारक, शूरों का भूषण, कोंगों का नाशक, रिपुवंशों का समूल नाशक, तेरेयूर का संरोधक, कोयतूर को रौंदनेवाला, हेंजेरुस्ववशक, संग्राम का जत्तलट्ट, पाण्ड्य के साथ योद्धा, उच्चंगि स्वाधीन करनेवाला, एकांगवीर, संग्रामधीर, पोंबुच्च का नाशक, साविमले संरोधक, वैरिकालानल, शत्रुओं का दावानल, शत्रुराजाओं को तितर-बितर करनेवाला, मित्र राजाओं का किरीट, धट्टों

ललाटपट्ट। धट्टवनोळिव। तुळुवर सेळेव। गोविंदवाडि भयंकर। नहितबळ संहर। रौद्रव तुळिव। सितगरं पिडिव। रायरायपुर सूरेकार। वैरिभंगार। वीरनारायण। सौर्य्यपारायण। श्रीमत्तु केशवदेव पादाराधक। रिपुमंडलिक साधकाद्यनेक नामावली समाळैक्रितनुं। गिरिदुर्ग वनदुर्ग जळदुर्गाद्यनेक दुर्गगळ श्रमदिं कोंड चंडप्रतापदिं गंगवाडि तोंबत्तुर सासिरमनु लोविक्कगुंडिवर मंडिगे साध्यं माडि मत्तं।

एळेयोळदुष्टर नुद्धतारिगळ नाटंदोत्ति बेंकोंडु दो।
र्ब्बळदिं देशमनावगं तनगे साध्यं माडिरलु गंगमं॥
ड़ळ मेंदोलेगे तेत्तुमित्तु बेसनं पूण्दर्पिनं विष्णु पो।
स्सळर्न्दिं सुखदिंदे राज्यदोळिर्दं संतसोल्सार्दिं॥
एत्तिदनेत्तलत्तलिदिराद त्रिपाळकरळ्कि बळ्कि कं।
डित्तु समस्त वस्तुगळ नाळुतनमं सलेपूण्दु संततं॥
सुतलु मोलगिप्परेने मुन्निनवर्गमनेकरादव।
र्गत्तळगं पोगर्त्तगेने वण्णिपनावनो विष्णुभूपन॥

अन्तु त्रिभुवनमल्ल तळकाडुगोण्ड भुजबल वीरगंग विष्णुवर्धन पोय्सळदेवर

का नाशक, तुलुवों को भगानेवाला, गोविन्दवाडी को भयंकर, शत्रुसेना के लिए शंकर, रौद्र को रौंदनेवाला, विटजनों का बन्धक, रायरायपुर को लूटनेवाला, वैरिनाश के लिए सूर्योदय, वीरनारायण, शौर्यपारायण, श्रीमत् केशवदेव पादाराधक। रिपुसामन्तसाधक इत्यादि अनेक नामों से सुशोभित; गिरिदुर्ग-वनदुर्ग-जलदुर्ग आदि अनेक दुर्गों को सहज ही स्वाधीन करनेवाला, प्रबल प्रताप से गंगवाडि छियानबे सहस्र देश को लोविक्किगुण्डि तक वश में कर, अपने शासन में मिलाकर, फिर--

देश के दुष्टों का एवं मदमत्त शत्रुओं का सामना कर, अपने भुजबल से देश को अपने अधीन कर, गंगमण्डल की प्रजा से सराहना पाकर, उनको आज्ञा का पालक बनाकर, पोय्सल विष्णु राज्य-प्राप्ति से सन्तुष्ट तथा उत्साह से सुखपूर्वक रहा।

यह विष्णुभूप जिस ओर आगे बढ़ा, वहाँ के शत्रु महाराज के भय से जीत लिये गये, अपनी सम्पत्ति और राज्याधिकार को सौंपकर वे सर्वदा इसकी स्तुति करने लगे। पुराने अनेक नृपालों से भी इसकी कीर्ति अधिक हुई। ऐसे विष्णुभूपति का वर्णन कौन कर सकता है?

इस तरह त्रिभुवनमल्ल, तलकाडुगोंड, भुजबलवीरगंग विष्णुवर्धन पोय्सलदेव

विजयराज्यमुत्तरोत्तराभिवृद्धि प्रवर्धमान चंद्रार्क तारंबरं सलुत्तमिरे तत्पाद पद्मोपजीवि पिरियरसि पट्टमहादेवि शान्तलदेवि—

स्वस्त्यनवरत परम कल्याणाभ्युदय सहस्रफळभोगभागिनी द्वितीय लक्ष्मी लक्षण समानेयुं। सकळगुणगणानूनेयुं। अभिनव रुगुमिणीदेवियुं। पतिहित सत्यभामेयुं। विवेकैक बृहस्पतियुं। प्रत्युत्पन्न वाचस्पतियुं। मुनिजन विनेय जनविनीतेयुं। चतुस्समेय समुद्धरणेयु। व्रतगुणशीळचारित्रांतःकरणेयुं। लोकैक विख्यातेयुं। पतिव्रता प्रभाव प्रसिद्ध सीतेयुं। सकळ वंदिजन चिंतामणियुं। सम्यक्त चूडामणियुं। मुद्दिद्वत्त सवति गंधवारणेयुं। पुण्योपार्जन करणकारणेयुं। मनोजराजविजय पताकेयुं। निजकलाभ्युदय दीपिकेयुं। गीतवाद्य सूत्रधारेयुं। जिन-समय-समुदित-प्रकारेयुं। जिनधर्म्म कथाकथन प्रमोदेयु। महाभयभैषज्य शास्त्रदान विनोदेयुं। जिनधर्म्म निर्म्मळेयुं। भव्यजनवत्सळेयुं। जिनगंधोदक पवित्रीक्रितोत्तमांगेयुमप्प।

आनेगद्द विष्णुनृपम।
नोनयन प्रिये चळाळनीळाळकि चं॥
द्रानने कामन रतियलु।
तानेणेतोणे सरिसमाने शान्तलदेवि॥

का विजयराज्य उत्तरोत्तर अभिवृद्धि से प्रवर्धमान होता रहा और चन्द्र सूर्य-नक्षत्र रहने तक संरक्षण करते रहने पर, उसकी पदकमल-सेविका बड़ी रानी पट्टमहादेवी शान्तलदेवी—

स्वस्त्यनवरत परम कल्याणाभ्युदय सहस्रफल-भोगभागिनी, द्वितीयलक्ष्मी लक्षणसमाना, सकलगुणगणानूना, अभिनवरुक्मिणीदेवी, पतिहित सत्यभामा, विवेकैकबृहस्पति, प्रत्युत्पन्न वाचस्पति, मुनिजन और गुरुजनों में विनीता, चतुस्समय समुद्धरणरता, व्रतगुणशीलचारित्र से भूषित अन्तःकरण वाली, लोकैकविख्याता, पतिव्रता प्रभाव से सीता जैसी प्रसिद्ध, सकलवंदिजन के लिए चिन्तामणि, सम्यक्त्वचूडामणि, उद्धत सौतों को नाशक गज, पुण्यसम्पादन करने की कारण, मन्मथराज्य की विजयध्वज, निज-कलाभ्युदय- दीपिका गीतवाद्यसूत्रधारिणी, जिन-समय समुदितप्रकार, जिन-धर्म-कथाकथन प्रमोदा, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्रप्रदान से सन्तुष्ट होनेवाली, जिन-धर्म-निर्मला, भव्यजनवत्सला, जिन-गन्धोदक से पवित्रीकृत शिर को धारण करनेवाली, उस प्रसिद्ध विष्णुनृप के मन और नयनों को सन्तोष देनेवाली, चंचल भ्रमर जैसे केशोंवाली, चन्द्रानना, मन्मथ की रति जैसी रही यह शान्तलदेवी,

धरेयोळु विष्णुनृपाळकंगे विजयश्री वक्षदोळु संतत।
परमानन्ददि नोतु निल्वं विपुळ श्रीतेजदुद्दानियं॥
वरदिग्भित्तिय नेरिदसल्नेरेव कीर्त्ति श्रीयेनुतिर्प्पुदी।
धरेयोळु शान्तलदेवियं नेरेये बण्णिप्पण्णमेबण्णिपं॥

कलिकाल विष्णुवक्ष।
स्थळदोळु कलिकाल लक्ष्मि नेलसिर्प्पळे शां॥
तलदेवि सौभाग्यम्।
नेलंगळ बण्णिसुवेनेंबने वण्णिसुव॥

शान्तलदेविगे सद्गुण।
मंतेगे सौभाग्यभाग्यवतिगे वचश्री॥
कांतेयुमग - जेयुमच्युत।
कांतेयु मेणेयल्लदुळिंद सतियद्धोरेये॥

गुरुगळु प्रभाचंद्रदेवरे पेलर्तायि गुणनिधि माचिकव्वे।
पिरिय पेर्ग्गडे मारसिंगय्यं तंदे मावनु पेर्ग्गडे सिंगिमय्यं॥
अरसं विष्णुवर्द्धनन्निपं वल्लभ जिननाथं तनगेंदुमिष्टदैवं।
अरसि शान्तलदेविय महिमेयं बण्णिसलु बक्कुमे भूतळदोळु॥

शक वर्ष 1050 मूरेनेय विरोधिकृत्संवत्सरद चैत्र शुद्ध पंचमी सोमवारदंदु सिवगंगेय तीर्थदलु मुडिपि स्वर्गतेयादळु।

यह शान्तलदेवी विष्णुनृपाल के लिए युद्ध में विजयश्री रही, वक्ष पर हमेशा सन्तोष से शोभायमान लक्ष्मी रही, उसके शौर्य की कीर्ति को प्रसारित करने वाली दिगंगना रही, तो इस भूमण्डल में उसका वर्णन कौन कवि कर सकता है?
कलिकाल के इस विष्णु के वक्ष पर वास कर रही कलिकाल की इस लक्ष्मी शान्तलदेवी के सौभाग्य का वर्णन करने में कौन समर्थ है?
सद्गुणशालिनी, सौभाग्यवती इस शान्तलदेवी की समानता सरस्वती, पार्वती और लक्ष्मी से की जा सकती है, दूसरी पतिव्रताओं से नहीं।
इस शान्तलदेवी के गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव, माता गुणनिधि माचिकव्वे, पिता बड़े हेग्गड़े मारसिंगय्या, मातुल हेग्गड़े सिंगिमय्या, पति विष्णुवर्धनभूप, आराध्य इष्टदेवता जिननाथ रहे। ऐसी रानी शान्तलदेवी की महिमा का वर्णन इस भूतल में कौन कर सकता है?
शक वर्ष 1050 विरोधिकृत् संवत्सर के चैत्र शुद्ध पंचमी सोमवार के दिन शिवगंगा क्षेत्र में देह त्यागकर स्वर्ग को प्राप्त हुई।

ई कलिकालदोळु मनुबृहस्पति वंदिजनाश्रयं जग।
व्यापित कामधेनुत्वभिमानि महाप्रभु पंडिताश्रयं॥
लोकजनस्तुतं गुणगणाभरणं जगदेक दानियु।
व्याकुळमंत्रियेंदु पोगळ्गुं धरेपेग्गडे मारसिंगन॥

दोरेये पेग्गडे मारसिंग विभुविंगी कालदोळु।
पुरुषार्थगळोळत्युदारतेयोळं धर्म्मानुरागंगळोळु॥
हरपादाब्ज भक्तियोळु नियमदोळु शीळंगळोळ तानेनल्लु।
सुरलोकक्के मनोमुदं बेरसु पोदं भूतळं कीर्तिसल्लु॥

अनुपम शान्तलदेविय।
नुनयदिं तंदे मारसिंगय्यनु मि॥
बिने जननि माचिकव्वेयु।
मिनिबुरमोडनोडने मुडिपि स्वर्गतरादरु॥ लेखक : बोकिमय्या॥

बिट्टिदेव की आँखों में आँसू भर आये। जब इस लेख को उन्होंने अपनी गोद में रखा तब कहीं उन्हें इन आँसुओं का पता चला।

"कविजी! कटवप्र पर सबको शान्ति प्रदान करने के इरादे से देवी द्वारा प्रतिष्ठित शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिर के बाजू के मण्डप के स्तम्भ के उत्तर मुख पर शान्तिनाथ की स्थापना के सम्बन्ध में विवरण उत्कीर्ण है। उसी स्तम्भ के पूर्व तथा दक्षिण के मुखों पर इसे उत्कीर्ण करवाइए। हम लोक्किगोंडी पर विजय पाकर आये। परन्तु इधर हमने पोय्सल राज्य की भाग्यदेवी को खो दिया, हमने अपने हृदय को ही मानो उखाड़कर फेंक दिया।" कहकर उस लेख की प्रति लौटाने के उद्देश्य से हाथ आगे बढ़ाया।

वह लेख यान्त्रिक ढंग से बोकिमय्या के हाथ में पहुँचा। कुछ कहे बिना मौन हो वह सिर झुकाकर वहाँ से चल पड़े। ॐ शं ॐ शं ॐ शं

इस कलिकाल में मनु-बृहस्पति के समान, वन्दिजनों के आश्रय, जगद्-व्यापि कामधेनु, अभिमानयुक्त भूपालक, पण्डितों के आश्रयदाता, लोक-जन से संस्तुत, गुणगणाभरण, जगदेकदानी, स्थिरबुद्धि के मन्त्री—शब्दों से अलंकृत हेग्गड़े मारसिंगय्या भूलोक में प्रशंसित थे।

पुरुषार्थों में, उदारता में, धर्मानुराग में, ईश्वरपादभक्ति में, नियमाचरण में, शील में, इस कलिकाल में हेग्गड़े मारसिंगय्या के समान कोई नहीं। यों भूलोक में प्रशंसित होकर मानसिक आनन्द पाकर मारसिंगय्या स्वर्गलोक सिधारे।

उपमारहित शान्तलदेवी, उसके प्रिय पिता मारसिंगय्या और माता माचिकव्वे, तीनों क्रमशः देह त्यागकर स्वर्ग सिधारे। लेखक : बोकिमय्या

□□□